हिंदी साहित्य का बृहत् इतिहास

(सत्रह भागों में)

नागरीप्रचारिणी सभा, काशी

सं० २०१५ वि०

प्रकाशक : नागरीप्रचारिणी सभा, काशी
मुद्रक : महताबराय, नागरी मुद्रण, काशी
प्रथम संस्करण, २५०० प्रतियाँ, संवत् २०१५ वि०
मूल्य १८)

हिंदी साहित्य का बृहत् इतिहास

षष्ठ भाग

रीतिकाल

रीतिबद्ध काव्य (सं० १७००-१९००)

संपादक

डा० नगेंद्र, एम० ए०, डी० लिट्०

आचार्य तथा अध्यक्ष, हिंदी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली ।

नागरीप्रचारिणी सभा, काशी

सं० २०१५ वि०

प्राक्कथन

यह जानकर मुझे बहुत प्रसन्नता हुई कि काशी नागरीप्रचारिणी सभा ने हिंदी साहित्य के बृहत् इतिहास के प्रकाशन की सुचिंतित योजना बनाई है। यह इतिहास १७ भागों में प्रकाशित होगा। हिंदी के प्रायः सभी मुख्य विद्वान् इस इतिहास के लिखने में सहयोग दे रहे हैं। यह हर्ष की बात है कि इस शृंखला का पहला भाग, जो लगभग ८०० पृष्ठों का है, छप गया है। उक्त योजना कितनी गंभीर है, यह इस भाग के पढ़ने से ही पता लग जाता है। निश्चय ही इस इतिहास में व्यापक और सर्वांगीण दृष्टि से साहित्यिक प्रवृत्तियों, आंदोलनों तथा प्रमुख कवियों और लेखकों का समावेश होगा और जीवन की सभी दृष्टियों से उनपर यथोचित विचार किया जायगा।

हिंदी भारतवर्ष के बहुत बड़े भूभाग की साहित्यिक भाषा है। गत एक हजार वर्ष से इस भूभाग की अनेक बोलियों में उत्तम साहित्य का निर्माण होता रहा है। इस देश के जनजीवन के निर्माण में इस साहित्य का बहुत बड़ा हाथ रहा है। संत और भक्त कवियों के सारगर्भित उपदेशों से यह साहित्य परिपूर्ण है। देश के वर्तमान जीवन को समझने के लिये और उसके अभीष्ट लक्ष्य की ओर अग्रसर करने के लिये यह साहित्य बहुत उपयोगी है। इसलिये इस साहित्य के उदय और विकास का ऐतिहासिक दृष्टिकोण से विवेचन महत्वपूर्ण कार्य है।

कई प्रदेशों में बिखरा हुआ साहित्य अभी बहुत अंशों में अप्रकाशित है। बहुत सी सामग्री हस्तलेखों के रूप में देश के कोने कोने में बिखरी पड़ी है। नागरीप्रचारिणी सभा ने पिछले ५० वर्षों से इस सामग्री का अन्वेषण और संपादन का काम किया है। बिहार, राजस्थान, मध्यप्रदेश और उत्तरप्रदेश की अन्य महत्वपूर्ण संस्थाएँ भी इस तरह के लेखों की खोज और संपादन का कार्य करने लगी हैं। विश्वविद्यालयों के शोधप्रेमी अध्येताओं ने भी महत्वपूर्ण सामग्री का संकलन और विवेचन किया है। इस प्रकार अब हमारे पास नए सिरे से विचार और विश्लेषण के लिये पर्याप्त सामग्री एकत्र हो गई है। अतः यह आवश्यक हो गया है कि हिंदी साहित्य के इतिहास का नए सिरे से अवलोकन किया जाय और प्राप्त सामग्री के आधार पर उसका निर्माण किया जाय।

इस बृहत् हिंदी साहित्य के इतिहास में लोकसाहित्य को भी स्थान दिया गया है, यह खुशी की बात है। लोकभाषाओं में अनेक गीतों, वीरगाथाओं प्रेमगाथाओं तथा लोकोक्तियों आदि की भी भरमार है। विद्वानों का ध्यान इस,

ओर भी गया है, यद्यपि यह सामग्री अभी तक अधिकतर अप्रकाशित ही है। लोककथा और लोककथानकों का साहित्य साधारण जनता के अंतरतर की अनुभूतियों का प्रत्यक्ष निदर्शन है। अपने बृहत् इतिहास की योजना में इस साहित्य को भी स्थान देकर सभा ने एक महत्वपूर्ण कदम उठाया है।

हिंदी भाषा तथा साहित्य के विस्तृत और संपूर्ण इतिहास का प्रकाशन एक और दृष्टि से भी आवश्यक तथा वाछनीय है। हिंदी की सभी प्रवृत्तियों और साहित्यिक कृतियों के अविकल ज्ञान के बिना हम हिंदी और देश की अन्य प्रादेशिक भाषाओं के आपसी संबंध को ठीक ठीक नहीं समझ सकते। इंडो-आर्यन् वंश की जितनी भी आधुनिक भारतीय भाषाएँ हैं, किसी न किसी रूप में और किसी न किसी समय उनकी उत्पत्ति का हिंदी के विकास से घनिष्ठ संबंध रहा है, और आज इन सब भाषाओं और हिंदी के बीच जो अनेकों पारिवारिक संबंध हैं उनके यथार्थ निदर्शन के लिये यह अत्यंत आवश्यक है कि हिंदी के उत्पादन और विकास के बारे में हमारी जानकारी अधिकाधिक हो। साहित्यिक तथा ऐतिहासिक मेलजोल के लिये ही नहीं बल्कि पारस्परिक सद्‌भावना तथा आदान प्रदान बनाए रखने के लिये भी यह जानकारी उपयोगी होगी।

इन सब भागों के प्रकाशित होने के बाद यह इतिहास हिंदी के बहुत बड़े अभाव की पूर्ति करेगा, और मैं समझता हूँ यह हमारी प्रादेशिक भाषाओं के सर्वांगीण अध्ययन में भी सहायक होगा। काशी नागरीप्रचारिणी सभा के इस महत्वपूर्ण प्रयत्न के प्रति मैं अपनी हार्दिक शुभकामना प्रगट करता हूँ और इसकी सफलता चाहता हूँ।

राष्ट्रपति भवन,
नई दिल्ली।
३ दिसंबर, १९५७

राजेन्द्र प्रसाद

षष्ठ भाग के लेखक

डा० नगेंद्र

डा० भगीरथ मिश्र

डा० (श्रीमती) सावित्री सिनहा

डा० विजयेंद्र स्नातक

डा० ओम्प्रकाश

डा० सत्यदेव चौधरी

डा० बच्चनसिंह

डा० मनमोहन गौतम

डा० अंबाप्रसाद 'सुमन'

डा० महेंद्रकुमार

लिखित पृष्ठ

डा० नगेंद्र, एम० ए० डी० लिट्० आचार्य तथा अध्यक्ष, हिंदी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली।	३१-३३, ७५-१३३, १४८-१५५, १८१-१८३, ३३८, ४९४-४९८, ५४६-५४९।
डा० भगीरथ मिश्र, एम० ए०, पी-एच० डी०, रीडर, हिंदी विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ।	३८५-४३६।
डा० (श्रीमती) सावित्री सिन्हा, एम० ए०, पी-एच० डी०, रीडर, हिंदी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली।	१-३०।
डा० विजयेंद्र स्नातक, एम० ए०, पी-एच० डी०, रीडर, हिंदी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली।	१६५-१७२, ५०१-५४६।
डा० ओमप्रकाश, एम० ए०, पी-एच० डी०, अध्यक्ष, हिंदी विभाग, हंसराज कालेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली।	४४०-४७८।
डा० सत्यदेव चौधरी, एम० ए०, पी-एच० डी०, प्राध्यापक, हिंदी विभाग, हंसराज कालेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली।	३३-७५, १३३-१४७, १७३-१८१, २८०-३०१, ३१२-३१७, ३१९-३२२, ३२४-३२८, ३२९-३३८, ३४१-३४७, ३५०-३५३, ३५५-३६२, ३६३-३६५, ३६६-३७१, ३७४-३७७।

डा० मनमोहन गौतम, एम० ए०, पी-एच० डी०,
प्राध्यापक, हिंदी विभाग, दिल्ली कालेज,
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली । ४७६–४६३ ।

डा० बच्चनसिंह, एम० ए०, पी-एच० डी०,
प्राध्यापक, हिंदी विभाग, काशी विश्वविद्यालय,
काशी । १८४–२७६ ।

डा० अंबाप्रसाद 'सुमन', एम० ए०, पी एच०
डी०, प्राध्यापक, हिंदी विभाग,
मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ । १५६–१६४ ।

डा० महेंद्रकुमार, एम० ए०, पी-एच० डी०,
प्राध्यापक, हिंदी विभाग, खालसा कालेज,
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली । ३०६–३११, ३१७-३१६, ३२२–३२४, ३२८–३२६, ३३६–३४१, ३४५–३४६, ३४८–३५०, ३५३–३५५, ३६२–३६३, ३६५–३६६, ३७१–३७४, ३७७–३८४ ।

हिंदी साहित्य के बृहत् इतिहास की योजना

गत पचास वर्षों के भीतर हिंदी साहित्य के इतिहास की क्रमशः प्रचुर सामग्री उपलब्ध हुई है और उसके ऊपर कई ग्रंथ भी लिखे गए हैं। पं० रामचंद्र शुक्ल ने अपना हिंदी साहित्य का इतिहास सं० १९८६ वि० में लिखा था। उसके पश्चात् हिंदी के विषयगत, खंड और संपूर्ण इतिहास निकलते ही गए और आचार्य पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी के हिंदी साहित्य (सन् १९५२ ई०) तक इतिहासों की संख्या पर्याप्त बड़ी हो गई। सं० २००४ वि० में भारतीय स्वातंत्र्य तथा सं० २००६ वि० मे भारतीय सविधान मे हिंदी के राज्यभाषा होने की घोषणा होने के बाद हिंदी भाषा और साहित्य के संबंध मे जिज्ञासा बहुत जाग्रत हो उठी। देश में उसका विस्तार-क्षेत्र इतना बड़ा, उसकी पृष्ठभूमि इतनी लंबी और विविधता इतनी अधिक है कि समय समय पर यदि उनका आकलन, संपादन तथा मूल्यांकन न हो तो उसके समवेत और संयत विकास की दिशा निर्धारित करना कठिन हो जाय। अतः इस बात का अनुभव हो रहा था कि हिंदी साहित्य का एक विस्तृत इतिहास प्रस्तुत किया जाय। नागरीप्रचारिणी सभा ने आश्विन, सं० २०१० वि० मे हिंदी साहित्य के बृहत् इतिहास की योजना निर्धारित और स्वीकृत की। इस योजना के अंतर्गत हिंदी साहित्य का व्यापक तथा सर्वांगीण इतिहास प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। प्राचीन भारतीय वाङ्मय तथा इतिहास में उसकी पृष्ठभूमि से लेकर उसके अद्यतन इतिहास तक का क्रमबद्ध एवं धारावाही वर्णन तथा विवेचन इसमें समाविष्ट है। इस योजना का संघटन, सामान्य सिद्धांत तथा कार्यपद्धति संक्षेप में निम्नांकित है :

प्राक्कथन— देशरत्न राष्ट्रपति डा० राजेंद्रप्रसाद

भाग	विषय और काल	संपादक
प्रथम भाग	हिंदी साहित्य की पीठिका	डा० राजबली पांडेय
द्वितीय भाग	हिंदी भाषा का विकास	डा० धीरेंद्र वर्मा
तृतीय भाग	हिंदी साहित्य का उदय और विकास १४०० वि० तक	डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी
चतुर्थ भाग	भक्तिकाल (निर्गुण भक्ति) १४००-१७०० वि०	पं० परशुराम चतुर्वेदी
पंचम भाग	भक्तिकाल (सगुण भक्ति) १४००-१७०० वि०	डा० दीनदयालु गुप्त

षष्ठ भाग	शृंगारकाल (रीतिबद्ध) १७००-१९०० वि०	डा० नगेंद्र
सप्तम भाग	शृंगारकाल (रीतिमुक्त) १७००-१९०० वि०	पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र
अष्टम भाग	हिंदी साहित्य का अभ्युत्थान (भारतेंदुकाल) १९००-५० वि०	श्री विनयमोहन शर्मा
नवम भाग	हिंदी साहित्य का परिष्कार (द्विवेदीकाल) १९५०-७५ वि०	डा० रामकुमार वर्मा
दशम भाग	हिंदी साहित्य का उत्कर्षकाल १९७५-९५ वि०	पं० नंददुलारे वाजपेयी
एकादश भाग	हिंदी साहित्य का उत्कर्षकाल (नाटक) १९७५-९५ वि०	श्री जगदीशचंद्र माथुर
द्वादश भाग	हिंदी साहित्य का उत्कर्षकाल (उपन्यास, कथा, आख्यायिका) १९७५-९५ वि०	डा० श्रीकृष्णलाल
त्रयोदश भाग	हिंदी साहित्य का उत्कर्षकाल १९७५-९५ वि०	श्री लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु'
चतुर्दश भाग	हिंदी साहित्य का अद्यतनकाल १९९५-२०१०	डा० रामअवध द्विवेदी
पंचदश भाग	हिंदी में शास्त्र तथा विज्ञान	डा० विश्वनाथप्रसाद
षोडश भाग	हिंदी का लोकसाहित्य	म० पं० राहुल सांकृत्यायन
सप्तदश भाग	हिंदी का उन्नयन	डा० संपूर्णानंद

१—हिंदी साहित्य के विभिन्न कालों का विभाजन युग की मुख्य सामाजिक और साहित्यिक प्रवृत्तियों के आधार पर किया गया है।

२—व्यापक सर्वांगीण दृष्टि से साहित्यिक प्रवृत्तियों, आंदोलनों तथा प्रमुख कवियों और लेखकों का समावेश इतिहास में होगा और जीवन की सभी दृष्टियों से उनपर यथोचित विचार किया जायगा।

३—साहित्य के उदय और विकास, उत्कर्ष तथा अपकर्ष का वर्णन और विवेचन करते समय ऐतिहासिक दृष्टिकोण का पूरा ध्यान रखा जायगा अर्थात् तिथि-क्रम, पूर्वापर तथा कार्य-कारण-संबंध, पारस्परिक संघर्ष, समन्वय, प्रभावग्रहण, आरोप, त्याग, प्रादुर्भाव, अंतर्भाव, तिरोभाव आदि प्रक्रियाओं पर पूरा ध्यान दिया जायगा।

४—संतुलन और समन्वय—इसका ध्यान रखना होगा कि साहित्य के सभी पक्षों का समुचित विचार हो सके। ऐसा न हो कि किसी पक्ष की उपेक्षा हो जाय और

किसी का अतिरंजन। साथ ही, साहित्य के सभी अंगो का एक दूसरे से संबंध और सामंजस्य किस प्रकार से विकसित और स्थापित हुआ इसे स्पष्ट किया जायगा। उनके पारस्परिक संघर्षों का उल्लेख और प्रतिपादन उसी अंश और सीमा तक किया जायगा जहाँ तक वे साहित्य के विकास में सहायक सिद्ध होगे।

५—हिंदी साहित्य के इतिहास के निर्माण में मुख्य दृष्टिकोण साहित्यशास्त्रीय होगा। इसके अतर्गत विभिन्न साहित्यिक दृष्टियों की समीक्षा और समन्वय किया जायगा। विभिन्न साहित्यिक दृष्टियों में निम्नलिखित की मुख्यता होगी :

(१) शुद्ध साहित्यिक दृष्टि अलंकार, रीति, रस, ध्वनि, व्यंजना आदि।
(२) दार्शनिक।
(३) सांस्कृतिक।
(४) समाजशास्त्रीय।
(५) मानववादी, आदि।

६—विभिन्न राजनीतिक, मतवादों और प्रचारात्मक प्रभावों से बचना होगा। जीवन में साहित्य के मूल स्थान का संरक्षण आवश्यक होगा।

७—साहित्य के विभिन्न कालों में विभिन्न रूप मे परिवर्तन और विकास के आधारभूत तत्वों का संकलन और समीक्षण किया जायगा।

८—विभिन्न मतों की समीक्षा करते समय उपलब्ध प्रमाणों पर सम्यक् विचार किया जायगा। सबमें अधिक संतुलित और बहुमान्य सिद्धात की ओर संकेत करते हुए भी नवीन तथ्यों और सिद्धातों का निरूपण संभव होगा।

९—उपर्युक्त सामान्य सिद्धातों को दृष्टि मे रखते हुए प्रत्येक भाग के संपादक अपने भाग की विस्तृत रूपरेखा प्रस्तुत करेगे। संपादकमंडल को इतिहास की व्यापक एकरूपता और आतरिक सामंजस्य बनाए रखने का प्रयास करना होगा।

पद्धति

१—प्रत्येक लेखक और कवि की उपलब्ध कृतियों का पूरा संकलन किया जायगा और उसके आधार पर ही उनके साहित्यक्षेत्र का निर्वाचन और निर्धारण होगा तथा उनके जीवन और कृतियों के विकास मे विभिन्न अवस्थाओं का विवेचन और निदर्शन किया जायगा।

२—तथ्यों के आधार पर सिद्धातों का निर्धारण होगा, केवल कल्पना और संमतियों पर ही किसी कवि अथवा लेखक की आलोचना अथवा समीक्षा नहीं की जायगी।

३—प्रत्येक निष्कर्ष के लिये प्रमाण तथा उद्धरण आवश्यक होंगे।

४—लेखन में वैज्ञानिक पद्धति का प्रयोग किया जायगा—संकलन, वर्गीकरण, समीकरण, संतुलन, आगमन आदि।

५—भाषा और शैली सुबोध तथा सुरुचिपूर्ण होगी।

६—प्रत्येक खंड के अंत में संदर्भ ग्रंथों की सूची आवश्यक होगी।

यह योजना विशाल है। इसके संपन्न होने के लिये बहुसंख्यक विद्वानों के सहयोग, द्रव्य तथा समय की अपेक्षा है। बहुत ही संतोष और प्रसन्नता का विषय है कि देश के सभी सुधियों तथा हिंदीप्रेमियों ने इस योजना का स्वागत किया है। संपादकों के अतिरिक्त विद्वानों की एक बहुत बड़ी संख्या ने सहर्ष अपना सहयोग प्रदान किया है। हिंदी साहित्य के अन्य अनुभवी मर्मज्ञों से भी समय समय पर बहुमूल्य परामर्श होते रहते हैं। भारत की केंद्रीय तथा प्रादेशिक सरकारों से उदार आर्थिक सहायताएँ प्राप्त हुई हैं और होती जा रही हैं। नागरीप्रचारिणी सभा इन सभी विद्वानों, सरकारों तथा अन्य शुभचिंतकों के प्रति कृतज्ञ है। आशा की जाती है कि हिंदी साहित्य का बृहत् इतिहास निकट भविष्य में पूर्ण रूप से प्रकाशित होगा।

इस योजना के लिये विशेष गौरव की बात है कि इसको स्वतंत्र भारतीय गणराष्ट्र के प्रथम राष्ट्रपति डा० राजेंद्रप्रसाद जी का आशीर्वाद प्राप्त है। हिंदी साहित्य के बृहत् इतिहास का प्राक्कथन लिखकर उन्होंने इस योजना को महान् बल और प्रेरणा दी है। सभा इसके लिये उनकी अत्यंत अनुगृहीत है।

नागरीप्रचारिणी सभा,
काशी

राजबली पांडेय
संयोजक,
हिंदी साहित्य का बृहत् इतिहास

संपादकीय वक्तव्य

'हिंदी साहित्य का बृहत् इतिहास' का षष्ठ भाग 'रीतिकाल' आपके समक्ष प्रस्तुत करते हुए हमें वास्तव में संतोष है।

अनेक कारणों से हमने परंपरासिद्ध 'रीतिकाल' नाम ही ग्रहण किया है। 'शृंगार काल (रीतिबद्ध)' नहीं। यों तो दोनों मे कोई मौलिक भेद नहीं है, फिर भी 'शृंगार' की अपेक्षा 'रीति' शब्द ही हमारे दृष्टिकोण के अधिक निकट है। इस साधारण से परिवर्तन के लिये हम इतिहास के मूल आयोजकों से क्षमा-याचना करते हैं।

हमारे संतोष का अर्थ यह नहीं है कि हम इसकी अपूर्णताओं से परिचित हैं, किंतु हमारी यह निश्चित धारणा है कि बृहत् इतिहास का आयोजन हिंदी के इतिहास में एक अभूतपूर्व घटना है। इसमे संदेह नहीं कि यह आयोजन जितना विराट् है उतना ही दुःसाध्य भी, अतः हमें विश्वास है कि इसकी अपूर्ण सफलता भी अपने आपमें बड़ी सिद्धि होगी। इसी दृष्टि से हम अपने प्रयास से असंतुष्ट नहीं हैं। हम जानते हैं कि अनेक विद्वानों का समवेत उद्योग होने के कारण इसमें वांछित एकान्विति नहीं है: 'यथावत् सहभाव' से कार्य करने पर भी अनेक की एकता लाक्षणिक अर्थ में ही संभव हो सकती है, और वह इसमें है, ऐसा हमारा विश्वास है। प्रस्तुत खंड में हमने पुनरावृत्ति, परस्परविरोध आदि दोषों को बचाने का भरसक प्रयत्न किया है। कम से कम मूल प्रतिपाद्य में ये दोष नहीं हैं। विवेचन में भी इनके परिहार का प्रयत्न किया गया है, किंतु उसके विषय में पूर्ण आश्वासन देना समीचीन नहीं होगा क्योंकि सूक्ष्म मतभेद का एकांत निराकरण सर्वथा संभव नहीं है। इसके अतिरिक्त और भी कतिपय त्रुटियाँ सुधी आलोचकों को दृष्टिगत हो सकती हैं, पर हम उनकी प्रत्याशा मात्र से आतंकित होना नहीं चाहते, आगामी संस्करण में वास्तविक त्रुटियों के परिशोधन का आश्वासन अवश्य दे सकते हैं। यहाँ यह भी निवेदन कर देना अनुचित न होगा कि हमारे इस विनम्र प्रयास में कतिपय गुण भी हैं—जैसे, (१) हिंदी रीतिकाव्य की प्रवृत्तियों का ऐसा विस्तृत और प्रामाणिक विवेचन आपको अन्यत्र नहीं मिलेगा, (२) रीतिकाव्य के कला-वैभव का इतना सांग विश्लेषण इससे पूर्व नहीं हुआ, (३) रीतिआचार्यों का इतना सटीक और सप्रमाण परीक्षण पूर्ववर्ती किसी इतिहास ग्रंथ मे नहीं है, (४) प्रस्तुत ग्रंथ में ऐसे अनेक रीतिकवियों के जीवनचरित तथा कवित्व एवं आचार्यकर्म का विवेचन प्रस्तुत किया गया है जिनका अन्यत्र उल्लेख मात्र है, या उल्लेख भी नहीं है। अतः अनेक दोषों के रहते हुए भी इसका अपना मूल्य होगा, ऐसी आशा

करना कदाचित् मिथ्या गर्व न होगा। हमें यह स्वीकार करने में तनिक भी संकोच नहीं है कि ग्रंथ के गुण हमारे सहयोगी लेखकों के हैं और उसके सभी दोष हमारे अपने हैं। इन विद्वान् मित्रो ने अत्यंत उदारतापूर्वक हमारे सुझावो और प्रार्थनाओं को स्वीकार कर वास्तव मे त्रुटियों का संपूर्ण भार हमारे ऊपर ही डाल दिया है और हम नतशिर होकर उसे ग्रहण करते हैं।

अंत मे सभा के अधिकारिवर्ग, विशेषकर बृहत् इतिहास के संयोजक डा० राजबली पाडेय और उनके कर्मठ सहयोगियों के प्रति सभी प्रकार की सहायता के लिये कृतज्ञताज्ञापन कर हिंदी के इस महान् यज्ञ में यह हम नव्य आहुति अर्पित करते हैं।

दिल्ली विश्वविद्यालय,
दिल्ली : वसंत पंचमी, सं० २०१५ वि०

नगेंद्र

संकेतसारिणी

अक० ना०	अकबरनामा
अ० चं०	अलंकार चंद्रोदय (रसिक सुमति)
अ० द०	अलंकारदर्पण (महाराज रामसिंह)
अ० भा०	अभिनवभारती
अ० भ्र० भं०	अलंकार-भ्रम-भंजन (ग्वाल)
अ० म० मं०	अलंकारमणिमंजरी (ऋषिनाथ)
अ० शे०	अलंकारशेखर
अ० स०	अलंकारसर्वस्व
अ० ह०	अब्दुलहमीद
इं० प्रो०	इंग्लिश प्रोज स्टाइल
इ० ना०	इबारतनामा
एका०	एकावली
ऐ० ना०	ऐनल्स आव् राजस्थान (टाड)
औ० डी०	औरंगजेब ऐंड द डीके आव् मुगल एंपायर (लेनपूल)
औ० वि० च०	औचित्यविचारचर्चा
क० क० त०	कविकुलकल्पतरु
क० कु० कं०	कविकुलकंठाभरण (दूलह)
क० प्रि०	कविप्रिया (केशवदास)
क० र० वि०	कविता-रस-विनोद (जनराज)
क० बि०	कविवर बिहारी (रत्नाकर)
का० अ०	काव्यालंकार
का० अनु०	काव्यानुशासन
का० आ०	काव्यादर्श
का० आ० प्र०	काव्यादर्श, प्रभा टीका
काजिमी	काजिमी
का० प्र०	काव्यप्रकाश
का० प्र० प्र०	काव्यप्रकाश, प्रदीप टीका
का० प्र० बा०	काव्यप्रकाश, बालबोधिनी टीका
का० मी०	काव्यमीमांसा

का० वि०	काव्यविलास (प्रतापसाहि)
का० सा० सं०	काव्यालंकारसारसंग्रह
का० सू० वृ०	काव्यालंकारसूत्रवृत्ति
कुक	कुक
कैं० हि०	कैंब्रिज हिस्ट्री आव् इंडिया
खफी खाँ	खफी खाँ
खु० चं०	खुशहालचंद
चि० चं०	चित्रचंद्रिका (काशिराज)
चि० मी०	चित्रमीमांसा (जगतसिंह)
ज० वि०	जगद्विनोद (पद्माकर)
जा० ग्रं०	जायसी ग्रंथावली (शुक्ल)
टा० प० नै०	टाड्स पर्सनल नैरेटिव
ट्रैव०	ट्रैवर्नियर
ट्वि०	ट्विलाइट आव् द मुगल्स (परसीवल स्पियर्स)
ड० डा०	डच डायरी (बैलेनटाइन)
तु० भू०	तुलसीभूषण (रसरूप)
द० ग० प०	दक्खिनी का गद्य और पद्य (श्रीराम शर्मा)
द० प्रा०	द प्राब्लेम आव् स्टाइल
द० रू०	दशरूपक
द० लिस्ट०	द लिस्ट आव् द संस्कृत राइटर्स आव् शाहजहांज रेन इन ए बिब्लियोग्रैफी आव् मुगल इंडिया (श्रीराम शर्मा)
दी० प्र०	दीपप्रकाश (ब्रह्मदत्त)
ध्वन्या०	ध्वन्यालोक
ध्व० लो०	ध्वन्यालोकलोचन
ना० शा०	नाट्यशास्त्र (भरत)
पी० मं०	पीटर मंडी
पृ० रा०	पृथ्वीराज रासो
पोए०	पोएटिक्स (अरिस्टोटल)
प्रा० हे०	प्राइवेट जर्नल आव लार्ड हेस्टिंग्ज
बर्नियर	बर्नियर्स ट्रैवेल्स
बि० र०	बिहारी रत्नाकर
बि० स०	बिहारी सतसई

भा० प्र०	भावप्रकाश
भा० भू०	भाषाभूषण (श्रीधर)
भार० भू०	भारतीभूषण गिरिधरदास)
म० ग्रं०	मतिराम ग्रंथावली
मन०	मनरिकमा
मनूची	मनूची
मि० अ०	मिरातए अहमदी
मि० ख०	मिरात-उल्-खयाल
मि० वि०	मिश्रबंधु विनोद
र० अ०	रघुनाथ अलंकार (सेवादास)
र० गं०	रसगंगाधर
र० पी० नि०	रसपीयूषनिधि (सोमनाथ)
र० प्र०	रसप्रदीप (प्रभाकर भट्ट)
र० प्रि०	रसिकप्रिया (केशवदास)
र० मं०	रसमंजरी
र० मो०	रसिकमोहन (रघुनाथ)
र० रं०	रसरंग (ग्वाल)
र० र०	रसरहस्य (कुलपति)
र० रसा०	रसिक रसाल (कुमारमणि)
रसराज	रसराज
रा० फ्यू०	राजपूत फ्यूडैलिज्म
रा० सं० सि० सा०	राधावल्लभ संप्रदाय, सिद्धांत और साहित्य
री० दे०	रीतिकाव्य की भूमिका तथा देव और उनकी कविता (डा० नगेंद्र)
री० भू०	रीतिकाव्य की भूमिका (डा० नगेंद्र)
रैं० रि०	रैंबल्स ऐंड रिकलेक्शंस (स्लीमन)
लाहोरी	लाहोरी
वारिस	वारिस
व० जी०	वक्रोक्तिजीवितम्
वि० प०	विद्यापति पदावली
व्यं० कौ०	व्यंग्यार्थकौमुदी (प्रतापसाहि)
शि० सिं० स०	शिवसिंह सरोज
शृं० मं०	शृंगारमंजरी
श० र०	शब्दरसायन

शृं० प्र०	शृंगारप्रकाश
शृं० वि०	शृंगारविलास (सोमनाथ)
शि० भू०	शिवराजभूषण
सं० पा०	संगीत पारिजात
स० कं० भ०	सरस्वतीकंठाभरण
सा० द०	साहित्यदर्पण
सा० सु० नि०	साहित्य सुधानिधि (जगतसिंह)
सि० मु० पें०	सिक्सटींथ ऐंड सेवेनटींथ सेंचरी मैनस्क्रिप्ट्स ऐंड ऐलबम्स आव् मुगल पेंटिंग्ज
सुधा०	सुधानिधि
सु० वि०	सुजानविनोद
सू० सा०	सूरसागर
हमी० अह०	हमीदुद्दीस अहकाम
हि० दि०	हिस्ट्री आव शाहजहाँ आव दिल्ली (डा० बनारसीप्रसाद)
हिं० भा० सा०	हिंदी भाषा और साहित्य (श्यामसुंदरदास)
हि० त०	हित तरंगिणी
हि० सा० इ०	हिंदी साहित्य का इतिहास (रामचंद्र शुक्ल)
हिं० सा०	हिंदी साहित्य (ह० प्र० द्विवेदी)
हिं० का० इ०	हिंदी काव्यशास्त्र का इतिहास
हिं० अ० सा०	हिंदी अलंकार साहित्य
हिं० री० सा०	हिंदी रीति साहित्य

विषय-सूची

पृ० सं०

द्वितीय खंड

तृतीय खंड

चतुर्थ खंड

प्रथम खंड

भूमिका

प्रथम अध्याय

परिस्थितियाँ

कला तथा साहित्य का राजकीय संरक्षण

जीवन के सूक्ष्म शाश्वत उपादानों के रूपनिर्माण में भौतिक बाह्य परिस्थितियों का कितना महत्वपूर्ण योग रहता है, इसका अनुमान रीतियुगीन परिस्थितियों तथा उस काल की साहित्यिक प्रवृत्तियों के विश्लेषण द्वारा लगाया जा सकता है। युग-चेतना की बहिर्मुखी अभिव्यक्ति साहित्य का प्रयोजन है अथवा नहीं, इस विषय पर चाहे कितना ही मतभेद हो, परंतु यह निर्विवाद है कि युगचेतना से विच्छिन्न साहित्य के प्रेरक तत्व का अस्तित्व अकल्पनीय है—चाहे वह साहित्य जितना भी अंतर्मुखी और वैयक्तिक क्यों न हो। हिंदी साहित्य में रीतिकाल का आरंभ संवत् १७०० से माना जाता है। इस समय मध्यकालीन राजनीतिक व्यवस्था का आधार था व्यक्ति-वादी निरंकुश राजतंत्र। इस प्रकार की व्यवस्था में शासक ही राष्ट्र के भाग्य का विधाता, युगचेतना का नियामक तथा कुछ सीमा तक एक विशिष्ट जीवनदर्शन का प्रतिपादक भी होता है। उसके सार्वभौम व्यक्तित्व में समस्त अधिकार केंद्रित रहते हैं। जब शासक विजातीय हो तो इस वैयक्तिक तत्व की निरंकुशता और भी बढ़ जाती है। उसकी दृष्टि यदि समन्वयवादी न हुई तो शासक तथा शासित का संबंध केवल शोषक और शोषित का ही रह जाता है।

रीतिकाल के पूर्व सम्राट् अकबर की दूरदर्शिता ने हिंदू मुसलमानों के सांस्कृतिक एवं धार्मिक विचारों तथा भावनाओं के समन्वय द्वारा एक बृहत् राज्य की प्रतिष्ठा की थी। उसकी मृत्यु के पश्चात् जहाँगीर ने राज्य संबंधी गंभीर समस्याओं के समाधान में कोई महत्वपूर्ण योग नहीं दिया, हाँ, मदिरा की सुराहियों और नारी-सौंदर्य के प्रति उसकी असंतुलित और लोलुप वृत्तियाँ उसके उत्तराधिकारियों को विरासत के रूप में अवश्य प्राप्त हुईं। जहाँगीर के बाद शाहजहाँ के सिंहासनारूढ़ होने पर स्थिति में कुछ परिवर्तन आया। उसकी रगों में यद्यपि राजपूती रक्त था, तथापि धर्म के नाम पर वह अत्यंत असहिष्णु था। संस्कारों का यह मिश्रण उसके व्यक्तित्व की ग्रंथियाँ बनकर दो विरोधी तत्वों के रूप में प्रकट हुआ। एक ओर उसकी धार्मिक असहिष्णुता थी और दूसरी ओर सांस्कृतिक तथा कलागत उदारता। शाहजहाँ के समय की सबसे बड़ी विशेषता उस काल की शांतिपूर्ण समृद्धि है। इसी कारण उसे अपने जीवन की सबसे बड़ी महत्वाकांक्षाओं और प्रदर्शनप्रधान वृत्तियों

की अभिव्यक्ति का अवसर मिला। जैसा पहले कहा जा चुका है, निरंकुश राजतंत्र में शासक ही एक विशिष्ट जीवनदर्शन का नियामक होता है। शाहजहाँ की प्रदर्शन-वृत्ति से प्रेरणा प्राप्त कर अलंकरण तथा प्रदर्शन का स्वर उस युग मे प्रधान हो गया। रीतिकाल का आरंभ शाहजहाँ के शासनकाल के उत्तरार्ध से होता है। प्रदर्शनप्रधान, रीतिबद्ध काव्यशैली तथा काव्य में शृंगारपरक जीवनदर्शन की अभिव्यक्ति का श्रेय काफी सीमा तक इस युग मे प्रधान इसी प्रदर्शनवृत्ति को है। देशव्यापी शांति तथा सम्राट् की व्यक्तिगत अभिरुचि साहित्य तथा कला की उन्नति और विकास में बहुत सहायक हुई। अनेक कवि, संगीतज्ञ, चित्रकार और वास्तुशिल्पी उसके दरबार में शरण लेने आते थे और प्रतिभावान् कलावंतों को निराश नहीं लौटना पड़ता था। राजतंत्र सामंतशाही का पोषक होता है, अतः तत्कालीन कलावंतों को सामंतीय छत्र-छाया भी सहज ही प्राप्त हो जाती थी। उस युग के सामंतो मे कलावंतो को आश्रय प्रदान करने के लिये भी पारस्परिक प्रतियोगिता और प्रतिस्पर्धा चला करती थी।

जब धर्म तथा दर्शन का विशाल संरक्षण प्राप्त कर हिंदी सामान्य जनता को राम और कृष्ण के चरित्र पर मुग्ध कर रही थी, अकबर के समय में ही सम्राट् के दरबार की शोभा बढ़ानेवाले अनेक कवियों का प्रादुर्भाव हो चुका था। मुगल दरबार की भाषा फारसी थी। इस भाषा के विकास में जिस शैली का अनुगमन किया गया उसका स्पष्ट प्रभाव भी हमें हिंदी पर दिखाई देता है। शाहजहाँ के समय में लिखे गए फारसी के साहित्य को शैली की दृष्टि से दो शैलियों मे विभाजित किया जाता है—(१) भारतीय ईरानी शैली, (२) विशुद्ध ईरानी शैली। प्रथम वर्ग का सर्वश्रेष्ठ साहित्यकार अबुलफजल पहले ही फारसी भाषा तथा शैली को भारतीय वातावरण के अनुसार ढाल चुका था। उसकी श्रमसिद्ध और अलंकृत शैली में अभिव्यंजना-कौशल के लिये भावतत्व की उपेक्षा की गई थी। अबुलफजल की कृतियों में व्यक्त इस अलंकरण प्रवृत्ति के प्रति शाहजहाँ का आकर्षित होना स्वाभाविक था। उसकी यही इच्छा रहती थी कि मेरे शासनकाल के समस्त विवरण अबुलफजल की अलंकृत शैली में ही लिखे जायँ। परंतु तत्कालीन कवियों का बौद्धिक स्तर बिल्कुल साधारण कोटि का था, उनमें मौलिक प्रतिभा का अभाव था, श्रेष्ठ साहित्य के उदात्त तत्व उनमें नाम को नहीं थे; विचार के नाम पर वे शून्य थे। चमत्कारपूर्ण शब्दनियोजन तथा अन्य प्रकार के अभिव्यंजनाकौशल का प्रदर्शन ही उनका प्रधान ध्येय रहता था। मौलिक प्रतिभा के अभाव के कारण उन्हें फारसी की परंपराबद्ध शैली का अनुसरण करना पड़ा। तत्कालीन गजलों में फारसी से गृहीत गुलोबुलबुल, शीरींफरहाद, लैलामजनूँ इत्यादि का वर्णन ही प्रधान है। दूसरा प्रचलित तथा लोकप्रिय काव्यरूप था कसीदा, जिसे प्रशस्तिगान का फारसी रूप कहा जा सकता है। सम्राट् शाहजहाँ आत्मप्रशंसा सुनने का बड़ा प्रेमी था। वह कवियों को स्वर्ण तथा

रत्नराशि के तुलादान से पुरस्कृत करता था। विभिन्न पर्वों तथा उत्सवों के अवसर पर कवितापाठ द्वारा पुरस्कारप्राप्ति के लिये प्रत्येक कवि के मन में महत्वाकांक्षा रहती थी। जन्मदिवस, सिंहासनारोहण, राजपुत्रजन्म इत्यादि अवसरों की वे प्रतीक्षा में रहते थे[1]।

शाहजहाँ के अहं तथा प्रदर्शनभावना की परिपूर्ति के लिये उसके दरबार में फारसी शायरों का अच्छा जमाव था, परंतु एक तो अकबर द्वारा स्थापित परंपरा की उपेक्षा संभव न थी, दूसरे, भावी युवराज दारा की सहिष्णु नीति का प्रभाव भी शाहजहाँ के दरबार पर पड़ रहा था। ऐसी स्थिति में शासित विधर्मियों के प्रति कट्टरता की नीति अपनाकर भी उनके साहित्य तथा संस्कृति की उपेक्षा करना कठिन था। शाहजहाँ के जीवन की महत्वाकांक्षा थी मुगल गरिमा की अमर स्थापना। उसके समस्त कार्य इसी साध्य की सिद्धि के लिये किए गए थे। मुगल रंगीनियों में अपने दरबार को रँग देने के महत्वाकांक्षी शाहजहाँ द्वारा हिंदी और संस्कृत विद्वानों का संरक्षण कुछ आश्चर्य की वस्तु अवश्य है, पर यह सत्य है कि उसने भारतीय कलाविदों को भी संरक्षण प्रदान किया। सुंदरदास तथा चिंतामणि उसके द्वारा पुरस्कृत किए गए थे[2]। उसके शासनकाल में रचित कमलाकर भट्ट कृत निर्णयसिंधु तथा कवींद्राचार्य कृत ऋग्वेद की व्याख्या इस प्रसंग में उल्लेखनीय हैं। पंडितराज जगन्नाथ ने दाराशिकोह तथा आसफ खाँ का प्रशस्तिगान किया। आसफ खाँ के संरक्षण में नित्यानंद ने ज्योतिष शास्त्र के दो ग्रंथ लिखे और शाहजहाँ के संरक्षण में वेदांगराज ने ज्योतिष शास्त्र तथा सामुद्रिक विद्या में प्रयुक्त होनेवाले फारसी तथा अरबी शब्दों का कोश संस्कृत में प्रस्तुत किया। मित्र मिश्र, जिनके द्वारा व्याख्यात हिंदू विधानों की मान्यता अब भी भारत के विशिष्ट न्यायालयों में स्वीकार की जाती है, शाहजहाँ के समकालीन थे[3]।

इस प्रकार शाहजहाँ की यशलाभ की महत्वाकांक्षा तथा दारा की सहिष्णुता के फलस्वरूप शाहजहाँ के शासनकाल में भारतीय कला तथा साहित्य को संरक्षण प्राप्त हुआ और मुगल दरबार में पोषित दरबारी काव्य का गहरा प्रभाव हिंदी साहित्य पर पड़ने लगा। जीवन के व्यापक उपादानों को छोड़कर वह राजप्रशस्ति और शृंगारवर्णन तक ही सीमित रह गया। पांडित्यप्रदर्शन के लिये समसामयिक भारतीय ईरानी काव्यपरंपरा ने फारसी की प्राचीन परंपराओं से प्रेरणा ग्रहण की।

[1] हिस्ट्री आव् शाहजहाँ आव् दिल्ली, डा० बनारसीप्रसाद, पृ० २४६-५०।

[2] मिश्रबंधुविनोद।

[3] द लिस्ट आव् द संस्कृत राइटर्स आव् शाहजहाँज रेन इन ए बिब्लियोग्रैफी आव् मुगल इंडिया, श्रीराम शर्मा।

उसके समानांतर हिंदी कवियों के समक्ष संस्कृत के प्राचीन काव्यशास्त्र की विकसित परंपरा थी। प्रदर्शन तथा शृंगारप्रधान जीवनदर्शन की अभिव्यक्ति के लिये किसी परंपरा का अवलंबन आवश्यक था, क्योंकि शून्य वर्तमान अतीत का सहारा लेकर आगे बढ़ता है। मुगल दरबार तथा उसके प्रभाव से सामंतीय संरक्षण में जो हिंदी कविता पल्लवित हुई उसे फारसी की स्पर्धा में रखे जाने योग्य तत्वों का अनुशोधन अपने देश की साहित्यिक परंपराओं में करना पड़ा। गजल की शृंगारिकता, गुलो-बुलबुल, शीरींफरहाद और लैलामजनूँ के साहसिक प्रेम की परंपरा भारत में नहीं थी। भारतीय नायक के आदर्श राम और कृष्ण थे और नायिकाओं की सीता तथा राधा। राधा के परकीया रूप में भी मासलता और चाचल्य की अपेक्षा भावना और मार्दव अधिक था। फारसी काव्य की विलासमयी नायिकाओं की तुलना में नायिका-भेद की श्रेणियों में बद्ध नारीसौंदर्य को ही रखा जा सकता था। इसी प्रकार 'कसीदा' की स्पर्धा मे हिंदी में राजस्तुति का महत्व बढ़ने लगा। शैलीगत अलंकरण और प्रदर्शन का उल्लेख और उनके कारणों की विवेचना तो पहले ही की जा चुकी है। व्यक्तिवादी राजतंत्र मे राजदरबार की रुचि का प्रभाव तत्कालीन साहित्य, कला तथा जीवन के विभिन्न क्षेत्रो मे स्पष्ट लक्षित हो रहा था।

शाहजहाँ के बाद

किंतु यह तो रीतिकाल का केवल आरंभ था। उसका पूरा इतिहास तो मुगल वैभव के पतन के साथ संबद्ध है। मयूरसिंहासन और ताजमहल के निर्माण द्वारा शाहजहाँ का मुगल गरिमा की स्थायी स्थापना का स्वप्न पूरा हो गया परंतु उसके शासनकाल के उत्तरार्ध से ही साम्राज्य की शाति और वैभव पर आघात आरंभ हो गए तथा सर्वत्र सर्वव्यापी अशाति के लक्षण दृष्टिगोचर होने लगे। एक ओर मध्य एशिया के आक्रमणों से मुगल साम्राज्य की प्रतिष्ठा को गहरा धक्का लगा, दूसरी ओर साम्राज्य की गंभीर समस्याओ के प्रति जहाँगीर की उदासीनता और शाहजहाँ में अपव्यय के कारण उसकी आर्थिक स्थिति भी अनुदिन क्षीण होती गई। सं० १७१५ में शाहजहाँ भयंकर रोग से ग्रस्त हो गया। रोगशय्या पर पडे व्यथित पिता की आँखों ने अपने पुत्रो को राजगद्दी के लिये वनपशुओं की तरह रक्त बहाते देखा और युवराज दारा की पराजय के साथ ही मुगल इतिहास के पृष्ठों से सहिष्णुता और उदारता का नाम मिट गया। दारा की पराजय में भारत के भाग्य के प्रति नियति का बड़ा भारी व्यंग्य छिपा हुआ था।

दारा की हत्या के साथ ही मध्यकालीन भारतीय वातावरण में अपवाद रूप में उदित सहज मानवता की ही हत्या कर डाली गई। शानोशौकत, वैभव और ऐश्वर्य का सम्राट्, 'पृथ्वी के स्वर्ग' का निर्माता शाहजहाँ सात वर्ष तक साधारण बंदी

के रूप में जीवित रहा, यह शाहजहाँ ही नहीं समस्त उत्तरापथ के प्रति नियति का व्यंग्य था। भाइयों के रक्त में स्नान कर औरंगजेब की तलवार की प्यास बढ़ती ही गई। धर्म के नाम पर काफिरों का खून बहाकर बहिश्त में चाहे उसकी आत्मा को शांति मिल गई हो, परंतु अपने दीर्घ शासनकाल में उसे कभी चैन से बैठने का अवसर नहीं मिला। एक ओर उसकी कठोर अमानवीय धार्मिक नीति के कारण अनेक देशी नरेश उसके विरुद्ध हो गए, दूसरी ओर उसे सिक्खों तथा मराठों की जनशक्ति से लोहा लेना पड़ा। इस्लामी सल्तनत स्थापित करने की महत्वाकांक्षा में उसने मानवीय मूल्यों तथा अपनी नीति के व्यावहारिक परिणामों की चिंता नहीं की। वह कट्टर सुन्नी मुसलमान था और इस संप्रदाय में जीवन के रागात्मक तत्वों के प्रति एक प्रकार का कठोर भाव मिलता है। सौंदर्य, ऐश्वर्य और विलास का त्याग उसमें अनिवार्य है। फलतः जीवन के रागात्मक तत्वों को अभिव्यक्ति प्रदान करनेवाली कलाओं तथा साहित्य के लिये औरंगजेब के 'आदर्श राज्य' में कोई स्थान नहीं था। औरंगजेब के सिंहासनारोहण के पश्चात् ग्यारह वर्ष तक कुछ कलावंत और कवि किसी प्रकार उसके दरबार में बने रहे, परंतु अंततोगत्वा उन्हें बिल्कुल निकाल दिया गया[1]। संगीत तथा नृत्यप्रदर्शन अवैधानिक ठहरा दिए गए। शाहजहाँ के बिल्कुल विपरीत औरंगजेब के व्यक्तित्व में शुष्क सादगी थी जिसका मूल कारण कदाचित् धर्म में अंधविश्वास ही था। नैतिक दृष्टि से जनता के सुधार का प्रयत्न भी उसने किया। वेश्यावृत्ति तथा मद्यपान के पूर्ण निषेध की घोषणा कर दी गई परंतु नैतिक विधान का बाहर से आरोपण इतना आसान नहीं है। परंपरा से चले आते हुए संस्कारों को बादशाह के फरमान इतनी आसानी से नहीं मिटा सकते थे। उस समय अनेक सामंतों के घर में उनके अपने हरम थे जिनमें अपने मनोरंजन के लिये वे मनमानी संख्या में रक्षिताएँ और नर्तकियाँ रखते थे। ऐसी स्थिति मे वेश्यावृत्ति का निषेध होने पर भी उसका क्या परिणाम निकल सकता था[2] ? रागतत्व का उसके व्यक्तित्व मे इतना अभाव था कि संगीतसंमेलनों तथा मुशायरों की मनाही के साथ ही हजरत मुहम्मद साहब के जन्मदिवस पर गाए जानेवाले संगीत को भी उसने निषिद्ध घोषित कर दिया। काव्यकला से तो उसे इतनी घृणा थी की काजी अब्दुल अजीज की मोहर के पद्यबद्ध होने के कारण ही उन्हें उसने पदच्युत कर दिया था। क्षमाप्रार्थना के समय उन्हें बादशाह को यह विश्वास दिलाना पड़ा कि काव्यकला जैसी हेय वस्तु से उनका कोई संबंध नहीं है[3]।

[1] खफी खाँ, ११-२१२, ५६१।
[2] मिरातए अहमदी, १-२५०।
[3] मिरात उल् खयाल, १७५-८।

काफिरों के प्रति उसकी घृणा उत्कृष्ट शिल्प के मंदिरों के विनाश के रूप में व्यक्त हुई। परंतु धर्मांधता का इतिहास क्रियात्मक दृष्टि से सदैव विफल रहा है। औरंगजेब की कट्टरता तथा धर्मांधता ने उसके लिये अनेक समस्याएँ उत्पन्न कर दीं। मुगल साम्राज्य के प्रत्येक भाग में उठती हुई असंतोष और विद्रोह की चिनगारियाँ दिन पर दिन भड़कती ही गई। ऐसी अवस्था में कला और संस्कृति की स्थिति बड़ी ही शोचनीय हो गई। न तो औरंगजेब के शुष्क व्यक्तित्व में इन रसात्मक वृत्तियों के लिये स्थान था और न तत्कालीन अव्यवस्था में राजकीय संरक्षण की संभावना। मुगल दरबार के द्वारा संरक्षण के अभाव के कारण अनेक कलाविदों ने विभिन्न सामंतों तथा नरेशों की शरण ली क्योंकि उनके दरबार में कलावंतों तथा कवियों की उपस्थिति उनके गौरव की प्रतीक थी। मुगल दरबार के अनुकरण पर अपने दरबारों को अलंकृत करने की प्रवृत्ति हमें उस समय के अनेक नरेशों तथा सामंतों मे दिखाई पड़ती है। जहाँ मुगल दरबार में भारतीय ईरानी काव्यपरंपरा को प्रश्रय मिला वहाँ राजस्थान के नरेशों तथा सामंतों की छत्रछाया में हिंदी कविता का दरबारी रूप पनपा। ओरछा, कोटा, बूँदी, जयपुर, जोधपुर और यहाँ तक कि महाराष्ट्र के राजदरबारों में भी वही प्रदर्शनप्रधान और शृंगारपरक जीवनदर्शन की अभिव्यक्ति में काव्यधारा चलती रही।

औरंगजेब के हुक्म से पृथ्वी के नीचे गहरे में दफनाई हुई कला ने यद्यपि उसके समय तथा उसके राज्य की सीमा में सिर नहीं उठाया, परंतु दरबारी कविता की विशेषताओं में रंजित विभिन्न राजाओं के आश्रय में वह बराबर विकसित होती रही। मुगल आक्रमणकारियों के भय से वृंदावन के गोवर्धन मंदिर के अधिकारी तथा पुरोहित मंदिर की मूर्तियों को लेकर चुपचाप निकल गए। राजस्थान में राजा जसवंतसिंह ने सम्राट् के भय से उन्हें अपने यहाँ आश्रय देने से इन्कार कर दिया, परंतु सिसोदिया वंश के राजा राजसिंह ने सिहोर में नाथद्वारा की स्थापना करके प्रतिमाओं की प्रतिष्ठा की और इस प्रकार मेवाड़ वैष्णव धर्म का केंद्र बन गया। सिहोर और काँकरौली में नए वृंदावन की स्थापना हुई और इसके साथ ही धर्म के संरक्षण में पल्लवित होती हुई साहित्य की परंपरा राजस्थान में भी विकसित होने लगी। परंतु धीरे धीरे धर्म की पवित्रता शृंगारप्रधान युगधर्म में लुप्त हो रही थी।

औरंगजेब की मृत्यु के उपरात मुगल सिंहासन के अनेक उत्तराधिकारी उठ खड़े हुए। मुगल साम्राज्य के इस अंतिम चरण की कहानी अव्यवस्था, रक्तपात और घोर नैतिक पतन की कहानी है। लेकिन इन उत्तराधिकारियों में से अनेक कला, साहित्य तथा संगीत के पारखी भी हुए। उनके संरक्षण में कला पनपी तो अवश्य, परंतु गंभीर प्रेरक तत्वों के अभाव के कारण उसका स्तर छिछला ही बना रहा। जीवन के प्रति एक अगंभीर और विलासप्रधान दृष्टि के कारण साहित्य और कला का

प्रयोजन अनुरंजन मात्र ही रह गया। संगीत, वास्तुशिल्प और चित्रकला आदि में भी अभिव्यंजना का रूप परंपरागत और कृत्रिम प्रदर्शनप्रधान रहा, उसके आधारभूत विषयों में गाभीर्य का अभाव रहा। औरंगजेब के उत्तराधिकारियों में महान् व्यक्तित्व के गुणों का अभाव था। शौर्य, तेज तथा चरित्र के नाम पर उनका व्यक्तित्व शून्य था परंतु मुगल वंश के तेज का अवशेष उनकी मिथ्या गौरवभावना और प्रदर्शन-प्रवृत्ति के रूप में अब भी विद्यमान था। अंतिम दिनों में मुगल परंपराओं और ऐश्वर्य के निर्वाह की उन तथाकथित सम्राटों द्वारा दयनीय चेष्टाएँ उदासीन पाठकों के हृदय को भी द्रवित कर देती हैं। दरबार के शिष्टाचारों का निर्वाह वे यथासामर्थ्य अंतिम दिनों तक करते रहे। जहाँ मुगल ऐश्वर्य की गरिमा और गाभीर्य का सजीव परिचय बर्नियर[१], मनूची[२] और ट्रैवर्नियर[३] इत्यादि के उल्लेखों में मिलता है, वहीं उसके अवसान की करुणापूर्ण गाथा भी अनेक विदेशियों द्वारा लिखी गई है। शाहजहाँ के राज्यकाल में दिए जानेवाले रत्नजटित उपहारों के स्थान पर स्वर्णमुद्राएँ दी जाती थीं। स्वर्णखचित खिलअत का स्थान नकली जरी के वस्त्रों तथा अमूल्य रत्नों का स्थान चमकीले पत्थरों और कृत्रिम मुक्ताओं ने ले लिया था। राजकीय जुलूस की गरिमा प्रदर्शित करनेवाली अश्वसेना तथा गजसेना के स्थान पर एकाध घोड़े और हाथी शेष रह गए थे। शिष्टाचारनिर्वाह के लिये अतिथि के साथ ये घोड़े भेज दिए जाते थे और फिर लौटाकर उन्हें अश्वशाला में बाँध दिया जाता था[४]। अतीत की गरिमा का यह अवशेष और उसके प्रति यह मोह कितना कारुणिक रहा होगा।

मुगल दरबार से हिंदी का संबंधविच्छेद

शाहजहाँ के समय से ही हिंदी कवियों ने हिंदू राजाओं के दरबार में आश्रय लेना आरंभ कर दिया था। औरंगजेब की कट्टर नीति के फलस्वरूप तो मुगल दरबार से हिंदी का बहिष्कार ही हो गया। इस प्रकार साधारणतः रीतिकालीन कविता को सामंतों के आश्रय में ही पोषण मिला। यहाँ की स्थिति और भी दयनीय थी। मुगल सम्राटों के सामने तो अनेक आतरिक और बाह्य समस्याएँ बनी रहती थीं। अतएव विलास और ऐश्वर्य के साथ ही साथ कुछ उद्यम भी करना आवश्यक हो जाता था परंतु उनके कदमों पर चलनेवाले सामंत और नरेश निर्विघ्न वैभव और विलास में ही तल्लीन रहते थे क्योंकि उनकी समस्याएँ अपेक्षाकृत कम जटिल थीं। धीरे धीरे उनमें से भी आत्मनिर्भरता, देशभक्ति, प्राचीन कुलमर्यादा की भावना

[१] बर्नियर, पृ० २०२।

[२] मनूची, भाग १, पृ० २०६।

[३] ट्रैवर्नियर, भाग १, अध्याय ८ और ६।

[४] ट्विलाइट आव् द मुगल्स, परसीवल स्पियर, पृ० ८२।

इत्यादि, जो शताब्दियों से राजपूत जाति के विशेष गुण माने जाते थे, लुप्त होते जा रहे थे। स्वातंत्र्यप्रेम, जिसकी अनेक कहानियाँ भारत के कोने कोने में फैली हुई थीं, मिथ्या आत्मसंमान के रूप में ही शेष रह गया था। राजपूतों की दृढ़ बाहुओं में भी मुगल दरबार की नजाकत और कोमलता प्रवेश कर गई थी। राजस्थानी जौहर का स्थान भ्रष्टाचार ने तथा सबल पौरुष का स्थान अनैतिक विलास ने ले लिया था। सवाई राजा जयसिंह के उत्तराधिकारी पैरों मे घुँघरू बाँधकर अपने अंतःपुर में नृत्य करते थे[१] और कला का प्रयोजन केवल विलासपरक जीवन के उद्दीपन के रूप में ही शेष रह गया था। इन असमर्थ और अयोग्य शासकों की परिषदों में भी अभिजात वर्ग के दूरदर्शी तथा बुद्धिमान सामंत नहीं रह गए थे। इनके स्थान पर नाई, दर्जी, महावत, भिश्ती जैसे निम्न बौद्धिक स्तर के व्यक्ति उनके विश्वासपात्र बन गए थे। इस प्रकार के आश्रयदाताओं की संरक्षा मे रहनेवाले कवि के लिये स्वाभाविक था कि वह अपने वैदग्ध्य और कल्पना के बल पर उनके भोगपरक जीवन और वैभवविलास के अतिरंजनापूर्ण चित्र अंकित करे। यही कारण है कि रीतिकाल मे कला का विकास इन्हीं राजाओं की रुचि के अनुसार हुआ। राजपूत राजाओं के संरक्षण मे संगीत कला का भी विकास हुआ परंतु संगीत के विशद और गंभीर तत्वों की अपेक्षा उन्हें आलंकारिक गिटकिरियों में ही विशेष आनंद आता था[२]। कर्नल टाड के शब्दों मे—'अफीम के मद मे टप्पे की धुन पर मस्त होकर राजपूत स्वर्गिक आनंद का अनुभव करते थे[३]।' उन्हीं के शब्दों मे, मस्तिष्क के परिमार्जन तथा सुंदरतर जीवन व्यतीत करने की कला सदैव किसी जातिविशेष की समृद्धि पर निर्भर रहती है। एक की अवनति के साथ दूसरे का पतन अनिवार्य हो जाता है। उत्तर मध्यकाल के समाप्त होते होते राजस्थान मे ज्योतिष, काव्य, संगीत अथवा सांस्कृतिक मूल्य की अन्य कलाओं को आश्रय देने योग्य कोई संरक्षक शेष नहीं रह गया था[४]।

निष्कर्ष यह है कि मध्यकालीन राजनीतिक व्यवस्था में राजतंत्र तथा सामंतवाद के प्राधान्य ने कला तथा साहित्य को ऐश्वर्य और अलंकार के रूप में स्वीकार किया। ऐसी स्थिति मे साहित्यसर्जना का क्षेत्र अभिव्यंजनागत चमत्कार और आश्रयदाता के रुचिप्रसादन तक ही सीमित हो गया। औरंगजेब की संकीर्णता ने दिल्ली से हिंदी का उन्मूलन अवश्य किया, परंतु हिंदी जनभाषा होने के कारण धर्म और जीवन के अन्य व्यापक आधारों के सहारे पनपती रही। सामंतीय वातावरण में जो काव्य

[१] राजपूत फ्यूडैलिज्म।
[२] कुक, भाग २, पृ० ७५२-५५।
[३] टाड्स पर्सनल नैरेटिव।
[४] ऐनल्स आव राजस्थान, टाड।

पल्लवित हुआ उसमें चाहे स्थूल शृंगार की नग्नता कितनी ही हो परंतु इस तथ्य को भी हमें स्वीकार करना पड़ेगा कि प्राचीन की पुनः स्थापना का श्रेय भी तत्कालीन राजकीय संरक्षण की प्रदर्शनप्रियता तथा शृंगारप्रधान दृष्टि को ही था। पुरातन के इस नूतन उद्घाटन के पीछे यदि प्रदर्शनवृत्ति न होकर जिज्ञासुवृत्ति होती तो हिंदी की रीति-काव्य-परंपरा भारतीय काव्यशास्त्र के इतिहास में एक अपूर्व घटना होती, परंतु पराधीन देश का वर्तमान ही नहीं अतीत भी गुलाम बन जाता है—उसका पुनराख्यान भी प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में विजेता की अभिरुचि के अनुसार ही किया जाता है। रीतिकाव्य में मौलिकता और नवीन उद्भावनाओं के अभाव का यही मूल कारण था।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि विवेकहीन विलास उस युग के जीवन का प्रधान स्वर हो गया था। यही कारण है कि राजाश्रित कवियों की वाणी वैभव और विलास की मदिरा पीकर बेसुध हो उठी।

राजनीतिक और सामाजिक दुर्व्यवस्था

शाहजहाँ के शासनकाल के उत्तरार्ध में जो अशांति तथा अव्यवस्था आरंभ हुई, उसकी समाप्ति मुगल साम्राज्य के पतन के साथ ही हुई। राष्ट्रीय प्रगति के लिये जहाँ एक ओर बाह्य शांति तथा अनुकूल वातावरण की आवश्यकता होती है वहीं एक आंतरिक प्रेरणा की भी अनिवार्य आवश्यकता होती है। अकबर, जहाँगीर और शाहजहाँ के समय की समृद्धि के कारण भारतीय वैभव की धाक विदेशों तक में जम गई थी। पानीपत के दूसरे युद्ध के बाद मुगल शक्ति से टक्कर लेने की क्षमता किसी में नहीं रह गई थी। मुगल साम्राज्य अविजित तथा उसकी शक्ति अमोघ मानी जाती थी। औरंगजेब के काल में शिवाजी के प्रबल आक्रमणों से मुगल साम्राज्य की नींव हिल उठी और एक सार्वजनिक अश्रद्धा भाव तथा अनुशासनहीनता के कारण भारत की आर्थिक व्यवस्था भी बिगड़ गई। दूसरी ओर दक्षिण में पचीस वर्षों तक अनवरत युद्ध होते रहने का प्रभाव भी बहुत घातक सिद्ध हुआ। डेढ़ लाख मुगल सैनिकों का अभियान जिस ओर होता वहाँ की सारी फसल नष्ट हो जाती[1]। मराठे भी विजय प्राप्त करने की धुन में इन बातों की परवाह नहीं करते थे। श्रमिक वर्ग केवल आततायियों के अत्याचार, बेगार और क्षुधा से ही पीड़ित नहीं था, अनेक महामारियों के फैलने से भी जनधन की बहुत हानि हुई। जो कृषक इन आपत्तियों के बाद भी बचे रहे उनके पास जीविकानिर्वाह का कोई साधन नहीं था। अतएव

[1] ही लेफ्ट बिहाइंड हिम द फील्ड्स आव् दीज प्राविंसेज डिवाएड आव् ट्रीज ऐंड लीव्ज आव् ग्रास, देयर प्लेसेज बीइंग टेकेन बाई द बोन्स आव् मेन ऐंड बीस्ट्स। —मनूची।

उनमें से अनेकों ने दस्युवृत्ति ग्रहण कर ली। केंद्रीय शासन के दुर्बल हो जाने के कारण प्रातीय शासकों ने व्यापार संबंधी विधानों की उपेक्षा करना आरंभ कर दिया जिससे व्यापार तथा कलाकौशल को गहरा धक्का पहुँचा। ग्रामोद्योग प्रायः समाप्त हो गया। इस प्रकार भारत पर एक भयंकर आर्थिक संकट आ पड़ा जिसके कारण भारत की संस्कृति और सभ्यता का अनुदिन ह्रास होता गया।

यह युग घोर अव्यवस्था का युग था। मुगल सैनिक तो जनता के ऊपर अत्याचार करते ही थे, बंजारों और पिंडारियों ने भी उनका जीवन दूभर कर रखा था। राजनीतिक कार्य पर जाते हुए राजदूत भी मार्ग में पड़नेवाले ग्रामों को उजाड़ते और नष्टभ्रष्ट करते जाते थे। भ्रष्टाचार की मात्रा सीमा का अतिक्रमण कर गई थी। राजकीय करों की वसूली के लिये जागीरदारों के अनेक प्रतिस्पर्धी कर्मचारी अपने कार्यकाल की अवधि में अधिक से अधिक धन कमा लेने की लालसा में कृषकों का रक्त शोषण करते थे।

उत्तर भारत के प्रदेशों का शासन छोटे छोटे जागीरदारों के हाथ में आ गया। सभी महत्वाकांक्षी वर्ग मुगल सम्राट् के विरुद्ध सिर उठाने लगे। बंगाल, जौनपुर, मालवा, इलाहाबाद तथा उत्तरी उड़ीसा में विद्रोह खड़े हो गए। उधर मेवाती जाट और राजपूत जातियों की वाणी में विद्रोह के स्वर भर उठे थे।

औरंगजेब की मृत्यु के उपरांत तो स्थिति पूर्ण रूप से शोचनीय हो गई। उसके सब उत्तराधिकारी असमर्थ, विलासी और अयोग्य निकले। मुगल राज्यव्यवस्था में जहाँ सम्राट् के व्यक्तित्व में ही समस्त शक्तियाँ निहित रहती थीं, इस प्रकार का वातावरण पूर्णतया घातक सिद्ध हुआ। केंद्रीय शासन के दुर्बल हो जाने से अनेक प्रदेशों के शासक, जो पहले से ही सिर उठा रहे थे, स्वतंत्र हो गए। आगरे में जाट तथा राजस्थान में राजपूत विद्रोह करने पर तुल गए। दिल्ली के उत्तर में बंदा बैरागी ने बहादुरशाह और फर्रुखसियर दोनों की नाक में दम कर रखा था। दक्षिण में मराठों की शक्ति बढ़ रही थी। उधर भारतीय अव्यवस्था का लाभ उठाने के लिये यूरोप की अनेक व्यापारिक कंपनियाँ अपने हाथ पैर फैला रही थीं। नादिरशाह तथा अहमदशाह अब्दाली के भयंकर आक्रमणों ने मुगल साम्राज्य की शक्ति को भयंकर हानि पहुँचाई। विभिन्न अधिपतियों के पारस्परिक वैमनस्य तथा विकेंद्रित राजनीति का लाभ उठाकर अंग्रेजों ने बक्सर के युद्ध में मुगल शासक शाहआलम को पराजित करके बंगाल, बिहार और उड़ीसा की दीवानी प्राप्त कर ली। शाहआलम सैन्यबल के अभाव में अपने राज्य की रक्षा करने में असमर्थ रहा। मुगलवंश के नामशेष सम्राट् अंग्रेजों द्वारा परिचालित कठपुतलियों के रूप में ही शेष रह गए, जिनकी करुण अवस्था का उल्लेख पहले किया जा चुका है। शाह-

आलम की हृदयद्रावक दुर्दशा का चित्र इतिहासकार लेनपूल ने बड़े मार्मिक शब्दों में अंकित किया है[१]।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि संबद्ध दो शताब्दियों का इतिहास विप्लवों और युद्धों का इतिहास है। इन युद्धों के पीछे यदि राष्ट्र का स्वर होता, शोषक के प्रति आक्रोश होता, जनता की शोषित भावनाओं का विद्रोह होता तो तत्कालीन साहित्य में भी जनता का सिंहनाद गुंजरित हो उठता, परंतु उन युद्धों और विप्लवों की पृष्ठभूमि में व्यक्तिगत पारस्परिक वैमनस्य, धार्मिक संकीर्णता और अधिकारलोलुपता थी। उदात्त प्रेरणा के अभाव में इस राजनीतिक ऊहापोह और सामाजिक अव्यवस्था के कारण जनता का जीवनस्तर और भी नीचा हो गया।

विलासप्रधान जीवनदर्शन तथा पतनोन्मुख युगधर्म

जैसा हमने ऊपर निर्देश किया है, यों तो मुगल वंश के ऐश्वर्य और वैभव में विलासिता की प्रधानता आरंभ काल से ही चली आ रही थी, फिर भी प्रथम तीन सम्राटों ने विलास की उद्दाम लहरों में अपने आपको बह नहीं जाने दिया था। पर जहाँगीर के व्यक्तित्व में विलासतत्व असंतुलित रूप में प्रकट हुआ और फिर शाहजहाँ की विभवप्रियता और विलासप्रियता का तद्युगीन सामंतों के जीवन पर इतना प्रभाव पड़ा कि उनकी कर्तव्यशक्ति का दिन पर दिन ह्रास होता गया। शाहजहाँ के व्यक्तित्व के इस पक्ष के विषय में उसके समसामयिक भारतीय और विदेशी इतिहासकारों में बड़ा मतभेद है। भारतीय इतिहासकारों के अनुसार वह इस्लाम के आदर्शों की दृष्टि से आदर्श शासक था[२]। परंतु बर्नियर और मनूची ने उसे एक कामुक और विलासी व्यक्ति के रूप में चित्रित किया है। उनके अनुसार पाशविक ऐंद्रिय भोग ही उसके जीवन का लक्ष्य था। हरम में लगनेवाले रूपबाजार, राज्य के द्वारा अनुचरियों की व्यवस्था तथा अंतःपुर में शत शत अंगसेविकाओं की उपस्थिति उसकी इसी लोलुपवृत्ति की परिचायक है[३]।

[१] ह्वेन लार्ड लेक एंटर्ड डेल्ही इन १८०३ ही वाज शोन ए मिजरेबुल ब्लाइंड ओल्ड ईवेसाइल सिटिंग अंडर ए टैटर्ड कैनापी। इट वाज शाहआलम, किंग आव् द वर्ल्ड, वह कैप्टिव आव् द मराठाज, ए रैचेड ट्रैवेस्टी आव् दि एंपरर आव् इंडिया। नो कर्टेन एवर-ड्राप्ड आन ए मोर वोफुल ट्रैजेडी।—औरंगजेब ऐंड द डीके आव् मुगल एंपायर, एस० लेनपूल, पृ० २०६।

[२] काजिमी, पृ० १०२; लाहौरी, जिल्द १, पृ० १२–९।

[३] इट वुड सीम ऐज इफ दि ओन्ली किंग शाहजहाँ केयर्ड फार वाज द सर्च फार वीमेन टु सर्व हिज प्लेजर।—मनूची, जि० १, पृ० १६५।

बर्नियर के अनुसार भी उसके मन में मांसल ऐंद्रिय उपभोग के लिये बड़ी दुर्बलता थी[१]। अन्य विदेशी यात्रियों ने भी इसी प्रकार का उल्लेख किया है। कहीं कहीं तो अनेक उच्च कर्मचारियों की पत्नियों तथा स्वयं अपनी पुत्रियों के साथ उसके अवैध ऐंद्रिय संबंधों का उल्लेख किया गया है[२]। यहाँ तक कि जहाँनारा के प्रति उसके असीम प्रेम के मूल में भी उन्होंने इसी संबंध की कल्पना की है[3]। इन अफवाहों में सत्य कितना है, यह कहना कठिन है। भारतीय इतिहास ग्रंथों में इन बातों का कोई प्रमाण नहीं मिलता, परंतु यह तो सत्य ही है कि मुगल सम्राटों में एकपत्नीव्रत नहीं था। अकबर, जहाँगीर और शाहजहाँ की अनेक पत्नियाँ थीं तथा असंख्य रक्षिताओं और परिचारिकाओं से उनका महल भरा रहता था[४]। यह सब होते हुए भी विदेशी लेखकों के उल्लेख में अत्युक्ति जान पड़ती है। एक आधुनिक इतिहासकार के मत में जहाँनारा के संबंध में लोकापवाद उस युग के निम्न बौद्धिक स्तर का ही परिचायक अधिक है। स्त्रियों के प्रति उसकी दुर्बलता उसके चरित्र का एक अंग मात्र थी, उसके जीवन में संघर्षों की कमी नहीं थी, और एक लोलुप व्यक्ति के लिये इतनी बड़ी सफलताएँ प्राप्त करना संभव नहीं था। हाँ, यह सत्य है कि उसकी गरिमा अतुलनीय थी और ऐश्वर्य तथा वैभव के प्रदर्शन के लिये वह पागल रहता था।

मुगल सम्राटों के इस विलासप्रधान दृष्टिकोण का प्रभाव उनके सामंतों पर पड़ा, फलस्वरूप उनका दृढ़ पौरुष दिन पर दिन क्षीण होता गया। अभिजात संस्कृति के नाम पर केवल विलास और प्रदर्शन ही अवशिष्ट रह गए। धीरे धीरे निम्न वर्ग के व्यक्ति उनका आसन ग्रहण करने लगे और समाज का बौद्धिक स्तर बहुत नीचा हो गया। तत्कालीन सामंतों के नैतिक पतन का ज्वलंत उदाहरण औरंगजेब के प्रधान मंत्री के पौत्र मिर्जा तफक्कुर का है जो अपने गुंडे साथियों के साथ बाजार की दूकानें लूट लेता था और राजमार्ग पर चलती हुई हिंदू स्त्रियों का अपहरण किया करता था, लेकिन उसके दंड की व्यवस्था की शक्ति किसी न्यायाधीश में नहीं थी[५]। इन सामंतों का असीम वैभव विलास के इतने साधन जुटाने में समर्थ था जिनकी कल्पना फारस का सम्राट् भी नहीं कर सकता था। तृतीय वर्ग के सामंतों की आय भी बलख के

[१] बर्नियर्स ट्रैवेल्स, पृ० २७३।

[२] मनूची, ५, पृ० १६४।

[3] मनरिक्वमा, २, पृ० १४०-४४; पीटर मंडी, ५ २, पृ० २०३, टैवर्नियर, १, पृ० ३४४।

[४] बारिस, पृ० ७०।

[५] इमादुस्सआदत अहकाम।

सम्राट् की आय से अधिक थी[१]। स्वभावतः विलास की मात्रा औचित्य का अतिक्रमण कर गई थी। अधिकतर सामंतों के अंतःपुर में विभिन्न वर्गों और जातियों की अनेक स्त्रियाँ रहती थीं। मुगलवंश की संतति जिस वातावरण में पल रही थी उसमें उनका बाल्यकाल से ही ईर्ष्याद्वेष से युक्त अश्लील आचार विचारों से संपर्क आरंभ हो जाता था। जिस युग में नारी का अस्तित्व अनुरंजन मात्र के लिये था उसमें महान् व्यक्तित्वों के निर्माण की संभावना कैसे की जा सकती थी? राजपुत्रों तथा सामंतपुत्रों की उपयुक्त शिक्षादीक्षा का तो प्रश्न ही नहीं था। जीवन के संघर्षों से अपरिचित, हिजड़ों तथा दासियों द्वारा संरक्षित, वे ऐसा जीवन व्यतीत करते थे जहाँ उनकी शय्या पर फूलों की पंखुड़ियाँ भी चुभ जाने के भय से चुन चुनकर रखी जाती थीं। जीवन के आरंभ से ही अनेक विकृतियों से उनका परिचय हो जाता था। इस उच्छृंखल वातावरण का फल यह हुआ कि उस युग का अभिजात वर्ग बहुत ही शीघ्र तथा अनियंत्रित रूप से पतन की ओर उन्मुख होने लगा। यौन संबंधों के विषय में तो उनके लिये नियंत्रण था ही नहीं, मद्य तथा द्यूत का व्यसन भी उनके जीवन का अंग बन गया था।

'यथा राजा तथा प्रजा'। साधारण जनता में भी विलास अपनी चरम सीमा पर पहुँच रहा था। मद्यपान हिंदुओं तथा मुसलमानों में समान रूप से प्रचलित था। राजपूत, कायस्थ और खत्री कोई भी इस दोष से अछूता नहीं था। मध्य तथा निम्न वर्ग के राजकर्मचारियों के यहाँ भी छोटे छोटे हरम रहते थे जिनमें अनेक रक्षिताएँ रहती थीं। उच्च तथा साधारण दोनों ही वर्गों की जनता में अंधविश्वास प्रचुर रूप से बढ़ रहा था। ज्योतिषियों की भविष्यवाणी और सामुद्रिक शास्त्र के द्वारा उनकी कार्यविधियों का परिचालन होता था। खफी खाँ ने तो नरबलि जैसी अमानुषिक वस्तु के अस्तित्व का भी उल्लेख किया है। मनूची के अनुसार दीर्घ भुजाओंवाले व्यक्तियों की पूजा उन्हें हनुमान का अवतार मानकर की जाती थी। जनता में नागरिक भाव का पूर्ण अभाव हो गया था। स्वार्थांध होकर विलास के उपकरण एकत्रित करना ही उनके जीवन का लक्ष्य रह गया था।

मुगल सम्राटों का यह दुर्भाग्य रहा कि उनकी आँखों को राजसिंहासन के लिये अपने पुत्रों का खून बहते देखना पड़ता था। औरंगजेब के उत्तराधिकारियों के जीवन में यह विभीषिका तो थी ही, उनका दुर्भाग्य उन्हें विवेकहीन विलास की ओर भी खींचे लिए जा रहा था। जहाँदारशाह के समय में यह विवेकहीनता पराकाष्ठा पर पहुँच गई जब राजकार्य उसकी रक्षिता लालकुँवर के संकेतों पर चलने

[१] अब्दुल हमीद, जि० २, पृ० ५४२।

लगा। उस निम्नवर्ग की स्त्री के संकेतों पर अन्न का भाव बढ़ा दिया गया तथा उसके मनोरंजन के लिये यात्रियों से भरी हुई नौका जलमग्न कर दी गई[1]। लालकुँवर के अनेक संबंधियों की नियुक्ति उच्च तथा उत्तरदायी पदों पर हो गई थी। वे जनता पर मनमाना अत्याचार किया करते थे। नगर के सर्वश्रेष्ठ प्रासाद उन्हें दे दिए गए थे। इस प्रसंग में एक प्रसिद्ध इतिहासकार के शब्द उल्लेखनीय हैं: 'गिद्धों के नीड़ों मे उल्लू रहने लगे तथा बुलबुलों का स्थान कागों ने ले लिया[2], सारंगीवादक और तबलचियों की नियुक्ति उच्च पदों पर हो गई थी। जाहिरा कुँजड़िन को बड़ी बड़ी जागीरें तथा उच्च पद प्रदान किए गए थे'। लालकुँवर की इन साथिनों की नैतिक उच्छृंखलताओं की अनेक कहानियाँ प्रललित हैं। स्त्रियों के इशारों पर नाचनेवाले इन सम्राटों की असमर्थता और अयोग्यता की कल्पना सहज ही की जा सकती है। जहाँदारशाह ने मुगल वंश की मर्यादा और गरिमा को मिट्टी में मिला दिया। सार्वजनिक स्थलों में उन्मुक्त विलासक्रीड़ा उसकी दिनचर्या थी। संतानोत्पत्ति की इच्छा से वे शेख नासिरुद्दीन अवधी की दरगाह में नग्न स्नान करते थे। रात में लालकुँवर के अनेक निम्न वर्ग के प्रेमी मद्यपान के लिये एकत्र होते, मत्त होकर बादशाह को ठोकरों और थप्पड़ों से बेहाल कर देते। लालकुँवर की प्रसन्नता के लिये जहाँदारशाह यह सब सहता था[3]। मुगल साम्राज्य ऐसे शासकों की छाया में कितने दिनों तक लड़खड़ाता चल सकता था। जहाँदार-शाह के समान अयोग्य शासक कितने दिनों तक इस गंभीर उत्तरदायित्व को सँभाल सकते थे। अंत में स्थिति विषमता की इस सीमा पर पहुँची कि दिल्ली के लालकिले में मुगल वंशजों की एक भीड़ की भीड़ अर्द्धनग्न और क्षुधापीड़ित रहने लगी—मुगल गरिमा और ऐश्वर्य के नाम पर एक करुण अवसाद ही शेष रह गया। अंग्रेजों द्वारा नजरबंद मुगल वंश के युवराज में 'बिगड़े बादशाह' के 'छैल रूप' का परिचय स्लीमैन तथा लार्ड हेस्टिंग्ज के उल्लेखों में मिलता है[4]।

[1] खुशहालचंद, ३९० बी।

[2] इबारतनामा, ४६ बी, कामराज।

[3] डच डायरी, वैलेनटाइन, ४, २९४।

[4] दिस (चेरी ब्रैंडी) ही वुड से टु मी इज रियली द ओनली लिकर दैट यू इंगलिशमैन हैव वर्थ ड्रिंकिंग, ऐंड इट्स ओनली फाल्ट इज दैट इट मेक्स वन ड्रंक टू सून। टु प्रोलांग दिस प्लेजर ही यूज्ड टु लिमिट हिमसेल्फ टु वन लार्ज ग्लास एवरी आवर टिल ही गाट डेड ड्रंक। टू आर थ्री सेट्स आव् डांसिंग वीमेन यूज्ड टु रिलीव ईच अदर इन ऐम्यूजिंग हिम ड्यूरिंग दि इनटर्वल। —स्लीमन, डब्ल्यू० एच०, रैंबल्स ऐंड रिकलेक्शंस, वी० स्मिथ द्वारा संपादित, पृ० ५०९।

ही वाज इन टारटार ड्रेस, द रोब क्रिमजन सैटिन, द वेस्ट ब्ल्यू, लाइंड विद फर, वो द

धार्मिक परिस्थितियाँ ✓

नैतिक तथा बौद्धिक ह्रास के इस युग में धर्म की उदात्त भावना पूर्ण रूप से लुप्त हो गई थी। धर्म का उद्देश्य होता है व्यक्ति और समाज के नैतिक स्तर को उच्च बनाना तथा जनता में लौकिक संघर्षों से टक्कर लेने की शक्ति उत्पन्न करना। परंतु रीतिकाल में धर्म के नाम पर भी अनेक विकृतियाँ ही अवशिष्ट रह गई थीं। उस युग में अंधविश्वास, रूढ़ियों का अनुसरण और बाह्याडंबरों का पालन ही धर्म की परिभाषा थी। ईश्वर और खुदा की प्रेरणामयी भावनाओं के स्थान पर पंडितों और मुल्लाओं का स्थूल और लौकिक अस्तित्व स्थापित हो गया था जिनकी संमति और वाणी अंधविश्वास से युक्त अशिक्षित जनता के लिये वेदवाक्य अथवा खुदा की आवाज का काम करती थी। यही नहीं, ईश्वर और खुदा के प्रतिनिधि एक दूसरे को अपना प्रतिद्वंद्वी समझते थे, अतः दोनों में समझौते की भावना का पूर्ण अभाव हो गया था।

भक्तिकालीन माधुर्य भक्ति की उदात्त भावनाएँ और उसके सूक्ष्म तत्व इस काल तक आते आते पूर्ण रूप से तिरोहित हो चुके थे। लीलापुरुष श्रीकृष्ण के प्रति माधुर्य भक्ति अब राधाकृष्ण के स्थूल, मासल शृंगार का रूप धारण कर चुकी थी। कृष्ण-भक्ति-परंपरा के अनेक संप्रदायों में माधुर्य भक्ति की स्निग्ध मधुर उपासना के नाम पर स्थूल शृंगारपरक उपासना ही शेष रह गई थी जिसकी आड़ में नैतिक भ्रष्टाचार धर्म के क्षेत्र में उतनी ही प्रबलता से व्याप्त हो रहा था जैसे समाज के अन्य क्षेत्रों में। रागात्मिका भक्ति की उदात्त भावना को समझने और उसका अनुसरण करने की न तो तत्कालीन जनता के मस्तिष्क में परिष्कृति थी, न उदात्त भावना। प्रेमलक्षणा भक्ति को माधुर्य भक्ति और शृंगार रस को उज्वल रस की संज्ञा देकर चैतन्य संप्रदाय के आचार्य श्री रूपगोस्वामी ने अपने ग्रंथों में लौकिक शृंगार और प्रेम के उन्नमित रूप की अभिव्यक्ति की थी और कृष्णभक्ति का एक दिव्य रूप स्थापित करके शृंगार तत्व की स्थूलताओं का परिमार्जन भी किया था, परंतु आगे चलकर इस भक्ति में से भावतत्व तो पूर्ण रूप से लुप्त हो गया, केवल स्थूल कामचेष्टाओं की अभिव्यक्ति में ही भक्तिपरक ग्रंथों की रचना की जाने लगी। पुण्यप्रेम के स्थान पर कामुक लोलुपता धार्मिक साहित्य और धर्म के ठेकेदार महंतों के जीवन में भी व्याप्त

बेदर वाज ओवरपावरिंग्ली हाट। आन हिज हेड ही वोर ए हाई कोनिकल कैप, आर्नामेंटेड विद फर ऐंड ज्युवेल्स। हिज हेयर वाज लांग ऐंड फ्रिज्ड पेट द साइड्स जस्ट एनफ टु प्रिवेंट ट्रेस हैंगिंग आन हिज शोल्डर्स।

—प्राइवेट जर्नल आव् लार्ड हेस्टिंग्ज, पृ० १५३-५४।

हो गई। चैतन्य और राधावल्लभ संप्रदायों की गद्दियाँ रसिक जीवन का केंद्र बन गईं। रामभक्ति के विभिन्न संप्रदायों की भी यही गति थी। दनुजदलन, लोकरक्षक, मर्यादापुरुषोत्तम रामचंद्र अब सरयू किनारे कामक्रीड़ा करने लगे। धनुष उनका श्रृंगार बन गया, सीता के व्यक्तित्व का मार्दव और आदर्श युग की श्रृंगारिकता में लुप्त हो गया और सीता का भी केवल रमणी रूप ही शेष रह गया। रसिक संप्रदाय के भक्त उनकी संयोगलीलाओं को भी सखी बनकर निहारने लगे। माधुर्यसाधना में निहित पुण्यभावना पूर्ण रूप से नष्ट हो गई; केवल भक्तजनों का स्त्री रूप, उनकी स्त्रैण चेष्टाएँ और शारीरिक स्थूल आकाक्षाएँ धर्म की विकृति बनकर ही रह गईं। इन विकृतियों को 'उन्नयन' का नाम देना ईश्वरभावना का अपमान करना होगा। प्रायः सभी भक्ति का आध्यात्मिक रूप तिरोहित हो गया और सर्वत्र एक स्थूल पार्थिवता व्याप्त दिखाई देने लगी। कुछ संप्रदायों मे गुरुपूजा को जो महत्व प्रदान किया गया उसमें गोपीभाव के प्राधान्य के कारण अनाचार के प्रचार में बहुत सहायता मिली। भक्ति मे वित्तसेवा का भी बड़ा महत्व था, फलस्वरूप बड़े बड़े महंतों की गद्दियाँ छत्रवान् राजाओं के वैभव से टक्कर लेने लगीं। एक प्रसिद्ध इतिहासकार के शब्दों में—'उनके विलास के लिये जो साधन एकत्रित किए जाते थे, अवध के नवाब तक को उनसे ईर्ष्या हो सकती थी या कुतुबशाह भी अपने अंतःपुर में उनका अनुसरण करना गर्व की बात समझते। मंदिरों और मठों में देवदासियों का सौंदर्य और उनके घुँघरुओं की झनकार मठाधीशों की सेवा और मनोरंजन के लिये सर्वदा प्रस्तुत रहती थीं? सूक्ष्म आध्यात्मिकता की विकृति का यह स्थूल रूप वास्तव में धर्म के इतिहास में एक अंधकारपूर्ण पृष्ठ है।

निर्गुण भक्तिपरंपरा के अनुयायी अपेक्षाकृत अधिक संगठित और संयमी थे। बाह्याडंबर, ईश्वरीय भावना के प्रति संकीर्णता इत्यादि धर्म के पतनमूलक तत्वों का उनमें अभाव तो नहीं था परंतु सगुण मतवादियों की विकृतियों की तुलना में उनकी मात्रा बहुत कम थी। सत्रहवीं शताब्दी में लालदासी, सतनामी और नारायणी पंथ हुए। अठारहवीं शती में प्राणनाथ, धरनीदास, चरनदास इत्यादि संतों ने अपने मत का प्रचार किया। मुसलमानों में भी चिश्तिया, निजामिया, कादिरिया आदि पंथ प्रचलित थे परंतु इन सभी संतों में मौलिक प्रतिभा का पूर्ण अभाव हो गया था। सूक्ष्म मनन विवेचन की क्षमता इन संतों में न थी। किसी भी संप्रदाय में ऐसा महापुरुष नहीं हुआ जो समाज की गतिविधि को अपनी वाणी के ओज अथवा अपनी आत्मा की शक्ति द्वारा बदल देता। युग की विलासपरक दृष्टि से ये भी अप्रभावित न रह सके और इनके जीवन में भी ऐश्वर्य की तृष्णा जाग उठी। सूफी सिद्धांतों पर आधृत धार्मिक रचनाओं में भी स्थूल श्रृंगार, नखशिखवर्णन और नायिकाभेदों का समावेश होने लगा।

कला की स्थिति

चित्रकला—रीतियुगीन काव्य के समान ही उस युग की चित्रकला की विभिन्न शैलियाँ अधिकतर सामंतों और राजाओं के संरक्षण में विकसित और पल्लवित हुईं। डा० कुमारस्वामी ने राजपूत तथा मुगल शैली को बिल्कुल पृथक् मानकर प्रथम को जनभावनाओं की प्रतीक तथा दूसरी को दरबारी स्वीकार किया था। परंतु नई शोधों के आधार पर यह सिद्ध कर दिया गया है कि दोनों शैलियाँ एक दूसरे से काफी प्रभावित हैं। पहाड़ी शैली भी, स्थानीय वातावरण के चित्रण के पार्थक्य के साथ, राजस्थान शैली की ही एक प्रशाखा है[1]।

रीतिकाल की दो शताब्दियों में प्राप्त चित्रफलकों के प्रतिपाद्य और शैली दोनों में ही एक परंपराबद्ध दृष्टिकोण दृष्टिगत होता है। जिस प्रकार साहित्य के क्षेत्र में नूतन मौलिक प्रतिभा के अभाव और शृंगारप्रधान युगदर्शन के कारण रीतिबद्ध नायिकाभेदों का चित्रण प्रधान हो गया था उसी प्रकार चित्रकला के विकास में भी इन तत्वों का महत्वपूर्ण योग रहा। तत्कालीन चित्रकला के प्रतिपाद्य को प्रधान रूप से चार भागों में विभाजित किया जा सकता है :

१—नायक तथा नायिकाभेदों के परंपराबद्ध चित्र
२—पौराणिक उपाख्यानों पर आधृत चित्र
३—रागरागिनियों के प्रतीक चित्र
४—व्यक्तिचित्र।

कला जब स्वातःसुखाय न होकर व्याख्यान तथा प्रदर्शन वृत्ति की अभिव्यक्ति के लिये प्रयुक्त होती है तब उसका रूप शुद्ध कला का नहीं होता। मध्यकालीन चित्रकला के उपर्युक्त सभी प्रतिपाद्य रूढ़ रूप में ग्रहण किए गए हैं। उनमें कलाकार का आत्मसंवेदन बहुत ही गौण है। उस युग के विलासपरक तथा प्रदर्शनप्रधान जीवनदर्शन को जिन परंपरागत मान्यताओं में अभिव्यक्ति मिली, चित्रकार की तूलिका ने उन्हीं को चित्रों में उतार लिया। चित्रकला का विकास भी संरक्षकों की रुचि के अनुसार हुआ, इसलिये उसमें भी शृंगारिकता तथा प्रदर्शनवृत्ति का प्राधान्य है। प्रथम श्रेणी के चित्र अधिकतर राजपूत और पहाड़ी शैली में मुख्य रूप से प्राप्त होते हैं। इन चित्रों द्वारा स्त्रियों के नग्न सौंदर्य के चित्रण में कलाकार की नूतन कल्पना का आविर्भाव हुआ। फलस्वरूप एक कोमल ऐंद्रिय भावना की अभिव्यक्ति हुई

[1] मुगल आर्ट बाइ बी मीर मोहम्मडन।
—सिक्सटीथ ऐंड सेवेनटीथ सेंचरी मैनस्क्रप्ट्स ऐंड पेलबम्स आव् मुगल पेंटिंग्ज।
राजपूत आर्ट कांकर्ड मुगल आर्ट। —गेट्ज।

जिसमें पूर्वकालीन विशदता और गांभीर्य का अभाव हो गया और एक नई शृंगारिक शैली का प्रादुर्भाव हुआ। उत्कंठिता, वासकसज्जा, अभिसारिका इत्यादि सब प्रकार की नायिकाओं का चित्रण परंपराभुक्त वातावरण में ही किया गया। प्रगीतमय माधुर्य का स्पष्ट आभास इन चित्रों में मिलता है। नायिकाओं के चित्र अधिकतर नायिकाभेद काव्य के आधार पर बनाए गए हैं। संकेतस्थल पर पुष्पशय्या बनाकर प्रियतम से मिलन के लिये उत्कंठिता नायिका, विषम प्रकृति की चुनौती स्वीकार करके आगे बढती हुई अभिसारिका इत्यादि शृंगार नायिकाओं के परंपराबद्ध रूप हैं। शृंगार की विभिन्न परिस्थितियों का चित्रण इन रचनाओं का ध्येय है और शृंगार उनकी आत्मा। कृष्ण तो उस युग में शृंगारनायक थे ही, कांगड़ा (पहाड़ी) तथा राजस्थानी शैली में पौराणिक उपाख्यानों पर आवृत जो चित्र बनाए गए उनमें शिव और पार्वती के शृंगारचित्रण में भी उस युग के कलाकार की वृत्ति अधिक रमी है। भानुदत्त की रसमंजरी में चित्रित विभिन्न शृंगारिक परिस्थितियों का चित्रण भी हुआ परंतु भावाभिव्यक्ति के अभाव में ये प्रयास ऐसे जान पड़ते हैं जैसे सहानुभूति से अनभिज्ञ कोई व्यक्ति रूढ़िगत मान्यताओं के आधार पर रस का विश्लेषण करने का प्रयास कर रहा हो। इसके अतिरिक्त उस युग के शृंगारनायक तथा रूपनायिका बाजबहादुर और रूपमती बेगम के भी शृंगारपूर्ण चित्र अंकित किए गए।

शृंगार वातावरण की अभिव्यक्ति प्रायः बारहमासा और ऋतुचित्रण के रूप में हुई है। वसंत और वर्षा को उद्दीपन रूप में अंकित करनेवाले अनेक चित्र हैं। जयदेव के गीतों के चित्रण में भी उस युग के रसिक कलाकार को नग्न नारीसौंदर्य और शृंगार की अभिव्यक्ति का अवसर मिला। राधा के अनावृत सौंदर्य का जो अंकन उसके स्नान संबंधी चित्रों में हुआ है वह जयदेव और विद्यापति की सद्यः-स्नाता का प्रत्यंकन है।

मुगल सम्राटों के संरक्षण में अनेक व्यक्तिचित्रों की रचना हुई। अकबर के समय से ही व्यक्तिचित्रों का निर्माण आरंभ हो गया था। उधर जहाँगीर की तो यह महत्वाकांक्षा थी कि वह अपने जीवन की समस्त प्रमुख घटनाओं को चित्रबद्ध करा ले। इसी इच्छा की पूर्ति के लिये मुगल दरबार तथा शिकार के अनेक दृश्यों के चित्र उसने बनवाए। वास्तव में इन चित्रों में मुगल गरिमा अपने मौलिक रूप में सुरक्षित है परंतु जहाँगीर की मृत्यु के बाद ही भारतीय चित्रकला की आत्मा मर गई। बाह्य सौंदर्य की गरिमा कुछ समय तक बनी रही, आगे चलकर मात्र अलंकरण ही चित्रकला का ध्येय बन गया।

उत्तर मध्यकालीन चित्रकला के प्रतिपाद्य पर दृष्टि डालने से यह स्पष्ट हो जाता है कि एक ओर हिंदी काव्य की शृंगारभावना का समानांतर रूप शृंगारिक चित्रों में अपने समस्त उपकरणों के साथ थोड़े बहुत अंतर से विद्यमान है, दूसरी

और रीतिकालीन काव्य का दूसरा प्रधान स्वर प्रशस्तिगान का रूप भी व्यक्तिचित्रों, दरबारी गरिमा और ऐश्वर्यचित्रण की प्रवृत्ति में विद्यमान है। मुगल दरबार के चित्रों के अनुकरण पर अनेक राजपूत राजाओं के दरबार, उनके जीवन की प्रमुख घटनाओं तथा उनके व्यक्तित्व से संबंधित अनेक चित्र खींचे गए। राजकीय संरक्षण के कारण उनमें दरबारी कला की सब विशेषताएँ मिलती हैं।

तत्कालीन चित्रकला की अभिव्यंजना शैली में भी काव्य में प्रचलित शैलियों से काफी साम्य है। परंपराबद्ध, अलकृत, श्रमसिद्ध और चमत्कारपूर्ण शैली इस युग की चित्रकला की भी प्रधान विशेषता थी। शाहजहाँ के समय से ही चित्रकला मे अलंकरण की अतिशयता का आरंभ हो गया था जिसके कारण कला की आत्मा बुझने लगी थी। चित्रविचित्र फूलपत्तों तितलियों आदि से युक्त सुंदर अलंकृत हाशिए और सुनहले वर्णों की आभा का स्पर्श ही चित्रकला के साध्य बन गए थे। प्रतिपाद्य महान् होता है तो शैली भी उसी के अनुरूप होती है। शाहजहाँ के प्रदर्शन-प्रिय व्यक्तित्व के फलस्वरूप चित्रकलाविदो का ध्येय उसके दरबार के ऐश्वर्य, विशेष उत्सवों के आयोजन तथा रत्नजटित पदो इत्यादि का चित्रण करना ही रह गया। आतरिक प्रेरणा के अभाव के कारण उनमे भावाभिव्यक्ति की सजीवता नहीं रह गई थी क्योंकि शाहजहाँ के ऐश्वर्य की अभिव्यक्ति के लिये कलाकार को संवेदना की नहीं, सुनहले रंगों और आलंकारिक दृष्टिकोण की आवश्यकता होती थी। श्री राय कृष्णदास के शब्दो में—'अब चित्रो में हद से ज्यादा रियाज महीनकारी, रंगों की खूबी एवं अंगप्रत्यंगों की लिखाई, विशेषतः हस्तमुद्राओ में बड़ी सफाई है और कलम में कहीं कमजोरी न रहने पर भी दरबारी अदबकायदो की जकड़बंदी और शाही दबदबे के कारण इन चित्रो में भाव का सर्वथा अभाव, बल्कि एक प्रकार का सन्नाटा पाया जाता है, यहाँ तक कि जी ऊबने लगता है।'

औरंगजेब के युग में अन्य कलाओ की भाँति चित्रकला का भी ह्रास हुआ है। कलाओं के प्रति उसकी उपेक्षा तथा उसके उत्तराधिकारियों की अक्षमता के कारण अनेक कलावंतों को राजाओं और सामंतो का आश्रय लेना पड़ा। इसी के फलस्वरूप शाहजहाँ के समय मे अभिव्यंजना को साध्य मान लेने की जो प्रवृत्ति आरंभ हुई थी वह अब राजस्थान तथा काँगड़ा शैली मे दिखाई पड़ने लगी। नारीसौंदर्य के चित्रण में ऐंद्रिय भावनाओ का प्राधान्य तो रहा ही, नारी के अवयवों से मिलती जुलती रेखाओं के द्वारा प्रकृतिचित्रण करने के प्रयोग भी किए गए। वृक्षों की पत्रहीन शाखाओ को नारीरूप देकर नाजुकख्याली से उनका चित्रण किया गया। शृंगार के उद्दीपन रूप को जितना महत्व कविताओं में प्रदान किया गया उतना ही चित्रकला में भी। यहाँ भी प्रकृति का चित्रण शृंगार के उद्दीपन रूप में ही किया गया है। प्रकृति कला के प्रेरक संवेद्य के रूप मे तो आई ही नहीं है।

उदाहरण के लिये गढ़वाल शैली में चित्रित रूपमती और बाजबहादुर की क्रीड़ा के चित्र में रूपमती के शरीर की वक्रताओं से होड़ लेती हुई वृक्षों की टहनियाँ, उसके गौर वर्ण को चुनौती देती हुई बिजली की चमक उद्दीपन रूप में ही चित्रित की गई हैं। इसी प्रकार 'अभिसारिका' चित्र का वातावरण मान्य रूढ़ियों के आधार पर ही अंकित है। समस्त प्रकृति पर ही मानवीय चेतना के आरोपण में जिस अभिव्यंजना कौशल का परिचय मिलता है उसमें कहीं मौलिक उद्भावना के सहारे रसाभिव्यक्ति की भी क्षमता होती तो ये चित्र छायावादी कला के अनुपम प्रेरणास्रोत बन जाते। परंतु इन चित्रों में तो प्रकृति के विविध उपकरणों को रूढ़िगत प्रतीकों के रूप मे ग्रहण किया गया है। अभिसारिका के चित्रण में बिजली की क्षीण रेखा में नायिका का सौंदर्य, मूसलधार वर्षा, सर्प, तूफानी झंझा, उसकी विह्वल कामनाओं के प्रतीक रूप में ही ग्रहण किए गए हैं।

उधर कृष्णलीला के विभिन्न प्रसंगों पर लिखे गीतों के आधार पर कुछ चित्र अंकित किए गए जिनकी पृष्ठभूमि विशद है। परंतु उनमें चित्रित स्त्रीपुरुषों में भी उचित भावाभिव्यक्ति का अभाव है। कठपुतलियों अथवा गुड़ियों के समान भावशून्य मुखाकृतियों में अधिकतर रसाभास की सी स्थिति आ गई है। भानुदत्त की रसमंजरी पर आधृत 'एक स्थिति' नामक चित्र में नायक की गोद में बैठी हुई दो नारियाँ शृंगाररस की अभिव्यक्ति करने के बदले नायक से हाथ छुड़ाकर भागती हुई सी जान पड़ती हैं। नायक और नायिकाओं की आकृतियाँ वहाँ पूर्ण रूप से भावशून्य हैं।

अभिव्यंजना शैली मे चमत्कारवाद की विकृति के उदाहरण भी इस युग की कला मे विद्यमान हैं। हयनारी, गजनारी, नवनारीकुंजर ऐसे चित्र हैं जिनमें उस युग के स्थूल शृंगार और चमत्कारवादी प्रवृत्ति दोनों की संयुक्त अभिव्यक्ति मिलती है। अनेक नारियों के बहुरंगी वस्त्रों तथा उनके विविध अंगों के संयोजन द्वारा ये चित्र प्रस्तुत किए गए हैं। स्त्रियों के अंग प्रत्यंगों को सुविधानुसार तोड़ मरोड़कर हाथी और घोडे के चित्र बनाए गए हैं जिनपर कहीं कृष्ण आरोहित हैं तो कहीं कोई मुगल सम्राट्।

मध्यकालीन चित्रकला के विशेषज्ञ श्री गेट्ज के शब्दों में, ईसा की १६वीं शताब्दी के मध्य से ही भारतीय चित्रकला का अवसान होने लगा था। उस युग के कलाकार को न तो रेखाओं का परिष्कृत ज्ञान था और न रंग के संतुलित प्रयोगों का। उनके चित्र भावशून्य तथा निर्जीव प्रतिमाओं के समान होते थे। चरम उत्थान की प्रतिक्रिया अवसान में होती तो अवश्य है, परंतु उस युग की कला तो गहन जीवनदृष्टि और आत्मिक शक्ति के अभाव में पूर्ण रूप से पंगु हो गई थी।

स्थापत्य कला

मुगल स्थापत्य कला का सर्वप्रथम उदाहरण है हुमायूँ का मकबरा। इसके निर्माण से भारतीय स्थापत्य कला के इतिहास में एक नए युग का आरंभ हुआ। एक देश की प्रचलित शैली को दूसरे देश की परिस्थितियों के अनुसार ढालने की चेष्टा करने में कुछ परिवर्तन अवश्यंभावी होते हैं। फारसी वास्तुशैली को भारतीय शिल्पियों ने संगमर्मर और लाल पत्थरों में काटकर जो परिवर्तन किए उससे भारत में नए वास्तु-शिल्प-विधान का प्रादुर्भाव हुआ। मुगल बादशाहों ने इसी शैली के अनुकरण पर अपनी इमारतों का निर्माण कराया। यहाँ तक कि विश्व के चमत्कार 'ताज' के निर्माण में भी इसी शैली का प्रयोग किया गया है। रीतिकाल के पहले मुगल भवन-निर्माण-शैली में प्रभावोत्पादक और विशद सिद्धांतों का आधार ग्रहण किया गया था। अकबर द्वारा निर्मित आगरा और लाहौर के किलों की लाल पत्थर की दीवारों की जोड़ में से एक बाल निकलने का भी अवकाश नहीं था[1]। हाथीपोल की कुशल निर्माणकला के द्वारा भी यह सिद्ध होता है कि उसके शिल्पी अपनी कृतियों में कलात्मक तथा प्रभावात्मक गरिमा का समन्वय करने के लिये कितने जागरूक थे। इस स्थापत्य में कला का एक समन्वित और संतुलित रूप पाया जाता है। बुलंद दरवाजे के विराट् गंभीर स्वरूप में एक संपूर्ण और व्यापक जीवनदृष्टि व्याप्त है, पर इस गंभीर व्यापकता के साथ ही अकबर के समय की कुछ इमारतों में अलंकरण और चमत्कार की प्रवृत्ति भी धीरे धीरे आरंभ हो गई थी। मरियम बेगम और राजा बीरबल के प्रासादों तथा शेख सलीम चिश्ती के मकबरे की पच्चीकारी कलाशिल्प के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। राजा बीरबल के महल की अलंकृत पच्चीकारी तो आश्चर्यजनक है। अकबर द्वारा निर्मित दीवानेखास में भी एक चमत्कारपूर्ण प्रभावोत्पादन की चेष्टा सी दिखाई पड़ती है। प्रस्तर के अर्धचंद्रों पर आधृत अलिंद तथा मध्य स्तंभ के साथ उनका संयोजन देखकर चित्त चमत्कृत हो उठता है। लेकिन इतनी बोझिल आकृति के होते हुए भी उसमें गांभीर्य का अभाव नहीं है। 'ज्योतिषी मंच' तथा स्तूपाकार पंचमहल के विन्यास और श्रमसिद्ध पच्चीकारी में यही प्रवृत्ति प्रधान है। परंतु तद्युगीन वास्तुकारों ने चमत्कार तथा अलंकरण को साध्य रूप में नहीं स्वीकार किया, यही कारण है कि उनकी इमारतों का प्रभाव आकर्षक होने के साथ साथ विशद, गंभीर तथा व्यापक भी है।

मुगल बादशाहों के संरक्षण में विकसित होती हुई मुगल इमारतों की शैली के अनुकरण पर अनेक मंदिरों तथा प्रासादों का निर्माण हुआ। जोधपुर, ओरछा,

[1] अकबरनामा (दो), २४७-८।

दतिया इत्यादि के राजभवनों की शैली में मुगल शैली का अनुकरण किया गया है। लेकिन अलंकरण उनका अपना है। अलंकरणविधान के अतिरिक्त उनके विन्यास में मौलिक सृजनप्रतिभा का भी परिचय मिलता है। मुगल शैली के साथ हिंदू वास्तुशिल्प के अलंकरण के सामंजस्य के ज्वलंत उदाहरण अंबेर तथा जोधपुर के राजभवन हैं।

जहाँगीर के समय से वास्तुकला के क्षेत्र में हमें उन सभी प्रवृत्तियों का आभास मिलने लगता है जो विलासप्रधान और ऐश्वर्यपरक जीवनदृष्टि के लिये अनिवार्य होती हैं। जहाँगीर के समय में जहाँ एक ओर वास्तुशिल्प का आदर्श अलंकरण मान लिया गया, वहीं विशद, व्यापक तथा गंभीर प्रभावोत्पादन के स्थान पर पाषाण के माध्यम से ललित और कोमल अभिव्यक्ति ही शिल्पी का प्रधान लक्ष्य बन गई। जहाँगीर चित्रकला का प्रेमी था, वास्तुशिल्प का नहीं, अतः उसकी रुचि के प्रभाव के कारण 'बुलंद दरवाजा' के निर्माता अकबर का मकबरा उसके व्यक्तित्व के अनुरूप गंभीर नहीं बन पाया। अकबर के मकबरे की आखिरी मंजिल, जो जहाँगीर के आदेश से ढहाकर फिर से बनाई गई, अलंकरण तथा लालित्य में अनुपमेय है परंतु उसमें गाभीर्य का अभाव है। जहाँगीर के पश्चात् वास्तुकला मे अलंकरण के उपकरण अनुदिन बढते गए तथा उसकी निर्माणशैली में एक स्त्रैण संस्पर्श आता गया। जहाँगीर के मकबरे में गाभीर्य का अभाव है। संगमर्मर का अपव्यय और भित्तिचित्रो में अलंकरण के होते हुए भी उसकी गरिमा कृत्रिम जान पड़ती है। इसके अतिरिक्त जहाँगीर ने भारतीय और फारसी निर्माणशैलियों के समन्वय के स्थान पर परंपराबद्ध फारसी निर्माणशैली को ही प्रोत्साहन दिया। अब्दुर्रहीम खानखाना का मकबरा हुमायूँ के मकबरे के अनुकरण पर बना। इस इमारत के निर्माण द्वारा जहाँ एक ओर नई मौलिक प्रतिभा के अभाव का प्रमाण मिलता है, वहाँ दूसरी ओर एतमादउद्दौला के मकबरे में वास्तुकला ने पूर्ण स्त्रैण रूप धारण कर लिया है। इसकी निर्माणयोजना साम्राज्ञी नूरजहाँ ने की थी। श्वेत संगमर्मर में झिलमिल पच्चीकारी तथा मूल्यवान पत्थरो के अलंकरण के कारण ऐसा जान पड़ता है मानो कोई बहुमूल्य आभूषण भवन के रूप में खड़ा कर दिया गया है।

शाहजहाँ के शासनकाल में स्थापत्य कला का चरम विकास हुआ। निर्माणशैली तथा अलंकरण दोनों ही क्षेत्रों में नए प्रयोग किए गए। अकबर द्वारा निर्मित लाल पत्थर के अनेक भव्य भवनों को ढहाकर उनके स्थान पर संगमर्मर के मंडपों का निर्माण किया गया। संगमर्मर के कटावदार महराब, मूल्यवान पत्थरों की जड़ाई, परिष्कृत सज्जा तथा सूक्ष्म अलंकरण शाहजहाँ द्वारा निर्मित भवनों की मुख्य विशेषताएँ हैं। दीवाने आम, दीवाने खास, खासमहल, शीशमहल, मुसम्मन बुर्ज तथा मच्छीभवन शाहजहाँ द्वारा बनवाई गई मुख्य इमारतें हैं। इन सभी की आत्मा

शृंगारिक है। सूक्ष्म पच्चीकारी, चित्रलिखित सी सजीवता, सुनहले तथा रंगीन स्तंभ, इन सभी में एक विलासपरक, ऐश्वर्यप्रधान जीवनदृष्टि का परिचय मिलता है। मोती-महल, हीरामहल, रंगमहल, नहरेबहिश्त तथा शाहबुर्ज नाम ही इस तथ्य की पुष्टि के लिये यथेष्ट हैं।

निर्माणयोजना की दृष्टि से शाहजहाँ की प्रमुख इमारतों में भी मौलिकता का अभाव है। जामामस्जिद तथा ताजमहल दोनों की योजना हुमायूँ के मकबरे के अनुकरण पर हुई है जो मुगल-स्थापत्य-परंपरा की प्रथम इमारत है। ताज की गरिमा तथा वैभव उसकी सजा तथा अलंकरण पर अधिक निर्भर है। रंगीन प्रस्तरखंडों द्वारा निर्मित नमूने, प्रवेशद्वारों पर खचित सुंदर हाशिए विलक्षण कलासौष्ठव के उदाहरण हैं। वास्तव में शाहजहाँ के शिल्पी ने अपनी कला के द्वारा पुष्पवदना मुमताज की प्रस्तरसमाधि में भी फूल की सी कोमलता ला दी है। सफेद संगमर्मर की आत्मा में शाहजहाँ का ऐश्वर्य तथा उसके कोमल प्रभाव में उसका प्रेम सदा के लिये अमर हो गया है।

शाहजहाँ काल में स्थापत्यकला का चरम विकास हुआ। औरंगजेब के समय में मानो उसकी प्रतिक्रिया हुई और उसमें पतन के चिह्न दृष्टिगत होने लगे। शाहजहाँ कालीन मच्छीभवन के लालित्य में ही मुगल स्थापत्य के पतन का संकेत मिल जाता है। औरंगजेब कला से घृणा करता था, परंतु फिर भी उसके संरक्षण में कुछ मस्जिदों और मकबरों का निर्माण हुआ। शिल्पी अताउद्दौला ने रजिया बेगम के मकबरे का निर्माण ताजमहल की शैली पर किया परंतु इस मकबरे को देखने से ही उसकी हीन रुचि तथा अल्प ज्ञान का परिचय मिल जाता है। निष्प्राण अलंकरण के अतिचार तथा रुचिविहीन निर्माणयोजना के कारण यह इमारत बिल्कुल ही साधारण बनकर रह गई है। बनारस की मस्जिद भी तद्युगीन कला की अस्थिर तथा दुर्बल प्रकृति का परिचय देने के लिये काफी है। इन सभी इमारतों का निर्माण फारस की परंपराबद्ध शैली के अनुकरण पर हुआ है। सफदरजंग के मकबरे की योजना हुमायूँ के मकबरे की शैली के ढंग पर हुई है। परंतु दोनों के प्रभाव में आकाश पाताल का अंतर है[1]।

[1] हुमायूँज टूंब एक्सप्रेसेज इन एवी लाइन इट्स पावर ऐंड एक्जल्टैंट वाइटैलिटी—दैट "क्यू आव् मार्निंग" हिच मार्क्स द बिगिनिंग आव् एवी न्यू मूवमेंट। टूंब आव् सफदरजंग सीम्स टु बी स्ट्राइविंग बाई आर्टिफिशेल मीन्स टु रिप्रोड्यूस दि ओरिजिनल विगर, व्हाइल इन रियालिटी इट इज डिकेडेंट। देयर इज नो बैलेंस्ड प्रोपोर्शन ऐंड आड सिंपुल प्लैन। इट वाज ए फाइन एफर्ट टु रीकैप्चर दि ओल्ड स्पिरिट आव् मुगल स्टाइल, बट बाई दिस टाइम दि आर्ट हैड गान बियांड एनी होप आव् रिकाल।

—पर्सी ब्राउन, मान्युमेंट्स आव् द मुगल्स, कैंब्रिज हिस्ट्री आव् इंडिया।

१६वीं शताब्दी मे लखनऊ के एक मकबरे में ताज की अनुकृति बनाने की चेष्टा की गई जो हीन तथा अपरिष्कृत रुचि का साकार उदाहरण है। यह समझना कठिन हो जाता है कि बाह्य रूप में इतना साम्य होते हुए भी दोनों का प्रभाव इतना भिन्न कैसे है? ताजमहल तथा ताजमहल की इस अनुकृति के द्वारा मुगल स्थापत्य कला के चरम विकास और उसके अवसान का मूल्यांकन किया जा सकता है। औरंगजेब के मकबरे मे न मार्दव है, न गाभीर्य और न ऐश्वर्य। अनेक सामंतों के मकबरे भी इससे उत्कृष्ट हैं। न जाने कैसे काफिरों के भयंकर शत्रु औरंगजेब की समाधि पर तुलसी का एक पौधा अपने आप निकल आया है।

इस युग मे निर्मित लखनऊ की इमारतों की हीन रुचि तथा अपरिष्कृति को देखकर भी युगप्रतिभा के ह्रास का परिचय मिलता है। लखनऊ की प्रायः सभी इमारतों मे ऐसा जान पड़ता है मानों शिल्पी ने उस लिपि का अनुकरण करने का प्रयास किया हो जिसका न तो वह अर्थ समझता है और न जिसकी वर्णमाला से ही उसका परिचय है।

इस प्रकार रीतियुगीन स्थापत्य कला के विकास पर दृष्टि डालने मे यह बात पूर्णतया स्पष्ट हो जाती है कि रीति साहित्य की समानातर प्रवृत्तियाँ ही इस क्षेत्र मे भी चलती रही हैं। परंपराबद्ध शैली, अलंकरण की अतिशयता, चमत्कारवृत्ति तथा अनुदिन शृंगारी और रोमानी वातावरण की सृष्टि का प्रयास, ये सभी प्रवृत्तियाँ रीतियुगीन साहित्य मे भी थोड़े बहुत अंतर के साथ विद्यमान हैं।

संगीत शास्त्र तथा कला

रीतियुग मे संगीत कला की स्थिति भी अत्यंत शोचनीय हो गई थी। मुगल साम्राज्य की स्थापना के पहले भारतवर्ष मे संगीत की एक सबल शास्त्रीय पृष्ठभूमि का निर्माण हो चुका था। ग्वालियरनरेश मानसिंह के संरक्षण मे भारतीय संगीत उत्थान की चरम सीमा पर पहुँच चुका था। संगीत की सबसे विशद और गंभीर शैली 'ध्रुपद' का आविष्कारक इन्ही को माना जाता है। संगीत कला और शास्त्र दोनों को ही विदेशियों के आक्रमण द्वारा बहुत आघात पहुँचा। संगीत कला तो अनेक व्यवधानों से टक्कर लेती हुई तथा विदेशी प्रभावों को आत्मसात् करती हुई पनपती रही, परंतु शास्त्र के क्षेत्र में मौलिकता का पूर्ण अभाव हो गया। सिद्धांत अथवा शास्त्र कला के व्यावहारिक रूप के आधारस्तंभ होते हैं। एक के ध्वंस के साथ दूसरे का पतन अनिवार्य हो जाता है। मुगल दरबार में अधिकांशतः मुसलमान कलाकारों को संरक्षण प्राप्त हुआ। आईनेअकबरी में उल्लिखित ३६ संगीतज्ञों में से केवल ४ हिंदू हैं, परंतु अकबरकालीन संगीत का इतिहास पूर्णतः अंधकारमय नहीं है। जहाँ तानसेन आज भी सर्वश्रेष्ठ कलावंत के पद पर आसीन हैं, वहीं शास्त्र के क्षेत्र में

पुंडरीक विट्ठल का स्थान भी उतना ही महत्वपूर्ण है। जहाँगीर के समय में पंडित दामोदर ने संगीतदर्पण की रचना की जो संगीत शास्त्र का अमर ग्रंथ है।

शाहजहाँ के समय में संगीत के क्षेत्र मे भी वही प्रदर्शनप्रियता और अलंकरण की प्रवृत्ति दिखाई देती है। अहोबल का प्रसिद्ध शास्त्रग्रंथ संगीतपारिजात इसी समय का माना जाता है। इसमें मान्य २९ विकृत स्वरों के नाम ही तत्कालीन संगीत की अलंकरण प्रवृत्ति का परिचय देने के लिये यथेष्ट हैं[१]। व्यावहारिक रूप में यद्यपि उनका प्रयोग इतने रूपों में नहीं हुआ[२] तथापि सिद्धात रूप मे इन सूक्ष्मताओ की स्वीकृति से भी उसकी आलंकारिक प्रवृत्ति का परिचय तो मिलता ही है। शाहजहाँ के दरबार मे अनेक गायक हुए जो तानसेन की गंभीर शैली में आलंकारिक गिटकिरियाँ जोड़कर उन्हे अपने युग की प्रवृत्तियों मे रंजित कर रहे थे।

औरंगजेब अपने दरबार मे संगीत कला का चिह्न तक मिटा देना चाहता था। उसका युग संगीत के अपकर्ष का युग था। उस युग के संगीतज्ञो का जीवन औरंगजेब की धार्मिक संकीर्णता और कट्टर गाभीर्य के बिल्कुल विपरीत था, अतएव वे केवल दिल्ली दरबार से ही बहिष्कृत नहीं किए गए बल्कि साधारण संगीतगोष्ठियों पर भी राजकीय प्रतिबंधों के कारण उनका जीवननिर्वाह दूभर हो गया। फलस्वरूप संगीतज्ञ शाही संरक्षण छोड़कर नवाबों और राजाओ की शरण में जाने के लिये विवश हो गए। इस काल के केवल एक ही संगीताचार्य भावभट्ट का उल्लेख मिलता है। वे बीकानेरनरेश अनूपसिंह के आश्रय मे थे। अनूप-संगीत-रत्नाकर, अनूपविलास तथा अनूपांकुश उनके मुख्य ग्रंथ हैं, परंतु इन सभी रचनाओं में मौलिकता का पूर्ण अभाव है।

इस युग के सिद्धात संबंधी ग्रंथो में मौलिकता का पूर्ण अभाव है। अहोबल ने नए स्वरनामो का उल्लेख अवश्य किया है परंतु ये स्वर अनेक पुराने स्वरों के नए नाम मात्र हैं। अहोबल ने इस तथ्य को स्वयं स्वीकार किया है[३]। इसके अतिरिक्त आध्रनिवासी पं० सोमनाथ तथा पं० व्यंकटमखी का नाम इस प्रसंग मे उल्लेखनीय है। यद्यपि इन दोनो संगीताचार्यों का संबंध दक्षिण की संगीतपद्धति से ही रहा है, तथापि उत्तर भारतीय संगीतपद्धतियों का प्रभाव उनकी रचनाओ पर स्पष्ट दिखाई देता है। इस काल मे लिखी हुई कुछ ऐसी रचनाएँ भी उपलब्ध होती हैं जिनकी रचना हिंदी के प्रसिद्ध कवियो ने की थी। इन रचनाओं का उद्देश्य तत्वान्वेषण की

[१] संगीतपारिजात, श्लोक ४९३-४९७।

[२] वही, श्लोक ३२४-३२६।

[३] वही (रागाध्याय, श्लोकसंख्या ४९४-४९७)।

अपेक्षा मनोरंजन ही अधिक जान पड़ता है। उदाहरण के लिये देव कवि कृत रागरत्नाकर को लिया जा सकता है। इस रचना पर दामोदर पंडित कृत संगीतदर्पण का प्रभाव सर्वत्र दिखाई पड़ता है।

औरंगजेब के उत्तराधिकारियों के दरबार में संगीत को प्रोत्साहन मिला। परंतु तब तक संगीत की आत्मा बहुत कुछ मर चुकी थी। मुहम्मदशाह रँगीले के दरबार मे उच्च श्रेणी के प्रतिष्ठित संगीतज्ञ रहते थे। परंतु इस पुनरुत्थान मे अनुरंजन, अलंकरण तथा चामत्कारिक प्रयोगो का ही प्राधान्य है। ध्रुपद का स्थान ख्याल, ठुमरी, टप्पा और दादरा ने ले लिया। अदारंग और सदारंग के ख्यालों से दिल्ली दरबार की विलासयुक्त रंगीनी मे योग मिला। शोरी के टप्पों के आलंकारिक स्वर बहुत लोकप्रिय हुए। तराना, रेखता, कव्वाली इत्यादि प्रणालियों का प्रचार इसी युग में अधिक हुआ। इनमे से अधिकाश शृंगारिक हैं।

रीतियुग मे संगीत कला तथा संगीत शास्त्र की गतिविधि पर दृष्टि डालने से यह बात स्पष्ट प्रमाणित हो जाती है कि संगीत के प्रतिपाद्य तथा शैली का भी वही रूप था जो तत्कालीन हिंदी काव्य का था। अकबर के समय में ही लोचन की राजतरंगिणी, पुंडरीक विट्ठल के सद्रागचंद्रोदय, रागमंजरी, रागमाला तथा नर्तननिर्णय लिखे जा चुके थे। रीतियुग में तथा उसके कुछ समय बाद भावभट्ट, हृदयनारायण देव, मुहम्मद रजा, महाराजा प्रतापसिंह तथा कृष्णानंद व्यास द्वारा प्रणीत संगीत शास्त्र संबंधी अन्य ग्रंथ भी निर्मित हुए, जिनमे रीतियुगीन लक्षणग्रंथो की प्रवृत्तियो का ही प्राधान्य रहा। काव्य और चित्रकला में जिस प्रकार नायिकाभेद का चित्रण अबाध गति से होने लगा उसी प्रकार विविध रागरागिनियों को उनके गुण तथा प्रभाव के आधार पर नायक तथा नायिकाओ के रूप में बद्ध कर उनकी व्याख्या की गई। परंतु इन सब विवेचनाओं में नूतन मौलिकता का प्रायः अभाव ही रहा। हिंदी काव्यशास्त्र के समान ही तत्कालीन संगीत शास्त्र का आधार भी संस्कृत ही है। उस समय के संगीतशास्त्रकार भी सामान्य टीकाकार मात्र थे।

तत्कालीन संगीत की शैली तथा प्रतिपाद्य में चमत्कारसृष्टि की प्रवृत्ति स्पष्ट दिखाई देती है। अनेक स्थलों पर रागों के देवरूप चित्रण में श्लेष द्वारा आधार तथा आधेय में धर्मसाम्य और गुणसाम्य की स्थापना की गई है। यही नहीं, विविध गायनशैलियों को एक ही गीत में गुंफित करते हुए चमत्कारसृष्टि करना उस युग की संगीत कला की चरम सिद्धि समझी जाती थी। तराना, दादरा, ठुमरी इत्यादि का एक ही गीत के अंतर्गत समावेश इसी चमत्कारवादी प्रवृत्ति का द्योतक है।

संगीत के द्वारा शृंगारिक भावनाओं का उद्दीपन करना ही संगीतज्ञों का मुख्य उद्देश्य रह गया था। फलस्वरूप उनकी शब्दयोजना भी अधिकतर शृंगारपरक

ही होती थी। चमत्कारप्रदर्शन की प्रवृत्ति भी तत्कालीन संगीत में प्रधान रूप से दिखाई पड़ती है। रीतिकाल की लोकप्रिय संगीतशैलियों के विश्लेषण से यह बात स्पष्ट रूप में प्रमाणित हो जाती है। ख्याल शैली की तानों, खटकों, मुरकियों तथा अन्य आलंकारिक प्रयोगों में चमत्कार तत्व ही अधिक रहता था। ख्याल के गीत अधिकतर शृंगारिक होते हैं और उनमें अधिकतर किसी स्त्री की ओर से प्रणय अथवा विरह की अभिव्यक्ति की जाती है। वास्तव में रीतिकालीन कवि और संगीतज्ञ दोनों की एक ही दशा थी, दोनों ही आश्रयदाता की रुचि पर पल रहे थे, अतएव उनकी प्रसन्नता के लिये दोनों को ही शृंगारपरक प्रतिपाद्य और कलाप्रधान चमत्कारवादिता को अपनाना पड़ा। रीतिकालीन चमत्कारप्रदर्शन की वृत्ति चतुरंग शैली में भी दिखाई पड़ती है जिसमें ख्याल, तराना, सरगम और त्रिवट (मृदंग के बोल) सबके मिश्रण से संगीत की वैचित्र्यपूर्ण रचना की जाती है। तरानों में भी लय का चमत्कार और द्रुत तानों का प्रयोग उस युग की चमत्कारिक वृत्ति का ही परिचय देते हैं। शब्दयोजना के बिना 'ताना', 'दे', 'देना', 'दानी' तथा 'तोम' इत्यादि अर्थहीन शब्दों के द्वारा संगीतयोजना में चमत्कारप्रदर्शन का ही बाहुल्य रहता है। टप्पा भी अपनी शैली के हल्केपन के लिये प्रसिद्ध है। इसकी गति क्षुद्र और चपल होती है। ये केवल उन्हीं रागों में गाए जाते हैं जिनका विस्तार अपेक्षाकृत संक्षिप्त होता है। रीतिकालीन संगीत में गंभीर और विशद तत्वों के अभाव का यह भी एक ज्वलंत प्रमाण है। टप्पा पहले पंजाब में ऊँट हाँकनेवाले गाया करते थे। पहले कहा जा चुका है कि मुहम्मदशाह ने उसकी संगीतयोजना में आलंकारिक गिटकिरियों का योग देकर उसे रीतिकालीन वातावरण के अनुकूल बना दिया। नवाब वाजिदअली शाह के संरक्षण में ठुमरी शैली का प्रचलन हुआ जो अतिशय चपल, स्त्रैण और शृंगारप्रधान थी। डा० श्यामसुंदरदास ने उसका वर्णन इस प्रकार किया है— "अवध के अधीश्वर वाजिदअली शाह ने ठुमरी नामक गानशैली की परिपाटी चलाई। यह संगीतप्रणाली का अन्यतम स्त्रैण और शृंगारिक रूप है। इस समय अकबर के समय के ध्रुपद की गंभीर परिपाटी, मुहम्मदशाह द्वारा अनुमोदित ख्याल की चपल शैली तथा उन्हीं के समय में आविष्कृत टप्पे की रसमय और कोमल गायकी और वाजिदअली शाह के समय की रँगीली रसीली ठुमरी अपने अपने आश्रयदाताओं की मनोवृत्ति की ही परिचायक नहीं, लोक की प्रौढ़ रुचि में जिस क्रम से पतन हुआ उसका इतिहास भी है[1]।"

रीतिकाल की अन्य मुख्य शैलियाँ हैं गजल और त्रिवट। इनमें भी चमत्कार और स्थूल शृंगारिकता का प्राधान्य था। त्रिवट में मृदंग इत्यादि के बोलों को

[1] डा० श्यामसुंदरदास : हिंदी भाषा और साहित्य, पृ० २६१

रागबद्ध करके चमत्कार उत्पन्न किया जाता था और गजल की शृंगारपरक प्रवृत्ति तो प्रसिद्ध ही है।

संगीत, कला तथा साहित्य की ये समानातर प्रवृत्तियाँ तथा उनमें व्याप्त ऐक्य उस युग के जीवनदर्शन का प्रमाण बनने के लिये यथेष्ट हैं। स्वार्थपरायण राजनीतिक व्यवस्था, सामंतीय वातावरण, राजनीतिक विकेंद्रीकरण और सामाजिक अव्यवस्था तथा विलासमूलक, वैभवजन्य, प्रदर्शनप्रधान अलंकरण प्रवृत्ति का तत्कालीन साहित्य एवं विविध ललित कलाओं की गतिविधि पर बड़ा गहरा प्रभाव रहा है। तद्युगीन कलाकार की आत्मा पर ये बाह्य परिस्थितियाँ एक प्रकार से हावी हो गई थीं। चेतना के सूक्ष्म, सार्वभौम और नित्य तत्व बाह्य जीवन की स्थूल साधना में लुप्त हो गए थे। स्थूल की सूक्ष्म पर इस विजय के कारण ही इस युग में 'रीतिकाव्य' लिखा गया।

द्वितीय अध्याय

रीतिकाव्य का शास्त्रीय पृष्ठाधार

१. रीतिशास्त्र का आरंभ

भारतीय आस्तिकता को जीवन की प्रत्येक अभिव्यक्ति का मौलिक संबंध किसी न किसी प्रकार से अलौकिक शक्तियों से स्थापित करने का अभ्यास रहा है। प्रत्येक विद्या किसी न किसी प्रकार ब्रह्म अथवा उसके किसी रूप से उद्भूत हुई है—ऐसी उसकी आस्था रही है। राजशेखर ने 'काव्यमीमांसा' में साहित्य शास्त्र की उत्पत्ति का अत्यंत रोचक वर्णन किया है : सरस्वतीपुत्र काव्यपुरुष को ब्रह्मा की आज्ञा हुई कि तुम तीनों लोकों में साहित्य शास्त्र के अध्ययन का प्रचार करो। निदान, उसने सबसे पूर्व अपने मानसजात सत्रह शिष्यों के समक्ष इसका व्याख्यान किया और फिर इन ऋषियों ने शास्त्र को सत्रह अधिकरणों में विभक्त करके अपने अपने विषयों पर स्वतंत्र रीतिग्रंथ लिखे—'तत्र कविरहस्यं सहस्राक्षः समाम्नासीत, औक्तिकमुक्तिगर्भः, रीति-निर्णयं सुवर्णनाभः, आनुप्रासिकं प्रचेतायनः, यमकानि चित्रं चित्रांगदः, शब्दश्लेषं शेषः, वास्तवं पुलस्त्यः, औपम्यमौपकायनः, अतिशयं पाराशरः, अर्थश्लेषमतथ्यः, उभयालंकारिकं कुबेरः, वैनोदिकं कामदेवः, रूपक-निरूपणीयं भरतः, रसाधिकारिकं नन्दिकेश्वरः, दोषाधिकारिकं धिषणः, गुणौपादानिकमुपमन्युः, औपनिषदिकं कुचुमारः इति।'

विद्वानों की राय है कि यह सूची अधिक विश्वसनीय नहीं है। वैसे भी, कुछ नाम तो स्पष्टतः संगति बैठाने को गढे गए मालूम पड़ते हैं। परंतु कुछ नामों का उल्लेख यत्रतत्र अवश्य मिलता है, जैसे 'कामसूत्र' में 'औपनिषदिक' के व्याख्याता कुचुमार और 'साम्प्रयोगिक' के व्याख्याता सुवर्णनाभ के नाम आते हैं। 'रूपक' या 'नाट्यशास्त्र' पर भरत का ग्रंथ तो किसी न किसी रूप में आज भी उपलब्ध है। नंदिकेश्वर के नाम से कामशास्त्र, गीत, नृत्य और तंत्र संबंधी ग्रंथों का उल्लेख तो मिलता है, परंतु रस पर उनका कोई ग्रंथ प्राप्त नहीं है। इस प्रकार राजशेखर का यह काव्यमय वर्णन रीतिशास्त्र की उत्पत्ति का इतिहास जुटाने में हमारी कोई सहायता नहीं करता।

(१) वेद वेदांग—ऐतिहासिक दृष्टि से भारतीय ज्ञान का प्राचीनतम कोश वेद हैं। वैदिक ऋचाओं के रचयिता वाणी के रस से तो स्पष्टतः अभिज्ञ थे ही, इसमें कोई संदेह नहीं; इसके साथ ही नृत्य, गीत, छंदरचना आदि के सिद्धांतों का सम्यक विवेचन और 'उपमा' शब्द का प्रयोग भी वेदों में मिलता है। परंतु साहित्य

शास्त्र का निश्चित आरंभ वेदों में ढूँढ़ना क्लिष्ट कल्पना मात्र होगी। वेदों के अतिरिक्त वेदांग, संहिता, ब्राह्मण तथा उपनिषद् आदि भी इस विषय में मौन हैं।

(२) व्याकरण शास्त्र—भारत का व्याकरण शास्त्र जितना प्राचीन है, उतना ही पूर्ण भी है। उसे तो वास्तव में भाषा का दर्शन कहना चाहिए। व्याकरण के आदि ग्रंथ हैं 'निरुक्त' और 'निघंटु'। यास्क ने वैदिक उपमा का विवेचन करते हुए उसके कुछ भेदों का विवरण दिया है : जैसे—भूतोपमा, जिसमें उपमित उपमान बन जाता है; रूपोपमा, जिसमें उपमित और उपमान में रूपसाम्य होता है, सिद्धोपमा, जिसमें उपमान सर्वस्वीकृत और सिद्ध होता है; रूपक की समानार्थी लुप्तोपमा या अर्थोपमा जिसमे साम्य व्यक्त न होकर अव्यक्त ही होता है। पाणिनि के समय तक उपमा का स्वरूप निर्धारित हो चुका था। उन्होंने उपमित, उपमान, सामान्य आदि पारिभाषिक शब्दों का स्पष्ट प्रयोग किया है। पाणिनि के उपरांत पतंजलि का 'महाभाष्य' भी इन रूपों की सम्यक् व्याख्या करता है। वास्तव में व्याकरण शास्त्र हमारे काव्य शास्त्र का एक प्रकार से मूलाधार है। वाणी के अलंकरण के जो सिद्धांत काव्यशास्त्र में स्थिर किए गए, उनपर व्याकरण के सिद्धांतो का स्पष्ट प्रभाव है। भामह, वामन तथा आनंदवर्धन जैसे आचार्यों ने अपने ग्रंथों मे व्याकरण की स्थान स्थान पर सहायता ली है। ध्वनि का प्रसिद्ध सिद्धांत व्याकरण के 'स्फोट' सिद्धांत से ही ग्रहण किया गया है।

(३) दर्शन—व्याकरण के उपरांत काव्यशास्त्र का दूसरा आधार दर्शन है। उसके कतिपय प्रमुख सिद्धांतो का सीधा संबंध विभिन्न दार्शनिक सिद्धांतों से है। उदाहरण के लिये शब्द की तीन शक्तियों—अभिधा, लक्षणा, व्यंजना—का संकेत न्यायशास्त्र के शब्दविवेचन में मिलता है। नैयायिकों के अनुसार शब्द के अभिधार्थ से व्यक्ति, जाति और गुण, तीनों का बोध हो जाता है। इसके अतिरिक्त उन्होंने शब्दार्थ को गौण, भक्त, लाक्षणिक और औपचारिक आदि अर्थों में विभक्त किया है। शब्दप्रमाण के संबंध मे न्याय और मीमांसा, दोनो मे शब्द और वाक्य का वर्गीकरण तथा अर्थवाद आदि का सूक्ष्म विवेचन मिलता है। वास्तव में एक प्रकार से न्याय और मीमांसा से ही व्याख्यात्मक आलोचना का उद्भव समझना चाहिए। इसी प्रकार अभिनवगुप्त का व्यक्तिवाद सांख्य के परिणामवाद से बहुत दूर नहीं है, जिसके अनुसार सृष्टि का अर्थ उत्पादन या सृजन न होकर केवल अभिव्यक्ति ही होता है। इससे भी अधिक स्पष्ट है वेदांतियों के मोक्षसिद्धांत का प्रभाव। इसके अनुसार मोक्ष का आनंद बाहर से नहीं प्राप्त होता, वह तो आत्मा का ही शुद्धबुद्ध रूप है, जो माया का आवरण हट जाने के उपरांत स्वतः आनंदमय रूप में अभिव्यक्त हो जाता है। परंतु यह वास्तव में संकेत अथवा अनुमान मात्र है, इससे काव्यशास्त्र की उत्पत्ति के विषय में कोई निश्चित सिद्धांत स्थिर नहीं हो पाता।

(४) काव्यशास्त्र का वास्तविक आरंभ—निदान, काव्यशास्त्र का वास्तविक आरंभ हमें दर्शन और व्याकरण के मूल ग्रंथों की रचना के बहुत बाद का मालूम होता है। डा० सुशीलकुमार दे, काणे आदि विद्वानों का मत है कि ईसा की पहली पाँच शताब्दियों में ही उसका जन्म माना जा सकता है। शिलालेखों की काव्यमयी प्रशस्तियाँ, अश्वघोष और भास के ग्रंथ तथा कालिदास का अलंकृत काव्य आदि सब इसी ओर संकेत करते हैं। भरत के 'नाट्यशास्त्र' का मूल रूप तो स्पष्टतः इसी काल की अत्यंत आरंभिक रचना है। इतिहासज्ञ उसका रचनाकाल ईसा की पहली शताब्दी के आसपास स्थिर करते हैं। भरत ने कृशाश्व और शिलालिन् के नामों का उल्लेख किया है, उधर भामह ने मेधाविन् का और दंडी ने कश्यप आदि का, परंतु अभी तक इनके ग्रंथ उपलब्ध नहीं हैं। अतएव इनके विषय में चर्चा करना व्यर्थ है। भरत के उपरांत काव्य और काव्यशास्त्र दोनों ही समृद्ध होते गए। काव्यशास्त्र में क्रमशः अनेक वादों और संप्रदायों की प्रतिष्ठा हुई जिनमें से पाँच अधिक प्रचलित और प्रसिद्ध हुए—रस संप्रदाय, अलंकार संप्रदाय, रीति संप्रदाय, वक्रोक्ति संप्रदाय और ध्वनि संप्रदाय। मान्यता तथा ऐतिहासिकता दोनों की दृष्टि से सबसे पहले रस संप्रदाय ही आता है।

२. रस संप्रदाय

संस्कृत काव्यशास्त्र के इतिहास में आदि से अंत तक रसनिरूपण को किसी न किसी रूप में स्थान अवश्य मिला है। भरत ने रस विषयक प्रायः सभी सामग्री प्रस्तुत की है। उनके बाद लगभग सात सौ वर्षों तक यद्यपि अलंकार संप्रदाय का महत्व बना रहा, परंतु एक तो स्वयं अलंकारवादी आचार्यों ने रस की महत्ता स्थान स्थान पर घोषित की है, और दूसरे, संभवतः इसी अंतराल काल में ही भट्ट लोल्लट आदि आचार्यों ने रस-स्वरूप-निर्देशक भरतसूत्र की गंभीर व्याख्या प्रस्तुत करके रस संप्रदाय की धारा को अक्षुण्ण रूप से प्रवाहित होने में सहयोग दिया है। अलंकारवादियों के बाद आनंदवर्धन और अभिनवगुप्त जैसे युगप्रवर्तक ध्वनिवादियों का समय आता है। इनके अनुकरण पर मम्मट, विश्वनाथ, जगन्नाथ सरीखे महान् आचार्यों ने रस को ध्वनि के एक भेद के रूप में स्वीकार किया है।

रस नाटक का अनिवार्य तत्व है। इस दृष्टि से भरत मुनि के लिये अपने ग्रंथ नाट्यशास्त्र में रस विषयक चर्चा का समावेश करना अनिवार्य था। यही कारण है कि रस संबंधी सभी आवश्यक उपकरणों का विवरण इस ग्रंथ में प्रस्तुत किया गया है।

जनश्रुति के आधार पर नंदिकेश्वर को रस का प्रवर्तक होने का श्रेय दिया गया

है, और भरत को नाट्यशास्त्र का[1]। पर फिर भी भरत का रस के प्रति समादर भाव कुछ कम नहीं है। उक्त ग्रंथ के 'रसविकल्प' और 'भावव्यंजक' नामक अध्यायों में उन्होंने रस और भाव के स्वरूपों का उल्लेख किया है, इनके पारस्परिक संबंध का निर्देश किया है। आठों रसों का परिचय देते हुए उन्होंने प्रत्येक रस के स्थायी भाव, विभाव, अनुभाव, व्यभिचारिभाव और सात्विक भावों का नामोल्लेख किया है, रसों के वर्णों और देवताओं से अवगत कराया है तथा रसों के भेदों की चर्चा की है।

भरत ने मूल रूप में रस चार माने हैं—शृंगार, रौद्र, वीर और वीभत्स। फिर इनसे क्रमशः हास्य, करुण, अद्भुत और भयानक रसों की उत्पत्ति मानी है[2]। शृंगार और हास्य, वीर और अद्भुत तथा वीभत्स और भयानक रसयुग्म का पारस्परिक कारण-कार्य-भाव होने के कारण उत्पाद्योत्पादक संबंध स्वतःसिद्ध है। रौद्र और करुण में भी यह संबंध मनःस्थिति के आधार पर परिपुष्ट है। सबल पक्ष का निर्बल पक्ष पर अकारण और निर्दयतापूर्ण क्रोध सामाजिक के हृदय में करुणा की ही उत्पत्ति करता है।

इसी प्रकरण में भरत ने रसों के निभिन्न भेदों का भी उल्लेख किया है[3]। आगे चलकर इनमें से कुछ तो प्रचलित रहे और कुछ अप्रचलित हो गए।

(१) **प्रचलित भेद**—शृंगार के संभोग और विप्रलंभ दो भेद। हास्य के (उत्तम, मध्यम और अधम कोटि के व्यक्तियों के प्रयोगानुसार) स्मित, विहसितादि छः भेद, तथा वीर के दानवीर, धर्मवीर और युद्धवीर, तीन भेद।

(२) **अप्रचलित भेद**—शृंगार के वाङ्नेपथ्यक्रियात्मक तीन भेद, हास्य के आत्मस्थ और परस्थ दो भेद। हास्य और रौद्र के अंगनेपथ्यवाक्यात्मक तीन तीन भेद। करुण के धर्मोपघातज, अपचयोद्भव और शोककृत तीन भेद। भयानक के स्वभावज, सत्वसमुत्थ और कृतक तीन भेद, तथा व्याज-अपराध-त्रासगत तीन भेद। वीभत्स के क्षोभज, शुद्ध और उद्वेगी तीन भेद। अद्भुत के दिव्य और आनंदज दो भेद।

भरत के कथनानुसार विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है—विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद् रसनिष्पत्तिः। उनके इस सिद्धांतकथन में यद्यपि स्थायी भाव को स्थान नहीं मिला, पर जैसा उनकी अपनी व्याख्या से स्पष्ट है, उन्हें अभीष्ट यही है कि स्थायी भाव ही उत्तर विभावादि के द्वारा

[1] रूपकनिरूपणीय भरत, रसाधिकारिक नन्दिकेश्वर। —का० मी०, १म अ०, पृ० ४।

[2] ना० शा० ६।३९-४१।

[3] वही, ६।४८ वृत्ति, ६।७७-८३।

रसत्व को प्राप्त होते हैं[१]। नाट्यजगत् में विभावादि का यह संयोग रस (आस्वाद) का जनक उसी प्रकार है जिस प्रकार लौकिक संसार में नाना प्रकार के व्यंजनों, मिष्टान्नों और रासायनिक द्रव्यों का पारस्परिक संयोग हर्षोत्पादक षड्रसास्वाद उत्पन्न कर देता है। स्थायी भावों का यह आस्वाद तभी संभव है, जब ये नाना प्रकार के भावों के (नाटकीय) अभिनय से प्रकट किए गए हों, और वाग् (वाचिक), अंग (आंगिक) तथा सत्व (सात्विक) अभिनयों से संयुक्त हों। यथा हि नाना व्यंजन-संस्कृतमन्नं भुंजाना रसानास्वादयन्ति सुमनसः पुरुषा हर्षादीश्चाप्यधिगच्छन्ति तथा नानाभावाभिनयव्यंजितान् वागंगसत्वोपेतान् स्थायिभावानास्वादयन्ति सुमनसः प्रेक्षकाः। (ना० शा०, पृ० ७१)।

उक्त भरतसूत्र की यह व्याख्या रसस्वरूप पर एक क्षीण सा प्रकाश डालती है—'नानाभावाभिनय' और 'वाग् अंग' को अनुभाव के अंतर्गत माना जा सकता है, और 'सत्व' को सात्विक भाव के अंतर्गत।

भरतप्रतिपादित सूत्र निस्संदेह व्याख्यापेक्ष है। इसकी व्याख्या परवर्ती विद्वान् आचार्य, जिनमें से भट्ट लोल्लट, श्री शंकुक, भट्ट नायक और अभिनवगुप्त के नाम विशेषतः उल्लेखनीय हैं, अपनी अपनी प्रतिभा के अनुसार करते करते, रस का मूल भोक्ता कौन है, इस प्रश्न के साथ साथ इस जटिल समस्या को भी सुलझाने में प्रवृत्त हो गए कि उसे किस क्रम और किस विधि से रस का आस्वाद प्राप्त होता है। भरत से पूर्ववर्ती किसी आचार्य अथवा स्वयं भरत को भी इस कथन की इतनी विशद और विवादपूर्ण व्याख्या अभीष्ट रही होगी, आज तक के अनुसंधानों के बल पर निश्चयपूर्वक कुछ कह सकना कठिन है। इस कथन में विभाव, अनुभाव और व्यभिचारिभाव का जो स्वरूप भरत को अभीष्ट है, वही परवर्ती आचार्यों को भी है, पर विवादग्रस्त दो शब्द हैं—संयोग और निष्पत्ति, जिनपर आधृत विभिन्न व्याख्यानों का उल्लेख अपेक्षणीय है।

१. भट्ट लोल्लट

नाट्यशास्त्र की प्रसिद्ध टीका 'अभिनव भारती' के अनुसार भरतसूत्र के प्रथम व्याख्याता भट्ट लोल्लट के मत में :

(१) उपचितावस्था अर्थात् परिपक्वता को प्राप्त स्थायिभाव ही 'रस' नाम से अभिहित होते हैं। स्थायिभाव, जो स्वयं तो अनुपचित (अपरिपक्व) हैं, विभाव,

[१] एवं नानाभावोपहिता अपि स्थायिनो भावा रसत्वमाप्नुयन्ति। —ना० शा०, पृ० ७१।

अनुभाव और व्यभिचारिभाव का संयोग पाकर जब उपचित होते हैं, तब इनका नाम 'रस' पड़ जाता है[1]।

(२) यह रस अनुकार्य—वास्तविक रामादि—में भी रहता है, और अभिनयकौशल के बल पर रामादि का अनुकरण करनेवाले नट में भी :

भट्टलोल्लटस्तावदेवं व्याचचक्षे ·· विभावादिभिः संयोगोऽर्थात् स्थायिनः ततो रसनिष्पत्तिः। ·· स्थाय्येव विभावानुभावादिभिरुपचितो रसः। स्थायी त्वनुपचितः। स चोभयोरपि ·· अनुकार्ये, अनुकर्तर्यपि चानुसन्धानबलात्। —ना० शा० (अ० भा०) पृ० २७४।

काव्यप्रकाशकार मम्मट ने उपर्युक्त सिद्धांत के द्वितीय अंश में थोड़ा संशोधन उपस्थित करते हुए वास्तविक रामादि में मुख्य रूप से रस की स्थिति मानी है और नट में गौण रूप से। सिद्धांत के प्रथम अंश की उन्होंने भरत-सूत्र-स्थित 'संयोग' और लोल्लट प्रतिपादित 'उपचित' शब्दों के आधार पर विशद व्याख्या करते हुए विभाव, अनुभाव और व्यभिचारिभावों का स्थायिभावों के साथ संयोग संबंध निम्नलिखित प्रकार से जोड़ा है :

(क) आलंबनोद्दीपन-विभावों तथा स्थायिभाव में जनक-जन्य-संबंध है,
(ख) अनुभाव तथा स्थायिभाव में गम्य-गमक-संबंध है, और
(ग) व्यभिचारिभावों तथा स्थायिभाव में पोषक-पोष्य-संबंध है।

इस प्रकार मम्मट के व्याख्यानुसार स्थायिभाव विभावादि के द्वारा क्रमशः जन्य, गम्य और पुष्ट होकर 'रस' रूप में प्रतीयमान होता है[2]। मम्मट को इस त्रि-संबंध-निर्देश की प्रेरणा निस्संदेह अभिनवभारती से मिली होगी।

भट्ट लोल्लट ने अपने सिद्धांत में यद्यपि सहृदय का उल्लेख नहीं किया, पर निश्चित ही उसे अभीष्ट यही है कि सहृदय तो रस का भोक्ता है ही। वह नट नटी के माध्यम से उसी रस को प्राप्त करता है, जिसे वास्तविक रामसीतादि नायकनायिका ने प्राप्त किया होगा।

भट्ट लोल्लट के सिद्धांत पर आगे चलकर भरतसूत्र के अन्य व्याख्याता शंकुक ने अनेक आक्षेप किए। उनका एक आक्षेप यह है कि उपचित स्थायिभाव को रस

[1] कुछ इसी प्रकार की धारणा अलंकारवादी दंडी पहले ही प्रकट कर चुके थे :

रतिः शृंगारतां याता, रूपबाहुल्ययोगतः।
आरूढ़ा च परां कोटिं कोपो रौद्रात्मतां गतः॥

—अ० भा०, पृ० २८४; का० द० २।२८१, २८३

[2] का० प्र० ४।२८ (वृ०)

नाम से पुकारने पर यह निश्चित कर सकना असंभव है कि रति, हास आदि स्थायिभाव कितनी मात्रा तक उपचित होकर रस कहाते हैं। मात्रानिर्धारण के लिये यदि यह मान लिया जाय कि उच्चतम पराकाष्ठा तक ही उपचित 'स्थायिभाव' रस कहाता है तो भरतसंमत हास्यरस के स्मित, अवहसित आदि छः भेद, तथा शृंगाररसातर्गत निरूपित काम की अभिलाषा आदि दस अवस्थाएँ असंगत हो जायँगी क्योंकि इन दोनों रसों में स्थायिभाव केवल उच्चतम कोटि की उपचितावस्था के सूचक न होकर उत्तरोत्तर प्रकर्ष के सूचक हैं[1]। अतः लोल्लट का मत सीमानिर्धारक न हो सकने के कारण शिथिल है।

शंकुक का एक अन्य आक्षेप है कि लोल्लट द्वारा प्रतिपादित विभाव और स्थायिभाव में उत्पादकोत्पाद्य रूप कारण-कार्य-भाव संबंध की स्थापना भी निम्नलिखित दो कसौटियों पर खरी नहीं उतरती—(१) कारण (कुंभकारादि) के नष्ट हो जाने पर भी कार्य (घट) की स्थिति बनी रहती है, और (२) कारण (चंदनावलेपन) और कार्य (सुगंध सुखानुभव) की एकसाथ स्थिति कदापि संभव नहीं है, इनमें थोड़ा बहुत पूर्वापर भाव बना ही रहता है। पर इधर एक तो विभाव के नष्ट हो जाने पर (स्थायिभावात्मक) रस भी नष्ट हो जाता है, और दूसरे, विभाव तथा रस दोनों साथ साथ अवस्थित रहते हैं, उनमे पूर्वापर संबंध कदापि संभव नहीं है[2]।

शंकुक का एक अन्य प्रबल आक्षेप है कि लोल्लट का यह सिद्धांत कि सामाजिक नायकनायिका द्वारा अनुभूत रस का आस्वादन नटनटी के माध्यम से प्राप्त करता है, अतिव्याप्ति दोष से दूषित है। जिसमे रति आदि स्थायिभाव होगा, रस भी उसी मे होगा, न कि किसी अन्य मे—इस व्याप्ति के अनुसार केवल नायक-नायिका ही रसास्वादन प्राप्ति के अधिकारी ठहरते हैं, न कि नटनटी और न उनके माध्यम से सामाजिक ही। और फिर, सामाजिक मूल नायक के रति, हासादि भावो से तो आनंदमूलक रस प्राप्त कर भी लें, पर शोक, भयादि भावों से रस प्राप्त करने मे

[1] अनुपचितावस्थः स्थायी भाव, उपचितावस्थो रस इत्युच्यमाने एकैकस्य स्थायिनो मन्दतम-मन्दतरमन्दमध्येस्यादिविशेषापेक्षया आनन्त्यापत्ति.। एवं रसस्यापि तीव्रतीव्रतरतीव्रतमादि-भिरसख्यत्व प्रपद्यते। अथोपचयकाष्ठां प्राप्त एव रस उच्यते, तर्हि 'स्मितमवहसित विहसित-मुपहसित चापहसितमतिहसितम्' इति षोढात्व हास्यरसस्य कथं भवेत्। —का० अनु०, पृ० ६१, टीका भाग

[2] कार्यत्वे घटादिवत् विभावादिनिमित्तनाशेऽपि रसानुवृत्तिप्रसंग इति भाव.।
न चास्यालौकिकस्य स्वप्रकाशानन्दात्मकस्य लौकिकप्रमाणगम्यत्वम्॥
—एकावली (टीका भाग), पृ० ८७

तुलनार्थ : नहि चन्दनस्पर्शज्ञानं तज्जन्यसुखज्ञान चैकदा संभवति।
—सा० द०, ३,२० वृत्ति

वह नितांत असमर्थ रहेगा। लोल्लट के पक्षपाती यदि यह कहें कि सामाजिक नट में ही रामादि का ज्ञान प्राप्त करके रामगत मूल रस का आस्वादन प्राप्त कर लेते हैं, तो फिर उन्हें यह भी मान लेना होगा कि लौकिक शृंगार आदि को देखकर अथवा 'शृंगार' शब्द को सुनकर भी सामाजिकों को रस का आस्वादन प्राप्त हो जाता है[1]।

शंकुक के उपर्युक्त आक्षेपों से प्रेरणा प्राप्त कर काव्यप्रकाश के टीकाकारों ने नट को रसोपभोक्ता न मानने के लिये एक अन्य तर्क भी प्रस्तुत किया है कि लोक में क्रोध, शोक आदि चित्तवृत्तियों का उत्तरोत्तर ह्रास होते रहने के कारण नट के लिये, जो न तो सर्वज्ञ है और न योगी है, यह जान सकना नितांत असंभव है कि राम आदि नायक ने अमुक अवसर पर कितनी मात्रा तक रति, शोक, क्रोध आदि का अनुभव किया होगा और अमुक अवसर पर कितनी मात्रा तक[2]। अतः लोल्लट के मतानुसार सामाजिक के लिये नट के माध्यम से रामादि द्वारा आस्वादित मूल रस का आस्वादन कर सकना नितांत असंभव है।

निष्कर्ष रूप में लोल्लट पर किए गए आक्षेपों में से एक आक्षेप है विभाव और रस में कारण-कार्य-संबंध की लौकिक सीमा का उल्लंघन, और दूसरा आक्षेप है नायकगत रसास्वादप्राप्ति के लिये नटरूप माध्यम की व्यर्थता। लोल्लट के पक्षपातियों के पास उक्त दोनों प्रधान आक्षेपों को छिन्न भिन्न करने के लिये एक ही प्रबल तर्क है—काव्यकृति को सर्वांश रूप में अलौकिक मानना। मूल नायक और उसके रत्यादि स्थायिभाव, जो निस्संदेह लौकिक हैं और जिन्हें काव्य नाटकादि में वर्णित हो जाने पर क्रमशः विभाव और रस नामों से अभिहित किया जाता है, अलौकिक बनकर अब लौकिक कारण-कार्य-संबंध की परिभाषा और सीमाओं के बंधन से नितांत विनिर्मुक्त हो जाते हैं। माना कि नट मूल रामादि नायक की चित्तवृत्तियों का चित्रण कर सकने में नितांत असमर्थ है, पर उसका संबंध तो रामायणादि काव्य-नाटकगत अलौकिक नायकादि के साथ है। अभ्यासपटु नट नाट्य-संगीत-शास्त्रादि में निर्धारित नियमों के आधार पर काव्य नाटकादि में चित्रित पात्रों की उन्हीं मार्मिक चित्तवृत्तियों का, जो काव्यसौंदर्य प्रदान करने की क्षमता रखती हैं, सफलतापूर्वक अनुकरण करके सामाजिकों के लिये रसास्वादप्राप्ति का कारण बन जाता है। सामाजिक इस रसास्वाद को अपने परंपरागत संस्कारों की प्रबलता के कारण रामा-

[1] सामाजिकेषु तदभावे तत्र चमत्कारानुभवविरोधात्। न च तज्ज्ञानमेव चमत्कारहेतुः। शाब्दतज्ज्ञानेऽपि तदापत्तेः। लौकिकशृंगारादिदर्शनेनापि चमत्कारप्रसंगात्।

—का० प्र० (प्रदीप) टीका, पृ० ६१।

[2] अन्यथैवोपपत्त्या तादृशकल्पनाया मानाभावाच्च। —वही।

तुलनार्थ रसप्रदीप (प्रभाकर भट्ट), पृ० २२, पंक्ति ४ ७।

यथादि काव्यों के पात्रों का रसास्वाद न समझकर ऐतिहासिक रामादि का रसास्वाद समझने लग जाते हैं। पर इसमें बेचारे 'नट' का क्या अपराध और उसकी माध्यम रूप में स्वीकृति पर क्या आक्षेप? यही स्थिति कल्पित आख्याननिरूपक नाटकों पर भी घटित होती है। सामाजिक नट के अभिनयकौशल से प्रबंधगत पात्र के रसास्वाद को लोक में वर्तमान तत्सदृश अन्य व्यक्ति का रसास्वाद समझकर स्वयं भी वैसा ही आस्वाद प्राप्त कर लेता है[1]।

किंतु लोल्लट के पक्षपाती काव्यनाटकादि के पात्रों को बीच में लाकर लोल्लट के विरोधियों को करारा जवाब देने का प्रयास करते करते लोल्लटसंमत धारणा को अन्य रूप में उपस्थित कर देते हैं। लोल्लट को नट के माध्यम से ऐतिहासिक रामादि नायक द्वारा आस्वादित रस की प्राप्ति अभीष्ट है, न कि रामायणादि में कविनिर्मित रामादि द्वारा आस्वादित रस की। अस्तु! कुछ विद्वान् लोल्लट के इस सिद्धात को 'आरोपवाद' के नाम से पुकारते हैं। उनके अनुसार सामाजिक नट में मूल नायक का आरोप करके—उसे मूल नायक ही समझकर—रसास्वादन करते हैं[2]। पर इसे 'आरोपवाद' कहना समुचित नहीं है क्योंकि, आरोप में उपमान और उपमेय दोनों का ज्ञान बराबर बना रहता है। पर लोल्लट के मत में नट को नट न समझकर अभिनयकौशल के बल से भ्रांतिवश रामादि समझ लिया जाता है, अतः इस सिद्धात को 'भ्रांतिवाद' कहना कहीं अधिक संगत है।

हमारे विचार में लोल्लट का सिद्धात उतना भ्रांत नहीं है जितना बाल की खाल निकालने वाले उसके विरोधियों ने उसे सिद्ध करने का प्रयास किया है। स्वयं शंकुक ने भी, जैसा हम आगे देखेंगे, लोल्लट के समान अपना मत इसी भित्ति पर खड़ा किया है कि जब तक सामाजिक नट को, उसके अभिनयकौशल के बल पर, रामादि नहीं समझ पाता तब तक उसे रसास्वाद प्राप्त नहीं हो सकता। वस्तुतः इस धारणा में तनिक भी संदेह नहीं है। शेष रहा सिद्धात का दूसरा पक्ष—वास्तविक रामादि को रसप्राप्ति मुख्य रूप से होती है और नट को गौण रूप से। यह पक्ष अवश्य शिथिल है। वास्तविक नायक लौकिक था, उसका रत्यादिजन्य आनंद अथवा शोकादिजन्य दुःख भी लौकिक था, अतः उसे शृंगाररस अथवा करुणरस की संज्ञा देना शास्त्रसंमत नहीं है। शेष रहा नट की रसास्वादप्राप्ति का प्रश्न। सफल

[1] रसप्रदीप, पृ० २२

[2] (क) मुख्यतया दुष्यन्तादिगत एव रसो रत्यादि
अनकर्तरि नटे समारोप्य साक्षात्क्रियते। —रसगंगाधर, पृ० ३३

(ख) नटे तु तुल्यरूपतानुसन्धानवशाद् आरोप्यमाणः सामाजिकानां चमत्कारहेतुः।
—का० प्र० (प्रदीप टीका), पृ० ९१

अभिनेता तत्क्षण के लिये तो निश्चित ही यह भूल जाता है कि वह अभिनेता मात्र है—ठीक उसी क्षण वह सामाजिक के ही समान रसास्वाद प्राप्त करने लग जाता है[1], और तभी हम उसे वास्तविक रामादि समझने लगते हैं—रंगमंच की यही तो महत्ता है। इतना सब स्वीकार करते हुए भी लोल्लट के अनुसार हम रत्यादि स्थायिभाव को विभावोत्पन्न और इस सिद्धात को 'उत्पत्तिवाद' के नाम से स्वीकार नहीं करते। स्थायिभाव हर व्यक्ति के हृदय मे वासना रूप से सदा रहते हैं, विभावो के द्वारा उत्पन्न नहीं होते; इनसे आविष्कृत अवश्य हो जाते हैं। इस प्रकार हमारे विचार में शंकुक की धारणा सर्वांश रूप में अमान्य, भ्रात अथवा निर्मूल नहीं है, अपितु भावी भरत-सूत्र-व्याख्याताओं के लिये मार्गप्रदर्शन का कार्य करती है।

४. शंकुक

भरतसूत्र के दूसरे व्याख्याता शंकुक ने भट्ट लोल्लट के सिद्धात का जितनी सूक्ष्मता और सतर्कता के साथ खंडन करने के लिये महान् प्रयास किया है, अपनी व्याख्या मे उन्होंने उसी अनुपात से कोई विशेष नवीनता प्रस्तुत नहीं की। इनका सिद्धात नितात मौलिक न होकर लोल्लट के ही सिद्धात की मूल भित्ति—नट पर माध्यम रूप से स्वीकृति—पर अवस्थित है। दोनों के दृष्टिकोणों में अंतर अवश्य है—लोल्लट के मत में सामाजिक नट पर मूल नायकादि का 'आरोप' कर लेता है और शंकुक के मत में 'अनुमान' कर लेता है। परंतु दोनों दृष्टिकोणों का परिणाम एक है—सामाजिक द्वारा उसी रस की आस्वादप्राप्ति जिसका आस्वादन ऐतिहासिक अथवा प्रसिद्ध कथानकों मे रामादि और काल्पनिक कथाओं में किसी भी लौकिक व्यक्ति ने प्राप्त किया होगा। लोल्लट ने इस स्वतःसिद्ध परिणाम का संभवतः जान बूझकर उल्लेख न किया हो, पर शंकुक ने इसका स्पष्ट शब्दों मे उल्लेख करते हुए इसके मूलभूत साधन पर भी प्रकाश डाला है।

शंकुक ने इस अनुमान को अन्य लौकिक अनुमानों से विलक्षण माना है। अन्य अनुमानो की प्रतीति सम्यक्, मिथ्या, सशयात्मक अथवा सादृश्यात्मक होती है, पर नट को रामादि समझने का अनुमान उसी प्रकार का है जिस प्रकार 'चित्र-तुरंग-न्याय' से चित्र में अंकित 'भागता हुआ अश्व' जीवित अश्व न होता हुआ भी भागता सा प्रतीत होता है। यह अनुमान तभी संभव है जब नट स्वयं भी कवि-विवक्षित अर्थ की गंभीरता तक पहुँचकर अभिनय की शिक्षा और अभ्यास के बल पर मूल नायकादि का सफल अनुकरण करते हुए अपने आपको रामादि समझने लग

[1] विश्वनाथ ने रसास्वादभोक्ता नट को भी 'सामाजिक' की संज्ञा दी है—
काव्यार्थभावनेनायमपि सभ्यपदास्पदम्।—सा० द० ३।२०

जाय[1]। इस प्रकार शंकुक के सिद्धातानुसार भरतसूत्रस्थित 'संयोग' शब्द विभावादि और रस के बीच लोल्लट के मतानुसार उत्पाद्योत्पादक संबंध का द्योतक न होकर 'अनुमापक' 'अनुमाप्य' (गमक गम्य) संबंध का द्योतक है। उदाहरणार्थ इस अनुमान की सिद्धि इस प्रकार होगी—रामोऽयं सीताविषयकरतिमान्, सीताविषयक-कटाक्षादिमत्त्वात्। शंकुक के मत में सामाजिक नट के सफल अभिनय को देखकर उसमें रामादि के रत्यादि भावों की विद्यमानता अनुमित कर लेता है। अब उसे नट संबंधी विभाव, अनुभाव और व्यभिचारिभाव कृत्रिम न दिखाई देकर स्वाभाविक से प्रतीत होने लगते हैं[2]। पर मूल समस्या अब भी शेष रह जाती है—सहृदय का नट के इन रत्यादि भावों से क्या संबंध है? उत्तर स्पष्ट है—नटगत रत्यादि स्थायि-भाव अनुमित होते हुए भी रंगमंचीय सौंदर्य के कारण इतने प्रबल होते हैं कि सहृदय इनके द्वारा स्वतः रस की चर्वणा करने लग जाता है, और इस चर्वणा में सहायक होती हैं उसकी अपनी वासनाएँ अर्थात् पूर्वजन्म के संस्कार[3]। लोल्लट इस स्वतःसिद्ध धारणा के विषय में मौन थे, पर शंकुक ने न केवल मूल विषय का स्पष्टी-करण कर दिया है, अपितु परवर्ती सुविख्यात आचार्य अभिनवगुप्त द्वारा स्वीकृत रसानुभूति के मूलभूत साधन सहृदयगत 'वासना' पर भी प्रकाश डाला है।

स्पष्टतः शंकुक के सिद्धात के दो भाग हैं—(१) सामाजिक द्वारा नट में—उस नट में जो कुशल अभिनय की तल्लीनता में अपने आपको भी नायक रामादि समझने लग जाता है—रामादि के रत्यादिभावों की अनुमिति, और (२) तभी सामाजिक को अपनी वासना द्वारा उन भावों के रंगमंचीय सौंदर्यप्रभाव के बल पर रसानुभूति की प्राप्ति। परवर्ती आचार्यों ने शंकुक के अनुमानवाद पर भी अनेक आक्षेप किए। ध्वनिवादी आनंदवर्धन के महान् अनुयायी मम्मट ने अनुमान को ध्वनि के अंतर्गत माना है और इस प्रकार उन्होंने शंकुकसिद्धात की जड़ ही काट दी है। आनंदवर्धन से भी पूर्व भट्ट तौत और भट्ट नायक इस सिद्धात का खंडन कर चुके थे। भट्ट तौत का प्रहार सिद्धात के प्रथम भाग पर है और भट्ट नायक का दूसरे भाग पर।

भट्ट तौत के कथनानुसार यथार्थ (अथवा मिथ्या भी) साधन से तत्संबंधी साध्य का तो अनुमान हो जाता है, पर वास्तविक साध्य के सदृश किसी अन्य साध्य का अनुमान नहीं होता। उदाहरणार्थ धूम अथवा कुज्झटिका से अग्नि का तो अनुमान संभव है, अग्निसदृश रक्तवर्ण जपाकुसुमों का अनुमान हास्यास्पद है।

[1] का० प्र०, चतुर्थ उल्लास, शंकुक का मत।
[2] वही।
[3] वही।

किंतु इधर अनुमानवाद की इस कसौटी पर शंकुक का सिद्धांत खरा नहीं उतरता। नट के कृत्रिम रत्यादि स्थायिभावों द्वारा सामाजिक को भले ही लोक में वर्तमान किसी रतिमान् व्यक्ति की अनुमिति हो जाय, पर तत्सदृश भूतकालीन राम की अनुमिति, जिसे किसी सामाजिक अथवा नट ने नहीं देखा, अनुमान का विषय नहीं। इस प्रकार वास्तव मे अक्रुद्ध नट का क्रोधव्यवहार भी समाज के किसी क्रुद्धप्रकृति व्यक्ति का अनुमान तो करा सकता है, पर भूतकालीन अदृष्टपूर्व क्रोधी भीमसेन का नहीं

तदिदमप्यन्तस्तत्त्वशून्यं विमर्दक्षममिति भट्ट तोतः। तथा हि ··· न हि वाष्पधूमत्वेन ज्ञानादग्न्यनुकारानुमान तदनुकारत्वेन प्रतिभासमानादपि लिंगात्त तदनुकारानुमानं युक्तम्, धूमानुकारत्वेन हि ज्ञायमानान्नीहाराद्माग्न्यनुकारजपापुंज-प्रतीतिर्दृष्टा। ननु अक्रुद्धोऽपि नटः क्रुद्ध इव भाति। —का० अनु०, पृ० ७१-७२; अ० भा०, पृ० २७६-७७।

भरतसूत्र के अन्य व्याख्याता भट्ट नायक के कथनानुसार वादि-तोष-न्याय से सामाजिक द्वारा नट पर राम की अनुमिति स्वीकार की भी जाय, तो भी इसमे सामाजिक को रसप्राप्ति होना संभव नहीं है। अनुमानप्रक्रिया द्वारा न रामसीता अथवा न दुष्यंतशकुंतला और न उनके परस्परोद्दीपक व्यवहार हमारे विभाव बन सकते हैं। उनके प्रति हमारा संस्कारनिष्ठ श्रद्धाभाव हमारी रसत्वप्राप्ति मे बाधक सिद्ध होगा। सीता और शकुंतला को अनुमानप्रक्रिया द्वारा न तो हमारे लिये अपनी प्रेयसी के रूप मे मान लेना संभव है, और न उनके स्थान पर हमें अपनी प्रेयसी की स्मृति हो जाना संभव है। इसी प्रकार राम सरीखे देवता आदि के साथ भी सामाजिकों का साधारणीकरण अनुमान द्वारा संभव नहीं है—राम के ही समान समुद्रोल्लंघन जैसे असंभव कार्यों को कर सकने की कल्पना तक क्षुद्र सामाजिक अपने मन मे नहीं ला सकता[1]। काल्पनिक कथानकयुक्त नाटकों के इहलौकिक पात्रो के साथ भी अनुमान द्वारा समानानुभूति रुचिवैचित्र्य के कारण संभव नहीं है। अतः अनुमान द्वारा रसप्राप्ति में न नटस्थ (नट और रामादि) सहायक सिद्ध हो सकते हैं और न स्वयं सामाजिक ही अवास्तविक विभावादि रससामग्री से इस प्रक्रिया द्वारा रसास्वादन प्राप्त कर सकते हैं[2]। स्पष्टतः आनंदवर्धन और भट्ट तौत का खंडन

[1] न च सा प्रतीतिर्युक्ता सीतादेरविभावत्वात्। स्वकान्तास्मृत्यसंवेदनात्।
देवतादौ साधारणीकरणायोग्यत्वात्। समुद्रोल्लंघनादेरसाधारण्यात्।
—का० अनु०, पृ० ७३

[2] न ताटस्थ्येन नात्मगतत्वेन रसः प्रतीयते नोत्पद्यते।
—का० प्र०, चतुर्थ उल्लास, पृ० ६०

मूलतः शास्त्रीय सिद्धांतों पर आधृत है, और भट्ट नायक का व्यवहारमूलक तर्कों पर। भट्ट नायक के तर्क वस्तुतः उनके वक्ष्यमाण भावकत्व व्यापार की पृष्ठभूमि तैयार करते हैं। अनुमान द्वारा सामाजिक नट को रामादि भले ही समझ ले, पर नट के माध्यम से रामादि के साथ साधारणीकरण (समानानुभूति) अनुमान द्वारा संभव न होकर भट्ट नायक के मत में भावकत्व व्यापार द्वारा संभव है, जो रसानुभूतिप्राप्ति की पूर्वावस्था है।

वस्तुतः अनुमान का विषय प्रत्यक्ष रूप से पूर्वदृष्ट घटनाओं पर अवलंबित है। अतः सफल अभिनय को देखकर सामाजिक का नट को अदृष्टपूर्व दुष्यंतादि के रूप में अनुमित कर लेना अनुमान का विषय नहीं है, किसी अन्य प्रत्यक्षदृष्ट व्यक्ति का अनुमान भले ही वह कर रहा हो। इसके अतिरिक्त कभी कभी वह यह भी अनुमान लगा सकता है कि नटनटी का रंगमंचीय जगत् से बाहर भी ऐसा ही रत्यादि संबंध चलता होगा, पर निस्संदेह ये दोनों अनुमान लौकिक हैं। और यदि शंकुक के अनुमानवाद को खींच तानकर देशकाल की परिधि से बाहर का विषय मान लें, तो सामाजिक यह भी अनुमान लगा सकता है कि इस नटनटी के ही समान दुष्यंतशकुंतला आदि में रतिसंबंध होगा। पर इससे आगे सामाजिक के रसास्वाद पर शंकुक का सिद्धात घटित नही होता। शकुक के विरोधियो को सबसे बड़ी आपत्ति यही है। निस्संदेह, आज तक किसी भी सामाजिक ने रसानुभूति के समय निम्नाकित अनुव्यवसायमूलक कथन का न तो कभी प्रयोग किया होगा और न कभी किसी के लिये कर सकना संभव है—'मेरा अनुमान है कि मै स्वयं दुष्यंत या शकुंतला बनकर रसानुभूति को प्राप्त कर रहा हूँ।' ऐसे कथन का प्रयोक्ता निश्चित ही एक प्रक्षिप्त व्यक्ति समझा गया होगा अथवा समझा जायगा।

शंकुक का सिद्धात लोल्लट के सिद्धांत से अनुप्रेरित है अतः भट्ट नायक द्वारा प्रदर्शित त्रुटियाँ भी दोनो सिद्धातो पर लागू होती हैं। इस दृष्टि से तो दोनो सिद्धात समान हैं। पर सामाजिक के प्रश्न को स्पष्ट रूप में उठाकर तथा सामाजिक की वासना को, जो भट्ट नायक की 'भावना' और अभिनवगुप्त की 'चित्तवृत्ति' की पर्याय है, रसानुभूति का साधन मानकर शंकुक एक ओर तो लोल्लट से आगे बढ़ गए हैं और दूसरी ओर भावी आचार्यों के लिये पृष्ठभूमि तैयार कर गए हैं। इस प्रकार पूर्वापर सिद्धातों के बीच शृंखलास्थापन में ही शंकुक के सिद्धात का महत्व निहित है।

४. भट्ट नायक

भरतसूत्र के तीसरे व्याख्याता भट्ट नायक ने रसानुभूति की समस्या को एक नई दिशा की ओर मोड़ दिया। लोल्लट का 'आरोपवाद' और शंकुक का

'अनुमानवाद' सामाजिक को नट के माध्यम से मूल नायक रामादि द्वारा अनुभूत रस की प्राप्ति कराने के पक्ष में था। पर उसमे प्रमुख दो आपत्तियाँ थीं—अदृष्टपूर्व (रामादि) चरित्रों की रसानुभूति की मात्रा के संबंध मे अज्ञान, और दूसरे के व्यवहारों के प्रति हमारी संस्कारनिष्ठ परंपरागत श्रद्धा, घृणा अथवा रुचिवैचित्र्य के कारण तादात्म्य संबध की स्थापना। भट्ट नायक ने दोनों आपत्तियों का समाधान अनूठे ढंग से प्रस्तुत किया। उनके मत मे काव्य अर्थात् शब्द के तीन व्यापार हैं—अभिधा, भावकत्व और भोग। अभिधा व्यापार, जिसमें अभिधा और लक्षणा दोनों शब्दशक्तियाँ अंतर्भुक्त हैं, सामाजिक को काव्यार्थ का बोध कराता है। काव्यार्थबोध होते ही साधारणीकरणात्मक 'भावकत्व' व्यापार के द्वारा स्थायिभाव और विभावादि व्यक्तिविशेष से संबद्ध न रहकर साधारण रूप धारण कर लेते हैं। उदाहरणार्थ दुष्यंत और शकुंतला के पारस्परिक रतिव्यवहार को रंगमंच पर अभिनीत देखकर अथवा काव्य मे पढ़कर सामाजिक को यह ज्ञान नहीं रहता कि यह व्यवहार ऐतिहासिक दुष्यतशकुंतला का है, अथवा रंगमचीय नटनटी का या उसका अपना और उसकी प्रेयसी का है वा किसी पड़ोसी दंपति अथवा अन्य प्रेमीप्रेमिका का। भावकत्व व्यापार काव्यनाटकीय उक्त व्यवहार को सार्वकालिक और सार्वदेशिक प्रेमी-प्रेमिकाओं के रतिव्यवहार का साधारण रूप दे देता है। परिणामस्वरूप सामाजिक को अब न तो दुष्यंतशकुंतला के वास्तविक रतिव्यवहार के मात्राबोध की आवश्यकता शेष रह जाती है और न उनके प्रति परंपरागत श्रद्धाजन्य संस्कारों के कारण रसानुभूति की प्राप्ति मे कोई अन्य बाधा। साधारणीकरण होते ही सामाजिक का सत्वगुण उसके हृदयस्थ अन्य सब प्रकार के रजोगुण और तमोगुण संबंधी भावों का तिरस्कार करके स्वयं उद्रिक्त (प्रादुर्भूत) हो जाता है। इसी सत्वोद्रेक से प्रकटित आनंदमय अनुभव को, जो तन्मयता के कारण अन्य सासारिक भावों से शून्य, अतएव अलौकिक रहता है, भट्ट नायक ने शब्द के तीसरे व्यापार 'भोग' अथवा 'भोजकत्व' नाम से पुकारा है। इसी के द्वारा सामाजिक रस का भोग अथवा आस्वादन प्राप्त करता है[1]। यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि शब्द के उक्त तीनों व्यवहार इतनी त्वरित गति से संपन्न होते हैं कि 'शतपत्रपत्रभेदनन्याय' से काल-व्यवधान-सूचक होते हुए भी व्यवधानरहित समझे जाते हैं।

अभिधा व्यापार के द्वारा काव्यार्थबोध के उपरात भट्ट नायक का भोजकत्व (साधारणीकरण) व्यापार रसास्वादन प्रक्रिया में निस्संदेह एक अनिवार्य कड़ी है। इसी व्यापार के बल पर एक ही काव्य अथवा नाटक से सभी देशों और कालों के विभिन्न वर्ग के सहृदय सामाजिक रागद्वेष, श्रद्धाअश्रद्धा, स्नेहघृणा आदि द्वंद्वों से

[1] वही, चतुर्थ उल्लास, भट्ट नायक का मत, पृ० ६७

निर्लिप्त होकर काव्यरसास्वादन की पूर्वस्थिति तक पहुँच जाते हैं, और तभी भोग-व्यापार उन्हें रसास्वादन करा देता है। भट्ट नायक को उक्त तीनों व्यापार काव्य-नाटकीय शब्द के ही अभीष्ट हैं, लोकवार्तागत शब्द के नहीं। कवि का महामहिमशाली कवित्वकर्म ही सामाजिक को साधारणीकरण की अलौकिक अवस्था तक पहुँचा देता है। तुलसी का कवित्व नास्तिकों अथवा विदेशियों के हृदय में भी, तत्क्षण के लिये ही सही, भारतीय अवतार राम के प्रति श्रद्धाभाव जगा देता है। भवभूति का कवित्व जननी सीता के भक्त सामाजिकों को भी, एक क्षण के लिये ही सही, सीता के प्रति

परिमृदितमृणालीदुर्बलान्यंगकानि
त्वमुरसि मम कृत्वा यत्र निद्रामवाप्ता।

की स्मृति दिलाते दिलाते उसे साधारण कामिनी के रूप में उपस्थित कर देता है, और कालिदास का कवित्व पार्वती माता के पुजारी सामाजिकों को भी पार्वती का अपूर्व यौवन सौंदर्य दिखाते दिखाते, कुछ क्षणों तक ही सही, उनके परंपरानिष्ठ श्रद्धाभाव को धराशायी करके, उन्हें सामान्य सुंदरी के स्तर पर पहुँचा देता है। और, सबसे बढ़कर, कवि के कवित्व का ही प्रभाव है कि वाल्मीकि और तुलसी का काव्य एक ही दाशरथि राम के प्रति हमारे हृदय में समय समय पर भिन्न भिन्न भावों को जगा देता है। भट्ट नायक संमत भावकत्व व्यापार के पीछे भी निस्संदेह कवित्वकर्म का महामहिमशाली प्रभाव झाँक रहा है, क्योंकि उनके सिद्धांतवाक्य में 'काव्ये नाट्ये च' का प्रयोग हुआ है, जिनका कर्ता 'कवि' कहाता है। संभवतः भावकत्व व्यापार की प्रेरणा भट्ट नायक को भरत से मिली है जिन्होंने 'भाव' को कवि के अभीष्ट भावों पर आधृत स्वीकार किया है :

कवेरन्तर्गतं भावं भावयन् भाव उच्यते। —ना० शा० ७।२

रसानुभूति की समस्या को सुलझाने में भट्ट नायक का भावकत्व व्यापार पर आश्रित 'साधारणीकरण' नामक तत्व इतना सत्य, चिरंतन और मर्मस्पर्शी है कि अभिनवगुप्त जैसे तत्वविद् आचार्य ने न केवल इसे स्वीकार किया, अपितु इसकी व्याख्या भी वक्ष्यमाण विभिन्न रूप में प्रस्तुत करके इस तत्व की अनिवार्यता घोषित कर दी।

भट्ट नायक के 'साधारणीकरण' तत्व से सहमत होते हुए भी अभिनवगुप्त इनके द्वारा प्रतिपादित शब्द के भावकत्व और भोजकत्व व्यापारों से सहमत नहीं हुए। उनके मत में प्रथम तो दोनों व्यापार किसी अन्य शास्त्र अथवा काव्यशास्त्रीय किसी अन्य आचार्य द्वारा कभी भी प्रतिपादित नहीं किए गए, और दूसरे भावकत्व

व्यापार का ध्वनि मे और भोजकत्व व्यापार का रसास्वाद मे अंतर्भाव बड़ी सरलता के साथ किया जा सकता है[1]।

किंतु किसी नवीन सिद्धात को केवल इसी आधार पर खंडित अथवा स्वसंमत सिद्धात मे अंतर्भूत कर देना कदापि युक्तिसंगत नहीं है कि यह आज तक पूर्वाचार्यों द्वारा प्रतिपादित और अनुमोदित नहीं हुआ। इसके लिये प्रबल तर्कों की अपेक्षा रहती है। अभिधा व्यापार का तो शब्द के साथ प्रत्यक्ष संबंध है, पर भावकत्व और भोजकत्व व्यापारो का यह सबंध प्रत्यक्ष नहीं है। इनके स्वरूप में भी स्पष्ट अंतर है—अभिधा व्यापार स्थूल और बाह्य है, पर शेष दो व्यापार सूक्ष्म और आभ्यंतर हैं। भावकत्व व्यापार शब्द से प्रेरित न होकर विभावादि संपूर्ण सामग्री से प्रेरित होता है—साधारणीकरण जैसे मानसिक व्यापार को कोरे शब्द का व्यापार मान लेना मनोविज्ञान के विपरीत है। इसी प्रकार भोजकत्व व्यापार को भी, जो एक तो भावकत्व जैसे मानसिक व्यापार का अनुवर्ती है, और दूसरे सत्वोद्रेक जैसे उत्कृष्ट मनोव्यापार का उद्‌गमयिता होने के कारण एक प्रकार का सूक्ष्म ज्ञान है, स्थूल शब्द का व्यापार मान लेना असंगत है। यही कारण है कि अभिनवगुप्त भावकत्व व्यापार को ध्वनित (न कि भावित) स्वीकार करते हुए भट्ट नायक से पूर्ववर्ती आचार्य आनंदवर्धन द्वारा प्रचलित 'ध्वनि' मे अंतर्भूत करते हैं और भोजकत्व व्यापार को 'रसप्रतीति' मे। पर हमारे विचार मे ध्वनिवादियों ने भावकत्व व्यापार को ध्वनि के अंतर्गत मानकर जितना अपने सिद्धात के प्रति पक्षपात प्रकट किया है, उतना ही भट्ट नायक के प्रति अन्याय भी किया है। स्वयं ध्वनिवादी भी तो ध्वनि (व्यंजना) को शब्द का व्यापार स्वीकार करते हैं। भट्ट नायक को निस्संदेह 'शब्द' का केवल स्थूल रूप अभीष्ट नहीं होगा, अपितु सूक्ष्म रूप भी अवश्य होगा।

६. अभिनवगुप्त

(१) भरतसूत्र की व्याख्या—भरतसूत्र के चौथे व्याख्याता अभिनवगुप्त के मत मे भरतसूत्र का सार रूप मे अर्थ है: विभावादि और स्थायिभावों में परस्पर व्यंजक-व्यंग्य-रूप सयोग द्वारा रस की अभिव्यक्ति होती है, अर्थात् विभावादि व्यंजको के द्वारा रत्यादि स्थायिभाव ही साधारणीकृत रूप मे व्यंग्य होकर शृंगारादि रसो में अभिव्यक्त होते हैं, और यही कारण है कि जब तक विभावादि की अवस्थिति बनी रहती है, तब तक रसाभिव्यक्ति भी होती रहती है, इसके उपरात नहीं।

उपर्युक्त सिद्धात के निरूपणप्रसंग में अभिनवगुप्त ने निम्नलिखित तथ्यों को भी स्थान दिया है:

[1] वही, चतुर्थ उ०, बालबोधिनी टीका, पृ० ६१

(अ)—सहृदय कहाने और रसानुभूति प्राप्त करने का अधिकारी वही सामाजिक ठहरता है जिसमें पूर्वजन्म के संस्कारों, इस जन्म के निजी अनुभवों अथवा लौकिक व्यवहारों के दर्शनाभ्यास के बल पर रत्यादि स्थायिभाव वासना रूप से सदा वर्तमान रहते हैं।

(आ)—काव्यनाटकादि में जिन रामसीतादि तथा उद्यानचंद्रादि कारणों, भ्रूविक्षेप-भुज-प्रचालनादि कार्यों तथा लज्जा-हर्ष-आवेग आदि सहकारी कारणों का वर्णन किया जाता है, वे लोक में भले ही कारणादि नामों से पुकारे जायँ, पर काव्यनाटक में अलौकिक रूप धारण कर लेने के कारण उन्हें क्रमशः विभाव, अनुभाव और संचारिभाव की संज्ञा दी जाती है (चाहें तो इन्हें अलौकिक कारणादि भी कह सकते हैं)।

(इ) —(१) लौकिक कारणादि को विभावादि नामों से पुकारने का एक ही प्रमुख कारण है—लोक में इनका मूल रामादि रूप व्यक्तिविशेष से नियत संबंध रहते हुए भी काव्यनाटकादि में सहृदयनिष्ठ रत्यादि वासना के द्वारा सर्वसाधारण के लिये प्रतीतियोग्य होना। दूसरे शब्दों में, ये कारणादि अब व्यक्तिविशेष से संबंध खोकर साधारण रूप से सकल-सहृदय-संबद्ध हो जाते हैं।

(२) विभावादि की साधारण रूप से प्रतीति की एक पहचान तो यह है कि उस समय सामाजिक इतना तन्मय, आत्मविभोर और आनंदविह्वल हो जाता है कि उसे न तो यह कहते बनता है कि ये विभावादि अमुक (रामादि) व्यक्ति के ही हैं अथवा मेरे ही हैं, या किसी अन्य व्यक्ति के, और न यही कहते बनता है कि ये विभावादि अमुक व्यक्ति के नहीं हैं, या मेरे नहीं हैं, वा किसी भी व्यक्ति के नहीं हैं। और दूसरी पहचान यह है कि सामाजिक किसी भी अन्य ज्ञान के संपर्क से शून्य हो जाता है। बस, इन्हीं अवस्थाओं के द्योतक साधारणीकरण के होते ही सामाजिक को रसाभिव्यक्ति हो जाती है।

वस्तुतः अभिनवगुप्त का अभिव्यक्तिवाद भट्ट नायक के भुक्तिवाद का ही ध्वनि-सिद्धांत में ढाला हुआ रूपांतर मात्र है। भट्ट नायक संमत अभिधा व्यापार के अंतर्भूत अभिधा और लक्षणा नामक दोनों शब्दव्यापारों को ध्वनिवादी भी स्वीकृत करते हैं। भट्ट नायक संमत 'भावकत्व' नाम से न सही, पर इसके साधारणीकरणात्मक स्वरूप से अभिनवगुप्त पूर्णतः सहमत हैं। भट्ट नायक का 'भोजकत्व' अभिनवगुप्त के मत में 'रसाभिव्यक्ति' नाम से अभिहित हुआ है। रस को 'वेद्यांतरसंपर्कशून्य' मानने के लिये अभिनवगुप्त को भट्ट नायक के 'सत्वोद्रेक' तत्व से प्रेरणा मिली प्रतीत होती है, क्योंकि सत्व के उद्रेक का सहज परिणाम है मन की समाहिति और मन की समाहिति ही प्रकारांतर से वेद्यांतरस्पर्शशून्यता है। शेष रहा अभिनवगुप्त द्वारा स्थायिभावों की सामाजिक के अंतःकरण में वासना रूप से स्थिति का प्रश्न। इस ओर भट्ट नायक

ने तो निस्संदेह कोई संकेत नही किया, पर शंकुक स्पष्ट शब्दों में इस ओर पहले ही संकेत कर चुके थे। संभवतः भट्ट नायक ने स्थायिभाव को भरतसूत्र मे स्थान न मिलने के कारण सामाजिक के अंतःकरण मे स्थित स्थायिभावो की ओर जान बूझकर कोई संकेत न किया हो, अथवा भरत के समय से ही प्रचलित स्थायिभावों की सामाजिक के अंतःकरण में अवस्थिति को निर्विवाद और स्वतःसिद्ध मानकर इस ओर संकेत करने की कोई आवश्यकता ही न समझी हो, पर सामाजिक के लिये साधारणीकरण जैसे मनोवैज्ञानिक तत्व को स्वीकृत करनेवाले भट्ट नायक को सहृदयगत स्थायिभाव की स्थिति अवश्य ही मान्य होगी, इसमे तनिक भी संदेह नहीं। हाँ, अभिनवगुप्त का श्रेय विषय को स्पष्टतापूर्वक सुलझाने में अवश्य निहित है। इनके मत में शृंगारादि रस की कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं है, अपितु सामाजिक के अंतःकरण मे वासना रूप मे स्थित रत्यादि स्थायिभाव ही साधारणीकृत विभावादि के द्वारा व्यंजित होकर शृंगारादि रस रूप मे अभिव्यक्त हो जाते हैं। और लगभग इसी तथ्य को प्रकारातर से भरतसूत्र के प्रथम व्याख्याता भट्ट लोल्लट ने इन शब्दों में प्रकट किया था : 'स्थाय्येव विभावानुभावादिभिरुपचितो रसः। स्थायी (भावः) त्वनुपचितः।' (अ० भा०, पृ० २७४)।

७. अलंकार संप्रदाय और रस

(१) **अलंकारवादी आचार्य**—अलंकार संप्रदाय के प्रमुख दो स्तंभ हैं—भामह और दंडी। इन आचार्यों ने इसकी महत्ता स्वीकार करते हुए भी रस, भाव आदि को रसवत् आदि अलंकारों के अंतर्गत संमिलित करके अलंकार संप्रदाय की पुष्टि की है। उद्भट भी निस्संदेह अलंकारवादी आचार्य रहे होंगे—अपने 'काव्यालंकार-सारसंग्रह' में भामह द्वारा निरूपित सभी अलंकारों का लगभग भामहसंमत विवेचन सरल शैली में प्रस्तुत कर उन्होने अलंकारवादी आचार्य भामह का अनुकरण करते हुए प्रकारातर से अलंकारवाद का समर्थन किया है। इसके अतिरिक्त इनका 'भामह-विवरण' नामक विख्यात (पर अप्राप्य) ग्रंथ तो इन्हें भामह का अनुयायी सिद्ध करता ही है।

रुद्रट की स्थिति उपर्युक्त तीनो आचार्यों से भिन्न है। वह एक ओर भामह आदि के अलंकार संप्रदाय और दूसरी ओर परवर्ती आनंदवर्धन आदि के रस-ध्वनि-संप्रदाय से प्रभावित हैं। निस्संदेह उनका झुकाव रस संप्रदाय की ओर अधिक है। यही कारण है कि एक ओर तो उन्होंने रसवत् आदि अलंकारों को अपने ग्रंथ में स्थान नहीं दिया, और दूसरी ओर रसवादियो के ही समान रस की महत्ता स्वीकार करते हुए उसका पूरे चार (१२–१५) अध्यायों में विशद रूप से निरूपण किया है।

(२) अलंकारवादियों द्वारा रस की महत्त्वस्वीकृति—भामह और दंडी ने रस का महत्व स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है। दोनों आचार्यों ने रस को महाकाव्य के लिये एक आवश्यक तत्व ठहराया है[१]। भामह के कथनानुसार नीरस और शुष्क शास्त्रीय चर्चा भी रससंयुक्तता के कारण उसी प्रकार सरलग्राह्य बन जाती है जिस प्रकार मधु (अथवा शर्करा) से आवेष्ठित कटु ओषधि[२]। दंडी ने स्वसंमत वैदर्भमार्ग के प्राणस्वरूप[3] गुणों में से माधुर्य गुण के दोनों रूपों—वाक्गत और वस्तुगत—को रस पर ही अवलंबित माना है। उनके शब्दों में माधुर्य गुण की मधु के समान 'रसवत्ता' ही मधुपों के समान सहृदयों को प्रमत्त बना देती है[४]। वाक्गत माधुर्य का अपर नाम श्रुत्यनुप्रास है[५], और वस्तुगत माधुर्य का अग्राम्यता। अग्राम्यता ही काव्य में रससेचन के लिये सर्वाधिक शक्तिशाली अलंकार (गुण) है[६]। दंडी ने अग्राम्यता के दोनों उपरूपों—शब्दगत और अर्थगत (विशेषतः अर्थगत)—को भी रस पर ही अवलंबित माना है[७]।

इस प्रकार अलकारवादी भामह और दंडी ने रस के प्रति समुचित समादर-भाव प्रकट किया है। इसके कारण अनेक हो सकते हैं। दोनों आचार्यों (विशेषतः दंडी) का कविहृदय 'रस' के प्रति आकृष्ट होकर उसका गुणगान करने को बाध्य हो गया हो। अथवा भरत के समय से (लगभग पिछले छः सात सौ वर्षों से) लेकर भामह और दंडी के समय तक चला आ रहा रस संप्रदाय का अक्षुण्ण प्रभाव अलंकार संप्रदाय के कट्टर पक्षपातियों को—कुछ सीमा तक ही सही—प्रभावित करने से विरत न हो सका हो। रुद्रट का झुकाव रस संप्रदाय की ओर अधिक है, यह हम पीछे कह आए हैं। भामह और दंडी के समान इन्होंने भी रस को महाकाव्य के

[१] युक्तं लोकस्वाभवेन रसैश्च सकलैः पृथक् ॥ —का० अ० १।२१
अलङ्कृतमसंक्षिप्तं रसभावनिरन्तरम् ॥ —का० द० १।१८

[२] स्वादुकाव्यरसोन्मिश्रं शास्त्रमप्युपयुञ्जते।
प्रथमालीढमधव. पिबन्ति कटु भेषधिम्। —का० अ० ५।३

[3] का० द० १।४२

[४] मधुरं रसवद् वाचि, वस्तुन्यपि रसस्थितिः।
येनमाद्यन्ति धीमन्तो मधुनेव मधुव्रताः ॥ —वही १।५१

[५] वही १।५२

[६] कामं सर्वोऽप्यलंकारो रसमर्थे निषिंचति।
तथाप्यग्राम्यतैवैनं भारं वहति भूयसा ॥ —वही १।६२

[७] अग्राम्योऽर्थो रसावहः शब्देऽपि ग्राम्यताऽस्त्येव। —वही १।६४, ६५

लिये आवश्यक तत्व माना है[1]। प्रथम बार इन्होने ही वैदर्भी आदि रीतियों और, मधुरा, ललिता नामक वृत्तियो के रसानुकूल प्रयोग की ओर निर्देश किया है[2], शृंगार रस के अंतर्गत नायक-नायिका-भेद का निरूपण किया है[3] और शृंगार रस का प्राधान्य स्पष्ट शब्दो मे घोषित किया है[4]। इन्होने रस के ही आधार पर काव्य और शास्त्र मे एक स्पष्ट विभाजनरेखा खींच दी है : काव्य मे रस के प्रयोग के लिये कवि को महान् प्रयत्न करना चाहिए, अन्यथा वह (नीरस) शास्त्र के समान उद्वेजक रह जायगा[5]। रस का औचित्यपूर्ण प्रयोग करने पर भी रुद्रट ने बल दिया है। उनके कथनानुसार प्रसंगानुकूल रस के स्थान पर अन्य रस का अनुचित प्रयोग अथवा प्रसंगानुकूल भी रस का निरंतर (सीमातिशय) प्रयोग 'विरसता' नामक दोष कहाता है[6]। स्पष्ट है कि रुद्रट का उपर्युक्त दृष्टिकोण रसवादियो के ही अनुकूल है।

(३) अलंकारवादियों द्वारा रस का अलंकार में अंतर्भाव—भामह, दडी और उद्भट तीनो आचार्यों ने रस, भाव, रसाभास और भावाभास को क्रमशः रसवत्, प्रेयस्वत् और ऊर्जस्वि अलंकारो के नाम मे अभिहित किया है, तथा उद्भट ने 'समाहित' नामक अन्य अलंकार को भावशाति का पर्याय माना है। भामह और दंडी ने भी 'समाहित' अलंकार का निरूपण किया है, पर उसका संबंध 'रस' के साथ खींच तानकर ही स्थापित किया जा सकता है।

यद्यपि दंडी को भामह से और उद्भट को भामह और दडी से यह विषय प्रस्तुत करने में प्रेरणा मिली है, पर उदाहरणों की दृष्टि से दंडी और उद्भट का यह निरूपण क्रमशः उत्तरोत्तर प्रबल है और परिभाषाओं की दृष्टि से उद्भट इन सबसे आगे बढ गए हैं। उद्भट द्वारा प्रतिपादित परिभाषाएँ विषय को अत्यत स्पष्ट और विकसित रूप मे प्रस्तुत करती हैं।

रसवत् अलंकार की परिभाषा दंडी के यहाँ अत्यंत सीधीसादी और संक्षिप्त है—रसवद् रसपेशलम्। (का० आ० २।२७५) उद्भट ने भामह के ही शब्दों को अपनाकर उसमे रस के अवयवभूत पाँच साधनो की ओर भी निर्देश कर दिया है :

[1] का० अ० १६।१, ५

[2] वही, १४।३७, १५।२०

[3] का० अ०, १२वाँ–१३वाँ अध्याय

[4] का० अ० १४।३८

[5] तस्मात्तत्कर्त्तव्यं यत्नेन महीयसा रसैर्युक्तम्।
उद्वेजनमेतेषा शास्त्रवदेवान्यथा हि स्यात् ॥ —का० अ० १२।२

[6] का० अ० ११।१२, १४

रसवद्दर्शितस्पष्टश्रृंगारादिरसादयम् ।
स्वशब्दस्थायिसंचारिविभावाभिनयास्पदम् ॥
—का० सा० ४।३

इन पाँच साधनों में से स्थायी, संचारी और विभाव तो रस संप्रदाय द्वारा स्वीकृत हैं। चौथा साधन 'अभिनय' भरतसंमत आंगिकादि चार प्रकार के अभिनयों का पर्याय है। इस साधन की परिगणना से प्रतीत होता है कि उद्भट को या तो भरत के अनुसार केवल नाटक को ही रस का विषय मानना अभीष्ट है, काव्य के अन्य अंगों को नहीं, या फिर उद्भट के समय तक केवल नाटक को ही रस का विषय माना जाता रहा होगा। पाँचवाँ साधन है—'स्वशब्द'। प्रतिहारेंदुराज की व्याख्या के अनुसार इसका अर्थ है श्रृंगारादि रसों, रत्यादि स्थायिभावों और औत्सुक्यादि संचारिभावों की स्वशब्दवाच्यता[1]। स्वयं उद्भट ने रसवत् अलंकार के उदाहरण में स्थायिभाववाची कंदर्प (रति) और संचारिभाववाची औत्सुक्य, चिंता तथा प्रमोद (हर्ष) शब्दों का प्रयोग किया है[2]। रस के उदाहरणों में 'स्वशब्द-वाच्यता' की यह शर्त उद्भट के समय में संभवतः अनिवार्य रही होगी, जिसका आगामी आचार्यों को खंडन करके उसे रसदोष मानना पड़ा होगा[3]।

प्रेयः (प्रेयस्वत्) की परिभाषा भामह ने प्रस्तुत नहीं की। दंडी द्वारा प्रस्तुत परिभाषा 'प्रेयःप्रियतराख्यानम्' (का० आ० २।२७५) को रसध्वनिवादियों द्वारा संमत 'भाव' के निकट खींच तानकर लाया जा सकता है। उद्भट की परिभाषा कहीं अधिक स्पष्ट और विषयानुकूल है—अनुभाव आदि के द्वारा रति आदि स्थायिभावों का काव्य में बंधन प्रेयस्वत् का विषय है[4]। दूसरे शब्दों में, वह काव्य जिसमें स्थायि-भावों को रसावस्था तक नहीं पहुँचाया गया, प्रेयस्वत् अलंकार कहाता है। निस्संदेह रसध्वनिवादियों को ऐसे काव्य में ही 'भाव' की विद्यमानता अभीष्ट है, पर वहीं जहाँ 'भाव' अंगीभूत रूप में वर्णित न होकर अंगभूत रूप में वर्णित हो।

ऊर्जस्वि अलंकार के भामह और दंडी द्वारा प्रस्तुत उदाहरणों से प्रकट होता है कि इस अलंकार का संबंध केवल ऊर्जस्वि वचनों के कथन से है, रस और भाव संबंधी किसी अनौचित्य से नहीं है[5]। दंडी द्वारा प्रस्तुत परिभाषा

[1] का० सा० सं० (टीका भाग), पृ० ५३
[2] वही
[3] का० प्र० ७।६०
[4] रत्यादिकानां भावानामनुभावादिसूचनैः ।
यत्काव्यं बध्यते सद्भिस्तत्प्रेयस्वदुदाहृतम् ॥ —का० सा० ४।२
[5] का० भ० ३।७; का० आ० २।२८२, २८५

'ऊर्जस्वि रूढाहंकारम्' (का० द० २।२७५) भी ऊर्जस्वि के वास्तविक स्वरूप—रस-भावाभासत्व—को स्पष्ट शब्दों में प्रकट नहीं करती। पर उद्भट निस्संदेह ऊर्जस्वि के इस रूप को परिभाषा और उदाहरण दोनो में स्पष्ट कर सके हैं—काम, क्रोध आदि कारणों से रसों और भावों का अनौचित्य रूप में प्रवर्तन ऊर्जस्वि अलंकार का विषय है[१]। उदाहरणार्थ शिव जी के काम का वेग इतना बढ गया कि वे सन्मार्ग को छोड़कर पार्वती को बलपूर्वक पकड़ने को उद्यत हो गए[२]। उद्भट की परिभाषा रसध्वनिवादिसंमत परिभाषा से मेल खाती है। अंतर इतना है कि रसध्वनिवादी अंगभूत रसाभास, भावाभास को ऊर्जस्वि अलंकार मानते हैं और उद्भट अंगीभूत रसाभास, भावाभास को। प्रतीत ऐसा होता है कि भामह और दंडी के समय में ऊर्जस्वि अलंकार का जो स्वरूप था वह उद्भट के समय तक आते आते रसध्वनि-वादियों के उदीयमान प्रभाव से बदल गया।

समाहित की परिभाषा मे उद्भट ने रस, भाव, रसाभास और भावाभास की शाति को—इतनी अधिक शाति जिसमे (समाधि अवस्था के समान) अन्य किसी रसादि के अनुभवो की प्रतीति न हो—इस अलंकार का विषय माना है[३]। रस-ध्वनिवादी आचार्यों और उद्भट की धारणा मे यहाँ भी वही प्रधान अंतर है जिसका पीछे प्रेयस्वत् और ऊर्जस्वि अलंकार के निरूपण मे उल्लेख किया जा चुका है। समाहित का अर्थ है एक भाव का परिहार अथवा शाति। समाधि और समाहित शब्दो में प्रत्ययभेद के अतिरिक्त और कोई अंतर नहीं है। यही कारण है कि भामह और विशेषतः दंडी द्वारा प्रस्तुत समाहित अलंकार का उदाहरण तथा दंडिसंमत इस अलंकार का लक्षण भी रसध्वनिवादी मम्मट के समाधि अलंकार का ही रूप प्रस्तुत करता है[४]। यदि अलंकारवादी आचार्य उद्भट ने इस अलंकार के निरूपण मे भी भामह और दंडी का अनुकरण न करके रसध्वनिवादियो का ही अनुकरण किया है, तो इसका श्रेय रस संप्रदाय के वर्धमान प्रभाव को ही मिलना चाहिए।

इसी संबंध मे उद्भट द्वारा प्रस्तुत उदात्त अलंकार का एक भेद अवेक्षणीय

[१] अनौचित्यप्रवृत्तानां कामक्रोधादिकारणात् ।
भावानां च रसानां च बन्ध ऊर्जस्वि कथ्यते ॥ —का० सा० ४।५

[२] तथा कामोऽस्य ववृधे यथा हिमगिरेः सुताम् ।
सग्रहीतुं प्रववृते हठेनापास्य सत्पथम् ॥ —का० स०, पृ० ५४

[३] रसाभावतदाभासवृत्तेः प्रशमबन्धनम् ।
अन्यानुभावनिश्शून्यरूपं यत्तत् समाहितम् ॥ —का० सा० ४।७

[४] का० अ० ३।१०; का० आ० २।२९८–२९९; का० प्र० १०।११२ (सूत्र), ५३४ (पद्यसंख्या)

है जिसमें उन्होंने और उनके ग्रंथ के व्याख्याता प्रतिहारेंदुराज ने अंगभूत रसादि को द्वितीय उदात्त अलंकार के अंतर्गत संमिलित किया है[1]। उनके इस कथन का अनुमोदन आगे चलकर अलंकारसर्वस्व के प्रणेता रुय्यक ने भी किया है :

यत्र यस्मिन् दर्शने वाक्यार्थीभूता रसादयो रसवदाद्यलंकाराः ।
तत्रांगभूतरसादिविषये द्वितीय उदात्तालंकारः ॥—अ० सर्व०, पृ० २३३

उपर्युक्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि अलंकारवादी आचार्य

(१) अंगीभूत रस, भाव, रसाभास, भावाभास और भावशांति को क्रमशः रसवद्, प्रेयस्वत्, ऊर्जस्वि और समाहित अलंकारों से अभिहित करते हैं, और

(२) अंगभूत रसादि को द्वितीय उदात्त अलंकार से।

(४) रसवादियों तथा कुंतक द्वारा अलंकारवादियों का खंडन—अलंकारवादी आचार्यों का दृष्टिकोण रसध्वनिवादी आचार्यों के दृष्टिकोण से नितांत भिन्न है। अलंकारवादियों के यहाँ काव्य के सभी अंग—गुण, रीति, वृत्ति, रस आदि—उसके शोभाकारक धर्म हैं, और ये धर्म अलंकार नाम से अभिहित होते हैं। इनसे प्रभावित होकर रीतिवादी वामन ने अलंकार को न केवल सौंदर्यजनक धर्म कहा, अपितु सौंदर्य को ही अलंकार की संज्ञा दी। अलंकारवादी 'अलंकार' को काव्य का 'सर्वे-सर्वा' मानते हैं, पर इधर रसवादी इसे सौंदर्योत्पादन का साधन मात्र कहते हैं। इनके मत में साध्य रस है। सौंदर्यवर्धन की प्रक्रिया इस प्रकार है—अलंकार प्रत्यक्ष रूप से शब्दार्थ रूप शरीर को शोभित करते हुए भी मूलतः रसरूप आत्मा का ही उपकार (शोभावर्धन) करते हैं। पर यह नितांत आवश्यक नहीं कि वे सदैव इसका उपकार करें, कभी नहीं भी करते। दृष्टिकोण की यह विभिन्नता ही रस को एक ओर गौण स्थान और दूसरी ओर प्रधान स्थान देने का प्रमुख कारण है।

उपर्युक्त दृष्टिकोण रसवदादि अलंकारों और रसादि के पारस्परिक संबंध पर भी लागू होता है। रसवादी रस, भाव, रसाभास, भावाभास और भावशांति को क्रमशः रसवद्, प्रेयस्वत्, ऊर्जस्वि और समाहित अलंकारों से तभी अभिहित करते

[1] उदात्तमृद्धिमद्वस्तु चरितं च महात्मनाम् ।
उपलक्षणता प्राप्तं नेतिवृत्तत्वमागतम् ॥

··· यत्र च रसास्तात्पर्येणाऽवगम्यन्ते तत्र तेषां · रसवदलंकारो भवति। तेन उवाच च यतः क्रोडे इत्याद्यु दात्तालंकारोदाहरणे कुतोऽत्र रसवदलकारगन्धोऽपि। तदुक्तम् उपलक्षणतां प्राप्तमिति। —का० सा० ४।८ (वृत्ति)

हैं जब ये अंगी (प्रधान) रूप से वर्णित न होकर अंग (गौण) रूप से वर्णित किए गए हों :

> **प्रधानेऽन्यत्र वाक्यार्थे यत्राङ्गन्तु रसादयः ।**
> **काव्ये तस्मिन्नलंकारो रसादिरिति मे मतिः ॥—ध्व० २।५**

यही कारण है कि प्रायः सभी रसवादी आचार्य इन्हें गुणीभूत व्यंग्य के 'अपरस्याग' नामक भेद के अंतर्गत निरूपित करते हैं, न कि अनुप्रासोपमादि चित्रालंकारों के साथ। रसध्वनिवादियों द्वारा अंगभूत रसादि को रसवदादि अलंकारों में अंतर्भूत कर लेने पर उद्भटसंमत द्वितीय उदात्तालंकार संबंधी धारणा भी स्वतः ही अमान्य सिद्ध हो जाती है।

> **रसादीनामङ्गत्वे रसवदाद्यलङ्कारः ।**
> **अङ्गत्वे तु द्वितीयोदात्तालंकारः–तदपि परास्तम् ॥**
> **—सा० द० १०।९७ (वृत्ति)**

रसवादी आचार्य अलंकारवादियों की इस धारणा से किसी अवस्था में सहमत नहीं हैं कि अंगीभूत रसादि को अलंकारों के अंतर्गत संमिलित किया जाय। इनके मत में रसादि अलंकार्य हैं और उपमादि अलंकार। अलंकार का कार्य है अलंकार्य का चमत्कारोत्पादन। यदि रसादि को ही अलंकार मान लिया जाय, तो फिर वह किसके चारुत्व को बढ़ाते हैं। भला कोई स्वयं अपना भी कभी चारुत्व हेतु हो सकता है :

> **यत्र च रसस्य वाक्यार्थीभावस्तत्र कथमलंकारत्वम् । अलंकारो हि चारुत्वहेतुप्रसिद्धः । न त्वसावात्मैवात्मनश्चारुत्वहेतुः ।—ध्व० २।५ (वृत्ति)**

अतः अलंकार्य तो अलंकार से सदा ही भिन्न रहेगा[1]।

रसवादियों की उपर्युक्त धारणा से वक्रोक्तिवादी कुंतक भी पूर्ण रूप से सहमत हैं। भामह, दंडी और उद्भट के उपर्युक्त मत का खंडन करते हुए रसवादियों के समान उन्होंने भी रसादि को अलंकार का विषय नहीं माना। इस संबंध में उन्होंने दो प्रमुख तर्क उपस्थित किए हैं :

पहला तो यह कि रस अलंकार्य है। उसे रसवदादि अलंकार मान लेने पर अपने में ही क्रिया का विरोध हो जायगा—अलंकार्य अपना अलंकरण क्या करेगा? क्या कभी कोई अपने कंधे पर स्वयं भी चढ़ सकता है। वस्तुतः रस से अपने स्वरूप

[1] रसभावतदाभासभावशान्त्यादिरक्रमः ।
भिन्नो रसाद्यलंकारादलंकार्यतया स्थितः ॥ —का० प्र० ४।२६

के अतिरिक्त किसी अन्य (अलंकार आदि) तत्व की प्रतीति नहीं हो सकती, फिर उसे अलंकार कैसे मान लिया जाय ? और दूसरा तर्क यह है कि 'रसवदलंकार' इस पद के शब्दार्थ की संगति नहीं बैठती। इस पद के दो विग्रह संभव हैं : (क) रस जिसमें रहता है वह रसवत्, उस रसवत् का अलंकार = रसवदलंकार। (ख) जो रसवान् भी है और अलंकार भी, वह रसवदलंकार[1]। पर ये दोनो विग्रह रस (अलंकार्य) को अलंकार सिद्ध करने में संगत नहीं हो सकते :

> अलंकारो न रसवत् परस्याप्रतिभासनात्।
> स्वरूपादतिरिक्तस्य, शब्दार्थासंगतेरपि ॥ —व० जी० ३।११

पर कुंतक अलंकारवादियों का खंडन करते हुए भी रसवत् अलंकार के स्वरूप के विषय में रसवादियों से सहमत नहीं हैं कि अंगभूत रस को इस अलंकार की संज्ञा दे दी जाय। उन्होंने यहाँ परंपराविरुद्ध भी एक नितात मौलिक धारणा प्रस्तुत की है। 'रसवत्' का उन्होंने सीधा सा अर्थ किया है—जो अलंकार रस के तुल्य रहता है, उसे 'रसवत्' अलंकार कहते हैं। अलंकार की यह स्थिति तभी संभव है, जब रसवत्ता के विधान से वह सहृदयों को आह्लाद प्रदान करने का कारण बन जाय :

> रसेन वर्तते तुल्यं रसवत्त्वविधानतः।
> यो अलंकारः स रसवत् तद्विदाह्लादनिर्मितेः ॥ —व० जी० ३।१५

और इसी कारण उन्होंने रसवत् अलंकार को सब अलंकारों का 'जीवित' माना है[2]।

कुंतक का अभिप्राय यह है कि उपमादि अलंकार यदि केवल कोरी कल्पना की ही सृष्टि करते हैं, तब तो वे (साधारण) अलंकार मात्र हैं, पर जब वे विशिष्ट चमत्कारयुक्त विषयसामग्री को—इतनी विशिष्टि कि वह 'रसवत्ता' के निकट पहुँच जाय—प्रस्तुत करके सहृदयों को आह्लाद देते हैं तो वहाँ वे उपमादि अलंकार रसवदलंकार नाम से पुकारे जाते हैं[3]।

निष्कर्ष यह कि कुंतक के मत में :

(१) उपमादि अलंकार सामान्य स्थिति में तो अपने अपने नामों से पुकारे जाते हैं,

[1] क : रसो विद्यते तिष्ठति यस्येति मत्प्रत्यये विहिते तस्यालंकार इति षष्ठीसमासः क्रियते।
ख : रसवांश्चासावलंकारश्चेति विशेषणसमासो वा। —व० जी०, पृ० ३४७

[2] यथा स रसवन्नाम सर्वालंकारजीवितम्। —व० जी० ३।१४

[3] यथा रसः काव्यस्य रसवत्तां तद्विदाह्लादं च विदधाति एवमुपमादिरप्युभयं निष्पादयन् भिन्नो रसवदलंकारः सम्पद्यते। —व० जी० ३।१६ (वृत्ति), पृ० ३८५

(२) पर जब वे सरस रचना के तुल्य आह्लाददायक सामग्री प्रस्तुत करते हैं तब 'रसवदलंकार' से अभिहित होते हैं।

(३) रसवदलंकार रस के तुल्य आह्लादक होने के कारण सब अलंकारो का जीवित (सर्वोत्तम अलकार) है, पर साक्षात् रस नहीं है। उदाहरणार्थ किसी रसविहीन रचना मे उपमा का प्रयोग उपमा अलंकार कहा जायगा, पर किसी अन्य रचना मे यही प्रयोग शृंगाररस अथवा किसी अन्य (वस्तु अथवा अलंकार संबंधी) चमत्कृति का आभासक, अतएव सहृदयाह्लादकारी होने के कारण 'रसवदलंकार' नाम से पुकारा जायगा।

कुंतक ने उपर्युक्त विग्रह के आधार पर रसवत् अलंकार के विषय में जैसी नवीन धारणा उपस्थित की है, वैसी प्रेयस्वत् आदि अन्य अलंकारो के विषय मे उपस्थित नहीं की। कारण यह हो सकता है कि 'प्रेयस्वदलंकार' आदि पदो का शाब्दिक अर्थ अथवा विग्रह उनकी धारणा पर इतना चरितार्थ नहीं हो सकता जितना कि 'रसवदलंकार' का उपर्युक्त विग्रह। पर फिर भी इन अलंकारों के विषय में भी उन्हें यही धारणा अभीष्ट होगी, इसमे किंचिन्मात्र संदेह नहीं है।

कुंतक की यह धारणा मौलिक और नवीन होते हुए भी हमारी दृष्टि मे वैज्ञानिक नहीं है। प्रथम तो कोरा अलंकारप्रयोग, जो किसी भी (वस्तु, अलंकार अथवा रस के) चमत्कार का प्रदर्शन नही करता, 'काव्य' संज्ञा से अभिहित होने का वास्तविक अधिकारी ही नहीं है। और दूसरे, चमत्कार के प्रदर्शक अतएव सहृदयाह्लादक अलंकारप्रयोगो को यदि 'रसवदलंकार' से अभिहित किया जायगा, तो शुद्ध रस के उदाहरण नितात दुर्लभ हो जायेंगे। जिस किसी भी काव्यस्थल में अलंकार के सैकड़ो भेदोपभेदो में से किसी भी एक भेद के कारण चमत्कारोत्पादन होगा, वहीं 'रसवदलकार' की स्वीकृति प्रकारातर से यह सिद्धात मानने को बाध्य कर देती है कि शुद्ध रस का स्थल अलंकारप्रयोगरहित होना चाहिए। अलंकारवादियो का मत एक दृष्टि से रसवादियो से केवल बाह्य रूप से ही भिन्न है, आतरिक रूप से नहीं। अंतर केवल संज्ञाविभिन्नता का है। अंगीभूत रसादि को 'रसादि' नाम से न पुकारकर वे 'रसवदलंकार' नाम से पुकारते हैं और अंगभूत रसादि को द्वितीय उदात्त अलंकार नाम से। इधर रसवादी अंगीभूत रसादि को अलंकार की संज्ञा देने के पक्ष में नहीं हैं, अंगभूत रसादि को भले ही ये रसवदादि अलंकार नाम से अभिहित कर लें। इस प्रकार कुंतक 'रसवदलंकार' की नवीन धारणा समुपस्थित करके हमारे विचार में अलंकारवादियों से भी एक पग पीछे ही हटे हैं, आगे नहीं बढे। अलंकारध्वनित काव्यचमत्कार को ध्वनि का एक प्रकार न मानकर अलंकार मान लेना मनस्तोषक नहीं है।

८. ध्वनि संप्रदाय और रस

(१) **ध्वनिवादी आचार्य और रस**—भरत मुनि और अलंकारवादी आचार्यों के उपरांत ध्वनिवादी आचार्यों का युग आता है। ध्वनिसिद्धात के मूल प्रवर्तक आचार्य आनंदवर्धन हैं और ध्वनिनिरूपक प्रमुख आचार्य हैं—मम्मट और जगन्नाथ। रसवादी विश्वनाथ ने भी अपने ग्रंथ में ध्वनिप्रकरण को स्थान दिया है। हेमचंद्र, विद्याधर और विद्यानाथ ने भी ध्वनि का निरूपण किया है। पर इनमें विशेष नवीनता नहीं है। मम्मट और जगन्नाथ ने आनंदवर्धन के अनुकरण पर ध्वनि के एक भेद असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य के अंतर्गत रसभावादि का प्रतिपादन किया है। पर विश्वनाथ ने रसादि को उक्त ध्वनिभेद का समानार्थक स्वीकार करते हुए भी इनका विस्तृत निरूपण ध्वनिप्रकरण से पूर्व ही प्रस्तुत किया है। कारण स्पष्ट है: विश्वनाथ द्वारा ध्वनि की अपेक्षा रस की काव्यात्मा रूप मे स्वीकृति। पर इतना साहस यह भी नहीं कर सके कि ध्वनि के असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य (रसादि) नामक भेद को अस्वीकृत करके ध्वनिवादियों की पुष्ट परंपरा का उल्लंघन कर देते।

(२) **रस: ध्वनि का एक भेद**—रस, भाव, रसाभासादि को ध्वनि का एक भेद स्वीकृत करने में आनंदवर्धन का प्रमुख तर्क है[१] कि रसादि की अनुभूति व्यंजना वृत्ति (ध्वनि) द्वारा होती है, न कि अभिधा वृत्ति के द्वारा। अतः ये वाच्य न होकर व्यंग्य ही हैं। इस तर्क की पुष्टि में एक प्रमाण तो यह है कि किसी भी रचना में विभावादि की परिपक्व सामग्री के अभाव में रस, स्थायिभाव और विभावादि, अथवा इनके विभिन्न प्रकारो में से एक अथवा अनेक का नामोल्लेख मात्र कर देने से रसानुभूति नहीं हो सकती[२]। उदाहरणार्थ

(क) तामुद्वीक्ष्य कुरंगाक्षीं रसः नः कोऽप्यजायत।
(ख) चन्द्रमण्डलमालोक्य शृंगारे मग्नमन्तरम्।
(ग) अजायत रतिस्तस्यास्त्वयि लोचनगोचरे।
(घ) जाता लज्जावती मुग्धा प्रियस्य परिचुम्बने[३]।

[१] रसादिलक्षणः प्रभेदो वाच्यसामर्थ्याक्षिप्तः प्रकाशते, न तु साक्षाच्छब्दव्यापारविषय इति वाच्याद् विभिन्न एव। —ध्वन्या०, २।४ (वृत्ति)

[२] न हि शृंगारादिशब्दमात्रभाजि विभावादिप्रतिपादनरहिते काव्ये मनागपि रसवत्त्वप्रतीतिरस्ति। —ध्वन्या० २।४ (वृत्ति)

[३] क–उस मृगाक्षी को देखकर हमें कोई विचित्र रस उत्पन्न हो गया।
ख–इस चंद्रमंडल को देखकर हमारा मन शृंगार में मग्न हो गया।
ग–तुझे देख लेने पर उसमें रति उत्पन्न हो गई।
घ–प्रिय के चुंबन करने पर वह मुग्धा लज्जावती हो गई।

इन वाक्यों में रस, शृंगार, रति और लज्जा शब्दों की विद्यमानता होने पर भी अलौकिक चमत्कारजनक रसादि की प्रतीति नहीं होती। और दूसरा प्रमाण यह है कि विभावादि की संयुक्त सामग्री का व्यंजना (ध्वनि) द्वारा प्राप्य व्यंग्यार्थ ही रसानुभूति कराने में समर्थ है, न कि अभिधा द्वारा प्राप्त वाच्यार्थ[१]। उदाहरणार्थ शून्यं वासगृहं विलोक्य शयनाद्[२]—इत्यादि शृंगार-रस-युक्त रचना में विभावादि सामग्री के संयोग की वाच्यार्थता चारुत्वोत्पादक नहीं है, अपितु नायक नायिका के उल्लास और आवेगपूर्ण प्रणय की प्रतीति रूप व्यंग्यार्थ ही चमत्कार का कारण है। हाँ, वाक्यार्थ साधन अवश्य है, पर साध्य तो व्यंग्यार्थ ही है।

(३) रसध्वनि : ध्वनि का सर्वोत्कृष्ट भेद—ध्वनिवादियों के मतानुसार ध्वनि के प्रमुख दो भेद हैं—लक्षणामूला ध्वनि और अभिधामूला ध्वनि। लक्षणामूला ध्वनि के दो भेद हैं—अर्थांतरसंक्रमितवाच्य और अत्यंततिरस्कृत वाच्य। अभिधामूला ध्वनि के भी दो भेद हैं—असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य (अर्थात् रसादि), और संलक्ष्यक्रम व्यंग्य। संलक्ष्यक्रम व्यंग्य के भी प्रमुख दो भेद हैं—वस्तुध्वनि और अलंकार-ध्वनि। इस प्रकार कुल मिलाकर प्रमुख पाँच भेद हैं। पर इन भेदों में से ध्वनि-वादियों ने यत्रतत्र न केवल रसादिध्वनि की सर्वोत्कृष्टता घोषित की है, अपितु अन्य भेदों के चमत्कार को रसादिध्वनि पर आलंबित माना है[३]।

ध्वनिवादियों द्वारा प्रस्तुत रसादिध्वनि के उदाहरणों से यदि शेष चार ध्वनिभेदों के उदाहरणों की तुलना की जाय, तो रसादिध्वनि की उत्कृष्टता स्वतः सिद्ध हो जाती है। रसादिध्वनि के उदाहरणों में वाच्यार्थ के ज्ञान के उपरांत व्यंग्यार्थ की प्रतीति के लिये सहृदय को क्षण भर भी रुकना नहीं पड़ता, पर शेष चार भेदों के उदाहरणों में व्यंग्यार्थप्रतीति के लिये सहृदय को कुछ न कुछ आक्षेप करना पड़ता है, जिसके लिये उसे कहीं अधिक अथवा कहीं थोड़े क्षणों के लिये रुकना अवश्य पड़ता है। उदाहरणार्थ :

(क) अर्थांतरसंक्रमित वाच्य ध्वनि के—

[१] यतश्च स्वाभिधानमन्तरेण केवलेभ्योऽपि विभावादिभ्यो विशिष्टेभ्यो रसादीनां प्रतीतिः। तस्मात्···अभिधेयसामर्थ्याक्षिप्तत्वमेव रसादीनाम्। न त्वभिधेयत्वं कथंचित्।

—ध्वन्या० १।४ (वृत्ति), पृ० २७

[२] का० प्र० ४।३०

[३] प्रतीयमानस्य चाऽन्यभेददर्शनेऽपि रसभावमुखेनैवोपलक्षणं प्राधान्यात्।

—ध्वन्या० १।५ (वृत्ति)

'मैं कठोरहृदय राम हूँ, सब कुछ सहन करूँगा[1]' इस उदाहरण में राम शब्द का 'दुःखातिशयसहिष्णु' रूप ध्वन्यर्थ,

(ख) अत्यंत तिरस्कृत वाच्य ध्वनि के—

'आपने बहुत उपकार किया है, आपकी सुजनता के क्या कहने[2] ।' इस उदाहरण में 'उपकार' का 'अपकार' और सुजनता का 'खलता' रूप ध्वन्यर्थ,

(ग) वस्तुध्वनि (*संलक्ष्यक्रमव्यंग्य*) के—

'हे पथिक ! इन उन्नत पयोधरों को देखकर यदि बिछौना आदि सुखसाधनों से रहित इस घर में रात बिताना चाहते हो तो रह जाओ[3] । इस उदाहरण में 'कामुकी ग्रामीणा का निमंत्रण' रूप ध्वन्यर्थ, तथा

(घ) अलंकारध्वनि (संलक्ष्यक्रमव्यंग्य) के—

'हे सखि ! प्रियसंगम के समय विश्रब्ध होकर सैकड़ों मधुर वचन बोल सकने के कारण तू धन्य है, पर मैं तो नितांत संज्ञाहीन हो जाती हूँ[4], इस उदाहरण में 'तू तो अधन्य है, पर मैं धन्य हूँ', व्यतिरेकालंकारगत यह ध्वन्यर्थ वाच्यार्थप्रतीति के तुरंत बाद प्रतीत नहीं होते । इन उदाहरणों में व्यंग्यार्थप्रतीति के लिये कुछ क्षण अपेक्षित रहते हैं और साथ ही अपनी ओर से आक्षेप भी करना पड़ता है, पर 'शून्यं वासगृहं विलोक्य शयनाद्...[5]' इत्यादि रसध्वनि के उदाहरणों में नायकनायिका की प्रणयातिशय रूप व्यंग्यार्थप्रतीति त्वरित और बिना अधिक आक्षेप किए हो जाती है । हमारे विचार में रसध्वनि की सर्वोत्कृष्टता का यही प्रमुख कारण है । गौण कारण एक और भी है—ध्वनि के अन्य भेदों के उदाहरण व्यापक अर्थ में रस, भाव आदि में से किसी न किसी के उदाहरणस्वरूप उपस्थित किए जा सकते हैं । उदाहरणार्थ, हिमालय के आगे नारद ऋषि द्वारा पार्वती के विवाहप्रसंग की चर्चा चलने पर पार्वती मुख नीचा करके लीलाकमल की पंखुड़ियाँ गिनने लगीं[6] । आनंदवर्धन द्वारा प्रस्तुत संलक्ष्यक्रम व्यंग्य ध्वनि के इस उदाहरण में 'लीलाकमल की पंखुड़ियाँ गिनना' वाच्यार्थ है, और 'लज्जा का

[1] स्निग्धश्यामलकान्तिलिप्त । —ध्वन्या०, द्वितीय उ० ।

[2] उपकृतं बहु तत्र किमुच्यते सुजनता । —का० प्र० ४।२४

[3] पंथिअ पत्थ । —का० प्र० ४।५८

[4] धन्यासि या कथयसि । —का० प्र० ४।६१

[5] का० प्र० ४।३०

[6] एवं वादिनि देवर्षौ पार्श्वे पितुरधोमुखी ।
लीलाकमलपत्राणि गणयामास पार्वती ॥ —ध्वन्या० २।२२ (वृत्ति)

आविर्भाव' व्यंग्यार्थ। निस्संदेह प्रथम और द्वितीय अर्थ की प्रतीति में थोड़े क्षणों का व्यवधान अवश्यंभावी है, पर फिर भी इस कथन को (पूर्वराग विप्रलंभ शृंगार) 'भाव' का उदाहरण बड़ी सरलता से माना जा सकता है। अतः रसादिध्वनि की सर्वोत्कृष्टता स्वतःसिद्ध है।

काव्य (शब्दार्थ) और काव्यचमत्कार के बीच ध्वनि वस्तुतः एक माध्यम है। ध्वनिवादियों ने इस काव्यचमत्कार को भी ध्वनि अर्थात् व्यंग्यार्थ की संज्ञा दे दी है। ध्वनि अर्थात् काव्यचमत्कार के विभिन्न भेदों में एक स्पष्ट विभाजक रेखा खींची जा सकती है—रसादिध्वनि चरम कोटि का काव्यचमत्कार है, तो ध्वनि के अन्य भेद उससे कम काव्यचमत्कार के उत्पादक हैं।

रस (रसध्वनि) की महत्ता ध्वनिवादियों ने एक अन्य रूप में भी उपस्थित की है। उन्होंने काव्य (शब्दार्थ) के सभी चारुत्वहेतुओं—गुण, रीति, अलंकार—को रसध्वनि के साथ संबद्ध कर दिया है :

वाच्यवाचकचारुत्वहेतूनां विविधात्मनाम्।
रसादिपरता यत्र स ध्वनेर्विषयो मतः।[१] ॥ —ध्व० २।४

और अब दंडिसंमत वैदर्भ मार्ग के प्राणभूत 'गुण' रस के उत्कर्षक मान लिए गए[२], वामनसंमत काव्य की आत्मा 'रीति' की सार्थकता अब रसादि की अभिव्यक्त्री अथवा उपकर्त्री के रूप में स्वीकार कर ली गई[३]। सबसे अधिक दयनीय दशा अलंकार की हुई। भामहादिसंमत काव्यसर्वस्व अलंकार अब शब्दार्थ के धर्म बनकर परंपरा संबंध से रस के ही उपकारक मात्र घोषित कर दिए गए, और वह भी अनिवार्य रूप से नहीं[४]। इतना ही नहीं, कोरे 'अलंकार' को 'चित्र' अर्थात् अधम काव्य कहकर इसके प्रति अवहेलना भी प्रकट की गई।

निष्कर्ष यह कि रस की सर्वोत्कृष्टता और महत्ता की सिद्धि में ध्वनिवादियों ने अपना पूर्ण बल लगा दिया, यहाँ तक कि 'दोष' की परिभाषा भी उन्होंने रस के अपकर्ष पर आधृत की[५] और दोष के नित्यानित्य रूप को भी रस के ही अपकर्ष

[१] जहाँ नाना प्रकार के शब्द और अर्थ तथा उनके चारुत्वहेतु (शब्दालंकार और अर्थालंकार) रस आदि परक (रसादि के अंग) होते हैं वह ध्वनि का विषय है।

[२] का० प्र० ८।६६

[३] ध्वन्या० ३।६; सा० द० ६।१

[४] का० प्र० ८।६७

[५] वही, ७।४६

अथवा अनपकर्ष पर अवलंबित किया[1]। इस धारणा का परिणाम यह हुआ कि विश्वनाथ ने 'रस' को काव्य की आत्मा घोषित कर दिया।

६. अलंकार संप्रदाय

(१) उपक्रम—भरत से लेकर जगन्नाथ तक लगभग दो सहस्र वर्ष के इस सुदीर्घ काल में अलंकार को किसी न किसी रूप मे काव्यशास्त्रीय ग्रंथो में स्थान मिलता आया है, भरत मुनि ने अपने नाट्यशास्त्र मे केवल चार अलंकारों का निरूपण किया है—उपमा, दीपक, रूपक और यमक। एक स्थल पर इन्होंने अलंकारों के रससंश्रयत्व का भी उल्लेख किया है। पर इन लघु एवं सामान्य सी चर्चाओ से यह अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है कि भरत के समय मे 'अलंकार' नामक काव्यांग इतना विकसित तथा प्रतिष्ठित नहीं हो पाया था जितना भरत के कई सौ वर्ष उपरात भामह, दंडी, उद्भट आदि अलंकारवादी आचार्यों के समय में हुआ। पर इस काव्यांग की यह प्रतिष्ठा अक्षुरण नहीं रही। ध्वनिवादी आचार्य आनंदवर्धन ने इसे 'चित्रकाव्य' कहकर ध्वनि एवं गुणीभूत व्यंग्य काव्य की अपेक्षा निकृष्ट माना और कुछ एक अपवादों को छोड़कर यही धारणा जगन्नाथ तक निरंतर मान्य होती चली गई। इतना होते हुए भी इन परवर्ती आचार्यों ने इसी काव्यांग को अपने ग्रंथो का अधिकाश कलेवर समर्पित किया है। निष्कर्ष यह है कि :

१—भरत के समय अलंकार नामक काव्यांग पूर्णतः प्रतिष्ठित नहीं हो पाया था।

२—भामह आदि अलंकारवादियो ने इसे काव्य का सर्वप्रतिष्ठित अंग स्वीकृत किया।

३—आनंदवर्धन ने इसकी सर्वातिशय महत्ता को अस्वीकार किया।

४—आनंदवर्धन के परवर्ती प्रायः सभी आचार्यों ने आनंदवर्धन का अनुकरण करते हुए भी इसका विशद एवं विस्तृत निरूपण किया।

(२) अलंकारवादी आचार्य—भामह, दंडी और उद्भट अलंकार संप्रदाय के आचार्य हैं। इनमे से प्रथम दो आचार्यों के ग्रंथ क्रमशः काव्यालंकार और काव्यादर्श प्राप्य हैं, पर उद्भट प्रणीत ग्रंथों में से केवल एक ही ग्रंथ 'काव्यालंकार-सारसंग्रह' अद्यावधि उपलब्ध है। इस ग्रंथ के कुछेक स्थलो से यह अवश्य ज्ञात होता है कि वे अलंकारवाद के समर्थक रहे होंगे। इधर इनके परवर्ती आचार्यों अथवा टीकाकारो ने इन्हें अलंकारवादी आचार्य के रूप में स्मरण किया है तथा इस

[1] ध्व० २।११

संबंध में इनकी कतिपय मान्यताओं का भी उल्लेख किया है। इनका एक ग्रंथ 'भामहविवरण' बताया जाता है, जो संभवतः स्वतंत्र ग्रंथ न होकर भामहप्रणीत 'काव्यालंकार' की व्याख्या है। इधर इनका 'काव्यालंकारसारसंग्रह' नामक ग्रंथ भी अधिकांशतः 'काव्यालंकार' में निरूपित अलंकारों का सुबोध रूप प्रस्तुत करता है। इस प्रकार अलंकारवादी भामह के व्याख्याता उद्भट भी अलंकारवाद के ही समर्थक रहे होंगे—अनुमानतः यही ठीक सिद्ध होता है।

उक्त तीनों आचार्यों को अलंकारवाद के समर्थक मानने का प्रधान कारण यह है कि ये सभी आचार्य किसी न किसी रूप में रस की महत्ता स्वीकार करते हुए भी इसे 'अलंकार' में अंतर्भूत करने के पक्ष में हैं। इन तीनों ने रस, भाव और रसाभास तथा भावाभास को क्रमशः रसवत्, प्रेयस्वत् और ऊर्जस्वि अलंकारों के नाम से अभिहित किया है, तथा उद्भट ने समाहित नामक अन्य अलंकार को भावशांति का पर्याय माना है। भामह और दंडी ने भी समाहित अलंकार की चर्चा की है, पर उसका संबंध रस के साथ खींच तानकर ही स्थापित किया जा सकता है। इसी संबंध में उद्भट द्वारा प्रस्तुत उदात्त अलंकार का एक भेद अवेक्षणीय है, जिसमें उन्होंने और उनके व्याख्याता प्रतिहारेंदुराज ने अंगभूत रसादि को द्वितीय उदात्त अलंकार के अंतर्गत संमिलित किया है। उनके इस कथन का अनुमोदन आगे चलकर अलंकारसर्वस्व के प्रणेता रुय्यक ने भी किया है[1]। निष्कर्ष यह है कि अलंकारवादी आचार्य

(१) अंगीभूत रस, भाव, रसाभास, भावाभास और भावशांति को क्रमशः रसवत्, प्रेयस्वत्, ऊर्जस्वि और समाहित अलंकारों से अभिहित करते हैं, और

(२) अंगभूत रसादि को द्वितीय उदात्त अलंकार से।

भामह आदि तीनों आचार्यों को अलंकारवादी मानने का दूसरा कारण है अलंकार के संबंध में इनकी प्रशस्तियाँ तथा 'अलंकार' में अन्य काव्यों की स्वीकृति।

(१) भामह के कथनानुसार जिस प्रकार सहज सुंदर होने पर भी वनितामुख भूषणों के बिना शोभित नहीं होता, उसी प्रकार सुंदर वाक् (काव्य) भी अलंकारों के बिना शोभा नहीं पाता।

(२) दंडी के मतानुसार वैदर्भ मार्ग के प्राणभूत माधुर्य आदि दस गुण 'अलंकार' ही हैं। मुख आदि पाँच संधियों, उपक्षेप आदि ६४ संध्यंगों, कैशिकी आदि ४ वृत्तियों, नर्मतत् आदि १६ वृत्त्यंगों तथा भूषण आदि ३६ लक्षणों तथा

[1] यत्र यस्मिन् दर्शने वाक्यार्थीभूता रसादयो रसवदाद्यलंकारा, तत्रांगभूतरसादिविषये द्वितीय उदात्तालंकार ॥—अलं० सर्व०, पृ० २३३

विभिन्न नाट्यालंकारों को भी दंडी ने 'अलंकार' माना है। इनमें से विषय के आग्रह के अनुसार किन्हीं का 'स्वभावाख्यान' आदि अलंकारों में अंतर्भाव हो जाता है और किन्हीं का 'भाविक' अलंकार में।

'रस' के अतिरिक्त इन आचार्यों ने जान बूझकर अथवा अनजाने 'ध्वनि' का भी कुछ अलंकारों मे अंतर्निवेश सूचित किया है। इस संबंध में भामहसंमत प्रतिवस्तूपमा, समासोक्ति और पर्यायोक्ति अलंकार दंडिसंमत द्वितीय व्यतिरेक और पर्यायोक्ति अलंकार, तथा उद्भटसंमत पर्यायोक्ति अलंकार द्रष्टव्य हैं।

(३) उद्भट के संबंध मे प्राप्त कुछेक उक्तियों से ज्ञात होता है कि वे गुण और अलंकार मे कोई अंतर नहीं मानते थे तथा रूपक आदि वाच्य अलंकारों को उन्होंने अनेक स्थलों पर प्रतीयमान (व्यंग्य) रूप मे भी दिखाया है। अतः स्पष्ट है कि गुण तथा ध्वनि नामक काव्यांगों को वे अलंकार का ही पर्याय स्वीकृत करने के पक्ष में थे।

अलंकारवादी आचार्यों में रुद्रट की भी चर्चा करना वांछनीय है। इसके अनेक कारण हैं। इनके ग्रंथ 'काव्यालंकार' का नामकरण ही 'अलंकार' के प्रति इनके झुकाव का सूचक है। उक्त ग्रंथ का अधिकांश कलेवर अलंकारनिरूपण को ही समर्पित हुआ है। पर इन सबसे प्रमुख और प्रबल कारण यह है कि इनके द्वारा निरूपित रूपक, अपह्नुति, तुल्ययोगिता, उपमा, उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों के लक्षणों में व्यंजना के बीज निहित हैं। किंतु फिर भी प्रतीत ऐसा होता है कि रस की स्वतंत्र सत्ता उन्हें अवश्य स्वीकृत थी। न केवल इतना ही कि उन्होंने रस आदि को रसवदादि अलंकारों में अंतर्भूत करने की ओर कोई सकेत नहीं किया, अपितु भरत के पश्चात् सर्वप्रथम इन्होंने ही रस का स्वतंत्र निरूपण किया है, शृंगार रस के एक आवश्यक प्रसंग नायक-नायिका-भेद की यथेष्ट चर्चा की है, तथा 'प्रेयान्' नामक रसभेद का भी सर्वप्रथम उल्लेख किया है। फिर भी समग्र रूप में अलंकार संप्रदाय की ओर इनकी प्रवृत्ति अधिक प्रतीत होती है। इस क्षेत्र में उनकी एक मौलिक और महत्वपूर्ण देन है अलंकारों का चार वर्गों में विभाजन, जिसका उल्लेख हम यथास्थान करेंगे।

(३) ध्वनिवादी आचार्य और अलंकार—भामह आदि आचार्यों के अलंकारसिद्धांत का खंडन आनंदवर्धन ने प्रबल शब्दों में किया। अपने ग्रंथ ध्वन्यालोक के प्रथम उद्योत में ही समासोक्ति, आक्षेप, दीपक, अपह्नुति, अनुक्तनिमित्तक विशेषोक्ति, पर्यायोक्ति और संकर अलंकार के उदाहरणों में व्यंग्य की अपेक्षा वाच्य का प्राधान्य दिखाते हुए उन्होंने यह सिद्ध किया है कि (व्यंग्यप्रधान) ध्वनि का (वाच्यप्रधान) अलंकारों में अंतर्भाव मानना युक्तिसंगत नहीं है क्योंकि अलंकार और ध्वनि में महान् अंतर है। अलंकार शब्दार्थ पर आश्रित है, पर

ध्वनि व्यंग्य-व्यंजक-भाव पर। शब्दार्थ के चारुत्वहेतुभूत अलंकार ध्वनि के अंगभूत हैं और ध्वनि उनकी अंगी है। ध्वनि काव्य की आत्मा है, अलंकार्य है, अतः वह न तो अलंकार का स्वरूप धारण कर सकती है, और न अलंकार में उसका अंतर्भाव ही संभव है।

आनंदवर्धन ने रस आदि को रसवदादि में अंतर्भूत करने का खंडन भी प्रकारांतर से किया है। उनके मत में रस, भाव, रसाभास, भावाभास और भावशांति को क्रमशः रसवत्, प्रेयस्वत्, ऊर्जस्वि और समाहित अलंकारों से तभी अभिहित किया जाता है जब ये अंगी (प्रधान) रूप से वर्णित न होकर अंग (गौण) रूप से वर्णित हों :

> प्रधानेऽन्यत्र वाक्यार्थे यत्राङ्गन्तु रसादयः।
> काव्ये तस्मिन्नलंकारो रसादिरिति मे मतिः॥—ध्वन्या० २।५

यही कारण है कि मम्मट ने रसवत् आदि अलंकारों को गुणीभूतव्यंग्य काव्य के 'अपरस्यांग' नामक भेद के अंतर्गत निरूपित किया है, न कि अनुप्रास, उपमा आदि चित्रकाव्य के साथ। रस और अलंकार के परस्पर संबंध का निर्देश करते हुए आनंदवर्धन ने इसी स्थल पर कहा है कि रसादि अलंकार्य हैं और उपमादि अलंकार। अलंकार का कार्य है अलंकार्य का चमत्कारोत्पादन। यदि रसादि को ही अलंकार मान लिया जाय, तो फिर वह किसके चारुत्व को बढ़ाते हैं? भला कोई स्वयं अपना भी कभी चारुत्वहेतु हो सकता है[1]? अतः अलंकार्य तो अलंकार से सदैव भिन्न ही रहेगा[2]।

इस प्रकार आनंदवर्धन ने अलंकार की प्रतिष्ठा कम कर दी और उनके अनुयायी मम्मट ने अपने काव्यलक्षण में 'अनलंकृती पुनःक्वापि' शब्दों द्वारा 'अलंकार' की अनिवार्यता की घोषणा की और विश्वनाथ के शब्दों में 'अलंकार शब्दार्थ का केवल उत्कर्षक मात्र होने के कारण काव्य के लक्षण में स्थान पाने योग्य नहीं है।'

(४) अलंकार का लक्षण—संस्कृत के काव्यशास्त्रियों में आनंदवर्धन के पूर्व दंडी और वामन ने अलंकारलक्षण प्रस्तुत किया है और इनके पश्चात् मम्मट और विश्वनाथ ने। शेष परवर्ती आचार्यों के लक्षणों में मम्मट आदि की छाया है।

[1] यत्र च रसस्य वाक्यार्थीभावस्तत्र कथमलंकारत्वम्। अलंकारो हि चारुत्वहेतुप्रसिद्धः। न त्वसावात्मैवाऽऽत्मनश्चारुत्वहेतुः। —ध्वन्या० २।५ (वृत्ति)

[2] रसाभावतदाभासभावशान्त्यादिरक्रमः।
भिन्नो रसादलंकारादलंकार्यतया स्थितः॥ —का० प्र० ४।२६

दंडी और वामन के अलंकारलक्षणों में तारतम्य का अंतर है। दंडी के मत में काव्य (शब्दार्थ) की शोभा उत्पन्न करनेवाला धर्म अलंकार है तो वामन के मत मे यह कार्य 'गुण' का है, अलंकार उस शोभा का वर्धक धर्म है :

काव्यशोभाकरान् धर्मानलंकारान् प्रचक्षते। —दंडी का० द० २।१
काव्यशोभायाः कर्त्तारो धर्मा गुणाः। तदतिशयहेतवस्त्वलंकाराः॥
—वामन, का० सू० ३।१।१, २

आनंदवर्धन ने अपने अलंकारलक्षण मे अलंकार को शब्दार्थ का आभूषक धर्म कहा है[1]। इस लक्षण में उन्होंने अलंकार का रस के साथ कोई संबंध निर्दिष्ट नहीं किया यद्यपि यह संबंध उन्हें अभीष्ट अवश्य था। यह कार्य मम्मट और विश्वनाथ ने किया[2]। इनके मत मे अलंकार शब्दार्थ की शोभा द्वारा परंपरा संबंध से रस का प्रायः उपकार करते हैं। इन आचार्यों ने अलंकार को शब्दार्थ का उसी प्रकार अनित्य धर्म माना जिस प्रकार कटक कुंडल आदि शरीर के अनित्य धर्म हैं। इसी प्रकार जगन्नाथ ने भी अलंकारों का काव्य की आत्मा 'व्यंग्य' के रमणीयताप्रयोजक धर्म मानकर ध्वनिवादियों का ही समर्थन किया है[3]। रसध्वनिवादी आचार्यों के मत मे कुल मिलाकर अलंकार का स्वरूप इस प्रकार है :

१—अलंकार शब्दार्थ के शोभाकारक धर्म हैं

२—ये शब्दार्थ के अस्थिर धर्म हैं

३—ये शब्दार्थ की शोभा द्वारा परंपरा संबंध से रस का भी उपकार करते हैं और

४—कभी रस का उपकार नही भी करते।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि पूर्ववर्ती और परवर्ती आचार्यों के अलंकारलक्षणों मे जिस तत्व को किसी न किसी रूप में अवश्य स्थान मिला है वह है अलंकारिता—काव्य की शोभाजनकता : 'अलंक्रियतेऽनेनेत्यलंकारः'। दूसरी समानता यह है कि दोनों ने अलंकार को शब्दार्थ का ही शोभाकारक धर्म माना है। दोनों

[1] अंगाश्रितास्त्वलंकारा. मन्तव्या कटकादिवत्। —ध्वन्या० २।६

[2] (क) उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित्।
हारादिवदलकारास्तेऽनुप्रासोपमादय ॥ —का० प्र० ८।६७
(ख) शब्दार्थयोरस्थिरा ये धर्मा. शोभातिशायिन.।
रसादीनुपकुर्वन्तोऽलंकारास्तेऽङ्गदादिवत् ॥
—सा० द० १०।१

[3] काव्यात्मनो व्यंग्यस्य रमणीयताप्रयोजका अलंकाराः। —र० गं०

वर्गों के मतों का विभेदक धर्म यह है कि रसवादी अलंकार द्वारा शब्दार्थ की शोभा से रस का भी उपकार मानते हैं, पर अलंकारवादी 'शब्दार्थ' से आगे नहीं बढ़ते।

(५) अलंकारों की संख्या—भरतमुनि से लेकर अप्पय्य दीक्षित पर्यंत वाणीविलास की ज्यों ज्यों सूक्ष्म विवेचना होती गई, अलंकारों की संख्या भी त्यों त्यों बढ़ती गई। इसी बीच पिछले आचार्यों द्वारा स्वीकृत अलंकारों को अमान्य भी ठहराया गया। फिर भी नए अलंकारों के समावेश द्वारा संख्या में वृद्धि होती चली गई। भरत ने केवल ४ अलंकार माने थे, भामह ने ३६, दंडी ने ३५, उद्भट ने ४०, वामन ने ३३, रुद्रट ने ५२, भोजराज ने ७२, मम्मट ने ६७, रुय्यक ने ८१, जयदेव ने १००, विश्वनाथ ने ८२, अप्पय्य दीक्षित ने १२४ और जगन्नाथ ने ७१ अलंकार माने।

अलंकारों की संख्या को उत्तरोत्तर बढ़ाने के लोभ का परिणाम यह हुआ कि वे वस्तुगत वर्णन भी 'अलंकार' नाम से पुकारे जाने लगे जिनका संबंध अलंकार्य (रस) को किसी रूप में अलंकृत करने के साथ नहीं है। उदाहरणार्थ, जयदेव ने प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द, उपमान, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि, संभव और ऐतिह्य इन आठ प्रमाणों को 'प्रमाणालंकार' नाम दे दिया। इसी प्रकार दंडपूपिकान्याय पर आधृत काव्यार्थापत्ति अलंकार, क्रियाओं पर आवृत सूक्ष्म और पिहित अलंकार, कंठ की भिन्न ध्वनि पर आधृत काकु वक्रोक्ति अलंकार, काल पर आधृत भाविक अलंकार स्वीकृत कर लिए गए। स्मरण, भ्रम, संदेह, प्रहर्षण, विषादन, तिरस्कार आदि हृदय की वृत्तियाँ हैं। इनमें अलंकारता मानना इनके प्रकृत रूप का तिरस्कार करना है। इसी प्रकार आदर, आश्चर्य, घृणा, पश्चात्ताप आदि भावों को भी प्रकट करने में वीप्सा अलंकार मानना समुचित नहीं है।

दंडी के कथनानुसार—'ते चाद्यापि विकल्प्यते कस्तान् कार्त्स्न्येन वक्ष्यति' (का० द० २।१)—यदि अलंकार वाणी के प्रत्येक विलास का नाम है, तब तो उपरिगणित सभी अलंकार 'अलंकार' संज्ञा से विभूषित हो सकते हैं पर यदि 'अलंकार' से अभिप्राय करणवाचक रूप—'अलंक्रियतेऽनेनेत्यलंकारः'—है तो प्रमाण, सूक्ष्म, पिहित आदि को उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों के समकक्ष कभी नहीं रखा जा सकता। यही कारण है कि अलंकारों की संख्या को न्यून करने के प्रयत्न भी समय समय पर होते रहे। इस दिशा में कुंतक का प्रयास विशेषतः उल्लेखनीय है। उन्होंने केवल २० अलंकारों का निरूपण किया और इनमें भी प्रतिवस्तूपमा, उपमेयोपमा, तुल्ययोगिता, अनन्वय, निदर्शना और परिवृत्ति—इन छः सादृश्यमूलक अलंकारों का उपमा में, समासोक्ति का श्लेष में तथा सहोक्ति का उपमा में अंतर्भाव करके शेष १३ अलंकार ही मान्य ठहराए। अन्य आचार्यों द्वारा संमत अलंकारों के संबंध में उनका कथन है कि या तो वे शोभाशून्य हैं, या इन्हीं अलंकारों में उनका

अंतर्भाव हो सकता है, अतः वे मान्य नहीं हैं। इस दिशा में कुंतक के उपरांत जयदेव का नाम उल्लेख्य है। इन्होंने शुद्धि, संसृष्टि, संकर, मालोपमा और रशनोपमा अलंकारों की अस्वीकृति की है। इधर यही प्रयास टीकाकारों ने भी किया है। काव्यप्रकाश के टीकाकार भट्ट वामन झलकीकर ने ५४ अलंकारों को अस्वीकृत करते हुए कुछ का खंडन किया है और कुछ को मम्मटसंमत अलंकारों में अंतर्भूत करने का निर्देश किया है। पर इतना सब कुछ होते हुए भी वाणीविलास के भेदोपभेदों का नामकरण होता चला गया और अप्पय्य दीक्षित तक अलंकारों की संख्या १२४ तक पहुँच गई।

(६) **अलंकारों का वर्गीकरण**—भामह ने वाणी के समग्र व्यापार को दो वर्गों में विभक्त किया है—वक्रोक्ति और स्वभावोक्ति। उनके मतानुसार वक्रोक्ति ही काव्यचमत्कार का बीज है, स्वभावोक्ति तो प्रकारांतर से वार्ता मात्र है। पर स्वभावोक्ति के प्रति भामह की यह अवहेलना दंडी को स्वीकृत नहीं है। उन्होंने समस्त वाङ्मय को उक्त दो वर्गों—वक्रोक्ति और स्वभावोक्ति—में विभक्त करते हुए 'स्वभावोक्ति' को अलंकारों में प्रथम स्थान देकर इसके प्रति अपना समादर प्रकट किया है। पर स्वभावोक्ति के प्रति भामहसंमत अवहेलना कम नहीं हुई। वक्रोक्ति को ही काव्य का सर्वस्व घोषित करनेवाले कुंतक के समय में यह भावना उग्र रूप धारण कर गई, यहाँ तक कि कुंतक ने इसे अलंकार रूप में भी स्वीकृत नहीं किया। उनके एतद्विषयक तर्क का अभिप्राय है कि स्वभाव कहते हैं स्वरूप को और स्वभावोक्ति कहते हैं स्वरूप के आख्यान को। किसी भी वस्तु के काव्यगत वर्णन के लिये उसके स्वभाव (स्वरूप) का आख्यान अनिवार्य है, क्योंकि स्वभाव से रहित वस्तु तो निरुपाख्य (अस्तित्वहीन) है। अतः स्वभाव की उक्ति को भी यदि 'स्वभावोक्ति अलंकार' नाम दिया जाता है तो यह नितात असंगत है। वस्तुतः स्वभावोक्ति शरीर है, इसे ही अलंकृत करने के लिये अन्य अलंकार अपेक्षित हैं। स्वयं शरीर कभी भी अपना अलंकार नहीं बन सकता—भला स्वयं अपने कंधे पर चढ़ने में कौन समर्थ है ?

वाङ्मय (काव्यचमत्कार अथवा अलंकार) के भामह और दंडी द्वारा प्रस्तुत उक्त वर्गीकरण का परवर्ती किसी भी आचार्य ने उल्लेख नहीं किया। अलंकारों को सर्वप्रथम व्यवस्थित रूप देने का श्रेय रुद्रट को है। पर उनसे भी पूर्व उद्भट ने इसका प्रयास अवश्य किया था पर उसमें वे सफल नहीं हुए। इन्होंने अपने ग्रंथ काव्यालंकार-सार-संग्रह में निरूपित ४० अलंकारों को छः वर्गों में विभक्त किया है, पर चतुर्थ वर्ग को छोड़कर शेष वर्गों के अलंकारों में ऐसा कोई आधारसाम्य लक्षित नहीं होता जिसके बल पर इन्हें पृथक् वर्गों में रखना उचित कहा जा सके। चतुर्थ वर्ग में भी प्रेयस्वत्, रसवत्, ऊर्जस्वि और समाहित के अतिरिक्त उदात्त और

पर्यायोक्ति अलंकारों का तो विषयसाम्य के आधार पर एक साथ रखा जाना युक्तिसंगत प्रतीत होता है, पर इसी वर्ग में श्लेष अलंकार को स्थान देने का कारण समझ में नहीं आता।

रुद्रट ने अर्थालंकारों को वास्तव, औपम्य, अतिशय और श्लेष, इन चार श्रेणियों में विभक्त किया। वस्तु-स्वरूप-कथन को वास्तव कहते हैं। सहोक्ति, समुच्चय, जाति, यथासंख्य आदि अलंकार वस्तुगत हैं। उपमेयोपमान की सहायता का नाम औपम्य है। उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक आदि अलकार इसके अंतर्गत हैं। अर्थ और धर्म के नियमविपर्यय को अतिशय कहते हैं। पूर्व, विशेष, उत्प्रेक्षा, विभावना आदि अतिशयगत अलकार हैं। अनेकार्थकता का नाम श्लेष है। अविशेष, विरोध, अधिक आदि श्लिष्ट अलंकार हैं।

रुद्रट ने कुछ अलंकारों को दो दो वर्गों में भी रखा है; जैसे, उत्तर और समुच्चय अलंकार वास्तवगत भी हैं और औपम्यगत भी, विरोध और अधिक अतिशयगत भी हैं और श्लेपगत भी, उत्प्रेक्षा औपम्यगत भी है और अतिशयगत भी, विषम वास्तवगत भी है और अतिशयगत भी।

रुद्रट के पश्चात् रुय्यक ने अलंकारों का वर्गीकरण किया। विद्याधर ने रुय्यक का प्रायः अनुकरण किया। विद्याधर के ग्रंथ एकावली की तरल नामक टीका के कर्ता मल्लिनाथ ने रुय्यक और विद्याधर के वर्गीकरण का स्पष्टीकरण करते हुए पाठकों के लिये उसे सुबोध रूप दे दिया। मल्लिनाथ के अनुसार उक्त आचार्यद्वय का वर्गीकरण इस प्रकार है:

१—सादृश्यमूलक अलंकार वर्ग—

(क) भेदाभेदप्रधान—उपमा-उपमेयोपमा, अनन्वय और स्मरण

(ख) अभेदप्रधान—

अ—आरोपमूल—रूपक, परिणाम, संदेह आदि

आ—अध्यवसायमूल—उत्प्रेक्षा और अतिशयोक्ति

२—औपम्यगर्भ वर्ग—

(क) पदार्थगत—तुल्ययोगिता और दीपक

(ख) वाक्यार्थगत—प्रतिवस्तूपमा, दृष्टांत, निदर्शना

(ग) भेदप्रधान—व्यतिरेक, सहोक्ति, विनोक्ति

(घ) विशेषणविच्छित्ति—समासोक्ति, परिकर

(ङ) विशेष्यविच्छित्ति—परिकरांकुर

(च) विशेषण-विशेष्य-विच्छित्ति—श्लेष

(छ) समासोक्ति से विपरीत होने के कारण अप्रस्तुतप्रशंसा को, अर्थांतरन्यास में अप्रस्तुतप्रशंसा के समान सामान्य विशेष की चर्चा

होने के कारण अर्थातरन्यास को, और गम्यप्रस्ताव के कारण पर्यायोक्त, व्याजस्तुति और आक्षेप को भी इसी वर्ग में स्थान दिया गया है।

३—विरोधगर्भ अलंकार वर्ग—

विरोध, विभावना, विशेषोक्ति आदि

४—शृंखलाकार अलंकार वर्ग—

कारणमाला, एकावली, मालादीपक, सार

५—न्यायमूलक अलंकार वर्ग—

(क) तर्कन्यायमूल—काव्यलिंग, अनुमान

(ख) वाक्यन्यायमूल—यथासंख्य, पर्याय आदि

(ग) लोकन्यायमूल—प्रत्यनीक, प्रतीप आदि

६—गूढार्थ प्रतीतिमूल अलंकार वर्ग—

सूक्ष्म, व्याजोक्ति और वक्रोक्ति

विद्याधर के पश्चात् विद्यानाथ ने रुद्रट, रुय्यक और विद्याधर से सहायता लेते हुए अर्थालंकारों को प्रमुख चार प्रकारों में विभक्त किया है और फिर इन प्रकारों के कुल मिलाकर निम्नलिखित ६ भेद गिनाए हैं—

प्रमुख चार—(१) प्रतीयमान वस्तुगत, (२) प्रतीयमान औपम्य, (३) प्रतीयमान रस, भाव आदि, एवं (४) अस्फुट प्रतीयमान।

अवांतर विभाग—(१) साधर्म्य मूल (भेदप्रधान, अभेदप्रधान, भेदाभेदप्रधान), (२) अध्यवसायमूल, (३) विरोधमूल, (४) वाक्यन्यायमूल, (५) लोकव्यवहारमूल, (६) तर्कन्यायमूल, (७) शृंखलावैचित्र्यमूल, (८) अपह्नवमूल, (६) विशेषणवैचित्र्यमूल।

संस्कृत काव्यशास्त्र में विभिन्न आचार्यों द्वारा उपरिनिर्दिष्ट वर्गीकरण किसी सीमा तक तर्कपूर्ण होते हुए भी एकांत रूप से स्वीकार नहीं हो सकते। फिर भी व्यावहारिक दृष्टि से अलंकाराध्येता के लिये ये वर्गीकरण उपादेय अवश्य हैं।

(७) अलंकारों के प्रयोग में औचित्य—अलंकार शब्दार्थरूप काव्य-शरीर का अलंकर्ता है, पर इसकी अलंक्रियता इसके औचित्यपूर्ण प्रयोग की अपेक्षा रखती है। संस्कृत का प्राचीन और नव्य काव्यशास्त्री लौकिक एवं काव्यगत अलंकारों के इस प्रयोगतत्व के संबंध में प्रारंभ से ही प्रकाश डालता चला आया है। भरत के शब्दों में 'विभिन्न शरीरावयव पर धारित आभूषण शोभा उत्पन्न करने के स्थान पर हास्योत्पादक ही होता है—जैसे उरःस्थल पर

मेखला का बंधन।' वामन के शब्दों में आभूषणों के आदर्श प्रयोग के लिये एक ऐसा शरीर ही अधिकारी है जो हर प्रकार से सुपात्र हो। इस दृष्टि से न तो अचेतन शव अलंकारों का अधिकारी है, न किसी यति का शरीर, और न किसी नारी का यौवनवंध्य वपु[१]। भोजराज के शब्दों में 'सजीव, स्वस्थ, सुंदर शरीर पर भी आभूषणों का प्रयोग औचित्य की अपेक्षा रखता है—अंजन की कालिमा बड़ी बड़ी आँखों में ही शोभित होती है, अन्यत्र नहीं। मुक्ताहार उन्नत पीन पयोधरों पर सुशोभित होता है, अन्यत्र नहीं[२]। पर इसके विपरीत क्षेमेंद्र के कथनानुसार कंठ में मेखला का, नितंबफलक पर सुंदर हार का, हाथों में नूपुरों का, चरणों में केयूरों का अवधारण कितना कुरूप, भद्दा और हास्यप्रद होगा, यह कहने की आवश्यकता नहीं है[३]।

उक्त कथनों से स्पष्ट है कि आभूषणों का प्रयोग जहाँ सजीव, सुंदर शरीर की अपेक्षा रखता है, वहाँ औचित्य भी उसके लिये एक अनिवार्य तत्व है। काव्यगत अलंकारों के शोभावह प्रयोग में भी इन्हीं दोनों तत्वों की अनिवार्यता अपेक्षित है—अलंकारों का सरस काव्य में प्रयोग, सरस काव्य में भी अलंकारों का औचित्यपूर्ण प्रयोग। शव, यतिशरीर अथवा यौवनवंध्य वपु पर आभूषणों का अवधारण यदि कौतूहल मात्र है तो नीरस काव्य में भी अलंकारप्रयोग का दूसरा नाम उक्तिवैचित्र्य मात्र है—'यत्र तु नास्ति रसः तत्र (अलंकाराः) उक्तिवैचित्र्यमात्रपर्यवसायिनः[४]।' जिस प्रकार हाथों में नूपुरों का और चरणों में केयूरों का बंधन समुचित नहीं है, उसी प्रकार विप्रलंभ शृंगार में भी यमक आदि का बंधन समुचित नहीं है। तात्पर्य यह कि लौकिक अलंकारों के समान काव्यगत अलंकारों का जीवन और उनकी अलंकारिता उचित स्थानविन्यास पर ही आश्रित है[५]। फिर भी काव्यसौंदर्य शरीरसौंदर्य की अपेक्षा अधिक संवेदनशील है। उदाहरणार्थ 'रकार' का अनुप्रास विप्रलंभ शृंगार के एक उदाहरण में रस का उपकार करता है, तो 'टकार'

[१] का० सू० वृ० ३।२।२ पद्य।

[२] दीर्घापाग नयनयुगल भूषयन्त्यजनश्री-
स्तुगाभोगौ प्रभवति कुचावर्चितु हारयष्टि.॥ —स० क० भ० १।१६

[३] औ० वि० च०, पृ० १

[४] का० प्र०, ८म उ०, पृ० ४६५

[५] (क) काव्यम्यालमलकारै. किं मिथ्यागणितैर्गुणै.।
यस्य जीवितमौचित्य विचिन्त्यापि न दृश्यते॥ —औ० वि० च० पृ० ४

(ख) उचितस्थानविन्यासादलकृतिरलकृति। —वही, पृ० ६

का अनुप्रास उसी रस के दूसरे उदाहरण में रस का उपकार नहीं करता[1]। तभी मम्मट को अलंकारों के विषय में लिखना पड़ा—'क्वचित्तु संतमपि नोपकुर्वन्ति।' स्पष्ट है कि एक ही रस के दो उदाहरणों में कोमल वर्ण 'रकार' और कठोर वर्ण 'टकार' की सह्यता अथवा असह्यता का उत्तरदायित्व औचित्य के ही सद्भाव अथवा अभाव पर आधृत है।

संस्कृत का काव्यशास्त्री शब्दालंकारों के प्रयोग के अनौचित्य के विषय में अपेक्षाकृत अधिक आशंकित रहा है। यही कारण है कि दंडी जैसे अलंकारवादी ने भी अनुप्रास और यमक के प्रति अपनी अवहेलना प्रकट की है। उनके कथनानुसार अनुप्रास का अर्थ 'शैथिल्य' है और यह श्लेष नामक गुण के अभाव का दूसरा नाम है। गौडमार्ग (वैदर्भमार्ग की अपेक्षा निकृष्ट मार्ग) के अवलंबी ही इसे अपनाते हैं[2]। यमक के संबंध में उनका कथन है कि उसका अकेला प्रयोग मधुरताजनक नहीं है[3]। रुद्रट जैसे अलंकारप्रिय आचार्य ने अनुप्रास अलंकार की स्वसंमत मधुरा, प्रौढ़ा आदि पाँच वृत्तियों के औचित्यपूर्ण प्रयोग पर विशेष बल दिया है। इसी प्रकार आनंदवर्धन ने अनुप्रास आदि शब्दालंकारों की अपेक्षाकृत हीनता प्रबल शब्दों में व्यक्त की है। उनके कथनानुसार शृंगार के सभी प्रभेदों में अनुप्रास का बंध सदा एकसा अभिव्यंजक नहीं हुआ करता अतः कवि को इस अलंकार के औचित्यपूर्ण प्रयोग के लिये विशेष सावधानी बरतनी चाहिए। ध्वन्यात्मक शृंगार, विशेषतः विप्रलंभ शृंगार, मे यमक आदि का निबंधन कवि के प्रमाद का सूचक है। काव्य में अलंकारप्रयोग अप्रयत्नज होना चाहिए, पर यमकनिबंधन के लिये तो कवि को विशेष शब्दों की खोज करनी ही पड़ती है। सरस रचना में यमक रस को अंग बना देता है और स्वयं अंगी बन जाता है[4]। यमकप्रयोग के संबंध में कुंतक की भी यही धारणा है कि यह शोभाशून्य अलंकार है। इसके विस्तृत जाल में उलझने से क्या लाभ? प्रथम तो अनुप्रासमयी रचना को अति निबद्ध नहीं बनाना

[1] देखिए, मम्मट द्वारा उद्धृत दोनों उदाहरण :
(क) अपसारय घनसारम् ···।
(ख) चित्ते विहट्टदि ण टुट्टदि ···।
—का० प्र०, ८म उ०, पृ० ४६७

[2] का० द० १।४३,४४

[3] तत्तु नैकान्तमधुरम्। —वही १।६१

[4] (क) शृंगारस्यांगिनो यत्नादेकरूपानुबन्धवान्।
सर्वेष्वेव प्रभेदेषु नानुप्रासः प्रकाशक.॥ —ध्वन्या० २।१४
(ख) ध्वन्यात्मभूतशृंगारे यमकादिनिबन्धनम्।
शक्तावपि प्रमादित्वं विप्रलम्भे विशेषतः॥ —वही, २।१५

चाहिए और यदि ऐसी रचना हो भी जाए, तो उसे असुकुमार न बनाना चाहिए[1]। भट्ट लोल्लट के मत में यमक आदि शब्दालंकार रस के अति विरोधी हैं। इनका प्रयोग कवि के अभिमान का सूचक अथवा भेड़चाल के समान है[2]।

इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि शब्दालंकारों के औचित्यपूर्ण प्रयोग को समझाते समझाते संस्कृत का आचार्य कहीं कहीं उनका विरोध और निषेध तक कर बैठा है। पर अर्थालंकारों के प्रयोग का निषेध वह किसी भी अवस्था में करने को उद्यत नहीं है। वह इन्हें स्वस्थ रूप में देखना चाहता है। आनंदवर्धन के कथनानुसार अलंकार का स्वस्थ रूप है—रस, भाव आदि का अंग बन के रहना। उसे यह रूप देने के लिये एक प्रबुद्ध कवि को विशेष प्रकार के सभी दृश्य की सदा अपेक्षा रखनी पड़ेगी[3]। इसके अतिरिक्त अर्थालंकारों का प्रयोग करते चले जाना कवि की स्वेच्छा पर भी निर्भर नहीं है। ये ध्वनि के उपकारक तभी समझे जायँगे, जब ये रस में दत्तचित्त प्रतिभावान् कवि के सामने हाथ बाँधे चले आएँ[4], और किसी प्रयत्न के बिना अनायास ही रचना में (रसानुकूल रूप में) समाविष्ट होकर स्वयं कवि को भी आश्चर्यचकित कर दें। निष्कर्ष यह कि अर्थालंकारों के औचित्यपूर्ण प्रयोग की कसौटी है अपृथग्यत्न रूप से रसानुकूलता की प्राप्ति :

रसाक्षिप्ततया यस्य बन्धश्शक्यक्रियो भवेत्।
अपृथग्यत्ननिर्वर्त्यः सोऽलंकारो ध्वनौ मतः॥

—ध्वन्या० २।१६

और यदि शब्दालंकारों का भी रसोपयोगी बनकर अपृथग्यत्न रूप से रचना में स्वतः समावेश संभव होता तो संस्कृत के आचार्यों ने अर्थालंकारों के समान इन्हें भी निश्चय ही समान महत्व दिया होता।

अर्थालंकारों का औचित्यपूर्ण प्रयोग करने के लिये आनंदवर्धन ने निम्नलिखित साधनों में से किसी एक का आश्रय लेने की समति दी है :

१—रूपक आदि अलंकारों की अंगीभूत रस के प्रति अंग रूप से विवक्षा करना,

[1] नातिनिर्बन्धविहिता नाप्यपेशलभूषिता। —व० जी० २।४

[2] यमकानुलोमतदितरचक्रादिभिदो तिरसविरोधिन्य।
अभिमानमात्रमेतद् गड्डरिकादिप्रवाहो वा॥ —का० अनु० (हेम०) पृ० २५७

[3] ध्वन्या० २।५ वृत्ति।

[4] अलकरणान्तराणि × × × रस समाहित चेतसः प्रतिभावतै कवेरहम्पूर्विकया परापतन्ति।
—ध्व० २।१६ वृत्ति

२—अंगी रूप में अलंकार की कभी भी विवक्षा न करना,
३—अवसर पर अलंकार का ग्रहण करना,
४—अथवा त्याग करना,
५—आरंभ करके उसे अंत तक निभाने का प्रयत्न करना, और
६—यदि अनायास आद्यंत निर्वाह हो जाय तो उसे अंग रूप में रसपोषक बनाने का यत्न करना।

उक्त साधनों में से प्रथम दो तो एक ही हैं। पाँचवें का तीसरे और चौथे साधन मे तथा छठे का पहले साधन में अंतर्भाव हो सकता है। इन सबका निष्कर्ष रूप में उद्देश्य यह है कि रचना में अलंकारों को रस के अंग रूप में ही स्थान दिया जाय, प्रधान रूप मे कभी नही, और ऐसा करने के लिये कवि समीक्षाबुद्धि से काम ले, तभी अर्थालंकार अपनी यथार्थता को प्राप्त कर सकेंगे :

ध्वन्यात्मभूतेश्रृंगारे समीक्ष्य विनिवेशतः।
रूपकादिरलंकारवर्ग एति यथार्थताम्॥ — ध्व० २।१७

(८) अलंकार संप्रदाय और हिंदी रीतिकालीन आचार्य—अलंकार संप्रदाय के मूल आधार हैं भामह, दंडी और उद्भट के अनुकरण पर अलंकार की काव्य के सर्वस्व एवं सर्वोपरि तथा अनिवार्य अंग के रूप में स्वीकृति, काव्य के अन्य अंगों का अलंकार मे समावेश, यहाँ तक कि रस, ध्वनि जैसे महत्वपूर्ण काव्यागों का भी अलंकार रूप मे ग्रहण। इस दृष्टि से कोई भी रीतिकालीन आचार्य एकात रूप से अलंकारवादी सिद्ध नही होता। रीतिकाल में अलंकार का निरूपण दो प्रकार से हुआ है—चिंतामणि, जसवंतसिंह, कुलपति, देव, सूरति मिश्र, श्रीपति, सोमनाथ, भिखारीदास, जनराज, रणधीर सिंह आदि आचार्यों ने मम्मट, विश्वनाथ आदि के समान अलंकारप्रकरण को अपने विविधाग निरूपक ग्रंथो का एक भाग बनाया है तथा मतिराम, भूषण, श्रीधर कवि, रसिक सुमति, रघुनाथ, गोविंद कवि, दूलह, पद्माकर, प्रतापसाहि आदि ने अप्पय्य दीक्षित के समान उस-पर स्वतंत्र ग्रंथ लिखे हैं। इन दोनों प्रकार के आचार्यों ने इस प्रकरण के लिये मम्मट, विश्वनाथ, जयदेव तथा अप्पय्य दीक्षित मे से किसी एक, दो, तीन अथवा चारों आचार्यों का ही आधार ग्रहण किया है, भामह, दंडी और उद्भट का आधार किसी ने भी नहीं लिया। हाँ, देव इसके अपवाद हैं। इन्होंने भावविलास में प्रायः दंडिसंमत अलंकारों का निरूपण किया है और शब्दरसायन में प्रायः अप्पय्य दीक्षित संमत अलंकारों का। फिर भी भावविलास मे निरूपित अलंकारों के आधार पर देव को अलंकारवादी नहीं मान सकते। कारण अनेक हैं। प्रथम यह कि देव ने दंडी के काव्यादर्श से सहायता न लेकर केशव की कविप्रिया से ही सहायता ली है जिसे वे यथावत् एवं विधिवत् प्रस्तुत नहीं कर पाए। दूसरा कारण

यह कि इनका अपेक्षाकृत प्रौढ ग्रंथ शब्दरसायन मम्मटसंमत सिद्धांतों का प्रतिपादक है, न कि दंडिसंमत सिद्धांतो का। इस ग्रंथ में शब्दशक्ति के अंतर्गत व्यंजना शक्ति तथा रस जैसे काव्यांगों की स्वीकृति एवं इनका स्वतंत्र निरूपण इन्हें मम्मट का अनुयायी मानने को बाध्य करता है, न कि दंडी का।

इसी प्रसंग में रीतिकाल से पूर्ववर्ती हिंदी आचार्यों पर भी विचार कर लेना समुचित है। रीतिकाल से पूर्ववर्ती अलंकारनिरूपक तीन आचार्यों का नाम लिया जाता है—गोपा, करनेस और केशव। इनमे से प्रथम दो आचार्यों के ग्रंथ अनुपलब्ध हैं। केशव के 'कविप्रिया' नामक ग्रंथ के आधार पर इन्हे अलकारवादी माना जाता है। इन्हे अलंकार संप्रदाय का आचार्य मानने के निम्नलिखित चार कारण हैं :

१—केशव ने काव्य की सभी वर्णनीय सामग्री—वर्ण, वर्ण्य, भूश्री, राजश्री आदि को अलंकार के स्थान पर सामान्य अलंकार नाम दिया है।

२—रसवत् अलंकार के अंतर्गत शृंगार आदि नौ रसों का निरूपण कर प्रकारांतर से केशव ने अलंकार्य 'रस' को ही अलंकार मान लिया है।

३—इनके मत मे उपमा आदि अलंकार काव्य के अनिवार्य अंग हैं। इनके बिना सर्वगुणसंपन्न रचना भी उस सुंदरी नारी के समान शोभाहीन है, जो आभूषणरहित हो।

४—काव्य के सभी सौंदर्यविधायक तत्वों को इन्होंने प्रकारांतर से 'अलंकार' नाम दिया है।

इनमें से अंतिम धारणाओं का स्रोत भामह, दंडी, उद्भट और वामन के ग्रंथों मे उपलब्ध हो जाता है, पर प्रथम धारणा—वर्ण आदि वर्ण्य सामग्री को अलंकार कहना—कदाचित् केशव की निजी धारणा है। अमरचंद यति तथा केशव मिश्र ने, जिनके ग्रंथों—काव्यकल्पलतावृत्ति और अलकारशेखर—से केशव ने एतद्विषयक लगभग संपूर्ण सामग्री ली है, उक्त वर्ण्य सामग्री को किसी भी रूप मे 'अलंकार' नाम से अभिहित नहीं किया। अमरचंद यति ने इस प्रकरण को 'वर्ण्यस्थिति स्तंबक' नाम दिया है और केशव मिश्र ने 'वर्णनीयमरीचि'। वस्तुतः केशव की यह धारणा न परंपरासंमत है और न यथार्थ ही। इनके आदर्शभूत आचार्य दंडी ने काव्य के जिन अंगों—नाटकीय संधियों, संध्यंगों, वृत्तियों, वृत्त्यंगों, लक्षणों तथा गुणों—को 'अलंकार' मे अंतर्भूत माना है, वे सभी काव्य के चमत्कारोत्पादक साधन हैं, न कि स्वयं वर्णनीय विषयसामग्री। वामन के 'सौंदर्यमलंकारः' सूत्र का संबंध भी काव्योपकारक साधनों से है, न कि वर्ण्य सामग्री से। वस्तुतः केशव की यह धारणा मनमानी, असंगत तथा भ्रामक है। केशव निस्संदेह अलंकारवादी आचार्य हैं, पर इस धारणा की उद्भावना के कारण इन्हें अलंकारवादी

कहना समुचित नहीं है क्योंकि इस धारणा की स्वीकृति के बिना भी भामह, दंडी और उद्भट अलंकारवादी माने जाते हैं। केशव पर भी इन्हीं आचार्यों का पुष्ट प्रभाव है। इस पृष्ठाधार पर थोड़ा विचार कर लेना आवश्यक है।

केशव के सामने भामह, दंडी, उद्भट आदि पूर्वध्वनिकालीन और आनंदवर्धन, मम्मट, विश्वनाथ आदि उत्तरध्वनिकालीन आचार्यों के दोनों मार्ग उन्मुक्त थे। वे भली भाँति जानते होंगे कि अब अलंकार की व्यापक महत्ता रस और ध्वनि के आगे न केवल समाप्त हो चुकी है, अपितु इनमें अलंकारालंकार्य संबंध स्थापित हो गया है, तथा अब भामह का यह कथन कि 'न कातमपि निर्भूषं विभाति वनितामुखम्' निस्सार हो गया है। दंडी का यह मत कि काव्य के सौंदर्योत्पादक सभी तत्व, क्या गुण और क्या रस, 'अलंकार' नाम से पुकारे जाने चाहिए, अब अपना महत्व खो चुका है। उद्भट की यह धारणा कि रस, भाव आदि प्रधान रूप से वर्णित हो जाने पर भी रसवत्, प्रेय आदि अलंकार कहाते हैं, आनंदवर्धन द्वारा खंडित हो चुकी है। इन्हें अलंकार तभी माना जा सकता है जब ये किसी अन्य अंगीभूत रस के अंग रूप में वर्णित हों, अन्यथा नहीं। मम्मट ने इन्हें अनुप्रासोपमा आदि 'चित्रकाव्य' की कोटि से उठाकर गुणीभूत व्यंग्य के 'अपरस्याग' नामक भेद के अंतर्गत उच्च धरातल पर प्रतिष्ठित कर दिया है।

संभवतः केशव यह भी जानते होंगे कि अब 'अलकार' वामन के 'सौंदर्यमलंकारः' सूत्र के अनुसार वर्ण्य विषय के चमत्कार (सौंदर्य) के सभी उपकरणों का पर्याय नहीं है, अपितु काव्यसौंदर्य का एक अस्थिर साधन मात्र रह गया है। इतना सब कुछ जानते हुए भी केशव ने यदि प्राचीन अलंकारवाद का समर्थन जान बूझकर किया है तो इसका कारण यही हो सकता है कि वे 'पुराणमित्येव न साधु सर्वम्' के माननेवाले नहीं थे। संभव है, उनके हाथ केवल दंडी का ही ग्रंथ लगा हो, अथवा उन्होंने केवल इसी का अध्ययन और मनन किया हो, वा सभी ग्रंथों के पठनानंतर भी उनके कविहृदय की प्रवृत्ति अलंकारवाद की ही ओर रही हो। कारण जो भी हो, शताब्दियों पश्चात् उन्होंने इतिहास का पुनरावर्तन किया। यह विचित्र संयोग है कि संस्कृत के काव्यशास्त्र में जहाँ भामह, दंडी, उद्भट आदि अलंकारवादियों के पश्चात् आनंदवर्धनादि रसध्वनिवादियों का आगमन हुआ था, वहाँ हिंदी के काव्यशास्त्र में भी अलंकारवादी केशव के पश्चात् चिंतामणि आदि रसध्वनिवादियों का ही आगमन हुआ।

४. रीति संप्रदाय

यद्यपि रीतिसिद्धांत की स्थापना नवीं शताब्दी के मध्य में या उसके आसपास आचार्य वामन द्वारा हुई तथापि रीति का अस्तित्व उनसे पहले भी निश्चित रूप से था, इसमें संदेह नहीं। भरत के नाट्यशास्त्र में रीति का प्रत्यक्ष विवेचन तो उपलब्ध

नहीं होता परंतु उसमें भारत के विभिन्न प्रदेशों में प्रचलित चार प्रवृत्तियों का उल्लेख मिलता है—भारत के पश्चिम भाग की प्रवृत्ति आवंती थी, दक्षिण भारत की दाक्षिणात्य थी, उड्र अर्थात् उड़ीसा तथा मगध, दूसरे शब्दों में पूर्व भारत की प्रवृत्ति उड्रमागधी थी और पाचाल अर्थात् मध्यदेश की प्रवृत्ति पाचाली थी :

चतुर्विधा प्रवृत्तिश्च प्रोक्ता नाट्य-प्रयोगतः
आवंती दाक्षिणात्या च पांचाली चौड्र मागधी ।
—ना० शा० १४।३६

आगे चलकर दिशाओं के आधार पर काव्यशैली की चर्चा बाणभट्टप्रणीत हर्षचरित में उपलब्ध होती है :

श्लेषः प्रायमुदीच्येषु प्रतीच्येष्वर्थमात्रकम् ।
उत्प्रेक्षा दाक्षिणात्येषु गौडेष्वक्षरडम्बरः ॥

उदीच्य अर्थात् उत्तर भारत के कवि श्लेष का प्रायः प्रयोग करते हैं, प्रतीच्य अर्थात् पश्चिम भारत के कवि अर्थगौरव को महत्व देते हैं, दाक्षिणात्य उत्प्रेक्षा के प्रेमी हैं और गौड़ अर्थात् पूर्व भारत के कविजन अक्षराडंबर पर मुग्ध हैं।

उपर्युक्त दो उद्धरणों से यह निष्कर्ष निकालना अस्वाभाविक नहीं है कि बाण-भट्ट के समय (७वीं शताब्दी) तक विभिन्न काव्यशैलियाँ विभिन्न प्रदेशों पर आधृत थीं और इन शैलियों के विभाजक तत्व थे गुण और अलंकार। यद्यपि बाण ने कहीं यह उल्लेख नहीं किया कि वह स्वयं किस काव्यशैली के अनुकर्ता हैं, पर उनका निम्न-लिखित श्लोक इस तथ्य की ओर संकेत करता है कि वह स्वयं किसी एक शैली के पक्षपाती न होकर सब शैलियों के समुचित समन्वय के पक्षपाती थे :

नवोऽर्थो जातिरग्राम्या श्लेषोऽक्लिष्टः स्फुटो रसः ।
विकटाक्षर बन्धश्च कृत्स्नमेकत्र दुर्लभम् ॥

यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि इस युग तक इन काव्यशैलियों का नामकरण प्रादेशिक आधार पर नहीं हो पाया था।

इस प्रकार का नामकरण सर्वप्रथम भामह के ग्रंथ 'काव्यालंकार' में उपलब्ध होता है। उन्होंने काव्य के दो भेद स्वीकृत किए हैं—वैदर्भ और गौड़। इनके स्वरूप का निरूपण करते हुए भामह ने अपने समय में प्रचलित इस धारणा को समुचित नहीं माना कि वैदर्भ काव्य गौडीय काव्य की अपेक्षा उत्कृष्ट है। वे इस धारणा को गतानुगतिक न्याय से निर्बुद्धि जनों का कथन मात्र कहते हैं :

वैदर्भमन्यदस्तीति मन्यन्ते सुधियो परे ।
तदेव च किल ज्यायः सदर्थमपि नापरम् ॥

गौडीयमिदमेतत्तु वैदर्भमिति किं पृथक्
गतानुगतिकन्यायान्नानाख्येयममेधसाम् ॥
—काव्यालंकार १।३१, ३२

उनके विवेचनानुसार वैदर्भ काव्य मे पुष्टार्थता और वक्रोक्ति, ये मुख्य गुण होने चाहिए और प्रसन्नत्व, ऋजुता तथा कोमलता, ये अमुख्य गुण। गौडीय काव्य मे अलंकारवत्ता, अर्थवत्ता और न्यायवत्ता ये गुण होने चाहिए और यह काव्य ग्राम्य दोष और आकुलता से रहित होना चाहिए।

भामह के उपरात दंडी ने रीतिविवेचन किया है। उन्होने सर्वप्रथम काव्य-शैली के अर्थ मे 'मार्ग' शब्द का प्रयोग किया है। उनके कथनानुसार वाणी के अनेक मार्ग हैं जिनमें परस्पर अत्यंत सूक्ष्म भेद हैं। इनमे से वैदर्भ और गौडीय मार्गों का—जिनका परस्पर भेद अत्यंत स्पष्ट है—वर्णन किया जा सकता है। उन्होंने निम्नोक्त दस गुणों को वैदर्भ मार्ग के प्राण मानते हुए सर्वप्रथम रीति (मार्ग) और गुण का पारस्परिक संबंध स्थापित किया :

श्लेष, प्रसाद, समता, माधुर्य, सुकुमारता, अर्थव्यक्ति, उदारता, ओज, काति, तथा समाधि। गौड मार्ग मे प्रायः इनका विपर्यय लक्षित होता है[1]। दंडी का गुणविवेचन देखते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने विपर्यय शब्द से कभी 'वैपरीत्य' अर्थ ग्रहण किया है, कभी 'अन्यथात्व' और कभी 'अभाव[2]'। उनकी विवेचना के अनुसार वैदर्भ और गौडीय मार्ग मे गुणो और उनके विपर्यय की स्थिति इस प्रकार है :

१—वैदर्भ मार्ग मे श्लेष, प्रसाद, समता, सौकुमार्य और काति, ये पाँच गुण पाए जाते हैं और गौड मार्ग मे क्रमशः इनके विपर्यय—शैथिल्य, व्युत्पन्न, वैषम्य, दीप्त और अत्युक्ति।

२—वैदर्भ मार्ग के शब्दगत माधुर्य (श्रुत्यनुप्रास) का विपर्यय गौड मार्ग मे वर्णानुप्रास है।

[1] अस्त्यनेको गिरां मार्गः सूक्ष्मभेद. परस्परम्।
तत्र वैदर्भगौडीयौ वर्ण्येते प्रस्फुटान्तरौ ॥
इति वैदर्भमार्गस्य प्राणा दशगुणा. स्मृता ।
एषा विपर्ययः प्रायो दृश्यते गौडवर्त्मनि ॥ —काव्यादर्श १।४०,४२

[2] गौडवर्त्मनि एषा गुणाना विपर्यय. स च कुत्रचिदत्यन्ताभाव-रूप कुत्रचिदशत. संबधरूपश्च प्राय. दृश्यते। प्रायः इत्यनेन क्वचिदुभयो. साम्यमप्यस्तीति सूच्यते।
—का० द० (प्रभा टीका), पृ० ४३

३—वैदर्भ मार्ग में ओज गुण केवल गद्य मे होता है और गौडीय मार्ग में गद्य और पद्य दोनो में।

४—वैदर्भ और गौडीय दोनो मार्गों मे निम्नलिखित चारो गुण समान रूप से पाए जाते हैं: अर्थगत माधुर्य (अग्राम्यता), अर्थव्यक्ति, औदार्य और समाधि।

उक्त विवरण से स्पष्ट है कि दंडी गौडीय मार्ग को वैदर्भ मार्ग की अपेक्षा निम्न कोटि का काव्य मानते हैं, उसे सर्वथा सदोष और त्याज्य नही मानते।

दंडी के उपरात रीतिसिद्धांत के प्रवर्तक वामन का युग आता है।

(१) रीति की परिभाषा और स्वरूप—वामन के अनुसार रीति की परिभाषा और स्वरूप इस प्रकार है: रीति का अर्थ है विशिष्ट पदरचना—'विशिष्टः पदरचना'। विशिष्ट का अर्थ है गुणसंपन्न—'विशेषो गुणात्मा'। गुण से तात्पर्य है काव्य के शोभाकारक धर्म—'काव्यशोभाया. कर्तारः गुणाः।' इस प्रकार वामन के अनुसार रीति की परिभाषा हुई—काव्यशोभाकारक शब्द और अर्थ के धर्मों से युक्त पदरचना को 'रीति' कहते हैं।

वामन के उपरात आनंदवर्धन ने रीति का पर्याय 'संघटना' शब्द माना है। वामन का 'पदरचना' शब्द और आनंदवर्धन का 'संघटना' शब्द तो पर्याय ही हैं, अंतर केवल विशिष्ट और सम् (सम्यक्) विशेषणों मे है, जो दोनों आचार्यों के विभेदक दृष्टिकोणों का परिचायक है। वामन के मतानुसार पदरचना मे वैशिष्ट्य गुणो के कारण आता है और गुण पदरचना (रीति) पर आश्रित हैं, किंतु इधर आनंदवर्धन के मतानुसार 'घटना' का 'सम्यक्त्व' तभी है जब वह गुणो के आश्रय मे रहकर रस की अभिव्यक्ति करे:

> ***गुणानाश्रित्य तिष्ठन्ती, माधुर्यादीन्, व्यनक्ति सा।***
> **रसादीन् ... ... ॥ —ध्वन्या० ३।६**

निष्कर्ष यह कि आनंदवर्धन की संघटना गुणों पर आश्रित है और वह रसाभिव्यक्ति का एक साधन है, वामन की रीति (पदरचना) पर गुण आश्रित हैं और वह स्वयं साध्या है। दूसरे शब्दो मे, यदि पदरचना में शब्दगत और अर्थगत शोभाकारक धर्मों अर्थात् गुणों का समावेश हो गया तो उसकी सिद्धि हो गई।

आनंदवर्धन के उपरात राजशेखर ने और उनके अनुकरण पर भोज ने 'शृंगारप्रकाश' मे रीति को 'वचन-विन्यास-क्रम' कहा है जो पदरचना अथवा घटना का ही पर्याय है। कुंतक ने रीति के स्थान पर मार्ग शब्द का प्रयोग किया है जिसे इन्होने कवि-प्रस्थान-हेतु भी कहा है। भोज ने सरस्वतीकंठाभरण में रीति शब्द की व्युत्पत्ति 'रीङ् गतौ' धातु से बताकर इस शंका का समाधान भी प्रकारातर से कर दिया है कि रीति शब्द मार्ग, वर्त्म, पंथाः आदि का पर्याय क्यो माना जाता है:

वैदर्भादिकृताः पन्थाः काव्ये मार्गा इतिस्थिताः ।
रीङ्गताविति धातोस्सा व्युत्पत्त्या रीतिरुच्यते ॥

अर्थात् वैदर्भादि पंथा (पथ) काव्य में मार्ग कहलाते हैं और गत्यर्थक रीङ् धातु से निष्पन्न होने के कारण वे ही 'रीति' कहलाते हैं।

इनके उपरांत ध्वनिवादी मम्मट और रसवादी विश्वनाथ ने रीति का स्वरूप प्रतिष्ठित करते हुए इसे रस के साथ संबद्ध कर दिया। मम्मट ने वैदर्भी, गौडी और पांचाली नामक रीतियों को उद्‌भट के अनुकरण पर क्रमशः उपनागरिका, परुषा तथा कोमला नामक वृत्तियों से अभिहित किया है। इनकी वर्णयोजना में भी इन्होंने उद्‌भटसंमत वर्णों की स्वीकृति की है तथा उद्‌भट के ही समान उक्त वृत्तियों का अनुप्रास अलंकार के अंतर्गत वर्णन किया है। आनंदवर्धन के समान इन्होंने वृत्तियों को रस की उपकारक सिद्ध करने के लिये वृत्ति को 'नियत वर्णगत रसविषयक व्यापार' कहा है तथा प्रथम दो वृत्तियों का संबंध क्रमशः माधुर्य और ओज गुणों के अभिव्यंजक वर्णों के साथ स्थापित किया है। ऐसी ही स्थिति विश्वनाथ की है। इन्होंने भी रीति को 'रसोपकर्त्री' कहा है तथा आनंदवर्धन के समान समस्तपदता की अधिकता अथवा न्यूनता के साथ रीतिप्रकारों को संबद्ध किया है।

आनंदवर्धन और उनके अनुयायियों के मतानुसार रीतिस्वरूप का सार इस प्रकार है :

१—पदों की संघटना का नाम 'रीति' है।
२—रीतियाँ रस की अभिव्यक्ति में साधक हैं।
३—इनकी रचना गुणव्यंजक नियत वर्णों से होती है।
४—समस्तपदता की मात्रा इनका बाह्य रूप है।
५—काव्य में रीति का स्थान वही है जो मानवशरीर में अंगसंस्थान अर्थात् अंगों की बनावट का है, न कि आत्मा का।

रीति के उपर्युक्त स्वरूपविकास से एक तथ्य स्पष्ट रूप से हमारे सामने आता है कि यद्यपि वामन से लेकर विश्वनाथ तक रीति के महत्व में आकाश पाताल का अंतर हो गया—वह आत्मपद से च्युत होकर अंगसंस्थान मात्र रह गई—तथापि उसके स्वरूप में कोई मौलिक अंतर नहीं हुआ। वामन की विशिष्ट पदरचना ही रीति की सर्वमान्य परिभाषा रही—यह विशिष्टता भी प्रायः शब्द और अर्थ के चमत्कार पर आश्रित मानी गई, और वामन के निर्देशानुसार गुणों के साथ भी रीति का नित्य संबंध रहा। अंतर केवल यह हुआ कि वामन ने जहाँ शब्द और अर्थ के शोभाकारक धर्मों के रूप में गुणों को और उनसे अभिन्न रीति को अपने आप में सिद्धि माना, वहाँ आनंदवर्धन तथा परवर्ती आचार्यों ने गुणों को रस का धर्म माना—और उनके आश्रय से रीति को भी रसाभिव्यक्ति के माध्यम रूप में

ही स्वीकार किया। उनके अनुसार रीति शब्द और अर्थ पर आश्रित रचनाचमत्कार का नाम है जो माधुर्य, ओज अथवा प्रसाद गुण के द्वारा चित्त को द्रवित, दीप्त और परिव्याप्त करती हुई रसदशा तक पहुँचाने में साधन रूप से सहायक होती है।

(२) रीति सिद्धांत का अन्य सिद्धांतों के साथ संबंध—रीति संप्रदाय, जैसा अन्यत्र स्पष्ट किया जा चुका है, भारतीय काव्यशास्त्र का देहवादी संप्रदाय है अतएव वह अलंकारवाद तथा वक्रोक्तिवाद का सहयोगी और रस तथा ध्वनिवाद का प्रतियोगी है। रीति सिद्धात के स्वरूप को सम्यक् रूप से व्यक्त करने के लिये इन सहयोगी तथा प्रतियोगी सिद्धातों के साथ उसके संबंध पर प्रकाश डालना आवश्यक है।

(अ) रीति तथा अलंकार—अलंकार संप्रदाय की स्थापनाएँ इस प्रकार हैं :

१—काव्य का सौंदर्य शब्दार्थ में निहित है।

२—शब्दार्थ के सौंदर्य के कारण हैं अलंकार—'काव्यशोभाकरान् धर्मान-लंकारान् प्रचक्षते।' —दंडी, काव्यादर्श २।१

३—अलंकार के अंतर्गत काव्यसौंदर्य के सभी प्रकार के तत्व आ जाते हैं। काव्य का विषयगत सौंदर्य सामान्य अलंकार के अंतर्गत आता है और शैलीगत सौंदर्य विशेष अलंकार के अंतर्गत। इस प्रकार गुण, रीति आदि भी अलंकार हैं।

काश्चिन्मार्गविभागार्थमुक्ताः प्रागप्यलंक्रियाः —दंडी, काव्यादर्श, २।३

अर्थात् वैदर्भ तथा गौडीय मार्गों का भेद करने के लिये (श्लेष, प्रसाद आदि) कुछ अलंकारों का वर्णन पहले ही किया जा चुका है। संधि, संध्यंग, वृत्ति, लक्षण आदि भी अलंकार हैं :

यच्च संध्यंग-वृत्त्यंग लक्षणाद्यागमान्तरे।
व्यावर्णितमिदं चेष्टं अलंकारतयैव नः॥ —दंडी

रीति संप्रदाय के प्रवर्तक वामन की स्थापनाएँ इससे मूलतः भिन्न न होती हुई भी परिणामतः भिन्न हो जाती हैं :

१—वामन भी काव्य का सौंदर्य शब्द अर्थ में निहित मानते हैं।

२—वामन भी अलंकार का प्रयोग काव्यसौंदर्य के पर्याय रूप में करते हैं—सौंदर्यमलंकारः। परंतु उनका आशय दंडी आदि से भिन्न है।

३—वे अलंकार की दो कोटियाँ मान लेते हैं, गुण और अलंकार। माधुर्यादि गुण सौंदर्य के मूल कारण अर्थात् काव्य के नित्यधर्म हैं और उपमादि अलंकार उसके उत्कर्षवर्धक अर्थात् अनित्य धर्म। दूसरे शब्दों में, गुण नित्य

अलंकार हैं और प्रसिद्ध 'अलंकार' अनित्य। इस प्रकार वामन अलंकार की परिधि संकुचित कर देते हैं और उसकी कोटि अपेक्षाकृत हीन हो जाती है। वामन स्पष्ट कहते हैं कि अकेला गुण काव्य को शोभासंपन्न कर सकता है किंतु अकेला अलंकार नहीं कर सकता। काव्य में यदि गुण का मूल सौंदर्य ही न हो तो 'अलंकार' उसे और भी कुरूप बना देता है।

बस, यहीं आकर अलंकार सिद्धांत और रीति सिद्धांत में अंतर पड़ जाता है। दोनों का दृष्टिकोण मूलरूप में समान है—दोनों ही काव्यसौंदर्य को शब्दार्थ में निहित मानते हैं, दोनों ही अलंकार को समष्टि रूप में काव्यसौंदर्य का पर्याय मानते हैं। परंतु अलंकार संप्रदाय जहाँ उपमा आदि अलंकारों को मुख्य रूप से और अन्य—गुण, वृत्ति, लक्षण आदि—को उपचार रूप से अलंकार मानता है, वहाँ रीति संप्रदाय रीति और गुण को मुख्य रूप से और उपमादि को गौण रूप से अलंकार मानता है। अर्थात् रीति संप्रदाय में गुण अथवा गुणात्मा रीति की प्रधानता है और उपमादि 'अलंकारों' की स्थिति अपेक्षाकृत हीन है। किंतु अलंकार संप्रदाय में उनकी स्थिति यदि गुण आदि से श्रेष्ठतर नहीं तो कम से कम उनके समकक्ष अवश्य है।

यहाँ यह प्रश्न उठता है कि पारिभाषिक शब्दों के आवरण को हटाकर देखा जाय तो गुणात्मा रीति और अलंकार में वस्तुगत भेद क्या है। और स्पष्ट शब्दो में, शब्दार्थ का कौन सा प्रयोग रीति है, कौन सा 'अलंकार'? वामन ने रीति का लक्षण किया है 'विशिष्टा पदरचना'—अर्थात् गुणमयी पदरचना। गुण के दो भेद हैं, शब्दगुण और अर्थगुण। शब्दगुण में वर्णयोजना तथा समासप्रयोग पर आश्रित सौंदर्य और अर्थगुण में उपयुक्त सार्थक शब्दचयन एवं रागात्मक तथा प्रज्ञात्मक तथ्यों के सुचारु क्रमबंध आदि का अंतर्भाव है। इस प्रकार रीति से अभिप्राय ऐसी रचना से है जो अपनी वर्णयोजना, समस्त पदों के कुशल प्रयोग, उपयुक्त अर्थवान् शब्दों के चयन तथा भावों एवं विचारों के सुचारु क्रमबंध के कारण मन का प्रसादन करती है। अतएव रीति में रचना अर्थात् व्यवस्था एवं अनुक्रम का सौंदर्य है। अलंकार का सौंदर्य अनेक अंशों में इससे भिन्न है। अलंकारो को अलंकारवादियों ने शब्दार्थ (काव्य) का शोभाकर धर्म कहा है। धर्म शब्द से सबसे पहले तो स्फुटता का द्योतन होता है, अर्थात् अलंकार रचना का व्यवस्थित सौंदर्य न होकर स्फुट सौंदर्यविधायक तत्व है। दूसरे, उसमें चमत्कार का भी आभास है। आधुनिक शब्दावली में रीति वस्तुगत शैली का पर्याय है और अलंकार उक्ति-चमत्कार का अथवा शब्दार्थ के प्रसाधन का। वामन उसको अतिरिक्त प्रसाधन ही मानते हैं। इन दोनों में परस्पर क्या संबंध है, अब प्रश्न यह है। इसका उत्तर यह है कि रीति का क्षेत्र अधिक व्यापक है—अलंकार रीति का अंग है—वामन ने और

पाश्चात्य आचार्यों ने भी उसे रीति या शैली का ही अंग माना है। इसके अतिरिक्त, यद्यपि रीति का विधान भी प्रायः वस्तुपरक ही है, फिर भी अर्थगुण कांति या अर्थगुण माधुर्य में व्यक्तितत्व का सद्भाव रहता है। अलंकार में भी रसवत् तथा ऊर्जस्वि आदि अलंकारों का अंतर्भाव व्यक्तित्व के समावेश का ही प्रयास है, परंतु वहाँ रसवत् आदि अलंकारों का कोई विशेष महत्व नहीं है। रीति संप्रदाय में अन्य गुणों के साथ अर्थगुण कांति भी वैदर्भी रीति अथवा सत्काव्य का अनिवार्य तत्व है—इस प्रकार रस का भी सत्काव्य के साथ अनिवार्य संबंध अप्रत्यक्ष रूप मे हो जाता है। अतएव अलंकार सिद्धांत की अपेक्षा रीति सिद्धात में व्यक्ति या आत्मतत्व अधिक है।

(आ) रीति और वक्रोक्ति—कुंतक के अनुसार वक्रोक्ति का अर्थ है—वैदग्ध्य-भंगी-भणिति। वैदग्ध्य का अर्थ है काव्य या कलानैपुण्य जो अर्जित विद्वत्ता या शास्त्रज्ञान से भिन्न प्रतिभाजन्य होता है। भंगीभणिति का अर्थ है उक्तिचारुत्व। अतएव वक्रोक्ति का अर्थ हुआ कवि-प्रतिभा-जन्य उक्तिचारुत्व। यह वक्रता या चारुत्व छः प्रकार का होता है—वर्णवक्रता, पद-पूर्वार्ध-वक्रता अर्थात् पर्याय शब्दों तथा विशेषण आदि का चारु प्रयोग, पद-परार्ध-वक्रता अर्थात् प्रत्ययवक्रता, वाक्य-वक्रता अर्थात् अर्थालंकारप्रयोग, प्रकरणवक्रता या कथा के किसी प्रकरण की चारु कल्पना, प्रबंधवक्रता या प्रबंध-विधान-कौशल। इस प्रकार वक्रोक्ति का क्षेत्र रीति की अपेक्षा अत्यंत व्यापक है। वर्ण से लेकर प्रबंधविधान तक का चारुत्व उसके अंतर्गत समाविष्ट है। रीति का क्षेत्र तो वास्तव मे वक्रता के पहले चार भेदों तक ही सीमित है। वर्णवक्रता रीति के शब्दगुणों की वर्णयोजना है, पदपूर्वार्ध तथा पद-परार्ध-वक्रता मे अर्थगुण ओज, उदारता, सौकुमार्य आदि का अंतर्भाव हो जाता है, वाक्यवक्रता में अर्थालंकार हैं ही। बस, रीति का अधिकारक्षेत्र यहीं समाप्त हो जाता है, वह वर्ण, पद तथा वाक्य से आगे नहीं जाती। प्रकरणकल्पना, प्रबंधकल्पना उसकी परिधि से बाहर हैं। अर्थात् वह काव्य की भाषाशैली तक ही सीमित है, काव्य की व्यापक वर्णनशैली तक उसकी पहुँच नहीं है। रीति मे वर्णों का, पदों का तथा भावों और विचारों का क्रमबंध मात्र है, जीवन की घटनाओं का, जीवन के स्थिर दृष्टिकोणों का वह क्रमबंध या नियोजन नहीं आता जो वक्रोक्ति मे आता है। और स्पष्ट शब्दों मे, रीति केवल भाषा-काव्य-शैली तक ही सीमित है, किंतु वक्रोक्ति समस्त काव्य-कौशल की पर्याय है। इस प्रकार, जैसा स्वयं कुंतक ने ही निर्देश किया है, रीति या मार्ग वक्रोक्ति का एक अंग मात्र है। वक्रोक्ति कविकर्म है, रीति कविमार्ग है।

दोनों संप्रदायों का दृष्टिकोण कुछ अंशों मे समान है। दोनों में कविकर्म की बहुत कुछ वस्तुपरक व्याख्या है। वर्णवक्रता से लेकर प्रबंधवक्रता तक वक्रोक्ति के सभी रूपों में काव्य को कवि का कौशल मात्र माना गया है—कविकर्म अंततः नियोजन की कुशलता मात्र ठहरता है। उसमे कवि की प्रतिभा को तो आधार माना

गया है, परंतु कवि की सवासनता अथवा हार्दिक विभूतियों की और उधर पाठक तथा श्रोता की सहृदयता की उपेक्षा है। इस प्रकार रस की उपेक्षा तो दोनों संप्रदायों में है, परंतु इसके आगे व्यक्तितत्व की उपेक्षा दोनों में समान नहीं मानी जा सकती क्योंकि वक्रोक्ति को कुंतक निसर्गतः कविप्रतिभाजन्य मानते हैं। उसका प्राणतत्व है विदग्धता जो विद्वत्ता से भिन्न है। कहने का तात्पर्य यह है कि रीति संप्रदाय तथा वक्रोक्ति संप्रदाय के दृष्टिकोणों में यहाँ तक तो मूलभूत समानता है कि दोनों ही रस की उपेक्षा कर कविकर्म का वस्तुपरक विश्लेषण करते हैं। परंतु आगे चलकर वक्रोक्तिवाद व्यक्तितत्व को 'कविप्रतिभा' के रूप में आग्रहपूर्वक स्वीकार कर लेता है। इसमे संदेह नहीं कि वक्रोक्तिवाद की 'कविप्रतिभा' आधुनिक शब्दावली में सहृदयता की अपेक्षा कल्पना की ही महत्वस्वीकृति है, परंतु फिर भी कुंतक का दृष्टिकोण व्यक्तितत्व की महत्ता को तो स्वीकार करता ही है। वक्रोक्ति को प्रतिभाजन्य मानना, विदग्धता को वक्रता का प्राणतत्व मानना, और मार्ग (रीति) में कविस्वभाव को मूर्धन्य स्थान देना, यह सब व्यक्तितत्व का ही आग्रह है। वास्तव में कुंतक के समय तक ध्वनि संप्रदाय की प्रतिष्ठा हो चुकी थी और रस का उत्कर्ष फिर स्थापित हो चुका था, इसलिये वामन की अपेक्षा उनके सिद्धात में व्यक्तितत्व का प्राधान्य होना स्वाभाविक ही था।

रीति और वक्रोक्ति का साम्य और वैषम्य संक्षेप में इस प्रकार है :

१—दोनो के मूल दृष्टिकोणों में पर्याप्त साम्य है—दोनो मे काव्य का वस्तुपरक विवेचन है। दोनो सिद्धात काव्य को रचनानैपुण्य मानते हैं, आत्मसृजन नहीं।

२—रीति की अपेक्षा वक्रोक्ति की परिधि व्यापक है : रीति केवल वर्ण, पद, तथा वाक्य की रचना तक ही सीमित है, वक्रोक्ति का क्षेत्र प्रकरण तथा प्रबंधरचना तक व्याप्त है।

३—रीति की अपेक्षा वक्रोक्ति मे व्यक्तितत्व का कहीं अधिक समावेश है : वक्रोक्ति में कविप्रतिभा और कविस्वभाव को आधार माना गया है। इसी अनुपात से वक्रोक्ति रीति की अपेक्षा रस सिद्धांत के भी निकट है।

(इ) रीति और ध्वनि—रीति और ध्वनि सिद्धांतों के दृष्टिकोण परस्पर-विपरीत हैं। रीति संप्रदाय देहवादी है और ध्वनि संप्रदाय आत्मवादी। ध्वनि सिद्धात की स्थापना रीति की स्थापना के लगभग अर्धशताब्दी उपरात हुई है, अतएव प्रत्यक्ष रूप में रीति सिद्धांत पर ध्वनि का प्रभाव या रीति में उसका अंतर्भाव आदि तो संभव नहीं हो सकता किंतु, जैसा आनंदवर्धन ने सिद्ध किया है, रीति सिद्धांत में ध्वनि के प्रच्छन्न संकेत निस्संदेह मिलते हैं। वामनकृत अर्थालंकार वक्रोक्ति के लक्षण—सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्तिः—में व्यंजना की स्वीकृति है। स्वयं रीतिगुण के

विवेचन में ही अनेक स्थलों पर ध्वनि के संकेत ढूँढ़ निकालना कठिन नहीं है। उदाहरण के लिये अनेक शब्दगुणों में वर्णध्वनि का संकेत है, अर्थगुण ओज के अंतर्गत अर्थप्रौढ़ि के कई रूपों में भी ध्वनि की प्रच्छन्न स्वीकृति है। 'समास' भेद में केवल 'निमिषति' कह देने से ही दिवांगना का व्यक्तित्व ध्वनित हो जाता है; इसी प्रकार 'साभिप्राय विशेषण' प्रयोग में पर्यायध्वनि (पिनाकी और कपाली के ध्वनिभेद) का ही प्रकारांतर से वर्णन है। अर्थगुण कांति में तो असंलक्ष्यक्रम ध्वनि की प्रत्यक्ष स्वीकृति है ही।

ध्वनिसंप्रदाय समन्वयवादी है। ध्वनिकार आरंभ में ही प्रतिज्ञा करके चले हैं कि ध्वनि में सभी सिद्धांतों का समाहार हो जायगा, अतएव रीति का भी ध्वनि में समाहार हुआ है। रीति के बाह्य तत्वों—वर्णयोजना और समास—का अंतर्भाव वर्णध्वनि और रचनाध्वनि में किया गया है। उधर दस गुणों का अंतर्भाव तीन गुणों के भीतर करते हुए उनका असंलक्ष्यक्रम ध्वनि रस से अचल संबंध स्थापित किया गया है। वामन ने रीति को गुणात्मक मानते हुए उसे प्रधानता दी थी; कम से कम उसे गुण के समतुल्य अवश्य माना था। ध्वनिवादियों ने उसे संघटना रूप मानते हुए गुण की आश्रित माना। गुण की स्थिति अचल है, संघटना की चल है। इस प्रकार ध्वनिसिद्धांत में रीति का स्थान गौण भी हो जाता है।

(ई) रीति और रस—रीतिसिद्धांत की स्थापना करते समय वामन के समक्ष रससिद्धांत निश्चय ही विद्यमान था। वास्तव में रस को दृश्यकाव्योचित मानने के कारण ही अलंकार और रीति सिद्धांतों की उद्भावना हुई। वामन ने काव्य में रस को विशेष महत्वपूर्ण स्थान नहीं दिया और उसे रीति के गुणों में से केवल एक गुण अर्थगुण कांति का आधारतत्व माना। इस प्रकार उनके मत से रस रीति का एक अंग मात्र है। रस की दीप्ति रीति की शोभा में योगदान करती है, यही रस की सार्थकता है। अर्थात् रस अंग है, रीति अंगी। परंतु इसके विपरीत रसवाद रस को आत्मा और रीति को केवल अंगसंस्थानवत् मानता है। वर्णगुंफ और समास से निर्मित रीति गुण पर आश्रित है और गुण रस का धर्म है, अतएव गुण के संबंध से रीति रसाश्रिता है। उसके स्वरूप का निर्णय रस के द्वारा ही होता है। आनंदवर्धन ने रसौचित्य को रीति का प्रधान नियामक माना है।

मनोविज्ञान की दृष्टि से इस प्रश्न पर विचार कीजिए। रस चित्त की आनंदमयी स्थिति है। गुण भी चित्त की स्थितियाँ ही हैं। माधुर्य द्रुति है, ओज दीप्ति और प्रसाद परिव्याप्ति—ये रसदशा के पूर्व की स्थितियाँ हैं जो चित्त को उस आनंदमयी परिणति के लिये तैयार करती हैं। वर्ण तथा शब्द मन की स्थितियों के प्रतीक हैं—वे स्वयं मन की स्थितियाँ तो नहीं हैं परंतु विशेष मनोदशाओं के संस्कार उनपर आरूढ़ हैं। अतएव यह स्वाभाविक ही है कि कुछ वर्ण अथवा शब्द चित्त की द्रुति के

अनुकूल पड़ें, कुछ दीप्ति के एवं कुछ परिव्याप्ति के। इस प्रकार ये वर्ण और शब्द द्रुतिरूप माधुर्य के, दीप्तिरूप ओज के, और परिव्याप्तिरूप प्रसाद के अनुकूल या प्रतिकूल पड़ते हैं। यही इनकी सार्थकता है। अलंकार की तरह रीति भी रस का उपकार करती हुई काव्य में अपनी सार्थकता सिद्ध करती है। इसीलिये उसे अंग-संस्थान के समान माना गया है। सुंदर शरीररचना जिस प्रकार आत्मा का उत्कर्ष-वर्धन करती है, उसी प्रकार रीति भी रस का उपकार करती है।

इस प्रकार रीति और रस संप्रदायों के दृष्टिकोण भी मूलतः परस्पर विपरीत हैं। रीति संप्रदाय देह को ही जीवनसर्वस्व मानता हुआ आत्मा को उसका एक पोषक तत्व मात्र मानता है और उधर रस संप्रदाय आत्मा को मूल सत्य मानता हुआ देह को उसका बाह्य माध्यम मात्र समझता है। दोनों की ओर से समझौते का प्रयत्न हुआ है, परंतु यह समझौता परस्पर संमानसूचक नहीं है। रीति रस को अपने उपकरण के रूप में ग्रहण करती है और रस रीति को अपने अंग-संस्थान के रूप में स्वीकार करता है। वाणी और अर्थ का वह काम्य समन्वय जिसका आवाहन कालिदास ने किया है, दोनों की साप्रदायिक भावना के कारण मान्य नहीं हो सका। रीति ने अपने स्वरूप को आवश्यकता से अधिक वस्तुगत बना लिया है और रस ने व्यंजना के द्वारा अपने स्वरूप को अत्यधिक व्यक्तिपरक। पाश्चात्य साहित्य में मनोविज्ञान के प्रभाववश आज अनुभूति और अभिव्यक्ति अथवा भाव और शैली का जो अनिवार्य सहभाव माना गया है वह संस्कृत काव्यशास्त्र में 'साहित्य' शब्द की व्युत्पत्ति में ही सीमित होकर रह गया, विधान रूप में मान्य नहीं हो सका।

(३) रीति सिद्धांत की परीक्षा—रीति सिद्धात भारतीय काव्यशास्त्र में अंततः मान्य नहीं हुआ। अलंकार संप्रदाय तो फिर भी किसी न किसी रूप में वर्तमान रहा, परंतु वामन के उपरात रीति सिद्धात प्रायः निःशेष हो गया। रीति को काव्य की आत्मा माननेवाला कोई विरला ही पैदा हुआ, समस्त संस्कृत काव्यशास्त्र में वामन के पश्चात् केवल दो नाम ही इस प्रसंग में लिए जा सकते हैं—एक वामन के टीकाकार तिप्पभूपाल का—असवो रीतयः—और दूसरा अमृतानंद योगिन् का—रीतिरात्मा (अलंकारसंग्रह)। इनमें से एक तो व्याख्याता मात्र हैं और दूसरे का कोई विशिष्ट स्थान नहीं।

यह स्वाभाविक भी था क्योंकि अपने उग्र रूप में रीतिवाद की नींव इतनी कच्ची है कि वह स्थायी नहीं हो सकता था। देह को महत्त्व देना आवश्यक है, परंतु उसे आत्मा या जीवन का मूल आधार मान लेना प्रवंचना है।

रीतिवाद में पदरचना (शैली) को ही काव्य का सर्वस्व माना गया है। रस को शैली का अंग माना गया है और वह भी महत्वपूर्ण अंग नहीं। एक तो

उसका समावेश बीस गुणों में से एक गुण कांति में ही है और दूसरे स्वयं कांति अपने आप में कोई विशिष्ट गुण नहीं है क्योंकि कांति और ओज गौडीया के गुण माने गए हैं और गौडीया को वामन ने निश्चय ही अप्रधान रीति माना है। इनमें से पहली अर्थात् वैदर्भी ही ग्राह्य है क्योंकि उसमें सभी गुण वर्तमान रहते हैं। शेष दो, अर्थात् गौडीया और पाचाली नहीं क्योकि उनमे थोडे से ही गुण होते हैं। कुछ विद्वानो का कहना है कि इन दो का भी अभ्यास करना चाहिए क्यो कि ये वैदर्भी तक पहुँचने के सोपान हैं। यह ठीक नहीं है क्योंकि अतत्व के अभ्यास से तत्व की प्राप्ति संभव नहीं है (काव्यालंकारसूत्र)। गौडीया के इस तिरस्कार से यह स्पष्ट है कि रीति सिद्धात में कांति और उसके आधारतत्व रस का कोई विशेष महत्व नहीं है। रस का यह तिरस्कार या अवमूल्यन ही अंत में रीतिवाद के पतन का कारण हुआ और यही संगत भी था। काव्य का मूल गुण है रमणीयता, उसकी चरम सिद्धि है सहृदय का मनःप्रसादन, और उद्दिष्ट परिणाम है चेतना का परिष्कार। ये सब भावो के ही व्यापार हैं—भावतत्व के कारण ही काव्य मे रमणीयता आती है, भावतत्व ही सहृदय के भावो को उद्बुद्ध कर उन्हें उत्कृष्ट आनंदमयी चेतना में परिणत करता है, और उसी के द्वारा भावो का परिष्कार संभव है। शैली में भी रमणीयता का समावेश भावतत्व के द्वारा ही होता है। भावों की उत्तेजना से ही वाणी मे उत्तेजना आती है—चित्त के चमत्कार से ही वाणी में चमत्कार का समावेश होता है। यह स्वतःसिद्ध मनोवैज्ञानिक तथ्य है। सामान्य एवं व्यापक रूप में भी जीवन का प्रेरक तत्व राग ही है। अतएव राग या रस का तिरस्कार दर्शन भी नहीं कर सका, काव्य का तो समस्त व्यापार ही उसपर आश्रित है। रीति सिद्धात ने रीति को आत्मा और रस को एक साधारण अंग मात्र मानकर प्रकृत क्रम का विपर्यय कर दिया और परिणामतः उसका पतन हुआ।

परंतु फिर भी रीतिवाद सर्वथा सारहीन अथवा निर्मूल्य सिद्धात नहीं है। वामन अत्यंत मेधावी आचार्य थे—उनके अपने युग की परिसीमाएँ थी, तथापि उन्होंने भारतीय काव्यशास्त्र के विकास में महत्वपूर्ण योग दिया है और उनके सिद्धात का अपना उज्वल पक्ष भी है।

सबसे पहले तो वह इतना एकांगी नहीं है जितना प्रतीत होता है। उसके अनुसार काव्य का आदर्श रूप वैदर्भी में प्राप्त होता है जहाँ दस शब्दगुणों और दस अर्थगुणों की पूर्ण संपदा मिलती है। दस शब्दगुणों के विश्लेषण से, आधुनिक आलोचनाशास्त्र की शब्दावली में, निम्नलिखित काव्यतत्व उपलब्ध होते हैं :

१—वर्णयोजना का चमत्कार—

(क) झंकार (सौकुमार्य तथा श्लेष गुणों में)
(ख) औज्वल्य (कांति)

२—शब्दगुंफ का चमत्कार (ओज, प्रसाद, समाधि, समता, अर्थव्यक्ति)
३—स्फुट शब्द का चमत्कार (माधुर्य, कांति)
४—लय का चमत्कार (उदारता)

उधर दस गुणों का विश्लेषण निम्नलिखित काव्यतत्वों की ओर निर्देश करता है :

१—अर्थप्रौढि—अर्थात् समास तथा व्यास शैलियों का सफल प्रयोग, साभिप्राय विशेषणप्रयोग, आदि (ओज)।
२—अर्थवैमल्य—अन्यून, अनतिरिक्त शब्दों का प्रयोग, आनुगुणत्व (प्रसाद)।
३—उक्तिवैचित्र्य (माधुर्य)।
४—प्रक्रम (समता)।
५—स्वाभाविकता तथा यथार्थता (अर्थव्यक्ति)।
६—अग्राम्यत्व—अभद्र, अमंगल तथा अश्लील शब्दो का त्याग (औदार्य और सौकुमार्य)।
७—अर्थगौरव (समाधिश्लेष)।
८—रस (कांति)।

इनमें से अर्थगौरव, रस, अग्राम्यत्व तथा स्वाभाविकता वर्ण्य विषय के गुण हैं और अर्थवैमल्य, उक्तिवैचित्र्य, प्रक्रम, अर्थप्रौढ़ि अर्थात् समास और व्यास शैली तथा साभिप्राय विशेषणप्रयोग वर्णनशैली के गुण हैं।

इस प्रकार वामन के अनुसार आदर्श काव्य के मूल तत्व निम्नांकित हैं :

शैलीगत—अर्थवैमल्य (आनुगुणत्व), उक्तिवैचित्र्य, प्रक्रम, अर्थप्रौढ़ि अर्थात् समासशक्ति, व्यासशक्ति तथा साभिप्राय विशेषणप्रयोग।

विषयगत—अर्थगौरव, रस, परिष्कृति (अग्राम्यत्व) तथा स्वाभाविकता।

आधुनिक आलोचना शास्त्र के अनुसार काव्य के चार तत्व हैं—रागतत्व, बुद्धितत्व, कल्पना और शैली। उपर्युक्त गुणो मे ये चारो तत्व यथावत् समाविष्ट हैं। रस, परिष्कृति (अग्राम्यत्व) तथा स्वाभाविकता रागतत्व हैं, अर्थगौरव बुद्धितत्व है, उक्तिवैचित्र्य तथा साभिप्राय विशेषण कल्पनातत्व हैं और अर्थवैमल्य, समासगुण तथा प्रक्रम शैली के तत्व हैं।

अतएव वामन का रीतिवाद वास्तव में सर्वथा एकांगी नहीं है, उसमें भी अपने ढंग से काव्य के सभी मूल तत्वों का समावेश है।

इसके अतिरिक्त रीति अथवा शैली की महत्वप्रतिष्ठा अपने आप में भी कोई नगण्य सिद्धांत नहीं है। वाणी के बिना अर्थ गूँगा है। शैली के अभाव में उस

कोकिल के समान असहाय है जिसे विधाता ने हृदय का मिठास देकर भी रसना नहीं दी। कल्पना उस पक्षी के समान असमर्थ है जिसे पर बाँधकर पिंजड़े में डाल दिया गया हो। वास्तव में काव्य को शास्त्र से पृथक् करनेवाला तत्व अनिवार्यतः शैली ही है। शास्त्र में विचार की समृद्धि तो रहती ही है, कल्पना का भी प्रचुर उपयोग हो सकता है। इसी प्रकार भाव का सौंदर्य भी लोकवार्ता में निस्संदेह रहता है, परंतु अभिव्यंजना-कला-शैली के अभाव में वे काव्यपद के अधिकारी नहीं हो सकते। इस दृष्टि से शैलीतत्व की अनिवार्यता असंदिग्ध है, और रीतिवाद ने उसपर बल देकर काव्यशास्त्र का निस्संदेह उपकार ही किया है।

(४) रीति के मूल तत्व—रीति का स्वरूपनिरूपण करने के लिये उसके मूल तत्वों का निर्धारण कर लेना आवश्यक है।

दंडी ने गुणों को ही रीति का मूल तत्व माना है। उनके गुण शब्दसौंदर्य और अर्थसौंदर्य दोनों के ही प्रतीक हैं। उनके श्लेष, समता, सौकुमार्य और ओज पदबंध अथवा शब्दगुंफ के आश्रित हैं तथा माधुर्य, उदारता, कांति, प्रसाद, अर्थव्यक्ति और समाधि अर्थसौंदर्य के। वामन ने भी रीति को पदरचना मानते हुए गुणों को ही उसका मूल तत्व माना है। उन्होंने शब्द और अर्थ के आधारभेद से गुणों के दो वर्ग कर दिए हैं—शब्दगुण और अर्थगुण। उनके प्रायः सभी शब्दगुण वर्ण-योजना, पदबंध या शब्दगुंफ के ही चमत्कार हैं और अर्थगुणों का आधार अर्थसौंदर्य है। उदारता, सौकुमार्य, समाधि और ओज के अनेक रूपों में लक्षणाव्यंजना का चमत्कार है, अर्थव्यक्ति में स्वाभाविकता अथवा यथार्थता का सौंदर्य है, कांति में रस का, माधुर्य में वक्रता अथवा विदग्धता का, श्लेष में गोपन आदि के द्वारा क्रियाओं का चातुर्य के साथ वर्णन रहता है। वास्तव में यह चमत्कार प्रायः अर्थश्लेष के अंतर्गत आ जाता है। प्रसाद में आवश्यक के ग्रहण और अनावश्यक के त्याग द्वारा अर्थवैमल्य या स्पष्टता की सिद्धि होती है। समता में बाह्य तथ्यों के क्रम का अभंग रहता है। परवर्ती आचार्यों ने प्रसाद, समता आदि को दोषाभाव मात्र माना है। उनका भी तर्क असंगत नहीं है, तथापि अर्थवैमल्य (ल्यूसिडिटी) आदि भी अपने आप में गुण हैं, चाहे आप उन्हें अभावात्मक गुण ही मान लीजिए। (संस्कृत काव्य-शास्त्र में भी रुद्रट आदि ने दोषाभाव को गुण माना है)। इस प्रकार वामन के अर्थगुणों के मूल में रस, ध्वनि, अर्थालंकार तथा शब्दशक्ति का भावात्मक सौंदर्य और दोषाभाव का अभावात्मक सौंदर्य विद्यमान रहता है—इनके अतिरिक्त परंपरामान्य तीनों गुणों—प्रसाद, ओज और माधुर्य—का अंतर्भाव तो वामनीय गुणों में है ही। निष्कर्ष यह निकला कि केवल शब्दगुंफ ही नहीं, परंपरामान्य तीन गुणों के अतिरिक्त रस, ध्वनि, अर्थालंकार, शब्दशक्ति और उधर दोषाभाव भी वामनीय रीति के मूल तत्व हैं। और स्पष्ट शब्दों में, परवर्ती काव्यशास्त्र की शब्दावली में, वामन के

मत में रीति के बहिरंग तत्व हैं शब्दगुंफ और अंतरंग तत्व हैं गुण, रस, ध्वनि (यद्यपि उस समय तक ध्वनि का आविर्भाव नहीं हुआ था), अर्थालंकार और दोषाभाव ।

वामन के उपरांत रुद्रट ने इस प्रश्न पर विचार किया और समास को रीति का मूल तत्व माना । उन्होंने लघु, मध्यम और दीर्घ समासों के अनुसार पाचाली, लाटीया और गौडीया रीतियों का स्वरूपनिरूपण किया । वैदर्भी असमासा होती है । आनंदवर्धन ने रुद्रट की लाटीया रीति को तो स्वीकार नहीं किया, परंतु समास को रीति के कलेवर का मुख्य तत्व अवश्य माना । उनकी परिभाषा है—'रीति माधुर्यादि गुणों के आश्रय में स्थित रहकर रस को अभिव्यक्त करती है ।' इसका अर्थ यह हुआ कि माधुर्यादि गुणों को वे रीति का आश्रय अथवा मूल आतरिक तत्व मानते हैं, और रीति को रस की अभिव्यक्ति का साधन मात्र समझते हैं । इस प्रकार आनंदवर्धन के अनुसार प्रसाद, माधुर्य और ओज गुण रीति के मूल आतरिक तत्व हैं और समास उनका बाह्य तत्व । अपने समग्र रूप मे रीति रसाभिव्यक्ति की माध्यम है ।

ध्वन्यालोक के पश्चात् तीन ग्रंथो में इस प्रश्न को उठाया गया—राजशेखर की काव्यमीमासा मे, भोज के सरस्वतीकंठाभरण में और अग्निपुराण में । राजशेखर ने इस प्रसंग मे कुछ नवीनता की उद्भावना की है । उन्होंने समास के साथ ही अनुप्रास को भी रीति का मूल तत्व माना है । वैदर्भी में समास का अभाव और स्थानानुप्रास होता है, पाचाली में समास और अनुप्रास का ईषद् सद्भाव रहता है और गौडीया में समास और अनुप्रास प्रचुर रूप मे वर्तमान रहते हैं । इनके अतिरिक्त उन्होंने तीनो रीतियो के तीन और नए आधारतत्वो की कल्पना की—वैदर्भी योगवृत्ति, पाचाली उपचार, और गौडीया योगवृत्तिपरंपरा ।

भोज ने भी प्रायः राजशेखर का ही अनुसरण किया । उन्होंने समास और गुण दोनों को ही रीति का मूल तत्व मानते हुए राजशेखर के योगवृत्ति आदि आधारभेदों को और भी विस्तार दिया । अग्निपुराण में गुण और रीति का कोई संबंध स्वीकार नहीं किया गया । उसमें रीति के मूल तत्व तीन माने गए हैं—समास, उपचार (लाक्षणिक प्रयोग अथवा अलंकार) और मार्दव की मात्रा । पाचाली रीति मृद्वी, उपचारयुता और ह्रस्वविग्रहा अर्थात् लघुसमासा होती है, गौडीया दीर्घविग्रहा और अनवस्थितसंदर्भा होती है अर्थात् उसका संदर्भ एवं अर्थ सर्वथा व्यक्त नहीं होता । वैदर्भी को मुक्तविग्रहा माना गया है, अर्थात् उसमें समास का अभाव रहता है; वह नातिकोमलसंदर्भा होती है अर्थात् उसकी पदरचना अतिकोमला नहीं होती और उसमें औपचारिक अथवा आलंकारिक (लाक्षणिक) प्रयोगों की बहुलता नहीं रहती ।

उत्तर-ध्वनि-काल के आचार्यों में मम्मट और विश्वनाथ ने विशेष रूप से

प्रस्तुत प्रसंग पर प्रकाश डाला है। मम्मट ने वृत्ति या रीति को वर्णव्यापार ही माना है, और फिर वर्णसंघटन या गुंफ का गुण के साथ नियत संबंध स्थापित किया है। उन्होंने माधुर्य और ओज गुणों के लिये वर्णगुंफ नियत कर दिए हैं, और फिर इन गुणों को ही वृत्तियों का प्राणतत्व माना है। इस प्रकार मम्मट के अनुसार गुण-व्यंजक वर्णगुंफ ही रीति के मूल तत्व हैं। विश्वनाथ ने प्रायः मम्मट का ही अनुसरण किया है। परंतु उनकी रीतियों का आधार मम्मट की अपेक्षा अधिक व्यापक है। उनका रीतिनिरूपण इस प्रकार है :

वैदर्भी { माधुर्यव्यंजकैर्वर्णैः रचना ललितात्मिका।
अल्पवृत्तिरवृत्तिर्वा वैदर्भी रीतिरिष्यते ॥ — सा० द०, ९।२

अर्थात् वैदर्भी के तीन आधारतत्व हैं—माधुर्यव्यंजक वर्ण, ललित पदरचना, समास का अभाव अथवा अल्पसमास।

गौडी { ओजः प्रकाशकैर्वर्णैर्बन्ध आडम्बरः पुनः।
समासबहुला गौडी ... ... । — सा० द०, ९।३

अर्थात् गौड़ी के तत्व हैं ओजप्रकाशक वर्ण, आडंबरपूर्ण बंध अथवा पद-रचना, और समासबाहुल्य।

विश्वनाथ ने वर्णसंयोजना और शब्दगुंफ दोनों को ही रीति का तत्व माना है और उधर समास को भी ग्रहण किया है। उन्होंने भी गुण और वर्णयोजना का नियत संबंध माना है और गुण को रीति का आधारतत्व स्वीकार किया है। और अंत में आनंदवर्धन के समान विश्वनाथ ने भी रीति को रसाभिव्यक्ति का साधन माना है।

उपर्युक्त ऐतिहासिक विवेचन का साराश यह है कि पूर्व-ध्वनि-काल के वामनादि आचार्य, जो अलंकार और अलंकार्य में भेद न कर समस्त शब्द तथा अर्थगत सौंदर्य को अलंकार संज्ञा देते थे, शब्द और अर्थ के प्रायः सभी प्रकार के चमत्कारों को रीति के तत्व मानते थे। वामन के विवेचन से स्पष्ट है कि वे पदबंध को रीति का बहिरंग आधारतत्व और माधुर्य, ओज तथा प्रसाद गुण के अतिरिक्त रस, ध्वनि (यद्यपि यह नाम उस समय तक आविष्कृत नहीं हुआ था), शब्दशक्ति, अलंकार तथा दोषाभाव को अंतरंग तत्व मानते थे। उत्तर-ध्वनि-आचार्यों ने अलंकार और अलंकार्य, वस्तु और शैली, अथवा प्राण और देह का अंतर स्पष्ट किया और रसध्वनि को काव्य का प्राणतत्व तथा रीति को बाह्यांग माना। जिस प्रकार अंग-संस्थान आत्मा का उपकार करता है उसी प्रकार रीति रस की उपकर्त्री है। उन्होंने रीति को काव्य का माध्यम मानते हुए वर्णसंयोजन तथा पदरचना अर्थात् शब्दगुंफ तथा समास को उसका बहिरंग तत्व और गुण को अंतरंग तत्व स्वीकार किया जिसके आश्रय से वह रस की अभिव्यक्ति करती है।

(५) रीति के प्रकार—भामह ने कदाचित् 'काव्य' नाम से और दंडी ने 'मार्ग' नाम से रीति के दो प्रकार माने हैं—वैदर्भ और गौडीय। भामह ने इन दोनो के पार्थक्य को तो स्वीकार किया है—वैदर्भ मार्ग में पेशलता, ऋजुता आदि गुण रहते हैं और गौडीय में अलंकार आदि—परंतु वे यह मानने को तैयार नहीं हैं कि वैदर्भ सत्काव्य का और गौडीय असत्काव्य का पर्याय है। काव्य के मूलभूत गुणों के संयोग से और अपने अपने गुणो के संयत प्रयोग से दोनो ही सत्काव्य हो सकते हैं। केवल नाम के आधार पर ही एक को उत्कृष्ट और अपर को निकृष्ट कह देना गतानुगतिकता है। दंडी ने इसके विपरीत यह माना है कि वैदर्भ दस गुणों से अलंकृत होता है और गौडीय में इनके विपर्यय मिलते हैं। किंतु दंडी ने गुणविपर्यय को दोष नहीं माना है। क्योंकि उस स्थिति में तो गौडीय मार्ग काव्य संज्ञा का अधिकारी ही नहीं रहेगा। उन्होने, जैसा आगे चलकर भोज ने अपने ढंग से स्पष्ट किया है, स्वाभावोक्ति और रसोक्ति को वैदर्भ के मूल गुण और वक्रोक्ति को, अर्थात् वैचित्र्य तथा अलंकार आदि को, गौडीय की मूल विशेषता स्वीकार किया है। हाँ, यह मानने मे कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए कि दंडी गौडी की अपेक्षा वैदर्भी को उत्कृष्ट काव्य मानते थे।

वामन ने रीति शब्द का सर्वप्रथम उपयोग करते हुए तीन रीतियाँ मानीं—(१) वैदर्भी, (२) गौडीया और (३) पाचाली। (१) समस्त गुणों से भूषित रीति वैदर्भी कहलाती है। दोष के लेशमात्र से भी अस्पृष्ट, समस्त-गुण-गुंफित, वीणा के स्वर सी मधुर रीति वैदर्भी कहलाती है। (२) ओज और काति से विभूषित गौड़ीया रीति होती है। इसमें माधुर्य और सौकुमार्य का अभाव रहता है, समासों का बाहुल्य होता है और पदावली कठोर होती है। (३) माधुर्य और सौकुमार्य से उपपन्न रीति का नाम है पाचाली। ओज और काति के अभाव में इसकी पदावली अकठोर होती है और यह रीति कुछ निष्प्राण (श्रीहीन) सी होती है। कवियों ने उस रीति को पाचाली संज्ञा दी है जो श्लथबंध, पुराणशैली की अनुवर्तिनी, मधुर तथा सुकुमार होती है (काव्यालंकार सूत्रवृत्ति)।

वामन के उपरात रुद्रट ने रीतियों की संख्या चार कर दी। उन्होने लाटीया नामक एक चौथी रीति की उद्भावना और की। रुद्रट ने रीतियो के दो वर्ग कर दिए, एक वर्ग मे वैदर्भी और पांचाली आती है तथा दूसरे मे गौड़ी और लाटीया। उन्होंने समास को रीतिभेद का आधार माना। वैदर्भी मे समास का अभाव रहता है। पाचाली में लघु समास अर्थात् दो तीन समास, लाटीया मे मध्यम समास अर्थात् पॉच सात और गौड़ीया में दीर्घ समास का प्रयोग होता है। रुद्रट ने रीति और रस का स्पष्ट संबंध स्वीकार किया है। वैदर्भी तथा पांचाली शृंगार, करुण, भयानक तथा अद्भुत रसों के और गौड़ी तथा लाटीया रौद्र के अनुकूल

रहती है[1]। शेष चार रसो के लिये रीति का नियम नहीं है। यह रीति-रस-संबंध भरत से अनुप्रेरित है। भरत ने रीतियो की समानधर्मी वृत्तियों का रस के साथ सहज संबंध माना है।

शिंगभूपाल ने केवल तीन ही रीतियो का अस्तित्व माना। कोमला, कठिना तथा मिश्र जो क्रमशः वैदर्भी, गौडी और पाचाली की पर्याय मात्र हैं। राजशेखर ने भी सामान्यतः वामन की इन्हीं तीन रीतियो को ग्रहण किया है। काव्यमीमांसा के काव्यपुरुषप्रसंग मे इन्हीं तीन का उल्लेख है। उधर कर्पूरमंजरी के मंगलश्लोक में भी नामभेद से तीन ही रीतियों का स्मरण किया गया है—वच्छोमी, मागधी तथा पाचाली। इनमे वच्छोमी वत्सगुल्मी का प्राकृत रूप है जो विदर्भ की राजधानी वत्सगुल्म के नाम पर आधृत होने के कारण वैदर्भी की ही पर्याय है। इसी प्रकार पूर्व से संबद्ध गौड़ी और मागधी भी कदाचित् एक ही हैं। यह तो हुई तीन रीतियो की बात। परंतु राजशेखर ने बलरामायण मे एक चौथी रीति मैथिली का भी उल्लेख किया है जिसके गुण इस प्रकार हैं—(१) अर्थातिशय (अर्थचमत्कार) होने पर भी जगन्मर्यादा का अनतिक्रमण अर्थात् कोरी अत्युक्तियो का परिहार जिसे दंडी ने कातिगुण माना है, (२) समास का ईषत् प्रयोग, तथा (३) योगपरंपरा।

मैथिली का राजशेखर के पूर्व किसी ने वर्णन नहीं किया। उनके उपरात भी केवल श्रीपाद नामक एक विद्वान् ने इसका उल्लेख किया और उन्होंने भी इसे मागधी का पर्याय माना है। विस्तारप्रिय भोज ने रीतिक्षेत्र में भी अपनी प्रवृत्ति का परिचय दिया। उन्होंने सब मिलाकर छः रीतियाँ मानी। वैदर्भी, पाचाली, लाटीया, गौड़ीया, अवंतिका और मागधी। इनमे से वैदर्भी तथा गौड़ीया भामह तथा दंडी की अथवा उनसे भी पूर्व की रीतियाँ हैं, पाचाली वामन की तथा लाटीया रुद्रट की उद्भावना है। मागधी का उल्लेख राजशेखर और श्रीपाद में मिलता है। अवंतिका अवंती के राजा भोज की नवीन कल्पना है जो कदाचित् स्वदेशप्रेम आदि व्यक्तिगत कारणों से प्रेरित है। इस नवीन उद्भावना का कोई संगत आधार नही है। भोजराज ने इसे वैदर्भी और पाचाली की अंतरालवर्तिनी माना है जिसमें तीन चार समास होते हैं। लाटीया के विफल होने पर खंडरीति मागधी होती है। यह रीतिविस्तार भोज पर ही प्रायः समाप्त हो जाता है। केवल सिंहदेवगणि नामक एक अप्रसिद्ध लेखक ने भोज की अवंतिका का त्याग करते हुए वच्छोमी को स्वतंत्र रीति माना है और अपनी छह रीतियो का रस के साथ, कुछ मनमाने ढंग से, समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न किया है, यथा—लाटी = हास्य, पाचाली = करुण

[1] वैदर्भी-पांचाल्यौ प्रेयसि करुणे भयानकाद्भुतयोः।
लाटीयागौडीये रौद्रे कुर्याद्यथौचित्यम्॥ —काव्यालंकार, १५।२०

और भयानक, मागधी = शांत, गौड़ी = वीर और रौद्र, वच्छोमी = वीभत्स और अद्‌भुत एवं वैदर्भी = शृंगार[1]।

रस-ध्वनि-वादियों ने विस्तार को महत्व न देकर सदा व्यवस्था को ही महत्व दिया है अतएव उन्होंने रीतिविस्तार का भी नियमन ही किया। आनंदवर्धन तथा मम्मट आदि ने प्रायः वामन की तीन रीतियों को ही स्वीकार्य माना है— उपनागरिका, परुषा और कोमला वैदर्भी, गौड़ी और पाचाली। कविस्वभाव को आधार मानते हुए प्रायः इसी प्रकार के तीन मार्ग कुंतक ने माने हैं—सुकुमार, विचित्र और मध्यम।

उपर्युक्त वर्णन से यह निष्कर्ष निकलता है कि संस्कृत काव्यशास्त्र में प्रायः वामन की तीन रीतियाँ ही मान्य हुईं। रस-ध्वनि-वादी तथा अन्य गंभीरचेता आचार्यों ने इन्हें ही मान्यता दी है और वास्तव मे यही उचित भी है। यदि रीति के आतरिक आधार गुण को प्रमाण माना जाय तब भी तीन गुणों के अनुसार उपर्युक्त तीन रीतियाँ ही मान्य हो सकती हैं। मनोविज्ञान के अनुसार भी कोमल और परुष, स्वभाव के दो स्पष्ट भेद हैं। किंतु इनके अतिरिक्त एक तीसरा भेद इतना ही स्पष्ट है—प्रसन्न, जिसमें इन दोनो का संतुलित मिश्रण रहता है। इसे ही चित्त की निर्मलता अथवा प्रसाद कहा गया है। अतएव इन तीन प्रकार के स्वभावो की माध्यम तीन रीतियों का अस्तित्व ही मान्य है। वैसे, मानवस्वभाव अनंतरूप है— उसका कोई पार नहीं पाया जा सकता। परंतु उसकी मूल प्रवृत्तियाँ प्रायः ये ही हैं। इसी प्रकार, जैसा दंडी ने कहा है और कुंतक ने पुष्ट किया है, वाणी की रीतियाँ भी अनेक हैं। परंतु उनके मूल भेद दो तीन से अधिक नहीं हो सकते।

(६) बाह्य आधार—समास, वर्णगुंफ आदि को प्रमाण मानकर भी स्थिति यही रहती है। समास की दृष्टि से रचना असमासा या लघुसमासा, मध्यमसमासा तथा दीर्घसमासा, तीन प्रकार की हो सकती है। अब इनमे समासो की गणना से और भी भेदप्रस्तार करना विशेष तर्कसंगत नहीं है। रुद्रट की लाटीया तथा भोज-राज की अवंतिका आदि का आधार इसीलिये पुष्ट नहीं है। इसी प्रकार वर्ण भी मूलतः तीन प्रकार के ही हो सकते हैं—कोमल, परुष और इनके अतिरिक्त शेष अन्य वर्ण जो न एकात कोमल होते हैं और न सर्वथा परुष। कहने का तात्पर्य यह है कि रुद्रट की लाटीया और भोज की अतिरिक्त रीतियाँ अनावश्यक हैं।

यहाँ एक प्रश्न उठ सकता है—मेरे मन में भी उठा है—वैदर्भी और गौड़ी ही अलं क्यो नहीं है, क्या पाचाली की कल्पना भी अनावश्यक नही है? इसका

[1] देखिए, डा० राघवन के 'रीति' शीर्षक निबंध की पादटिप्पणी।

उत्तर यह है कि वैदर्भी में पाचाली का यदि अंतर्भाव मान लिया जाता है तो फिर गौड़ी भी उसकी परिधि से बाहर नही पड़ती क्योंकि समग्र गुणसंपदा से अलंकृत वैदर्भी में जिस प्रकार माधुर्य और सौकुमार्य का समावेश रहता है, उसी प्रकार ओज और कांति का भी। अतएव वैदर्भी गौड़ी की विपरीत रीति नहीं। गौड़ी की विपरीत रीति पाचाली ही है। जिस प्रकार मानवस्वभाव के दो छोर हैं नारीत्व और पुरुषत्व, इसी प्रकार अभिव्यंजना के भी दो छोर हैं स्त्रैण पाचाली और परुषा गौड़ी। नारीत्व की अभिव्यंजक पाचाली और पुरुषत्व की अभिव्यंजक गौड़ी। इनके अतिरिक्त इन दोनो के समन्वय से समृद्ध व्यक्तित्व की माध्यम वैदर्भी। बस, इस प्रकार वामन ने पाचाली की उद्भावना द्वारा वास्तव में एक अभाव अथवा असंगति का ही निराकरण किया है, अनावश्यक नवीनता का प्रदर्शन नहीं।

मम्मट के आधार पर भी यदि इस प्रश्न पर विचार किया जाय तो भी रीतियों या वृत्तियो की संख्या तीन ही ठीक बैठती है—माधुर्यगुणविशिष्ट उपनागरिका और ओजमयी परुषा क्रमशः द्रवणशील, मधुरस्वभाव और दीप्तिमय ओजस्वी स्वभाव की प्रतीक हैं। मधुर और ओजस्वी के अतिरिक्त एक तीसरे प्रकार का भी स्वभाव होता है जिसमे न माधुर्य का अतिरेक होता है और न ओज का, वरन् इन दोनो का संतुलन रहता है। इसको सामान्य (नार्मल) या स्वस्थप्रसन्न (विशद) स्वभाव कह सकते हैं। मानवस्वभाव का यह भेद भी उतना ही स्पष्ट है जितने कि मधुर और ओजस्वी। अतएव इसकी अभिव्यंजक कोमल रीति या वृत्ति का भी अस्तित्व मानना उचित है।

५. वक्रोक्ति संप्रदाय

हिंदी के रीतिकालीन आचार्यों ने यद्यपि वक्रोक्ति संप्रदाय के संबंध में कुछ नहीं लिखा पर, जैसा हम आगे यथास्थान निर्दिष्ट करेंगे, रीतिकालीन कवियो की रचनाओ मे कुंतकसंमत वक्रता के अनेक निदर्शन उपलब्ध हो जाते हैं, तथा घनानंद के कवित्तो में वक्रोक्ति के सिद्धात पक्ष पर भी अनायास और अनजाने ही प्रकाश पड़ गया है। अतः रीतिकालीन रीतिग्रंथो के परिचय से पूर्व इस संप्रदाय की परिचिति कराना भी आवश्यक है। वक्रोक्ति संप्रदाय के विषय मे हिंदी के रीतिआचार्यों के मौन का प्रधान कारण यही है कि संप्रदाय के प्रवर्तक कुंतक के उपरात इस संप्रदाय का प्रचार नहीं हुआ क्योकि ध्वनि जैसे भावपक्षप्रधान काव्याग की तुलना में वक्रोक्ति जैसा कलापक्षप्रधान काव्याग संस्कृत के भी आचार्यों को स्वीकार्य नही हुआ। परिणामतः मम्मट, विश्वनाथ और जगन्नाथ जैसे परवर्ती आचार्यों के ग्रथो की तुलना में कुंतकप्रणीत 'वक्रोक्तिजीवितं' ग्रंथ धीरे धीरे विस्मृत होते होते लुप्तप्राय हो गया। इतना सब होते हुए भी 'वक्रोक्ति संप्रदाय' अपने दृष्टि-

कोण में नितांत मौलिक तथा अत्यंत सबल और मार्मिक तत्वों से परिपूर्ण है। इस दृष्टि से भी काव्यशास्त्रीय प्रस्तावना में इस संप्रदाय की परिचिति आवश्यक है।

वक्रोक्ति संप्रदाय का प्रवर्तन आचार्य कुंतक द्वारा दसवीं ग्यारहवीं शताब्दी मे हुआ, पर इस काव्यांग के बीज उनसे पूर्ववर्ती अनेक काव्यों तथा काव्यशास्त्रीय ग्रंथों में यत्रतत्र बिखरे हुए मिल जाते हैं, जिनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि अन्य सिद्धांतों की भांति वक्रोक्ति सिद्धात का आविर्भाव भी आकस्मिक घटना न होकर एक विचारपरंपरा का ही परिणाम था। इस पूर्वपरंपरा को गति देनेवाले कवियों में बाणभट्ट का नाम उल्लेखनीय है एवं आचार्यों मे भामह और दंडी के अतिरिक्त वामन तथा आनंदवर्धन का। इन लेखको के वक्रोक्ति संबंधी उल्लेखों के दिग्दर्शन से पूर्व यह बता देना आवश्यक है कि 'वक्रोक्ति' नामक काव्यांग एक अलंकार के रूप में अद्यावधि प्रचलित है, पर यह इसका संकुचित अर्थ है। इस अर्थ में इसका प्रयोग रुद्रट (९वीं शती) के समय से उपलब्ध होना प्रारंभ हो जाता है। कुंतक ने इस काव्यांग का व्यापक अर्थ मे प्रयोग किया, जिसके बीज उपर्युक्त लेखकों की रचनाओं मे संनिहित हैं।

बाण भट्ट ने कादंबरी मे एक स्थान पर शूद्रक का विशेषण दिया है :

वक्रोक्तिनिपुणेन आख्यायिकाख्यानपरिचयचतुरेण ।

यहाँ वक्रोक्ति शब्द से बाणभट्ट का अभिप्राय इसके सीमित अर्थ 'शब्दालंकार रूप' से न होकर व्यापक अर्थ से है, और शायद इसी अर्थ को लक्ष्य में रखकर उन्होंने अपने दूसरे ग्रंथ 'हर्षचरित' में काव्य की इस प्रौढ़ शैली के विभिन्न अवयवो की गणना की है :

नवोऽर्थो जातिरग्राम्या, श्लेषोऽक्लिष्टः स्फुटो रसः ।
विकटाक्षरबन्धश्च कृत्स्नमेकत्र दुर्लभम् ॥

बाणभट्ट का उपर्युक्त 'वक्रोक्ति' शब्द अपने व्यापक अर्थ का ही द्योतक होगा, इसकी पुष्टि उनके दोनो ग्रंथो की शैली से हो जाती है। यही बात उनके पाँच छः सौ वर्ष उपरात कविराज ने उनकी स्तुति मे भी कही थी :

सुबन्धुर्बाणभट्टश्च कविराज इति त्रयः ।
वक्रोक्तिमार्गनिपुणाश्चतुर्थो विद्यते न वा ॥—राघवपाण्डवीयम् ।

भामह ने अपने काव्यालंकार में 'वक्रोक्ति' शब्द का प्रयोग जहाँ भी किया है वहाँ उन्हें इसका व्यापक अर्थ ही अभीष्ट है। उदाहरणार्थ :

१—वाणी का अलंकार अर्थात् काव्यगत चमत्कार वही अभीष्ट है, जिसमें वक्र अभिधेय (अर्थ) का और वक्र शब्द का कथन हो[१] ।

२—वाणी का वक्र अर्थ और वक्र शब्दकथन, ये दोनों 'अलंकार' के लिये, अर्थात् काव्यालंकार के उत्पादन में, समर्थ हैं[२] ।

३—वक्रोक्ति और अतिशयोक्ति दोनों एक ही हैं। अतिशयोक्ति कहते हैं लोक के सामान्य कथन से अतिक्रांत वचन को अथवा जिस (उक्ति) में साधारण गुणों के स्थान पर अतिशय गुणों का योग हो[३] ।

४—हर प्रकार का काव्यचमत्कार वक्रोक्ति के ही कारण होता है। इसी के द्वारा काव्यार्थ का विभावन होता है। कवि को इसी में प्रयत्न करना चाहिए। वस्तुतः इसके बिना कोई अलंकार (काव्यचमत्कार) है ही नहीं[४] ।

५—वक्रोक्तिविहीन तथाकथित अलंकारों को अलंकार नहीं मानना चाहिए। यही कारण है कि हेतु, सूक्ष्म और श्लेष अलंकार नहीं हैं, क्योंकि ये वक्रोक्ति का कथन नहीं करते, समुदाय मात्र अर्थात् वार्तासमूह का अभिधान करते हैं। उदाहरणार्थ—'सूर्य अस्त हो गया, चंद्रमा चमक रहा है, पक्षी अपने नीड़ों को जा रहे हैं।' क्या यह कोई काव्य है, यह तो वार्ता मात्र है[५] ।

६—न केवल मुक्तक काव्यों में अपितु प्रबंध काव्यों में भी वक्रोक्ति का ही चमत्कार है[६] ।

[१] वक्राभिधेय शब्दोक्तिरिष्टा वाचामलंकृतिः ॥ —का० अ० १।६

[२] वाचा वक्रार्थ शब्दोक्तिरलकारायकल्पते। —का० अ० ५।६

[३] (क) निमित्त तो वचो यत्तु लोकातिक्रान्त गोचरम्।
मन्यतेऽतिशयोक्ति तामलंकारतया यथा ॥
(ख) इत्येवमादिरुदिता गुणातिशय योगतः।
सर्वैवातिशयोक्तिस्तु तर्कयेत्‌ ता यथागमम् ॥
(ग) सेषा सर्वैव वक्रोक्ति- ।

[४] सैषा सर्वैव वक्रोक्तिरनयाऽर्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलंकारोऽनया विना।

[५] हेतुः सूक्ष्मोऽथ लेशश्च नालकार तया मत.।
समुदायाभिधानस्य वक्रोक्त्यनभिधानतः।
गतोऽस्तमर्कः भातीन्दुर्यान्ति वासाय पक्षिणः
इत्येवमादि किं काव्यम् वार्त्तामेनां प्रचक्षते ॥

[६] युक्तं वक्रस्वभावोक्त्या सर्वमेवैतदिष्यते।

उपर्युक्त उद्धरणों से हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि भामह को वक्रोक्ति का व्यापक अर्थ अभीष्ट है। वे इसे अतिशयोक्ति का पर्याय मानते हैं। हर प्रकार की काव्य-चमत्कार-प्राप्ति के लिये इसका समावेश अनिवार्य है। इसके बिना रचना यथार्थ काव्य न होकर कथनसमुदाय मात्र अथवा वार्ता मात्र है। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि भामह ने वक्रोक्ति का किसी अलंकारविशेष के रूप में निरूपण नही किया।

भामह के उपरांत दंडी ने भी 'वक्रोक्ति' को अलंकारविशेष न मानकर इसका व्यापक अर्थ में प्रयोग किया है। इस संबंध में ये भामह से भी एक पग और आगे बढ गए। वक्रोक्ति और इससे संबद्ध उनकी शास्त्रीय चर्चा का सार इस प्रकार है : समस्त वाङ्मय के दो भाग हैं—स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति। वक्रोक्ति से इनका अभिप्राय है काव्य के चमत्कारोत्पादक तत्व अर्थात् स्वभावोक्ति (जाति) को छोड़कर उपमा आदि सभी अलंकार। स्वभावोक्ति भी एक प्रकार का अलंकार है जिसके द्वारा पदार्थों का साक्षात् स्वरूपवर्णन किया जाता है पर यह वक्रोक्तिप्रणीत अलंकारो की अपेक्षा कम चमत्कारोत्पादक है। वस्तुतः इसका प्रयोग शास्त्रों—पदार्थ-स्वरूप-निरूपण-प्रधान शास्त्रों—के लिये अत्यंत उपयोगी है; उनमे तो इसका साम्राज्य ही है। काव्य मे भी इसका प्रयोग कर लिया जाता है। वक्रोक्तियो अर्थात् उपमादि अलंकारो मे (न कि स्वभावोक्ति अलंकार मे) श्लेष का प्रयोग शोभावर्धक होता है[1]।

इस संबंध में अतिशयोक्ति के महत्व की चर्चा करना भी अभीष्ट है। दंडी ने इसे सब अलंकारों का परायण अर्थात् परम आश्रय माना है[2]। दूसरे शब्दो में, सब वक्रोक्तियो (अलंकारो) में अतिशयता अर्थात् लोकसीमातिक्राति का तत्व विद्यमान रहता है, पर अपने अपने वैचित्र्य के कारण अन्य अलंकार अपने अपने अभिधान विशेष से अभिहित किए जाते हैं। जहाँ अन्य कोई वैचित्र्य नही होता वहाँ अतिशयोक्ति अलंकार होता है[3]। निष्कर्ष यह कि दंडी के अनुसार पदार्थों का साक्षात् वर्णन करना स्वभावोक्ति कहाता है। यह वर्णनप्रकार शास्त्रीय निरूपण का माध्यम

[1] (क) भिन्नं द्विधा स्वभावोक्तिर्वक्रोक्तिश्चेति वाङ्मयम्।
(ख) नानावस्थं पदार्थानां रूपं साक्षाद् विवृण्वती।
स्वभावोक्तिश्च जातिश्चेत्याद्या सालंकृतिर्यथा।
(ग) शास्त्रेष्वस्यैव साम्राज्यं काव्येष्वप्येतदीप्सितम्।
(घ) श्लेषः सर्वासु पुष्णाति प्रायो वक्रोक्तिषुश्रियम्।
[2] अलंकारान्तराणामप्येकमाहुः परायणम्।
वागीशमहितामुक्तिमिमामतिशयाह्वयाम्।
[3] काव्यादर्श, २।२२०, प्रभा टीका, पृ० २२५

है। काव्य में भी इसका प्रयोग कर लिया जाता है। पर काव्य में चमत्कारोत्पादक तत्व स्वभावोक्ति से भिन्न अन्य अलंकार हैं जो वक्रोक्ति कहाते हैं, क्योंकि इनके द्वारा पदार्थवर्णन साक्षात् न करके वक्रता से किया जाता है। इन वक्रोक्तियों में एक समानता यह है कि इनमें अतिशयता का तत्व किसी न किसी रूप मे अवश्य विद्यमान रहता है। अतिशयोक्ति वक्रोक्ति का एक प्रभाग है अवश्य, पर यह इसके अन्य प्रभागों की अपेक्षा सर्वोपरि है, क्योंकि इसका तत्व उन सबमें विद्यमान रहता है। इसके विपरीत अन्य प्रभागों का तत्व अतिशयोक्ति मे विद्यमान नहीं रहता। इधर सभी अलंकार—अतिशयोक्ति भी तथा अन्य भी—वक्रोक्ति कहाते हैं क्योंकि इनके द्वारा पदार्थवर्णन असाक्षात् अर्थात् वक्रता से किया जाता है।

दंडी के उपरात वामन ने सर्वप्रथम वक्रोक्ति का एक अर्थालंकार के रूप मे निरूपण किया—सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्तिः। अर्थात् सादृश्यनिबंधना लक्षणा वक्रोक्ति कहाती है। पर आगे चलकर इस स्वरूप का किसी ने उल्लेख नहीं किया। निस्संदेह लक्षणा का स्वरूप वक्रोक्ति के साथ किसी न किसी रूप में संबद्ध अवश्य है, पर केवल सादृश्यनिबद्धा लक्षणा को ही इससे संबद्ध करने में वामन का तात्पर्य क्या था, यह कहना कठिन है। इनके उपरात रुद्रट ने वक्रोक्ति को शब्दालंकार के रूप में निरूपित किया और इसके प्रचलित दो रूपों का उल्लेख किया—काकु वक्रोक्ति और सभंग वक्रोक्ति।

रुद्रट के उपरात आनंदवर्धन ने अपने ग्रंथ ध्वन्यालोक मे वक्रोक्ति का उल्लेख दो स्थलों पर किया है। एक स्थल पर इन्होंने इसे अलंकार रूप मे स्वीकृत किया है[1]। दूसरे स्थल पर अतिशयोक्ति की सर्वालंकाररूपता के संबंध में इन्होंने भामह का पूर्वोक्त कथन उद्धृत किया है: 'सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिः'। इन प्रसंगों से यह निष्कर्ष निकालना कदाचित् अनुचित न होगा कि आनंदवर्धन को अतिशयोक्ति और वक्रोक्ति को एक दूसरे का पर्याय मानना अभीष्ट होगा, तथा इन्हें इनका व्यापक अर्थ भी स्वीकृत होगा।

यहाँ यह निर्देश कर देना आवश्यक है कि वक्रोक्ति संप्रदाय के प्रवर्तक कुंतक ने ध्वनि संप्रदाय को अपने संप्रदाय मे अंतर्भूत करने के लिये ही इतना महान् एवं मौलिक प्रयास किया था और इसी कारण उन्होने ध्वनि के विभिन्न अवयवों के अनुरूप वक्रोक्ति के विभिन्न अवयवों—सुप्, तिङ्, वचन, संबंध, कृदंत, तद्धित, समास आदि—का भी निर्माण किया तथा इनके उदाहरणों के लिये ध्वन्यालोक से

[1] न चाक्लिष्टोऽलंकारो यत्र पुन. शब्दान्तरेणाभिहितस्वरूपस्तत्र न शब्दशक्त्युद्भवानुरणनरूपव्यङ्ग्यध्वनिव्यवहार। तत्र वक्रोक्त्यादिवाच्यालंकारव्यवहार एव।

भी सहायता ली। इस दृष्टि से यदि दोनों ग्रंथों में परस्पर साम्य परिलक्षित होता है तो इसका दायित्व कुंतक पर ही है, आनंदवर्धन पर किसी रूप में नहीं है।

आनंदवर्धन के पश्चात् भोज ने वक्रोक्ति का उल्लेख अपने दोनो ग्रंथों—सरस्वतीकंठाभरण और शृंगारप्रकाश—में विभिन्न स्थलों पर किया है। अन्य प्रसंगों के समान इस प्रसंग में भी उनकी सारग्राहिणी प्रवृत्ति लक्षित होती है। उनके उल्लेखों का निष्कर्ष इस प्रकार है :

(क) शास्त्र और लोक में तो अवक्र वचन का प्रयोग होता है और काव्य में वक्र वचन का—

> यदवक्रं वचः शास्त्रे लोके च वच एव तत्।
> वक्रं यदर्थवादौ तस्य काव्यमिति स्मृतिः॥ —शृंगारप्रकाश।

भोज के इस कथन में दंडी का प्रभाव स्पष्ट झलकता है। वे जिसे स्वभावोक्ति कहते हैं, उसे इन्होंने 'अवक्र वचन' अथवा 'वचन' कहा है, वे जिसे वक्रोक्ति कहते हैं, उसे इन्होंने 'वक्र वचन' अथवा 'काव्य' कहा है।

(ख) ··· सब अलंकार जातियाँ 'वक्रोक्ति' नाम से कथनीय हैं। भामह के कथनानुसार वक्रता ही काव्य की परम शोभा है—

> सर्वालंकारजातयो वक्रोक्त्यभिधानवाच्या भवन्ति।
> तदुक्तम्-वक्रत्वमेव काव्यानां पराभूषेति भामहः॥

(ग) भोज ने अपने समय तक की एतत्संबंधी मान्यताओं का वर्गीकरण करते हुए कहा कि समस्त वाङ्मय तीन वर्गों में विभक्त किया जा सकता है—

> वक्रोक्तिश्च रसोक्तिश्च स्वभावोक्तिश्चेति वाङ्मयम्।

इनमें से रसोक्ति वर्ग को छोड़कर शेष दोनों दंडिप्रस्तुत ही हैं। रसोक्ति से उनका तात्पर्य है—

> विभावानुभावव्यभिचारि संयोगात्तुरसनिष्पत्तौ रसोक्तिरिति।

भोज के समय तक अलंकारवाद अपनी महत्ता खो चुका था और उसका स्थान रसवाद ले चुका था, अतः इसे भी विशिष्ट स्थान देने के लिये भोज ने इन वर्गों में संमिलित कर दिया। 'वक्रोक्ति' से उनका तात्पर्य है उपमादि अलंकार—

> 'तत्रोपमाद्यलंकारप्राधान्ये वक्रोक्तिः।'

यह धारणा दंडिसंमत ही है। गुणप्रधान रचना को उन्होंने स्वभावोक्ति वर्ग में रखा है—

> सोऽपि गुणप्राधान्ये स्वाभावोक्तिः।

'गुण' से उनका अभिप्राय यदि पदार्थों के साक्षात् गुणनिर्देश से है तो भी यह परिभाषा दंडितसंमत ही है, और यदि 'गुण' से वे वामनसंमत दस गुणों अथवा आनंदवर्धनसंमत तीन गुणों का तात्पर्य लेते हैं, तो निस्संदेह उनकी यह परिभाषा चिंत्य है।

कुंतक भोज के ही समकालीन माने जाते हैं। कुंतक के उपरांत मम्मट तथा उनके परवर्ती सभी आचार्यों ने वक्रोक्ति को एक विशिष्ट अलंकार के रूप में ही ग्रहण किया, पर कुछ अंतर के साथ। मम्मट, विश्वनाथ आदि ने इसे शब्दालंकार माना है और रुय्यक, विद्यानाथ तथा अप्पय्य दीक्षित ने अर्थालंकार। दंडी का काव्यादर्श पाठ्यग्रंथ होने के कारण अब भी उनकी यह धारणा विस्मृत नहीं हुई थी कि 'वक्रोक्ति' शब्द सामान्य रूप से 'अलकार' शब्द का वाचक है, पर अब यह धारणा बदल गई थी और इसका ग्रहण अलंकारविशेष के रूप मे होने लग गया था। रुय्यक के ये शब्द देखिए :

वक्रोक्तिशब्दश्चालंकार सामान्यवचनोऽपि इह अलंकारविशेषे संज्ञितः।
—अलंकारसर्वस्व

(१) **कुंतकप्रस्तुत वक्रोक्ति संप्रदाय**—कुंतक के शब्दों मे वक्रोक्ति का स्वरूप इस प्रकार है :

वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभंगीभणितिरुच्यते।
वक्रोक्ति, प्रसिद्धाभिधानव्यतिरेकिणी विचित्रैवाभिधा।
कीदृशी वैदग्ध्यभंगीभणितिः। वैदग्ध्यं विदग्धभावः
कविकर्मकौशलम्, तस्य भंगी विच्छित्तिः, तया भणितिः।
विचित्रैवाभिधा वक्रोक्तिरित्युच्यते।'

अर्थात् कविकर्म-कौशल-जन्य-शोभा से युक्त अथवा उसपर आश्रित वर्णन-शैली को वक्रोक्ति कहते हैं। इसे एक प्रकार की विचित्र अभिधा भी कह सकते हैं, क्योंकि यह प्रसिद्ध (मुख्य) अर्थ की अपेक्षा व्यतिरिक्त (अतिशय अथवा विशिष्ट) अर्थ से समन्वित होती है। कुंतक ने वक्रोक्ति को एक प्रकार का अलंकार भी माना है, जिसके अलंकार्य हैं शब्द और अर्थ :

उभावेतावलंकार्यौ तयोः पुनरलंकृतिः।
वक्रोक्तिरेक ... ॥

निष्कर्ष यह कि कुंतक की वक्रोक्ति कवि-कौशल-जन्य चारुता पर आधृत है। इसे इन्होंने एक ओर 'विचित्रा अभिधा' कहकर ध्वनि संप्रदाय से संबद्ध करने का प्रयास किया है और दूसरी ओर 'अलंकार' मानकर अलंकार संप्रदाय से। इन

दोनों प्रचलित संप्रदायों के समान इसे भी व्यापक रूप देने अथवा एक संप्रदाय के रूप में प्रचलित करने के उद्देश्य से इन्होंने इसके अनेक भेदोपभेदों का निर्माण किया और इस प्रकार समस्त प्रकार के काव्यसौंदर्य का—विशेषतः सभी ध्वनिभेदों के काव्यसौंदर्य का—इसी में अंतर्भाव करने का अद्‌भुत एवं मौलिक प्रयास किया।

वक्रोक्ति के छः प्रमुख भेद हैं—वर्णविन्यासवक्रता, पदपूर्वार्धवक्रता, पद-परार्धवक्रता, वाक्यवक्रता, प्रकरणवक्रता और प्रबंधवक्रता। इन प्रमुख भेदों का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है :

१—वर्णविन्यासवक्रता—इसके तीन उपभेद हैं—एकवर्णावृत्ति, द्विवर्णावृत्ति और अनेकवर्णावृत्ति। इसे पूर्वाचार्यों ने 'अनुप्रास' नाम से अभिहित किया है। स्वयं कुंतक ने इसे स्वीकार किया है : एतदेव वर्णविन्यासवक्रत्वं चिरंतनेष्वनुप्रास इति प्रसिद्धम्। इसी भेद के अंतर्गत उपनागरिका, परुषा और कोमला नामक वृत्तियो के अतिरिक्त यमक की चर्चा भी हुई है।

२—पदपूर्वार्धवक्रता—इसके ८ उपभेद हैं—रूढिवैचित्र्यवक्रता, पर्याय-वक्रता, उपचारवक्रता, विशेषणवक्रता, संवृत्तिवक्रता, वृत्तिवक्रता, लिंगवैचित्र्यवक्रता और क्रियावैचित्र्यवक्रता। इनमे से प्रथम उपभेद आनंदवर्धन की अर्थातरसंक्रमित वाच्यध्वनि है, दूसरा उपभेद परिकर अलंकार है। उपचारवक्रता लक्षणा शब्दशक्ति का एक रूप है। संवृत्ति का अर्थ है गोपन। वैचित्र्यकथन की इच्छा से वस्तुगोपन का नाम संवृत्तिवक्रता है। वृत्ति से कुंतक का तात्पर्य है—समास, तद्धित, सुब् धातु आदि। इनसे संबद्ध वृत्तिवक्रता कहाती है। अन्य उपभेदो का स्वरूप इन्ही के नामो से संबंधित है।

३—पदपरार्धवक्रता—इससे कुंतक का तात्पर्य प्रत्ययवक्रता से है। इसके छः मुख्य भेद हैं—काल-वैचित्र्य-वक्रता, कारकवक्रता, वचनवक्रता, पुरुषवक्रता, उपग्रह (धातु) वक्रता और प्रत्ययवक्रता।

४—वाक्यवक्रता अथवा वस्तुवक्रता—किसी वस्तु का वैचित्र्यपूर्ण वर्णन वाक्यवक्रता (वाच्यवक्रता) अथवा वस्तुवक्रता कहाता है। इसके दो भेद हैं—सहजा और आहार्या। सहजा से कुंतक का तात्पर्य है स्वभावोक्ति, जिसे उन्होने अलंकार न मानकर अलंकार्य माना है। इसके द्वारा वस्तुचित्रण यथावत् रूप मे किया जाता है। आहार्या से उनका तात्पर्य उपमा आदि अर्थालंकारो से है।

५—प्रकरणवक्रता—प्रकरण से कुंतक का तात्पर्य है प्रबंध का एक देश, अर्थात् प्रबंधगत कथा का एक प्रसंग। इस वक्रता के कतिपय उपभेद हैं जिनका हिंदी रूपातर इस प्रकार है—भावपूर्ण स्थिति की उद्‌भावना, उत्पाद्य लावण्य, प्रधान कार्य से संबद्ध प्रकरणों का उपकार्य-उपकारक-भाव, विशिष्ट प्रकरण की अतिरंजना, जलक्रीड़ा, उत्सव आदि रोचक प्रसंगों का विशेष विस्तार से वर्णन, प्रधान उद्देश्य

की सिद्धि के लिये सुंदर अप्रधान प्रसंग की उद्भावना, गर्भांक, प्रकरणों का पूर्वापर अन्वितिक्रम।

६—प्रबंधवक्रता—इस भेद की परिधि में समग्र प्रबंधकाव्य—महाकाव्य, नाटक आदि—का वास्तुकौशल अंतर्निहित है। इसके छः भेद हैं जिनका हिंदी रूपांतर इस प्रकार है—मूलरस परिवर्तन, नायक के चरित्र का उत्कर्ष करनेवाली चरम घटना पर कथा का उपसंहार, कथा के मध्य में ही किसी अन्य कार्य द्वारा प्रधान कार्य की सिद्धि, नायक द्वारा अनेक फलों की प्राप्ति, प्रधान कथा का द्योतक नाम, एक ही कथा पर आश्रित प्रबंधों का वैचित्र्य।

उपर्युक्त भेदोपभेदों पर एक दृष्टिपात करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रबंधवक्रता और प्रकरणवक्रता के भेदोपभेदों के अंतर्गत यद्यपि कतिपय नवीन काव्यतत्वों का समावेश किया गया है, फिर भी अपने मूलरूप में ये दोनों काव्यांग, प्रबंध और प्रकरण, कोई नूतन काव्यांग नहीं हैं। भरत, भामह, दंडी, रुद्रट, आनंदवर्धन आदि सभी ने इनका शास्त्रीय निरूपण किया है। इन्हें विस्तृत और कुछ मात्रा तक नवीन रूप देने का श्रेय कुंतक को है। शेष रहीं चार वक्रताएँ—वर्णविन्यास, पदपूर्वार्ध, पदपरार्ध और वाक्य (वस्तु) की वक्रता। ये सभी अलंकार, रस अथवा ध्वनि आदि पूर्ववर्ती काव्यांगों में से किसी न किसी के साथ किसी न किसी रूप में संबद्ध की जा सकती हैं। अलंकार से संबंधित उनके वक्रोक्ति-भेद तो बाह्यपरक हैं ही, जहाँ उन्होंने ध्वनिभेदों को वक्रोक्ति के अंतर्गत समाविष्ट करने का प्रयास किया है, वहाँ भी ये भेद बाह्यपरक ही हैं। अपने दृष्टिकोण से कुंतक भले ही सफल रहे हों पर इन प्रसंगों में उनकी वक्रोक्ति ध्वनि के समान भाव-पक्ष-प्रधान न रहकर कला-पक्ष-प्रधान मात्र रह गई है। एक उदाहरण लीजिए। आनंदवर्धन ने 'कामं संतु दृढं कठोरहृदयो रामोऽस्मि सर्वं सहे। वैदेही तु कथं भविष्यति हहा हा देवि धीरा भव।' इस श्लोकार्ध में 'राम' शब्द से सकल-दुःख-सहिष्णु' रूप व्यंग्यार्थ लेते हुए इसे अर्थांतरसंक्रमित वाच्यध्वनि नाम दिया है। इधर इस श्लोकार्ध में इसी अर्थ के कारण कुंतक को भी काव्यवक्रता (काव्यचमत्कार) अभीष्ट है, पर वे इसे 'पदपूर्वार्धवक्रता' के नाम से अभिहित करते हैं, क्योंकि यह वक्रता (चमत्कार) 'रामः' पद के पूर्वार्ध अर्थात् प्रातिपदिक पर आश्रित है। इस वक्रोक्तिभेद का उपभेद है रूढिवैचित्र्यवक्रता। कुंतक ने इसी के उदाहरण स्वरूप राम का उक्त कथन उद्धृत किया है, क्योंकि 'राम' प्रातिपदिक का रूढार्थ है दशरथपुत्र, पर यहाँ उसका भिन्नार्थ वक्रतोत्पादक है। हमने देखा कि काव्यसौंदर्य एक है, पर उसके अभिधान में दोनों आचार्यों के दृष्टिकोण भिन्न भिन्न हैं। आनंदवर्धन उसे अर्थपरक नाम दे रहे हैं और कुंतक शब्दपरक। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि ध्वनि के सुप्, तिङ्, वचन, काल आदि से संबद्ध उपभेदों का

मूलाधार भी व्यंग्यार्थ है, न कि कुंतक के समान व्याकरण संबंधी रूपरचना मात्र। व्यंग्यार्थ निस्संदेह आंतरिक पक्ष है और रूपरचना बाह्य पक्ष।

वक्रोक्ति सिद्धांत की स्थापना से पूर्व काव्यशास्त्र में अलंकार सिद्धांत, रीति सिद्धांत और ध्वनि सिद्धांत प्रचलित रहे। कुंतक ने अपने ग्रंथ में इस सिद्धांत का प्रतिपादन करते हुए अन्य सिद्धांतों के संबंध में भी कभी प्रत्यक्ष और कभी अप्रत्यक्ष रूप से प्रकाश डाला है। वक्रोक्ति सिद्धांत और अलंकार सिद्धांत के विषय में कुंतक के मंतव्य का निष्कर्ष यह है :

(१) शब्द और अर्थ, ये दोनो अलंकार्य हैं और वक्रोक्ति इनका अलंकार है—

उभावेतावलंकार्यौ तयोः पुनरलंकृतिः।
वक्रोक्तिरेव ... ... ॥

यह उल्लेखनीय है कि यहाँ वक्रोक्ति से तात्पर्य काव्य के उपमादि सभी प्रकार के शोभादायक तत्वों से है।

(२) यह एक तत्व (यथार्थ बात) है कि सालंकार (शब्दार्थ) की ही काव्यता होती है (न कि अलंकारसहित शब्दार्थ की)—

तत्त्वं सालंकारस्य काव्यता।

दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि काव्य में अलंकार्य और अलंकार ये कोई अलग तत्व नहीं है।

(३) फिर भी व्यवहार रूप में अलंकार्य और अलंकार का पृथक् विवेचन किया जाता है।

(२) वक्रोक्ति और रस—यद्यपि कुंतक ने उच्च स्वर से 'सालंकारस्य काव्यता' की घोषणा की है, फिर भी उनकी सहृदयता रस का अनादर नहीं कर सकी। सिद्धांत रूप से वक्रोक्ति और रस में वैसा मौलिक साम्य तो नहीं है जैसा ध्वनि और वक्रोक्ति में है, किंतु सब मिलाकर वक्रोक्तिचक्र में रस का स्थान भी कम महत्वपूर्ण नहीं है। वास्तव में यह कहना असंगत न होगा कि रस के प्रति वक्रोक्ति और ध्वनि दोनों संप्रदायों का दृष्टिकोण बहुत कुछ समान है।

कुंतक ने अपने काव्यप्रयोजन प्रसंग तथा प्रबंधवक्रता प्रसंग के अंतर्गत रसयुक्तता का स्पष्ट उल्लेख किया है।

चतुर्वर्गफलास्वादमप्यतिक्रम्य तद्विदाम्।
काव्यामृतरसेनान्तश्चमत्कारो वितन्यते॥

अर्थात् काव्यामृत का रस उसको समझनेवालों (सहृदयों) के अंतःकरण में चतुर्वर्ग रूप फल के आस्वाद से भी बढ़कर चमत्कार उत्पन्न करता है।

निरन्तरसोद्गारगर्भसंदर्भनिर्भराः ।
गिरः कवीनां जीवन्ति न कथामात्रमाश्रिताः ॥

अर्थात् निरंतर रस को प्रवाहित करनेवाले संदर्भों से परिपूर्ण कवियों की वाणी कथामात्र के आश्रय से जीवित नहीं रहती।

कुंतक ने ध्वनि सिद्धांत के समान वक्रोक्ति सिद्धांत में भी रस को वाच्य नहीं माना, प्रत्युत् प्रकारांतर से इसे व्यंग्य माना है। उन्होंने उद्भट के कथन स्वशब्दस्थायिसंचारिविभावाभिनयास्पदम् का उपहास करते हुए लिखा है कि 'स्वशब्दास्पदत्वं रसानामपरिगतपूर्वमस्माकम्' अर्थात् रसों की स्वशब्दास्पदता अथवा रसों की स्वशब्दवाच्यता तो हमने आज तक सुनी नहीं है। कुंतक के इस वाक्य का यह तात्पर्य लगा लेना अनुचित न होगा कि उन्हें रस की वाच्यता अभीष्ट नहीं है, अपितु व्यंग्यता अभीष्ट है।

आगे चलकर रसवत् अलंकार का निषेध करते हुए उन्होंने लिखा है कि रसवत् को अलंकार मानना युक्तिसंगत नहीं है। इसके दो कारण हैं। एक तो यह कि इसमें अपने स्वरूप अर्थात् रस के अतिरिक्त किसी अन्य का अलंकार्य रूप में प्रतिभासन नहीं होता; दूसरा कारण यह है कि 'रसवत्' शब्द के अर्थ की संगति भी नहीं बैठती। जो रचना रसवत् अर्थात् रसयुक्त हो, अर्थात् जहाँ रस ही अलंकार्य रूप में हो वहाँ अलंकारवादियों के समान रस को अलंकार रूप में मानना संगत नहीं है :

अलंकारो न रसवत् परस्याप्रतिभासनात् ।
स्वरूपादतिरिक्तस्य शब्दार्थासंगतेरपि ॥

इस प्रकार परंपरागत रसवत् अलंकार का खंडन करते हुए एवं 'रसवत्' का स्वरूप स्पष्ट करते हुए प्रकारांतर से वे रस नामक काव्यतत्व की पृथक् स्वीकृति कर जाते हैं :

रसेन वर्तते तुल्य रसतत्वविधानतः ।
योऽलंकारः स रसवत् तद्विदाह्लादनिर्मितेः ॥

अर्थात् रसतत्व के विधान के कारण सहृदयों को आह्लादकारक होने से जो कोई अलंकार भी रस के समान हो जाता है, वह अलंकार रसवत् कहा जा सकता है। इसी अलंकार को कुंतक ने 'सर्वालंकारजीवित' के रूप में स्वीकार करते हुए प्रकारांतर से रस का स्तवन किया है :

यथा स रसवन्नाम सर्वालंकारजीवितम् ।

(३) रस और वक्रोक्ति का संबंध—अब प्रश्न यह रह जाता है कि एक ओर जब अलंकाररूपा वक्रोक्ति ही काव्य का जीवित रूप है और दूसरी ओर रस भी काव्य का परमतत्व है, तो इन दोनों का समंजन कैसे किया जाय ? अर्थात् वक्रोक्ति और रस का वास्तविक संबंध क्या है ? इस प्रश्न का उत्तर कठिन नहीं है। कुंतक की मूल धारणा का सूत्र पकड़ लेने से इस शंका का समाधान हो जाता है। कुंतक के मत से काव्य का प्राण तो निश्चय ही वक्रोक्ति है और वक्रोक्ति का अर्थ, जैसा हम अन्यत्र स्पष्ट कर चुके हैं, उक्तिचमत्कार मात्र न होकर कविकौशल अथवा काव्यकला ही है। कुंतक के अनुसार काव्य वक्रोक्ति अर्थात् कला है। इस कला की रचना के लिये कवि शब्दार्थ की अनेक विभूतियों का उपयोग करता है। अर्थ की विभूतियों में सबसे अधिक मूल्यवान् है रस। अतएव रस वक्रोक्तिरूपिणी काव्यकला का परमतत्व है। काव्य की प्राणचेतना है वक्रता और वक्रता की समृद्धि का प्रमुख आधार है रससंपदा। इस प्रकार वक्रोक्ति के साथ रस का संबंध लगभग वही है जो ध्वनि के साथ है।

रस और ध्वनि का संबंध दो प्रकार का है—एक तो रस अनिवार्यतः ध्वनि रूप ही हो सकता है (कथन रूप नहीं), दूसरे रस ध्वनि का सर्वोत्कृष्ट रूप है। इन दोनों संबंधो के विश्लेषण से एक तीसरा यह तथ्य भी सामने आता है कि ध्वनि और रस में, ध्वनि सिद्धात के अनुसार, पलड़ा ध्वनि का ही भारी है। रस की स्थिति ध्वनि के बिना संभव नहीं है, परंतु ध्वनि की स्थिति रसविहीन हो सकती है—वस्तुध्वनि, अलंकारध्वनि भी काव्य के उत्कृष्ट रूप हैं। अतः काव्य में अनिवार्यता ध्वनि की ही है, रस की नहीं। रस के बिना काव्यत्व संभव है, ध्वनि के बिना नहीं। इसीलिये आनंदवर्धन के मत से ध्वनि काव्य की आत्मा है, रस परम श्रेष्ठ तत्व अवश्य है, किंतु आत्मा नहीं है। कुछ ऐसी ही स्थिति वक्रोक्ति और रस के परस्पर संबंध की भी है। (१) रस वक्रोक्ति की परम विभूति है। (२) रस की काव्यगत अभिव्यंजना वक्रताविहीन नहीं हो सकती—रसोत्कर्ष की प्रेरणा से अभिव्यक्ति का उत्कर्ष अनिवार्य है और अभिव्यक्ति का यही उत्कर्ष वक्रता है। अर्थात् काव्य में रस की स्थिति वक्रताविरहित संभव नहीं है—काव्य से बाहर हो सकती है। किंतु वह भावसंपदा काव्य-वस्तु-मात्र है, काव्य नहीं है। वक्रता रस के बिना भी अनेक रूपों में विद्यमान रह सकती है, भले ही वे रूप उतने उत्कृष्ट न हों जितना रसमय रूप। कम से कम कुंतक का यही मत है। रस के बिना काव्य जीवित रह सकता है, वक्रोक्ति के बिना नहीं। इसीलिये वक्रोक्ति ही काव्य का जीवित है, रस काव्य की अमूल्य संपत्ति होते हुए भी जीवित नहीं है। संक्षेप में, रस के साथ वक्रोक्ति का जो संबंध है वह ध्वनि-रस-संबंध से अधिक भिन्न नहीं है। वास्तव में रस संप्रदाय द्वारा स्थापित रागतत्व के एकाधिपत्य के विरुद्ध ध्वनि और वक्रोक्ति दोनों

ने अपने अपने ढंग से कल्पना की महत्वप्रतिष्ठा की है। रागतत्व का सौंदर्य तो दोनों को स्वीकार्य है किंतु अपने सहज रूप में नहीं, कल्पनारंजित रूप में। इस कल्पना-रंजन की प्रक्रिया भिन्न है : ध्वनि सिद्धांत के अंतर्गत कल्पना आत्मनिष्ठ है और वक्रोक्ति में वस्तुनिष्ठ। रस के साथ इन दोनों के संबंध में भी बस इतना ही अंतर पड़ जाता है। रस और ध्वनि दोनों आत्मनिष्ठ हैं अतएव उनका संबंध अधिक अंतरंग है : वक्रोक्ति मूलतः वस्तुनिष्ठ है, अतः रस के साथ उसका संबंध आधार आधेय का ही है।

(४) अलंकार सिद्धांत और वक्रोक्ति सिद्धांत—अधिकाश विद्वानों ने वक्रोक्ति संप्रदाय को अलंकार संप्रदाय का रूपांतर अथवा उसके पुनरुत्थान का प्रयत्न माना है। यह मत मूलतः मान्य होते हुए भी अतिव्याप्त अवश्य है क्योंकि वास्तव में इन दोनों संप्रदायों में साम्य की अपेक्षा वैषम्य भी कम नहीं है।

(अ) साम्य—(१) कुंतक ने वक्रोक्ति को काव्य का प्राण माना है और साथ ही अलंकार भी :

> उभावेतावलंकार्यौ तयोः पुनरलंकृतिः।
> वक्रोक्तिरेव ··· ··· ··· ॥

इस दृष्टि से वक्रोक्ति सिद्धांत भी नामभेद से अलंकार सिद्धांत ही ठहरता है। कुंतक ने 'सालंकारस्य काव्यता' कहकर भी अलंकार की अनिवार्यता स्वीकार कर ली है।

(२) इन सिद्धांतों में दूसरी मौलिक समानता यह है कि दोनों के दृष्टिकोण वस्तुपरक हैं, अर्थात् दोनों काव्यसौंदर्य को मूलतः वस्तुगत मानते हैं। दोनों सिद्धांतों में काव्य को कविकौशल पर ही आश्रित माना गया है। दोनों की वस्तुपरकता में मात्रा का अंतर अवश्य हो सकता है परंतु काव्य को अनुभूति न मानकर कौशल मानना निश्चित रूप से भावपरक दृष्टिकोण का निषेध और वस्तुपरक दृष्टिकोण की स्वीकृति है।

(३) दोनों सिद्धांतों के अनुसार वर्णसौंदर्य से लेकर प्रबंधसौंदर्य तक समस्त काव्यरूप चमत्कारप्राण हैं। एक में उसे अलंकार कहा गया है, दूसरे में वक्रता; दोनों में शब्द का भेद है, अर्थ का नहीं, क्योंकि दोनो में उक्तिवैदग्ध्य का ही प्राधान्य है।

(४) दोनों में रस को उक्ति का आश्रित माना गया है।

(आ) वैषम्य—(१) अलंकार सिद्धांत की अपेक्षा वक्रोक्ति सिद्धांत में व्यक्तितत्व का कहीं अधिक समावेश है : अलंकार संप्रदाय में जहाँ शब्द और अर्थ के चमत्कार का निर्वैयक्तिक विधान है, वहाँ वक्रोक्ति में कविस्वभाव को मूर्धन्य स्थान दिया गया है।

(२) अलंकार सिद्धांत की अपेक्षा वक्रोक्ति सिद्धांत रस को अत्यधिक महत्व देता है : रसवत् को अलंकार से अलंकार्य के पद पर प्रतिष्ठित कर कुंतक ने निश्चय ही रस के प्रति अधिक आदर व्यक्त किया है। वक्रोक्ति सिद्धांत में प्रबंधवक्रता को वक्रोक्ति का सबसे प्रौढ़ रूप माना गया है और प्रबंधवक्रता में रस का गौरव सर्वाधिक है।

(३) अलंकार सिद्धात में स्वभाववर्णन को प्रायः हेय माना गया है। भामह ने तो वार्ता मात्र कहकर स्पष्ट ही उसे अकाव्य घोषित कर दिया है, दंडी ने भी आद्य अलंकार मानकर उसको कोई विशेष आदर नहीं दिया क्योंकि उन्होंने शास्त्र में ही उसका साम्राज्य माना है—काव्य के लिये वह केवल वाञ्छनीय है। इसके विपरीत वक्रोक्ति सिद्धात में स्वभावसौंदर्य का वर्णन आहार्य की अपेक्षा अधिक काम्य है : अलंकार की सार्थकता स्वभावसौंदर्य को प्रकाशित करने में ही है, अपनी विचित्रता दिखाने मे नहीं; स्वभावसौंदर्य को आच्छादित करनेवाला अलंकार त्याज्य है।

(४) वक्रोक्ति सिद्धात में काव्य के अंतरंग का विवेचन अधिक है, अलंकार सिद्धात बहिरंग से ही उलझकर रह जाता है अर्थात् वक्रता द्वारा अभिप्रेत चमत्कार अलंकार की अपेक्षा अधिक अंतरंग है।

इस प्रकार वक्रोक्ति सिद्धात अलंकार सिद्धात से कहीं अधिक उदार, सूक्ष्म तथा पूर्ण है।

संस्कृत काव्यशास्त्र में ये दोनों देहवादी सिद्धात माने गए हैं क्योंकि इनमें से एक में अंगसंस्थावत् रीति को और दूसरे में अलंकृतिरूप वक्रोक्ति को ही काव्य का जीवनसर्वस्व माना गया है। इसमें संदेह नहीं कि इन दोनो सिद्धातो का आधारभूत दृष्टिकोण वस्तुपरक है किंतु दोनों की वस्तुपरकता में मात्राभेद है। रीति सिद्धांत में जहाँ रचनानैपुण्य मात्र को ही काव्यसर्वस्व मानकर व्यक्तितत्व की लगभग उपेक्षा कर दी गई है, वहाँ वक्रोक्ति में स्वभाव को मूर्धन्य स्थान दिया गया है। व्यक्तितत्व के इसी मात्राभेद के अनुपात से रस तथा ध्वनि के प्रति दोनों के दृष्टिकोण में भेद है। रीति की अपेक्षा वक्रोक्ति सिद्धांत की रस और ध्वनि दोनों के प्रति अधिक निष्ठा है। रीति सिद्धांत के अंतर्गत रस को बीस गुणों में से केवल एक गुण अर्थ-कांति का अंग मानकर सर्वथा अमुख्य स्थान दिया गया है, किंतु वक्रोक्ति सिद्धांत

में प्रबंधवक्रता, वस्तुवक्रता आदि प्रमुख भेदों का प्राणतत्व मानकर रस को निश्चय ही अत्यंत महत्व प्रदान किया गया है। वास्तव में यह स्वाभाविक भी था क्योंकि वक्रोक्ति सिद्धात की स्थापना तक ध्वनि अथवा रसध्वनि सिद्धांत का व्यापक प्रचार हो चुका था और कुंतक के लिये उसके प्रभाव से मुक्त रहना संभव नहीं था। इस प्रकार रस और ध्वनि के साथ वक्रोक्ति का रीति की अपेक्षा निश्चय ही अधिक घनिष्ठ संबंध है। फिर भी, दोनो मे मूल साम्य यह है कि दोनो काव्य को कौशल या नैपुण्य ही मानते हैं, सृजन नहीं; दोनों के मत से काव्य रचना है, आत्माभिव्यक्ति नहीं।

रीति तथा वक्रोक्ति के आधारतत्व, अंगोपाग, भेदप्रभेद आदि का तुलनात्मक विवेचन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि वक्रोक्ति का कलेवर निश्चय ही रीति की अपेक्षा कहीं व्यापक है। रीति की परिधि जहाँ पदरचना तक ही सीमित है वहाँ वक्रोक्ति की परिधि मे प्रकरणरचना, प्रबंधकल्पना आदि का भी यथावत् समावेश है। रीति की परिधि में वास्तव मे वक्रोक्ति के प्रथम चार भेद, अर्थात् वर्ण-विन्यास-वक्रता, पद-पूर्वार्ध-वक्रता, पद-परार्ध-वक्रता तथा वाक्यवक्रता, ही आते हैं। वामन प्रबंधकौशल के महत्व से अनभिज्ञ नही थे। उन्होने मुक्तक की अपेक्षा प्रबंधरचना को अधिक मूल्यवान् माना है :

> क्रमसिद्धिस्तयोः स्रगुत्तंसवत्। —१।३।२८
> नानिबद्धं चकास्त्येकतेजः परमाणुवत्। —१।३।२९

अर्थात् माला और उत्तंस के समान उन दोनों (मुक्तक और प्रबंध) की सिद्धि क्रमशः होती है। (१।३।२८)

जैसे अग्नि का एक परमाणु नहीं चमकता, उसी प्रकार अनिबद्ध अर्थात् मुक्तक काव्य प्रकाशित नहीं होता है। (१।३।२९)

उपर्युक्त सूत्रो से इसमे संदेह नहीं रह जाता कि वामन के मन में प्रबंधरचना के प्रति कितना आदर है। फिर भी प्रबंध में भी वे रीति अर्थात् पदरचना के नैपुण्य को ही प्रमाण मानते हैं। निबद्ध काव्य का महत्व उनकी दृष्टि में कदाचित् इसीलिये अधिक है कि उसमें विशिष्ट पदरचना की निरंतर शृंखला रहती है। इस लिये नहीं कि उसमें जीवन के व्यापक और महत् तत्वो के विराट् कल्पनाविधान के लिये विस्तृत क्षेत्र है। इस दृष्टि से कुंतक की वक्रोक्ति का आधार निश्चय ही अधिक व्यापक और उसकी परिधि अधिक विस्तृत है। आधुनिक आलोचनाशास्त्र की शब्दावली में यह कहना असंगत न होगा कि वक्रोक्ति वास्तव मे काव्यकला की समानार्थी है और रीति काव्यशिल्प की। इस प्रकार वामन की रीति वक्रोक्ति का एक अंग मात्र रह जाती है—और मैं समझता हूँ, इन दोनो सिद्धांतों के अंतर का सार यही है।

(५) **वक्रोक्ति सिद्धांत और ध्वनि सिद्धांत**—जैसा पहले निर्दिष्ट कर आए हैं, वक्रोक्ति संप्रदाय का जन्म वास्तव में ध्वनि संप्रदाय के प्रत्युत्तर रूप में हुआ था। काव्यात्मवाद के विरुद्ध देहवादियों का यह अंतिम विफल विद्रोह था। काव्य के जिन सौंदर्यभेदों की आनंदवर्धन ने ध्वनि के द्वारा आत्मपरक व्याख्या की थी, उन सभी की कुंतक ने अपनी अपूर्व मेधा के बल पर वक्रोक्ति के द्वारा वस्तुपरक विवेचना प्रस्तुत करने की चेष्टा की। इस प्रकार वक्रोक्ति प्रायः ध्वनि की वस्तुगत परिकल्पना सी प्रतीत होती है।

उपर्युक्त तथ्य को हम उद्धरणों द्वारा पुष्ट करते हैं। आनंदवर्धन ने ध्वनि की परिभाषा इस प्रकार की है :

> जहाँ अर्थ स्वयं को तथा शब्द अपने अभिधेय अर्थ को गौण करके उस अर्थ को प्रकाशित करते हैं, उस काव्यविशेष को विद्वानों ने ध्वनि कहा है।—(ध्व० १।१३)। 'उस अर्थ' से क्या तात्पर्य है ?
>
> प्रतीयमान कुछ और ही चीज है जो रमणियों के प्रसिद्ध (मुख, नेत्र, श्रोत्र, नासिकादि) अवयवों से भिन्न (उनके) लावण्य के समान महाकवियों की सूक्तियों में (वाच्य अर्थ से अलग ही) भासित होता है। —ध्व० १।४
>
> उस स्वादु अर्थ को बिखेरती हुई बड़े बड़े कवियों की सरस्वती अलौकिक तथा अतिभासमान प्रतिभाविशेष को प्रकट करती है। —ध्व० १।६

अतएव यह विशिष्ट अर्थ अलौकिक प्रतिभाजन्य है, स्वादु है, वाच्य से भिन्न कुछ विचित्र वस्तु है और प्रतीयमान है।

अब कुंतककृत वक्रोक्ति की परिभाषा लीजिए : प्रसिद्ध कथन से भिन्न विचित्र अभिधा अर्थात् वर्णनशैली ही वक्रोक्ति है। यह कैसी है ? वैदग्ध्यपूर्ण शैली द्वारा उक्ति। वैदग्ध्य का अर्थ है कविकर्मकौशल ······। —व० जी० १।१० की वृत्ति। प्रसिद्ध कथन से भिन्न का अर्थ है—(१) 'शास्त्र आदि में उपनिबद्ध शब्दार्थ के सामान्य प्रयोग से भिन्न' तथा (२) 'प्रचलित (सामान्य) व्यवहारसरणि का अतिक्रमण करनेवाला।'

इन दोनों परिभाषाओं का तुलनात्मक परीक्षण करने पर ध्वनि और वक्रोक्ति का साम्य सहज ही स्पष्ट हो जाता है :

१—दोनों में प्रसिद्ध वाच्य अर्थ और वाचक शब्द का अतिक्रमण है। आनंदवर्धन का सूत्र यत्रार्थः शब्दो वा—उपसर्जनी कृतस्वार्थौ (जहाँ अर्थ अपने आपको और शब्द अपने अर्थ को गौण करके) ही कुंतक की शब्दावली में

'शास्त्रादिप्रसिद्धशब्दार्थोपनिबंधव्यतिरेकि' (शास्त्रादि में उपनिबद्ध शब्दार्थ के प्रसिद्ध अर्थात् सामान्य प्रयोग से भिन्न) का रूप धारण कर लेता है। इस प्रकार ध्वनि और वक्रोक्ति दोनों में साधारण का त्याग और असाधारण की विवक्षा है।

२—ध्वनि तथा वक्रोक्ति दोनो मे वैचित्र्य की समान वांछा है। आनंद ने 'अन्यदेव वस्तु' के द्वारा और कुंतक ने 'विचित्रा अभिधा' के द्वारा इसको स्पष्ट किया है।

३—दोनों आचार्य इस वैचित्र्यसिद्धि को अलौकिक प्रतिभाजन्य मानते हैं।

किंतु यह सब होते हुए भी दोनों में मूल दृष्टि का भेद है। ध्वनि का वैचित्र्य अर्थरूप होने से आत्मपरक है, उधर वक्रोक्ति का वैचित्र्य अभिधारूप अर्थात् उक्तिरूप होने के कारण मूलतः वस्तुपरक है। इसीलिये हमारी स्थापना है कि वक्रोक्ति प्रायः ध्वनि की वस्तुपरक परिकल्पना ही है।

(ग) भेदप्रस्तारगत साम्य—स्वरूप की अपेक्षा ध्वनि तथा वक्रोक्ति के भेदप्रस्तार में और भी अधिक साम्य है। जिस प्रकार आनंदवर्धन ने ध्वनि में काव्य के सूक्ष्मातिसूक्ष्म अवयव से लेकर व्यापक से व्यापक रूप का भी अंतर्भाव कर उसे सर्वांगपूर्ण बनाने की चेष्टा की थी, वैसे ही कुंतक ने बहुत कुछ उन्हीं की पद्धति का अवलंबन कर वक्रोक्ति में काव्य के सभी अवयवों का समावेश कर उसे भी सर्वव्यापक रूप प्रदान करने का प्रयत्न किया है। इस प्रकार वक्रोक्ति और ध्वनि में स्पष्ट सह-व्याप्ति है। ध्वनि का चमत्कार जैसे सुप्, तिङ्, वचन, कारक, कृत्, तद्धित, समास, उपसर्ग, निपात, काल, लिंग, रचना, अलंकार, वस्तु तथा प्रबंध आदि मे है, वैसे ही वक्रोक्ति का विस्तार भी पदपूर्वार्ध और पदपरार्ध से लेकर प्रकरण तथा प्रबंध तक है। वास्तव में ध्वनि के आत्मपरक सौंदर्यभेदों की कुंतक ने वस्तुपरक व्याख्या करने का ही प्रयत्न किया है। इसलिये उनके विवेचन की रूपरेखा अथवा योजना बहुत कुछ वही है जो ध्वनिकार ने अपनी स्थापनाओं के लिये बनाई थी।

ध्वनि तथा वक्रोक्ति के भेदों का तुलनात्मक विवरण देखने से यह धारणा सर्वथा स्पष्ट हो जायगी।

(६) वक्रोक्ति और व्यंजना—ध्वनि सिद्धांत का आधार है व्यंजना शक्ति। कुंतक मूलतः अभिधावादी हैं। उन्होने अपनी वक्रोक्ति को विचित्र अभिधा ही माना है। परंतु उन्होंने लक्षणा और व्यंजना की स्थिति का निषेध नहीं किया। वास्तव में इन दोनों को उन्होंने अभिधा का ही विस्तार माना है, अभिधा के गर्भ में ही इन दोनो की स्थिति उन्हें मान्य है क्योंकि वाचक शब्द में द्योतक और व्यंजक शब्द एवं वाच्य अर्थ में द्योत्य और व्यंग्य अर्थ स्वयं ही अंतर्भूत हो जाते हैं।

(प्रश्न)—द्योतक और व्यंजक भी शब्द हो सकते हैं। (आपने केवल वाचक को शब्द कहा है)। उनका संग्रह न होने से अव्याप्ति होगी। (उत्तर)— यह नहीं कहना चाहिए क्योंकि (वाचक शब्दों के समान व्यंजक तथा द्योतक शब्दों में भी) अर्थप्रतीतिकारित्व की समानता होने से उपचार (गौणी वृत्ति) से वे (द्योतक और व्यंजक) दोनों भी वाचक ही हैं। इसी प्रकार द्योत्य और व्यंग्य दोनों अर्थों में भी बोध्यत्व की समानता होने से वाच्यत्व ही रहता है।—हिंदी वक्रोक्ति-जीवित, पृ० ३७।

(७) निष्कर्ष—उपर्युक्त विवेचन के फलस्वरूप यह स्पष्ट हो जाता है कि ध्वनि संप्रदाय के विरोध में एक प्रतिद्वंद्वी संप्रदाय खड़ा कर देने पर भी कुंतक ने ध्वनि का तिरस्कार नहीं किया अथवा नहीं कर सके। वास्तव में ध्वनि का जादू उनके सिर पर चढ़कर बोलता रहा है, इसीलिये अपने सिद्धातनिरूपण के आरंभ से अंत तक स्थान स्थान पर वे उसे सांकेतिक अथवा स्पष्ट रूप में स्वीकृति देते रहे हैं।

जैसा हमने आरंभ में ही स्पष्ट किया है, इन दोनों आचार्यों की सौंदर्यकल्पना में मौलिक भेद नहीं है। दोनों निश्चित रूप से कल्पनावादी हैं। आनंदवर्धन और कुंतक दोनो ने ही अपने सिद्धातों मे अनुभूति तथा बुद्धितत्व की अपेक्षा कल्पनातत्व के महत्व की प्रतिष्ठा की है। किंतु दोनों की दृष्टि अथवा विवेचनपद्धति भिन्न है। आनंदवर्धन कल्पना को आत्मगत मानते हैं अर्थात् कल्पना से तात्पर्य प्रमाता की कल्पना से है। सत्काव्य प्रमाता की कल्पना को उद्बुद्ध कर सिद्धिलाभ करता है। कुंतक कल्पना को वस्तुगत मानते हैं। उनकी दृष्टि से यह है तो मूलतः कवि की ही कल्पना, किंतु रचना के उपरांत कवि के भूमिका से हट जाने के कारण, वह अब काव्य में संनिविष्ट हो गई है, अतः उसकी स्थिति काव्य में वस्तुगत ही रह जाती है। इस प्रकार वक्रोक्ति और ध्वनि सिद्धातो में बाह्य प्रतिद्वंद्व होते हुए भी मौलिक साम्य है। कुंतक इससे अवगत थे। एक प्रमाण के द्वारा अपनी स्थापना को पुष्ट कर हम इस प्रसंग को समाप्त करते हैं। कुंतक के दो मार्गों—सुकुमार और विचित्र— में मूल अंतर यह है कि एक में स्वाभाविकता का सहज सौंदर्य है और दूसरे में वक्रता का प्राचुर्य अर्थात् कल्पना का विलास। इसके लिये किसी प्रमाण की अपेक्षा नहीं है, विचित्र मार्ग के नाम और गुण दोनों ही इसके साक्षी हैं। कुंतक ने ध्वनि[1] अथवा प्रतीयमानता को इस कल्पनाविशिष्ट विचित्र मार्ग का प्रमुख गुण घोषित कर

[1] प्रतीयमानता यत्र वाक्यार्थस्य निबध्यते।
वाच्यवाचकवृत्तिभ्यामतिरिक्तस्य कस्यचित्। —व० जी० १।४०
अर्थात् जहाँ वाच्य-वाचक-वृत्ति से भिन्न वाक्यार्थ की किसी प्रतीयमानता की रचना की जाती है।

कल्पना पर आश्रित वक्रता और ध्वनि के इसी मौलिक साम्य की पुष्टि की है—वक्रता-कल्पना-ध्वनि ।

(८) **वक्रोक्ति सिद्धांत की परीक्षा**—वक्रोक्ति सिद्धात के अनेक पक्षों का विस्तृत विवेचन कर लेने के उपरात अब उसकी परीक्षा एवं मूल्याकन सरल हो गया है। वक्रोक्ति सिद्धात अत्यंत व्यापक काव्यसिद्धात है। इसके अंतर्गत कुंतक ने एक ओर वर्णचमत्कार, शब्दसौंदर्य, विषयवस्तु की रमणीयता, अप्रस्तुत विधान, प्रबंध-कल्पना आदि समस्त काव्यागों का, और दूसरी ओर अलंकार, रीति, ध्वनि तथा रस आदि सभी काव्यसिद्धातों का समाहार करने का प्रयत्न किया है। कालक्रमानुसार अन्य सभी सिद्धातों का पश्चाद्वर्ती होने के कारण वक्रोक्ति सिद्धात को उन सभी से लाभ उठाने का सुयोग प्राप्त था और उसके मेधावी प्रवर्तक ने निश्चय ही उसका पूरा उपयोग किया है। इस प्रकार कुंतक ने वक्रोक्ति को संपूर्ण काव्यसौंदर्य के पर्याय रूप में प्रतिष्ठित किया है। काव्यसौंदर्य के समस्त रूप—सूक्ष्म से सूक्ष्म वर्णचमत्कार से लेकर अधिक से अधिक व्यापक रूप प्रबंधकौशल तक, सभी—वक्रता के ही प्रकार हैं। इसी प्रकार अलंकार, रीति (पदरचना), गुण, ध्वनि, औचित्य तथा रस भी वक्रता के प्रकारभेद अथवा पोषक तत्व हैं। अतएव वक्रोक्ति सिद्धात का पहला गुण उसकी व्यापकता है।

वक्रोक्ति केवल वाक्चातुर्य अथवा उक्तिचमत्कार नहीं है, वह कविव्यापार अर्थात् कविकौशल या कला की प्रतिष्ठा है। आधुनिक आलोचनाशास्त्र की शब्दावली में वक्रोक्तिवाद का अर्थ कलावाद ही है। अर्थात् काव्य का सर्वप्रमुख तत्व कला या उपस्थापनकौशल ही है। इस प्रसंग में भी कुंतक अतिवादी नहीं हैं। उन्नीसवीं बीसवीं शती के पाश्चात्य कलावादियों की भाँति उन्होंने विषयवस्तु का निषेध नहीं किया, उन्होंने तो स्पष्ट रूप में यह माना है कि काव्यवस्तु स्वभाव से रमणीय होनी चाहिए अर्थात् काव्य में वस्तु के उन्हीं रूपों का वर्णन अभीष्ट है जो सहृदय-आह्लादकारी हो। परंतु यहाँ भी महत्व वस्तु का नहीं है, वस्तु का महत्व होने से तो 'कवि कहँ कौन निहोर'? कवि का क्या महत्व हुआ? यहाँ भी वास्तविक मूल्य वस्तु के सहृदयरमणीय धर्मों के उद्‌घाटन का ही है। सामान्य धर्मों का अभिज्ञान तो जनसाधारण भी कर लेते हैं किंतु विशेष सहृदयआह्लादकारी धर्मों का उद्‌घाटन कवि का प्रातिभ नयन ही कर सकता है। अतएव महत्व यहाँ भी उद्‌घाटन या चयन रूप कविव्यापार का ही है, और यह भी कला ही है। चाहें तो इसे आप कला का आतरिक रूप कह लीजिए, परंतु है यह भी कला ही।

मनोमय जीवन के तीन पक्ष हैं—(१) बोधपक्ष, (२) अनुभूतिपक्ष और (३) कल्पनापक्ष। इनमें से काव्य में वस्तुतः अनुभूति और कल्पना पक्ष का ही महत्व है। बोधपक्ष तो सामान्य आधार मात्र है। प्रतिद्वंद्वी संप्रदायों में इन्हीं दो

तत्वों के प्राधान्य को लेकर विरोध चलता रहा है। रस संप्रदाय में स्पष्टतः अनुभूति का प्राधान्य है। उसके अनुसार काव्य का प्राणतत्व है भाव, भाव के आधार पर ही काव्य सहृदय को प्रभावित करता हुआ उसके चित्त में वासना रूप से स्थित भाव को आनंद रूप में परिणत कर देता है। इस प्रकार काव्य मूलतः भाव का व्यापार है। इसके विपरीत अलंकार सिद्धात में काव्य का आह्लाद भाव की परिणति नहीं है वरन् एक प्रकार का कल्पनात्मक (मानसिक बौद्धिक) चमत्कार है। रस सिद्धांत के अनुसार काव्य के आस्वाद मे मूलतः हमारी चित्तवृत्ति उद्दीप्त होती है, परंतु अलंकार सिद्धात के अनुसार हमारी कल्पना की उद्दीप्ति होती है। वक्रोक्ति सिद्धात भी वास्तव में अलंकार सिद्धात का ही विकास है। अलंकार में जहाँ कल्पना का सीमित रूप गृहीत है, वहाँ वक्रोक्ति में उसका व्यापक रूप ग्रहण किया गया है। अलंकार सिद्धांत की कल्पना का आधार कालरिज की 'ललित कल्पना' है[1] और वक्रोक्ति सिद्धात की कल्पना का आधार उसकी 'मौलिक कल्पना' है[2]। इस प्रकार वक्रोक्ति का आधार है कल्पना : वक्रोक्ति = कविव्यापार (कला) = मौलिक कल्पना। परंतु यह कल्पना कविनिष्ठ है सहृदयनिष्ठ नहीं, और यही ध्वनि के साथ वक्रोक्ति के मूल भेद का कारण है। ध्वनि की 'कल्पना' सहृदयनिष्ठ होने के कारण व्यक्तिपरक है। कुंतक की कल्पना कविकौशल पर आश्रित होने के कारण काव्यनिष्ठ और अंततः वस्तुनिष्ठ बन जाती है।

कुंतक की कल्पना अनुभूति के विरोध में खड़ी नहीं हुई। उनकी कला को रस का, और उनकी कल्पना को अनुभूति का परिपोष प्राप्त है। वक्रोक्ति और रस के प्रसंग मे हम यह स्पष्ट कर चुके हैं कि कुंतक ने रस को वक्रोक्ति का प्राणरस माना है। अतः कुंतक के सिद्धात मे अनुभूति का गौरव अक्षुण्ण है। किंतु प्रश्न सापेक्षिक महत्व का है। यो तो रस सिद्धात में भी कल्पना का महत्व अतर्क्य है क्योंकि विभावानुभाव व्यभिचारी का संयोग उसके द्वारा ही संभव है। वस्तुतः कला और रस के सिद्धातो में मूल अंतर कल्पना और अनुभूति की प्राथमिकता का ही है। कला सिद्धात में प्राणतत्व है कल्पना, अनुभूति उसका पोषक तत्व है। उधर रस सिद्धात में मूल तत्व है अनुभूति, कल्पना उसका अनिवार्य साधन है। यही स्थिति वक्रोक्ति और रस की है। कुंतक ने रस को वक्रता का सबसे समृद्ध अंग माना है, परंतु अंगी वक्रता ही है। इसका एक परिणाम यह भी निकलता है कि रस के अभाव में भी वक्रता की स्थिति संभव है। रस वक्रता का उत्कर्ष तो करता है, परंतु उसके अस्तित्व के लिये सर्वथा अनिवार्य नहीं है। कुंतक ने ऐसी स्थिति को अधिक

[1] फैंसी।
[2] प्राइमरी इमैजिनेशन।

प्रश्रय नहीं दिया। उन्होंने प्रायः रस विरहित वक्रता का तिरस्कार ही किया है। फिर भी वक्रोक्ति को काव्यजीवित मानने का केवल एक ही अर्थ हो सकता है और वह यह कि उसका अपना स्वतंत्र अस्तित्व है। रस के बिना भी वक्रता की अपनी सत्ता है। और स्पष्ट शब्दों मे, वक्रोक्ति सिद्धात के अनुसार ऐसी स्थिति तो हो सकती है कि काव्य रस के बिना भी वक्रता के सद्भाव में जीवित रहे,[1] किंतु ऐसी स्थिति संभव नहीं कि वह केवल रस के आधार पर वक्रता के अभाव मे भी जीवित रहे।

कुंतक के वक्रोक्ति सिद्धात के ये ही दो पक्ष हैं। इनमे से दूसरी स्थिति अधिक संभाव्य नहीं है क्योंकि रस की दीप्ति से उक्ति में वक्रता का समावेश अनिवार्यतः हो जाता है। रस अथवा भाव के दीप्त होने से उक्ति अनायास ही दीप्त हो उठती है और उक्ति की यही दीप्ति कुंतक की वक्रता है। अतएव उक्ति मे रस के सद्भाव में वक्रता का अभाव हो ही नहीं सकता। कम से कम कुंतक की वक्रता का अभाव तो संभव ही नही है। शुक्ल जी ने जहाँ इस तथ्य का निषेध किया है, वहाँ उन्होने वक्रता को स्थूल चमत्कार, शब्दक्रीड़ा या अर्थक्रीड़ा अथवा परिगणित विशिष्ट अलंकार के अर्थ मे ही ग्रहण किया है। परंतु कुंतक की वक्रता इतनी सूक्ष्म और व्यापक है कि वह शुक्ल जी के प्रायः सभी तथाकथित वक्रता-हीन उद्धरणों में अनेक रूपों में उपस्थित है। इसलिये काव्य मे वक्रता की अनिवार्यता में तो संदेह नहीं किया जा सकता, किंतु होगी वह भावप्रेरित ही। ऐसी अवस्था मे प्राथमिक महत्व भाव का ही हुआ।

पहली स्थिति वास्तव मे चिंत्य है। काव्य रस अर्थात् भावरमणीयता के अभाव में वक्रता मात्र के बल पर जीवित रह सकता है। भावसौंदर्य से हीन शब्दक्रीड़ा या अर्थक्रीड़ा मे निश्चय ही एक प्रकार का चमत्कार होता है, परंतु वह काव्य का चमत्कार नहीं है क्योंकि इस प्रकार के चमत्कार से हमारी कुतूहल वृत्ति का ही परितोष होता है, उससे अंतश्चमत्कार या आनंद की उपलब्धि, जो काव्य का अभीष्ट है, नहीं होती। कुंतक ने स्वयं स्थान स्थान पर इस धारणा का अनुमोदन किया है, परंतु यहाँ और इसी मात्रा में उनके वक्रोक्ति सिद्धांत का भी खंडन हो जाता है। वक्रता काव्य का अनिवार्य माध्यम है, यह ठीक है, परंतु यह ठीक नहीं है कि वह उसका जीवित या प्राणतत्व भी है। अनिवार्य माध्यम का भी अपना महत्व है। व्यक्तित्व के अभाव में आत्मा की अभिव्यक्ति संभव नहीं है, फिर भी व्यक्ति आत्मा

१ इसमें संदेह नहीं कि कुंतक ने बार बार इस स्थिति को बचाने का प्रयत्न किया है, परंतु वह बच नहीं सकती, 'वक्रोक्तिः काव्यजीवितम्' वाक्य ही निरर्थक हो जाता है।

अथवा जीवित तो नहीं है। यही वक्रोक्तिवाद की परिसीमा है और यही कलावाद की या कल्पनावाद की भी।

किंतु वक्रोक्तिवाद की सिद्धि भी कम स्तुत्य नहीं है। भारतीय काव्यशास्त्र के इतिहास मे ध्वनि के अतिरिक्त इतना व्यवस्थित विधान किसी अन्य काव्यसिद्धांत का नहीं है। काव्यकला का इतना व्यापक एवं गहन विवेचन तो ध्वनि सिद्धांत के अंतर्गत भी नहीं हुआ है। वास्तव में काव्य के वस्तुगत सौंदर्य का ऐसा सूक्ष्म विश्लेषण केवल हमारे काव्यशास्त्र में ही नहीं, पाश्चात्य काव्यशास्त्र में भी सर्वथा दुर्लभ है। कुंतक से पूर्व वामन ने रीति एवं गुण के और भामह, दंडी आदि ने अलंकार तथा गुण के विवेचन में भी इसी दिशा में सफल प्रयत्न किया था। किंतु उनकी परिधि सीमित थी, वे पदरचना तथा शब्द एवं अर्थ के स्फुट सौंदर्यतत्वों का ही विश्लेषण कर सके थे। कुंतक ने काव्यरचना के सूक्ष्म से सूक्ष्म तत्व से लेकर अधिक से अधिक व्यापक तत्व का विस्तार से विवेचन प्रस्तुत कर भारतीय सौंदर्यशास्त्र मे एक नवीन पद्धति का उद्घाटन किया है। काव्य में कला का गौरव स्वतःसिद्ध है। वस्तुतः उसके मौलिक तत्व दो ही हैं—रस और कला। इस दृष्टि से कला का विवेचन काव्यशास्त्र में रस के विवेचन के समान ही महत्वपूर्ण है। वक्रोक्ति सिद्धात ने इसी कला तत्व की मार्मिक व्याख्या प्रस्तुत कर भारतीय काव्यशास्त्र मे अपूर्व योगदान किया है।

६. ध्वनि संप्रदाय

(१) **पूर्ववृत्त**—अन्य संप्रदायों की भाँति ध्वनि संप्रदाय का जन्म भी उसके प्रतिष्ठापक के जन्म से बहुत पूर्व हुआ था। 'काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्यः समाम्नात-पूर्वः' (ध्वन्यालोक १।१)। अर्थात् काव्य की आत्मा ध्वनि है, ऐसा मेरे पूर्ववर्ती विद्वानों का भी मत है। वास्तव मे इस सिद्धात के मूल संकेत ध्वनिकार के समय से बहुत पहले वैयाकरणों के सूत्रों में स्फोट आदि के विवेचन में मिलते हैं। इसके अतिरिक्त भारतीय दर्शन में भी व्यंजना एवं अभिव्यक्ति (दीपक से घर) की चर्चा बहुत प्राचीन है। ध्वनिकार से पूर्व रस, अलंकार और रीतिवादी आचार्य अपने अपने सिद्धातों का पुष्ट प्रतिपादन कर चुके थे, और यद्यपि वे ध्वनि सिद्धात से पूर्णतः परिचित नही थे, फिर भी आनंदवर्धन का कहना है कि वे कम से कम उसके सीमात तक अवश्य पहुँच गए थे। अभिनवगुप्त ने पूर्ववर्ती आचार्यों में उद्भट और वामन को साक्षी माना है। उद्भट का ग्रंथ भामहविवरण आज उपलब्ध नहीं है, अतएव हमें सबसे प्रथम ध्वनिसंकेत वामन के वक्रोक्तिविवेचन में ही मिलता है। वहाँ 'सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्तिः'—लक्षणा में जहाँ सादृश्य गर्भित होता है, वहाँ वह वक्रोक्ति कहलाती है। सादृश्य की यह व्यंजना ध्वनि के अंतर्गत आती है, इसीलिये वामन को साक्षी माना गया है।

ध्वन्यालोक युगप्रवर्तक ग्रंथ था। उसके रचयिता ने अपनी असाधारण मेधा के बल पर ऐसे सार्वभौम सिद्धात की प्रतिष्ठा की जो युग युग तक सर्वमान्य रहा। अब तक जो सिद्धात प्रचलित थे वे प्रायः सभी एकांगी थे। अलंकार और रीति तो काव्य के बहिरंग को ही छूकर रह जाते थे, रस सिद्धात भी ऐंद्रिय आनंद को ही सर्वस्व मानता हुआ बुद्धि और कल्पना के आनंद के प्रति उदासीन था। इसके अतिरिक्त दूसरा दोष यह था कि प्रबंध काव्य के साथ तो उसका संबंध ठीक बैठ जाता था, परंतु स्फुट छंदो के विषय मे विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी आदि का संगठन सर्वत्र न हो सकने के कारण कठिनाई पड़ती थी और प्रायः अत्यंत सुंदर पदो को भी उचित गौरव नहीं मिल पाता था। ध्वनिकार ने इन त्रुटियों को पहचाना और सभी का उचित परिहार करते हुए शब्द की तीसरी शक्ति व्यंजना पर आश्रित ध्वनि को काव्य की आत्मा घोषित किया।

ध्वनिकार ने अपने सामने दो निश्चित लक्ष्य रखे हैं---(१) ध्वनि सिद्धात की निर्भ्रांत शब्दो में स्थापना करना, तथा यह सिद्ध करना कि पूर्ववर्ती किसी भी सिद्धात में उसका अंतर्भाव नहीं हो सकता, तथा (२) रस, अलंकार, रीति, गुण और दोष विषयक सिद्धातो का सम्यक् परीक्षण करते हुए ध्वनि के साथ उनका संबध स्थापित करना और इस प्रकार काव्य के एक सर्वागपूर्ण सिद्धात की रूपरेखा बॉधना। कहने की आवश्यकता नही कि इन दोनों उद्देश्यों की पूर्ति मे ध्वनिकार सर्वथा सफल हुए हैं। यह सब होते हुए भी ध्वनि संप्रदाय इतना लोकप्रिय न होता यदि अभिनवगुप्त की प्रतिभा का वरदान उसे न मिलता। उनके लोचन का वही गौरव है जो महाभाष्य का। अभिनव ने अपनी तलस्पर्शिनी प्रज्ञा और प्रौढ़ विवेचन द्वारा ध्वनि विषयक समस्त भ्रांतियो एवं आक्षेपो को निर्मूल कर दिया और उधर रस की प्रतिष्ठा को अकाट्य शब्दो मे स्थिर किया।

(२) ध्वनि का अर्थ और परिभाषा—ध्वनि की व्याख्या के लिये निसर्गतः सबसे उपयुक्त ध्वनिकार के ही शब्द हो सकते हैं :

> **यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ।**
> **व्यंक्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः॥**

जहाँ अर्थ स्वयं को तथा शब्द अपने अभिधेय अर्थ को गौण करके 'उस अर्थ' को प्रकाशित करते हैं, उस काव्यविशेष को विद्वानों ने ध्वनि कहा है।

उपर्युक्त कारिका की स्वयं ध्वनिकार ने ही आगे व्याख्या करते हुए लिखा है :

> **यत्रार्थो वाच्यविशेषो वाचकविशेषः शब्दो वा**
> **तमर्थं व्यंक्तः, स काव्यविशेषो ध्वनिरिति।**

अर्थात् जहाँ विशिष्ट वाच्य रूप अर्थ तथा विशिष्ट वाचक रूप शब्द 'उस अर्थ' को प्रकाशित करते हैं वह काव्यविशेष ध्वनि कहलाता है।

यहाँ 'तमर्थम्' ('उस अर्थ') का वर्णन पूर्वकथित दो श्लोकों में किया गया है :

प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
यत्तत्प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवांगनासु॥

प्रतीयमान कुछ और ही चीज है जो रमणियो के प्रसिद्ध (मुख, नेत्र, श्रोत्र, नासिकादि) अवयवों से भिन्न (उनके) लावण्य के समान महाकवियों की सूक्तियो में (वाच्य अर्थ से अलग ही) भासित होता है।

अर्थात् 'उस अर्थ' से तात्पर्य है उस प्रतीयमान स्वादु (चर्वणीय, सरस) अर्थ का जो प्रतिभाजन्य है और जो महाकवियों की वाणी में, वाच्याश्रित अलंकार आदि से भिन्न, स्त्रियों मे अवयवों से अतिरिक्त लावण्य की भाँति, कुछ और ही वस्तु है। अतएव यह विशिष्ट अर्थ प्रतिभाजन्य है, स्वादु (सरस) है, वाच्य से भिन्न कुछ दूसरी ही वस्तु है और प्रतीयमान है।

सरस्वती स्वादु तदर्थवस्तु निःष्यन्दमाना महतां कवीनाम्।
अलोकसामान्यमभिव्यनक्ति परिस्फुरन्तं प्रतिभाविशेषम्॥

उस स्वादु अर्थवस्तु को बिखेरती हुई बडे बडे कवियों की सरस्वती अलौकिक तथा अतिभासमान प्रतिभाविशेष को प्रकट करती है।

इसपर लोचनकार की टिप्पणी है :

सर्वत्र शब्दार्थयोरुभयोरपि ध्वननव्यापारः। ...स (काव्यविशेषः) इति। अर्थो वा, शब्दो वा, व्यापारो वा। अर्थोऽपि वाच्यो वा ध्वनतीति शब्दोऽप्येवं व्यंग्यो वा ध्वन्यत इति। व्यापारो वा शब्दार्थयोर्ध्वननमिति। कारिकया तु प्राधान्येन समुदाय एव वाच्यरूपमुखतया ध्वनिरिति प्रतिपादितम्।

अर्थात् सर्वत्र शब्द और अर्थ दोनों का ही ध्वननव्यापार होता है। 'वह काव्यविशेष' का अर्थ है—अर्थ या शब्द या व्यापार। वाच्य अर्थ भी ध्वनन करता है और शब्द भी, इसी प्रकार व्यंग्य (अर्थ) भी ध्वनित होता है। अथवा शब्द अर्थ का व्यापार भी ध्वनन है। इस प्रकार कारिका के द्वारा प्रधानतया समुदाय शब्द, अर्थवाच्य (व्यंजक) अर्थ और व्यंग्य अर्थ तथा शब्द और अर्थ का व्यापार ही ध्वनि है।

अभिनवगुप्त के कहने का तात्पर्य यह है कि कारिका के अनुसार ध्वनि संज्ञा केवल काव्य को ही नहीं दी गई वरन् शब्द, अर्थ और शब्द अर्थ के व्यापार, इन सबको ध्वनि कहते हैं।

ध्वनि शब्द के व्युत्पत्तिअर्थों से भी ये पाँचो भेद सिद्ध हो जाते हैं :

१—ध्वनति यः स व्यंजकः शब्दः ध्वनिः ।

(जो ध्वनित करे या कराए वह व्यंजक शब्द ध्वनि है) ।

२—ध्वनति ध्वनयति वा यः सः व्यंजकोऽर्थः ।

(जो ध्वनित करे या कराए वह व्यंजक अर्थ ध्वनि है) ।

३—ध्वन्यते इति ध्वनिः ।

(जो ध्वनित किया जाय वह ध्वनि है) । इसमें रस, अलंकार और वस्तु, व्यंग्य अर्थ के ये तीनो रूप आ जाते हैं ।

४—ध्वन्यते अनेन इति ध्वनिः ।

(जिसके द्वारा ध्वनित किया जाय वह ध्वनि है) । इससे शब्द अर्थ के व्यापार, व्यंजना आदि शक्तियों का बोध होता है ।

५—ध्वन्यतेऽस्मिन्निति ध्वनिः ।

(जिसमें वस्तु, अलंकार रसादि ध्वनित हों उस काव्य को ध्वनि कहते हैं) ।

इस प्रकार ध्वनि का प्रयोग पाँच भिन्न भिन्न परंतु परस्पर संबद्ध अर्थों में होता है :

१—व्यंजक शब्द
२—व्यंजक अर्थ
३—व्यग्य अर्थ
४—व्यंजना (व्यंजना व्यापार) और
५—व्यंग्यप्रधान काव्य ।

संक्षेप मे ध्वनि का अर्थ है व्यंग्य, परंतु पारिभाषिक रूप मे यह व्यंग्य वाच्यातिशायी होना चाहिए—वाच्यातिशायिनि व्यंग्ये ध्वनिः (साहित्यदर्पण) इस आतिशय्य अथवा प्राधान्य का आधार है चारुत्व अर्थात् रमणीयता का उत्कर्ष—

चारुत्वोत्कर्ष-निबन्धना हि वाच्यव्यंग्ययोः प्राधान्यविवक्षा
—(ध्वन्यालोक)

अतएव वाच्यातिशायी का अर्थ हुआ 'वाच्य से अधिक रमणीय' और ध्वनि का संक्षिप्त लक्षण हुआ 'वाच्य से अधिक रमणीय व्यंग्य' ।

(३) ध्वनि की प्रेरणा : स्फोट सिद्धांत—ध्वनि सिद्धात की प्रेरणा ध्वनिकार को वैयाकरणों के स्फोट सिद्धात से मिली है। उन्होंने स्पष्ट स्वीकार किया है कि 'सूरिभिः कथितः' में सूरिभिः (विद्वानों द्वारा) से अभिप्राय वैयाकरणों से है क्योंकि वैयाकरण ही पहले विद्वान् हैं और व्याकरण ही सब विद्याओं का मूल है। वे श्रूयमाण (सुने जाते हुए) वर्णों में ध्वनि का व्यवहार करते हैं।

लोचनकार ने इस प्रसंग को और स्पष्ट किया है। उन्होंने वैयाकरणों के स्फोट सिद्धांत के साथ आलंकारिकों के इस ध्वनि सिद्धात का पूर्णतः सामंजस्य स्थापित करते हुए तद्विषयक पृष्ठाधार की सांगोपाग व्याख्या की है। ध्वनि के पाँचो रूपों—व्यंजक शब्द, व्यंजक अर्थ, व्यंग्य अर्थ, व्यंजना व्यापार तथा व्यंग्य काव्य, सभी—के लिये व्याकरण में निश्चित एवं स्पष्ट संकेत हैं।

लोचनकार की टिप्पणी का व्याख्यान करने के लिये मैं अपने मित्र श्री विश्वंभरप्रसाद डबराल की ध्वन्यालोक टीका से दो उद्धरण देता हूँ :

"जब मनुष्य किसी शब्द का उच्चारण करता है तो श्रोता उसी उच्चरित शब्द को नहीं सुनता। मान लीजिए, मैं आपसे १० गज की दूरी पर खड़ा हूँ। आपने किसी शब्द का उच्चारण किया। मैं उसी शब्द को नहीं सुन सकता जो आपने उच्चरित किया। आपका उच्चरित शब्द मुख के पास ही अपने दूसरे शब्द को उत्पन्न करता है। दूसरा शब्द तीसरे को, तीसरा चौथे को और इस प्रकार क्रम चलता रहता है जब तक कि मेरे कान के पास शब्द उत्पन्न न हो जाय। इस प्रकार संतान रूप में आए हुए शब्दज शब्द को ही मैं सुन सकता हूँ। यह शब्दज शब्द ध्वनि कहलाता है। भगवान् भर्तृहरि ने भी कहा है :

> ***यः संयोगवियोगाभ्यां करणैरुपजन्यते।***
> ***स स्फोटः शब्दजः शब्दो ध्वनिरित्युच्यते बुधैः॥***

"करणों (वोकल आरगन्स) के संयोग और वियोग (क्योकि उनके खुलने और बंद होने से ही आवाज पैदा होती है) से जो स्फोट उपजनित होता है वह शब्दज शब्द विद्वानो द्वारा ध्वनि कहलाता है। वक्ता के मुख से उच्चरित शब्दो द्वारा उत्पन्न शब्द हमारे मस्तिष्क में नित्यवर्तमान स्फोट को जगा देते हैं। यही वैयाकरणों की ध्वनि है। इसी प्रकार आलंकारिको के अनुसार भी घंटानाद के समान अनुरणनरूप, शब्द से उत्पन्न, व्यंग्य अर्थ ध्वनि है।

"वैयाकरणों के अनुसार 'गौः' शब्द का उच्चारण होने पर हम 'ग्', 'औ' और ':' (विसर्ग), इनकी पृथक् पृथक् प्रतीति करते हैं। इनकी एक साथ स्थिति तो हो नहीं सकती। यदि ऐसा हो तो पौर्वापर्य का अवकाश ही नहीं रहेगा। तीन भिन्न शब्द एक साथ हो ही नहीं सकते। 'गौः' शब्द के सुनने पर हमारे मस्तिष्क में नित्यवर्तमान स्फोट रूप 'गौः' की प्रतीति होती है। किंतु इसके पहले केवल

'ग्' शब्द को सुनते ही इस प्रतीति के साथ स्फोट रूप 'गौः' की अस्पष्ट प्रतीति भी होती है जो 'ग्', 'औ' और ' : ' तक आ जाने पर पूर्णतया स्पष्ट हो जाती है।"

इसको आचार्य मम्मट की व्याख्या के आधार पर और स्पष्ट रूप से समझ लीजिए—गौः शब्द में 'ग्', 'औ' और ' : ' ये तीन वर्ण हैं। इन तीन वर्णों में से गौः का अर्थबोध किसके द्वारा होता है ? यदि यह कहें कि प्रत्येक के उच्चारण द्वारा, तो एक वर्ण पर्याप्त होगा, शेष दो व्यर्थ हैं। और यदि यह कहें कि तीनों वर्णों के समुदाय के उच्चारण द्वारा, तो वह असंभाव्य है, क्योंकि कोई भी वर्णध्वनि दो क्षण से अधिक नहीं ठहर सकती अर्थात् विसर्ग तक आते आते 'ग्' की ध्वनि का लोप हो जायगा जिसके कारण तीनों वर्णों के समुदाय की ध्वनि का एक साथ होना संभव न हो सकेगा। अतएव अत्यंत सूक्ष्म विवेचन के उपरात वैयाकरणों ने स्थिर किया कि अर्थबोध शब्द के 'स्फोट' द्वारा होता है अर्थात् पूर्व पूर्व वर्णों के संस्कार अंतिम वर्ण के उच्चारण के साथ संयुक्त होकर शब्द का अर्थबोध कराते हैं।

"भर्तृहरि भी यही कहते हैं :

प्रत्ययैरनुपाख्येयैर्ग्रहणानुग्रहैस्तथा।
ध्वनिप्रकाशिते शब्दे स्वरूपमवधार्यते ॥

"ग्रहण के लिये अनुगुण (अनुकूल), अनुपाख्येय (जिन्हें स्पष्ट शब्दो में व्यक्त नहीं किया जा सकता) प्रत्ययो (काग्निशंज) द्वारा ध्वनि रूप मे प्रकाशित शब्द (स्फोट) में स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। यहाँ वैयाकरणों के अनुसार नाद कहलानेवाले, अंत्यबुद्धि से ग्राह्य, स्फोटव्यंजक वर्ण ध्वनि कहलाते हैं। इसके अनुसार व्यंजक शब्द और अर्थ भी ध्वनि कहलाते हैं—यह आलकारिकों का मत है।

"हम एक श्लोक को कई प्रकार से पढ़ सकते हैं। कभी धीरे धीरे, कभी बहुत शीघ्र, कभी मध्यलय, कभी गाते हुए तथा कभी सीधे सीधे। किंतु सभी समय यद्यपि हम भिन्न भिन्न ध्वनियों का प्रयोग करते हैं, अर्थ केवल एक ही प्रतीत होता है। यह क्यों ? वैयाकरणों का कहना है कि शब्द दो प्रकार का होता है। एक तो स्फोट रूप में वर्तमान प्राकृत शब्द, दूसरा विकृत। हम जिन शब्दों का प्रयोग करते हैं वे उस स्फोट रूप प्राकृत की अनुकृति मात्र हैं। प्राकृत शब्द का नित्यस्वरूप एक होता है, उसकी अनुकृतियो (माडेलस) में विभिन्नता हो सकती है। विकृत शब्दों का उच्चारणरूप यह विभिन्न व्यापार भी वैयाकरणों के अनुसार ध्वनि है। आलंकारिकों के अनुसार भी प्रसिद्ध शब्दव्यापारो से भिन्न व्यंजकत्व नाम का शब्दव्यवहार ध्वनि है। इस प्रकार व्यंग्य अर्थ, व्यंजक शब्द, व्यंजक अर्थ और व्यंजकत्व व्यापार, ये चार तरह की ध्वनि हुई। इन चारों के एक साथ रहने पर समुदायरूप काव्य भी ध्वनि है। इस प्रकार लोचनकार ने वैयाकरणों का अनुसरण करके पाँचों में ध्वनित्व सिद्ध कर दिया।"

इस विवेचन का सारांश यह है :

१—जिसके द्वारा अर्थ का प्रस्फुटन हो उसे स्फोट कहते हैं।

२—शब्द के दो रूप होते हैं—एक व्यक्त अर्थात् विकृत रूप, दूसरा अव्यक्त अर्थात् प्राकृत (नित्य) रूप। व्यक्त का संबंध वैखरी और अव्यक्त का संबंध मध्यमा वाणी से है जो वैखरी की अपेक्षा सूक्ष्मतर है। पहला स्थूल ऐंद्रिय रूप है, जो उच्चारण की विधि के अनुसार बदलता रहता है। दूसरा सूक्ष्म मानस रूप है जो नित्य तथा अखंड है। यह हमारे मन में सदैव वर्तमान रहता है और शब्द अर्थात् वर्णों के संघातविशेष को सुनकर उद्बुद्ध हो जाता है। इसको शब्द का स्फोट कहते हैं। स्फोट का दूसरा नाम 'ध्वनि' भी है।

३—जिस प्रकार पृथक् पृथक् वर्णों को सुनकर भी शब्द का बोध नहीं होता (वह केवल स्फोट या ध्वनि के द्वारा ही होता), उसी तरह शब्दों का वाच्यार्थ ग्रहण कर भी काव्य के सौंदर्य की प्रतीति नहीं होती, वह केवल व्यंग्यार्थ या ध्वनि के द्वारा ही होती है।

४—व्याकरण में व्यंजक शब्द, व्यंजक अर्थ, व्यंग्य अर्थ, व्यंजना व्यापार तथा व्यंग्य काव्य, ध्वनि के इन पाँचो रूपों के लिये निश्चित संकेत मिलते हैं। यह स्फोट शब्द, वाक्य और प्रबंध तक का होता है।

इस प्रकार शब्दसाम्य और व्यापारसाम्य के आधार पर ध्वनिकार ने व्याकरण के ध्वनि सिद्धात से प्रेरणा प्राप्त कर अपने ध्वनि सिद्धांत की उद्भावना की।

(४) **ध्वनि की स्थापना**—आगे चलकर ध्वनि का सिद्धात यद्यपि सर्वमान्य सा हो गया परंतु आरंभ मे इसे घोर विरोध का सामना करना पड़ा। एक तो ध्वनिकार ने ही पहले से बहुत कुछ विरोध का निराकरण कर दिया था, उसके उपरांत मम्मट ने उसका अत्यंत योग्यतापूर्वक समर्थन किया जिसके परिणामस्वरूप प्रायः सभी विरोध शात हो गया।

ध्वनिकार ने तीन प्रकार के विरोधियों की कल्पना की थी—एक अभाववादी, दूसरे लक्षणा में ध्वनि (व्यंजना) का अंतर्भाव करनेवाले, और तीसरे वे जो ध्वनि का अनुभव तो करते हैं, परंतु उसकी व्याख्या असंभव मानते हैं[1]।

[1] काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्यः समाम्नातपूर्व-
स्तस्याभावं जगदुरपरे भाक्तमाहुस्तमन्ये।
केचिद् वाचां स्थितमविषये तत्वमूचुस्तदीयं,
तेन ब्रूमः सहृदयमनःप्रीतये तत्स्वरूपम्। —ध्वन्यालोक

सबसे पहले अभाववादियों को लीजिए। अभाववादियों के विकल्प इस प्रकार हैं :

(१) ध्वनि को आप काव्य की आत्मा (सौंदर्य) मानते हैं, पर काव्य शब्द और अर्थ का संबद्ध शरीर ही तो है। स्वयं शब्द और अर्थ तो ध्वनि हो नहीं सकते। अब यदि उनके सौंदर्य अथवा चारुत्व को आप ध्वनि मानते हैं तो यह पुनरावृत्ति मात्र है क्योंकि शब्द और अर्थ के चारुत्व विषयक सभी प्रकारों का विवेचन किया जा चुका है।

शब्द का चारुत्व तो शब्दालंकार तथा गुण के अंतर्गत आ जाता है और अर्थ का चारुत्व अर्थालंकार तथा अर्थगुण मे। इनके अतिरिक्त वैदर्भी आदि रीतियाँ और इनसे अभिन्न उपनागरिका आदि वृत्तियाँ भी हैं जिनका संबंध शब्द अर्थ के साहित्य (मिश्र शरीर) से है। सभी प्रकार के शब्द और अर्थगत सौंदर्य का अंतर्भाव इनमें हो जाता है। अतएव ध्वनि से आशय यदि शब्द और अर्थगत चारुत्व से है तो उसका तो सम्यक् विवेचन पहले ही किया जा चुका है, फिर ध्वनि की क्या आवश्यकता है। यह या तो पुनरावृत्ति है या अधिक से अधिक एक नवीन नामकरण मात्र है, जिसका कोई महत्व नही।

(२) दूसरे विकल्प मे परंपरा की दुहाई दी गई है। यदि प्रसिद्ध परंपरा से आए हुए मार्ग से भिन्न काव्यप्रकार माना जाय तो काव्यत्व की ही हानि होती है। इनकी युक्ति यह है कि आखिर ध्वनि की चर्चा से पहले भी तो काव्य का आस्वादन होता रहा है, यदि काव्य की आत्मा का अन्वेषण आप अब कर रहे हैं तो अब तक क्या लोग मूर्खों की भाँति अभाव में भाव की कल्पना करते रहे हैं। यदि ध्वनि प्रसिद्ध काव्यपरंपरा से भिन्न कोई मार्ग है तो अब तक के काव्य के काव्यत्व का क्या हुआ ? वह तो इस प्रकार रह ही नहीं जाता। इनके कहने का तात्पर्य यह है कि ध्वनि से पूर्व भी तो काव्य था और सहृदय उसके काव्यत्व का आस्वादन करते थे। यदि काव्य की आत्मा ध्वनि आपने अब ढूँढ़ निकाली है तो पूर्ववर्ती काव्य का काव्यत्व तो असिद्ध हो जाता है।

(३) कुछ लोग ध्वनि के अभाव को एक और रीति से प्रतिपादित करते हैं। वे कहते हैं कि यदि ध्वनि कमनीयता का ही कोई रूप है तब तो वह कथित चारुत्व कारणों में ही अंतर्भूत हो जाता है। हाँ, यह हो सकता है कि वाक् के भेद प्रभेद की अनंतता के कारण लक्षणकारों ने किसी प्रभेदविशेष की समाख्या न की हो और उसी को आप खोज निकालकर ध्वनि नाम दे रहे हों। परंतु यह तो कोई बड़ी बात नहीं हुई। यह तो झूठी सहृदयता मात्र है।

ध्वनि के अस्तित्व का निषेध करनेवालों की युक्तियों का सारांश यही है। ये एक प्रकार से अभिधा या वाच्यार्थ में ही व्यंजना या ध्वनि का अंतर्भाव करते हैं।

ध्वनिविरोधियों का दूसरा वर्ग उसको लक्षणा के अंतर्गत मानता है। इन लोगों को भाक्तवादी कहा गया है।

तीसरा वर्ग ऐसे लोगों का है जो ध्वनि को सहृदयसंवेद्य मानते हुए भी उसे वाणी के लिये अगोचर मानते हैं, अर्थात् उसकी परिभाषा को असंभव मानते हैं। इनको ध्वनिकार ने 'लक्षण करने में अप्रगल्भ' कहा है।

इन विरोधियों की कल्पना तो ध्वनिकार ने स्वयं कर ली थी, परंतु उनके बाद भी इस सिद्धांत का विरोध हुआ। परवर्ती विरोधियों में सबसे अधिक पराक्रमी थे भट्ट नायक, महिम भट्ट तथा कुंतक। भट्ट नायक ने रसास्वादन के हेतुरूप शब्द की भावकत्व और भोजकत्व दो शक्तियों की उद्‌भावना की और व्यंजना का निषेध किया। महिम भट्ट ने ध्वनि को अनुमिति मात्र मानते हुए व्यंजना का निषेध किया और अभिधा को ही पर्याप्त माना। कुंतक ने ध्वनि को वक्रोक्ति के अंतर्गत माना। भट्ट नायक का उत्तर अभिनव गुप्त ने तथा अन्य का मम्मट ने दिया और व्यंजना की अतर्क्यता सिद्ध करते हुए ध्वनि को अकाट्य माना।

वास्तव में ध्वनि का विशाल भवन व्यंजना के आधार पर ही खड़ा हुआ है, और ध्वनि की स्थापना का अर्थ व्यंजना की ही स्थापना है।

सबसे पहले अभाववादियों के विकल्प लीजिए। उनका एक तर्क यह है कि ध्वनिप्रतिपादन के पूर्व भी तो काव्य में काव्यत्व था, और सहृदय निर्बाध उसका आस्वादन करते थे। यदि ध्वनि काव्य की आत्मा है तो पूर्ववर्ती काव्य में काव्यत्व की हानि हो जाती है। इसका उत्तर ध्वनिकार ने ही दिया है और वह यह है कि ध्वनि का नामकरण उस समय नहीं हुआ था, परंतु उसकी स्थिति तो उस समय भी थी। उदाहरण के लिये पर्यायोक्त आदि अलंकारों में व्यंग्य अर्थ अत्यंत स्पष्ट रूप में वर्तमान रहता है, उसका महत्व गौण है। परंतु उसका अस्तित्व तो असंदिग्ध है। इस व्यंग्यार्थ के लिये केवल व्यंजना ही उत्तरदायी है। इसके अतिरिक्त रस आदि की स्वीकृति में भी स्पष्टतः व्यंग्य की स्वीकृति है क्योंकि रस आदि अभिधेय तो होते नहीं। उधर लक्ष्य ग्रंथों में भी काव्य के विधायक इस तत्व की प्रतीति निश्चित है, चाहे निरूपण न हो।

अभाववादियों की सबसे प्रबल युक्ति यह है कि व्यंजना का पृथक् अस्तित्व मानने की आवश्यकता नहीं है। वह अभिधा के या फिर लक्षणा के अंतर्गत आ जाती है।

इसका एक अभावात्मक उत्तर तो यह है कि ध्वनि के जो दो प्रमुख भेद किए गए हैं उन दोनों का अंतर्भाव अभिधा या लक्षणा में नहीं किया जा सकता। अविवक्षित वाच्य ध्वनि अभिधा के आश्रित नहीं है। अभिधा के विफल हो जाने के उपरात लक्षणा की सामर्थ्य पर ही उसका अस्तित्व अवलंबित है। उधर विवक्षि-

तात्पर्यवाच्य में लक्षणा बीच में आती ही नहीं। अतएव यह सिद्ध हुआ कि ध्वनि का एक प्रमुख भेद तथा उसके उपभेद अभिधा के अंतर्गत नहीं समा सकते, और दूसरा भेद तथा उसके अनेक प्रभेद लक्षणा से बहिर्गत हैं। अर्थात् ध्वनि अभिधा और लक्षणा में नहीं समा सकती। भावात्मक उत्तर यह है कि अभिधार्थ और लक्षणार्थ का ध्वन्यर्थ से पार्थक्य प्रकट करनेवाले अनेक अतर्क्य तथा स्वयंसिद्ध प्रमाण हैं।

(५) अभिधार्थ और ध्वन्यर्थ का पार्थक्य—बोद्धा, स्वरूप, संख्या, निमित्त, कार्य, काल, आश्रय और विषय आदि के अनुसार व्यंग्यार्थ प्रायः वाच्यार्थ से भिन्न हो जाता है :

> **बोद्धृ स्वरूपसंख्यानिमित्तकार्यप्रतीतिकालानाम् ।**
> **आश्रयविषयादीनां भेदाद्भिन्नोऽभिधेयतो व्यंग्यः ॥**
>
> —सा० द०

बोद्धा के अनुसार पार्थक्य—वाच्यार्थ की प्रतीति कोश, व्याकरणादि के प्रत्येक ज्ञाता को हो सकती है, परंतु ध्वन्यर्थ की प्रतीति केवल सहृदय को ही हो सकती है।

स्वरूप—कहीं वाच्यार्थ विधिरूप है तो व्यंग्यार्थ निषेधरूप। कहीं वाच्यार्थ निषेधरूप है, पर व्यंग्यार्थ विधिरूप। कहीं वाच्यार्थ विधिरूप है, या कहीं निषेध रूप है, पर व्यंग्यार्थ अनुभवरूप है। कहीं वाच्यार्थ संशयात्मक है, पर व्यंग्यार्थ निश्चयात्मक।

संख्या—संख्या के अंतर्गत प्रकरण, वक्ता और श्रोता का भेद भी आ जाता है। उदाहरण के लिये 'सूर्यास्त हो गया' इस वाक्य का वाच्यार्थ तो सभी के लिये एक है, पर व्यंग्यार्थ वक्ता, श्रोता तथा प्रकरण के भेद से अनेक होंगे।

निमित्त—वाच्यार्थ का बोध साक्षरता मात्र से हो जाता है, परंतु व्यंग्यार्थ की प्रतीति प्रतिभा द्वारा ही संभव है। वास्तव में निमित्त और बोद्धा का पार्थक्य बहुत कुछ एक ही है।

कार्य—वाच्यार्थ से वस्तुज्ञान मात्र होता है, परंतु व्यंग्यार्थ से चमत्कार (आनंद) का आस्वादन होता है।

काल—वाच्यार्थ की प्रतीति पहले और व्यंग्यार्थ की उसके उपरांत होती है। यह क्रम लक्षित हो या न हो, परंतु इसका अस्तित्व असंदिग्ध है।

आश्रय—वाच्यार्थ केवल शब्द या पद के आश्रित रहता है, परंतु व्यंग्यार्थ शब्द में, शब्द के अर्थ में, शब्द के एक अंश में, वर्ण या वर्णरचना आदि में भी रहता है।

विषय—कहीं वाच्य और व्यंग्य का विषय ही भिन्न होता है। वाच्यार्थ एक व्यक्ति के लिये अभिप्रेत होता है, और व्यंग्यार्थ दूसरे के लिये।

पर्याय—इसके अतिरिक्त पर्याय शब्दों के भी व्यंग्यार्थ में अंतर होता है। स्पष्टतः सभी पर्यायों का वाच्यार्थ एक सा होता है, परंतु व्यंग्यार्थ भिन्न हो सकता है। उपयुक्त विशेषण का चयन बहुत कुछ इसी पार्थक्य पर निर्भर रहता है।

आधुनिक हिंदी काव्य में तथा विदेश के साहित्यशास्त्र में विशेषणचयन काव्यशिल्प का विशेष गुण माना गया है और उसका अत्यंत सूक्ष्म विवेचन भी किया गया है।

(६) **अन्वित अर्थ की व्यंजना**—अभिधा केवल अन्वित अर्थ का ही बोध करा सकती है, परंतु कहीं कहीं अन्वित अर्थ के अतिरिक्त किसी अनन्वित अर्थ की भी व्यंजना होती है। इस प्रकरण में मम्मट ने 'कुरु रुचिं' और 'रुचिंकुरु' का उदाहरण दिया है। अन्वित अर्थ की दृष्टि से 'रुचिंकुरु' सर्वथा निर्दोष है, परंतु इसमें 'चिंकु' के द्वारा, जो सर्वथा अनन्वित है, अश्लील अर्थ का बोध होता है। चिंकु काश्मीर की भाषा में अश्लील अर्थ का बोधक है। पं० रामदहिन मिश्र ने पंत की निम्नलिखित पंक्ति में यही उदाहरण घटाया है :

'सरलपन ही था उसका मन' से 'सरल पनही (जूता) था उसका मन' इस अनन्वित अर्थ की व्यंजना भी हो जाती है।

यह अनन्वित अर्थ अभिधा का व्यापार तो हो नहीं सकता। वैसे भी यह वाच्य न होकर व्यंग्य ही है, अतएव व्यंजना का ही व्यापार सिद्ध हुआ।

रसादि भी अभिधाश्रित ध्वनिभेद के अंतर्गत आते हैं। ये विवक्षितान्य-परवाच्य के असंलक्ष्यक्रम भेद के अंतर्गत हैं। ये रसादि भी व्यंजना के अस्तित्व के प्रबल प्रमाण हैं क्योंकि ये कहीं भी वाच्य नहीं होते, सदा वाच्य द्वारा आक्षिप्त व्यंग्य होते हैं। शृंगार शब्द के अभिधेयार्थ के द्वारा शृंगार रस की प्रतीति असंभव है। इस प्रकार यह सिद्ध हो जाता है कि कम से कम रसादि की प्रतीति अभिधा की सामर्थ्य से बाहर है। इस प्रसंग को लेकर संस्कृत के आचार्यों में बड़ा शास्त्रार्थ हुआ है। सबसे पहले तो भट्ट नायक ने व्यंजना का निषेध करते हुए शब्द की भावकत्व और भोजकत्व दो शक्तियाँ मानीं और चारु अर्थ का भावन तथा रस का आस्वाद उन्हीं के द्वारा माना। परंतु अभिनव गुप्त ने भावकत्व और भोजकत्व की कल्पना को निराधार और अनावश्यक माना, तथा व्याकरण आदि के आधार पर व्यंजना की ही स्थापना की।

वास्तव में भट्ट नायक अपने सिद्धांत को अधिक वैज्ञानिक रूप नहीं दे सके। शब्द की भावकत्व और भोजकत्व जैसी शक्तियों के लिये न तो व्याकरण में और न

मीमांसा आदि में ही कहीं कोई आधार मिलता है, और इधर मनोविज्ञान तथा भाषाशास्त्र की दृष्टि से भी इसकी सिद्धि नहीं हो सकती। भावकत्व का कार्य भावन कराने में सहायक होना है, और भावन बहुत कुछ कल्पना की क्रिया है। अतएव भावकत्व का कार्य हुआ कल्पना को उद्बुद्ध करना। उधर भोजकत्व का कार्य है साधारणीकृत अर्थ के भावन द्वारा रस की चर्वणा कराना। भट्ट नायक के कहने का तात्पर्य आधुनिक शब्दावली में यह है कि काव्यगत शब्द पहले तो पाठक को अर्थबोध कराता है, फिर उसकी कल्पना को जाग्रत करता है और तदनंतर उसके मन मे वासना रूप से स्थित स्थायी मनोविकारों को उद्बुद्ध करता हुआ उसको आनंदमग्न कर देता है। उनका यह संपूर्ण प्रयत्न इस तथ्य को स्पष्ट करने के लिये है कि शब्द और अर्थ के द्वारा काव्यगत उस विचित्र आनंद की प्राप्ति कैसे होती है। जहाँ तक काव्यानंद के स्वरूप का प्रश्न है, भट्ट नायक को उसके विषय में कोई भ्रांति नहीं है। वे जानते हैं कि यह आनंद वासनामूलक तो अवश्य है, परंतु केवल वासनामूलक नहीं है। वासनामूलक आनंद के अन्य रूपों से इसका वैचित्र्य स्पष्ट है। वास्तव मे, जैसा मैंने अन्यत्र स्पष्ट किया है, काव्यानंद एक मिश्र आनंद है, इसमें वासनाजन्य आनंद और बौद्धिक आनंद दोनो का समन्वय रहता है। उसके इसी मिश्र स्वरूप को एडीसन ने कल्पना का आनंद कहा है जो मनोविज्ञान की दृष्टि से ठीक भी है क्योंकि कल्पना चित्त और बुद्धि की मिश्रित क्रिया ही तो है। इसी मिश्र रूप की व्याख्या मे (यद्यपि भट्ट नायक ने स्वयं इसको अपने शब्दो मे व्यक्त नहीं किया है जिसका कारण परंपरा से चला आया हुआ 'अनिर्वचनीय' शब्द था) भट्ट नायक ने भावकत्व और भोजकत्व की कल्पना की हैं। भावकत्व उसके बौद्धिक अंश का हेतु है और भोजकत्व उसके वासनाजन्य रूप का व्याख्यान करता है। अभिनव ने ये दोनों विशेषताएँ अकेली व्यंजना में मानी है। व्यंजना ही हमारी कल्पना को जगाकर हमारे वासनारूप स्थित मनोविकारों की चरम परिणति के आनंद का आस्वादन कराती है। इस प्रकार मूलतः भावकत्व और भोजकत्व दोनों का उद्देश्य भी वही ठहरता है जो अकेली व्यंजना का। व्याकरण और मीमासा आदि के सहारे व्यंजना का आधार चूँकि अधिक पुष्ट है, इसलिये अंततोगत्वा वही सर्वमान्य हुई। भट्ट नायक की दोनो शक्तियाँ निराधार घोषित कर दी गई।

इस प्रकार अभिधावादियों का यह तर्क खंडित हो जाता है कि अभिधा का अर्थ ही तीर की तरह उत्तरोत्तर शक्ति प्राप्त करता जाता है।

बाद में महिमभट्ट ने व्यंजना का प्रतिषेध किया और कहा कि अभिधा ही शब्द की एकमात्र शक्ति है, जिसे व्यंग्य कहा जाता है वह अनुमेय मात्र है, तथा व्यंजना पूर्वसिद्ध अनुमान के अतिरिक्त और कुछ नहीं। वे वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ

में व्यंजक-व्यंग्य-संबंध न मानकर लिंग-लिंगी-संबंध ही मानते हैं। परंतु उनके तर्कों का मम्मट ने अत्यंत युक्तिपूर्वक खंडन किया है। उनकी युक्ति है कि सर्वत्र ही वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ में लिंग-लिंगी-संबंध होना अनिवार्य है। लिंग-लिंगी-संबंध निश्चयात्मक है अर्थात् जहाँ लिंग (साधन या हेतु) निश्चय रूप से वर्तमान होगा, वही लिंगी (अनुमेय वस्तु) का अनुमान किया जा सकता है। परंतु ध्वनिप्रसंग में वाच्यार्थ सदा ही निश्चयात्मक हेतु नहीं हो सकता। वह प्रायः अनैकांतिक होता है। ऐसी स्थिति में उसे व्यंग्यार्थ रूप चमत्कार के अनुमान का हेतु कैसे माना जा सकता है? मनोविज्ञान की दृष्टि से भी महिम भट्ट का तर्क अधिक संगत नहीं है, क्योंकि अनुमान में साधन से साध्य की सिद्धि तर्क या बुद्धि के द्वारा होती है, पर ध्वनि में वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ की प्रतीति तर्क के सहारे न होकर सहृदयता (भावुकता, कल्पना आदि) के द्वारा होती है।

अब भाक्त (लक्षणा) वादियों को लीजिए। उनका कहना है कि वाच्यार्थ के अतिरिक्त यदि कोई दूसरा अर्थ होता है वह लक्ष्यार्थ के ही अंतर्गत आ जाता है। व्यंग्यार्थ लक्ष्यार्थ का ही एक रूप है, अतएव लक्षणा से भिन्न व्यंजना जैसी कोई शक्ति नहीं है। इस मत का खंडन अधिक सरल है।

इसके विरुद्ध पहली प्रबल युक्ति तो स्वयं ध्वनिकार ने प्रस्तुत की है। वह यह कि वाच्यार्थ की तरह लक्ष्यार्थ भी नियत ही होता है और उसे वाच्यार्थ के वृत्त में ही होना चाहिए। अर्थात् लक्ष्यार्थ वाच्यार्थ से निश्चय ही संबद्ध होगा। 'गंगा पर घर' वाक्य में गंगा का जो प्रवाहरूप अर्थ है वह तट को ही लक्षित कर सकता है, सड़क को नहीं, क्योंकि प्रवाह का तट के साथ ही नियत संबंध है (काव्यालोक)। इसके विपरीत व्यंग्यार्थ का वाच्यार्थ के साथ नियत संबंध अनिवार्य नहीं है—इन दोनों का नियत संबंध, अनियत संबंध और संबंध संबंध भी होता है। ध्वनिकार ने इसकी विस्तृत व्याख्या की है। कहने का तात्पर्य यह है कि लक्ष्यार्थ एक ही हो सकता है और वह भी सर्वथा संबद्ध होगा, परंतु व्यंग्यार्थ अनेक हो सकते हैं और उनका संबंध अनियत भी हो सकता है।

दूसरी प्रबल युक्ति यह है कि प्रयोजनवती लक्षणा का प्रयोग सर्वदा किसी प्रयोजन से किया जाता है। उदाहरण के लिये 'गंगा के किनारे घर' के स्थान पर 'गंगा पर घर' कहने का एक निश्चित प्रयोजन है और वह यह है कि 'पर' के द्वारा अतिनैकट्य और तज्जन्य शैत्य और पावनत्व आदि की सूचना अभिप्रेत है। लक्षणा का यह प्रयोग सर्वत्र सप्रयोजन होगा अन्यथा यह केवल वितंडा मात्र रह जायगा। यह प्रयोजन सर्वत्र व्यंग्य रहता है और इसकी सिद्धि व्यंजना के द्वारा ही हो सकती है।

तीसरा तर्क पहले ही उपस्थित किया जा चुका है और वह यह है कि

रसादि सीधे वाच्यार्थ से व्यंग्य होते हैं, लक्ष्यार्थ के माध्यम से उनकी प्रतीति नहीं होती। अतएव उनका लक्ष्यार्थ से कोई संबंध नहीं। इस प्रकार लक्षणा में व्यंजना का अंतर्भाव संभव नहीं है।

इनके अतिरिक्त कुछ और भी प्रमाण हैं जिनसे ध्वनि की सिद्धि होती है। उदाहरण के लिये, दोष दो प्रकार के होते हैं—नित्य दोष, जो सर्वत्र काव्य की हानि करते हैं, और अनित्य दोष, जो प्रसंगभेद से काव्य के साधक भी हो जाते हैं—जैसे श्रुतिकटुत्वादि, जो शृंगार में बाधक होते हैं वे ही वीर तथा रौद्र के साधक हो जाते हैं। दोषों की यह नित्यानित्यता व्यंग्यार्थ की स्वीकृति पर ही अवलंबित है। श्रुतिकटु वर्ण वीर अथवा रौद्र के साधन इसीलिये हैं कि वे कर्कशता की व्यंजना कर उत्साह और क्रोध की कठोरता में योग देते हैं। इनके द्वारा कर्कशता व्यंग्य रहती है, वाच्य नहीं।

(५) ध्वनि के भेद—ध्वनि के मुख्य दो भेद हैं—(१) लक्षणामूला ध्वनि और (२) अभिधामूला ध्वनि।

(अ) लक्षणामूला ध्वनि—लक्षणामूला ध्वनि स्पष्टतः लक्षणा के आश्रित होती है, इसे अविवक्षितवाच्य ध्वनि भी कहते हैं। इसमें वाच्यार्थ की विवक्षा नहीं रहती, अर्थात् वाच्यार्थ बाधित रहता है, उसके द्वारा अर्थ की प्रतीति नहीं होती। लक्षणामूल ध्वनि के दो भेद हैं—(अ) अर्थातरसंक्रमितवाच्य और (आ) अत्यंत-तिरस्कृत वाच्य। अर्थातरसंक्रमित वाच्य से अभिप्राय है जहाँ वाच्यार्थ हमारे अर्थ में संक्रमित हो जाय अर्थात् जहाँ वाच्यार्थ बाधित होकर दूसरे अर्थ मे परिणत हो जाय। ध्वनिकार ने इसके उदाहरण स्वरूप पर अपना एक श्लोक[१] दिया है जिसका स्थूल हिंदी रूपातर इस प्रकार है :

तबही गुन सोभा लहैं, सहृदय जबहिं सराहिं।
कमल कमल हैं तबहिं, जब रबिकर सों बिकसाहिं॥

यहाँ कमल का अर्थ हो जायगा 'मकरंदश्री एवं विकचता आदि से युक्त'—अन्यथा वह निरर्थक ही नहीं वरन् पुनरुक्त दोष का भागी भी होगा। इस प्रकार कमल का साधारण अर्थ उपर्युक्त व्यंग्यार्थ मे संक्रमित हो जाता है।

अत्यंततिरस्कृतवाच्य—अत्यंततिरस्कृत वाच्य में वाच्यार्थ अत्यंत तिरस्कृत रहता है। उसको लगभग छोड़ ही दिया जाता है। यह ध्वनि पदगत और वाक्यगत दोनों प्रकार की होती है। ध्वनिकार ने पदगत ध्वनि का उदाहरण दिया है :

[१] ताला जाअन्ति गुणा जाला दे सहिअएहि घेप्पन्ति।
रइ किरणानुग्गहिआइँ होन्ति कमलाइँ कमलाइँ॥

रविसंक्रान्त सौभाग्यस्तुषारावृतमण्डलः ।
निःश्वासान्ध इवादर्शश्चन्द्रमा न प्रकाशते ॥
(साँस सो आँधर दर्पन है जस बादर ओट लखात है चंदा)

यहाँ 'अंध' या 'आँधर' शब्द का अर्थ 'नेत्रहीन' न होकर लक्षणा की सहायता से 'पदार्थों को स्फुट करने में अशक्त' होता है। इस प्रकार वाच्यार्थ का सर्वथा तिरस्कार हो जाता है। इसका व्यंग्यार्थ है—"असाधारण विच्छायत्व, अनुपयोगित्व तथा इसी प्रकार के अन्य धर्म।" वाक्यगत ध्वनि का उदाहरण ध्वन्यालोक में यह दिया गया है :

सुवर्णपुष्पां पृथ्वीं चिन्वन्ति पुरुषास्त्रयः ।
शूरश्च, कृतविद्यश्च यश्च जानाति सेवितुम् ॥
+ + +
सुवरनपुष्पा भूमि कों, चुनत चतुर नर तीन ।
सूर और विद्यानिपुन, सेवा मांहि प्रवीन ॥
—काव्यकल्पद्रुम की सहायता से

यहाँ संपूर्ण वाक्य का ही मुख्यार्थ सर्वथा असमर्थ है क्योंकि न तो पृथ्वी सुवर्णपुष्पा होती है और न उसका चयन संभव है। अतएव लक्षणा की सहायता से इसका अर्थ यह होगा कि तीन प्रकार के नरश्रेष्ठ पृथ्वी की समृद्धि का अर्जन करते हैं। इस ध्वनि मे लक्षणलक्षणा रहती है।

लक्षणामूला ध्वनि अनिवार्यतः प्रयोजनवती लक्षणा के ही आश्रित रहती है क्योंकि रूढिलक्षणा में तो व्यंग्य होता ही नहीं।

(आ) अभिधामूला ध्वनि— जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, यह ध्वनि अभिधा पर आश्रित है। इसे विवक्षितान्यपरवाच्य भी कहते हैं। विवक्षितान्यपरवाच्य का अर्थ है—जिसमें वाच्यार्थ विवक्षित होने पर भी अन्यपरक अर्थात् व्यंग्यनिष्ट हो। अर्थात् यहाँ वाच्यार्थ का अपना अस्तित्व अवश्य होता है, परंतु वह अंततः व्यंग्यार्थ का माध्यम ही होता है। अभिधामूला ध्वनि के दो भेद हैं—असंलक्ष्यक्रम और संलक्ष्यक्रम। असंलक्ष्यक्रम में पूर्वापर का क्रम सम्यक् रूप से लक्षित नहीं होता, यह क्रम होता अवश्य है और उसका आभास भी निश्चय ही होता है, परंतु पूर्वापर अर्थात् वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ की प्रतीति का अंतर अत्यंतात्यंत स्वल्प होने के कारण 'शतपत्रभेदन्याय' से स्पष्टतया लक्षित नहीं होता। समस्त रसप्रपंच इसके अंतर्गत आता है। संलक्ष्यक्रम में यह पौर्वापर्य क्रम सम्यक् रूप से लक्षित होता है। कहीं यह शब्द के आश्रित होता है, कहीं अर्थ के आश्रित और कहीं शब्द और अर्थ दोनों के आश्रित। इस प्रकार इसके तीन भेद हैं—शब्द-शक्ति-उद्भव, अर्थ-

शक्ति-उद्‌भव और शब्दार्थ-उभय-शक्ति-उद्‌भव। वस्तुध्वनि और अलंकारध्वनि संलक्ष्यक्रम के अंतर्गत ही आती है क्योंकि इनमें वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ का पौर्वापर्य क्रम स्पष्ट लक्षित रहता है।

ध्वनि के मुख्य भेद ये ही हैं। इनके अवातर भेदों की संख्या का ठीक नहीं। मम्मट के अनुसार कुल संख्या १०४५५ तक पहुँचती है। ५१ शुद्ध और १०४०४ मिश्र। इधर पं० रामदहिन मिश्र ने ५५१६२० का हिसाब लगा दिया है।

(६) ध्वनि की व्यापकता—उपर्युक्त प्रस्तार से ही ध्वनि की व्यापकता सिद्ध हो जाती है। वैसे भी, काव्य का कोई भी ऐसा रूप नहीं है जो ध्वनि के बाहर पड़ता हो। ध्वनि की व्यापकता का दूसरा प्रमाण यह है कि उसकी सत्ता उपसर्ग और प्रत्यय से लेकर संपूर्ण महाकाव्य तक है। पदविभक्ति, क्रियाविभक्ति, वचन, संबंध, कारक, कृत्, प्रत्यय, समास, उपसर्ग, निपात, काल आदि से लेकर वर्ण, पद, वाक्य, मुक्तक पद्य और महाकाव्य तक उसके अधिकारक्षेत्र का विस्तार है। जिस प्रकार एक उपसर्ग या प्रत्यय या पदविभक्ति मात्र से एक विशिष्ट रमणीय अर्थ का ध्वनन होता है, उसी प्रकार संपूर्ण महाकाव्य से भी एक विशिष्ट अर्थ का ध्वनन या स्फोट होता है। प्र, परि, कु, वा, डा आदि जहाँ एक रमणीय अर्थ को व्यक्त करते हैं, वहाँ रामायण और महाभारत जैसे विशालकाय ग्रंथ का भी एक ध्वन्यर्थ होता है जिसे आधुनिक शब्दावली में संदेश, मूलार्थ आदि अनेक नाम दिए गए हैं।

(७) ध्वनि और रस—भरत ने रस की परिभाषा की है—विभाव, अनुभाव, संचारी आदि के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। इससे स्पष्ट है कि काव्य में केवल विभाव, अनुभाव आदि का ही कथन होता है—उनके संयोग के परिपाक रूप रस का नहीं। अर्थात् रस वाच्य नहीं होता। इतना ही नहीं, वाचक शब्दों द्वारा रस का कथन रसदोष भी माना जाता है—रस केवल प्रतीत होता है। दूसरे, जैसा अभी व्यंजना के विषय में कहा गया है, किसी उक्ति का वाच्यार्थ रसप्रतीति नहीं कराता, वह केवल अर्थबोध कराता है। रस सहृदय की हृदयस्थित वासना की आनंदमय परिणति है जो अर्थबोध से भिन्न है। अतएव उक्ति द्वारा रस का प्रत्यक्ष वाचन नहीं होता, अप्रत्यक्ष प्रतीति होती है—पारिभाषिक शब्दों में, व्यंजना या ध्वनन होता है। इसी तर्क से ध्वनिकार ने उसे केवल रस न मानकर रसध्वनि माना है।

(८) ध्वनि के अनुसार काव्य के भेद—ध्वनिवादियों ने काव्य के तीन भेद किए हैं—उत्तम, मध्यम और अधम। इस वर्गक्रम का आधार स्पष्टतः ध्वनि अथवा व्यंग्य की सापेक्षिक प्रधानता है। उत्तम काव्य में व्यंग्य की प्रधानता रहती है, अर्थात् उसमें वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्यार्थ प्रधान रहता है, उसी को ध्वनि कहा गया है। ध्वनि के भी, अर्थात् उत्तम काव्य के भी, तीन भेद हैं—रसध्वनि, अलं-

कारध्वनि और वस्तुध्वनि। इनमें रसध्वनि सर्वश्रेष्ठ है। मध्यम काव्य को गुणीभूत-व्यंग्य भी कहते हैं। इसमें व्यंग्यार्थ का अस्तित्व तो अवश्य होता है, परंतु वह वाच्यार्थ की अपेक्षा अधिक रमणीय नहीं होता—या तो समान रमणीय होता है, या कम, अर्थात् उसकी प्रधानता नहीं रहती। अधम काव्य के अंतर्गत चित्र आता है जो वास्तव में काव्य है भी नहीं। उसमें न तो व्यंग्यार्थ होता है और न अर्थगत चारुत्व। ध्वनिकार ने उसकी अधमता स्वीकार करते हुए भी काव्य की कोटि मे उसे स्थान दे दिया है—परंतु रस का सर्वथा अभाव होने के कारण अभिनव ने और उनके बाद विश्वनाथ ने उसको काव्य की श्रेणी से पूर्णतः बहिर्गत कर दिया है। इस प्रकार ध्वनि के अनुसार काव्य का उत्तम रूप है ध्वनि और ध्वनि में भी सर्वोत्तम है रसध्वनि। पंडितराज जगन्नाथ ने इसे उत्तमोत्तम भेद कहा है, अर्थात् रस या रस-ध्वनि काव्य का सर्वोत्तम रूप है। दूसरे शब्दों में रस ही काव्य का सर्वश्रेष्ठ तत्व है। शास्त्रीय दृष्टि से रस और ध्वनि का यही संबंध एवं तारतम्य है।

(६) **ध्वनि में अन्य सिद्धांतों का अंतर्भाव**—ध्वनिकार अपने संमुख दो उद्देश्य रखकर चले थे—एक ध्वनि सिद्धात की निर्भ्रांत स्थापना, दूसरे अन्य सभी प्रचलित सिद्धातों का ध्वनि मे समाहार। वास्तव में ध्वनि सिद्धात की सर्वमान्यता का मुख्य कारण भी यही हुआ। ध्वनि को उन्होंने इतना व्यापक बना दिया कि उसमे न केवल पूर्ववर्ती रस, गुण, रीति, अलंकार आदि का ही समाहार हो जाता था वरन् उनके परवर्ती वक्रोक्ति, औचित्य आदि भी उससे बाहर नही जा सकते थे। इसकी सिद्धि दो प्रकार से हुई—एक तो यह कि रस की भाँति गुण, रीति, अलंकार, वक्रता आदि भी व्यंग्य ही रहते हैं। वाचक शब्द द्वारा न तो माधुर्य आदि गुणों का कथन होता है, न वैदर्भी आदि रीतियों का, न उपमा आदि अलंकारों का, और न वक्रता का ही। ये सब ध्वनि रूप में ही उपस्थित रहते हैं। दूसरे गुण, रीति, अलंकार, आदि तत्व प्रत्यक्षतः अर्थात् सीधे वाच्यार्थ द्वारा मन को आह्लाद नही देते। अतएव ये सब ध्वन्यर्थ के संबंध से, उसी का उपकार करते हुए, अपना अस्तित्व सार्थक करते हैं। इनके अतिरिक्त इन सबका महत्व भी अपने प्रत्यक्ष रूप के कारण नहीं वरन् ध्वन्यर्थ के कारण है। क्योंकि जहाँ ध्वन्यर्थ नहीं होगा वहाँ ये आत्माविहीन पंचतत्वों अथवा आभूषणों आदि के समान निरर्थक होंगे। इसीलिये ध्वनिकार ने उन्हें ध्वन्यर्थ रूप अंगी का अंग माना है। इनमें गुणों का संबंध चित्त की द्रुति, दीप्ति आदि से है, अतएव वे ध्वन्यर्थ के साथ, जो मुख्यतया रस ही होता है, अंतरंग रूप से उसी प्रकार संबद्ध हैं, जैसे शौर्यादि आत्मा के साथ। रीति अर्थात् पदसंघटना का संबंध शब्दार्थ से है इसलिये वह काव्य के शरीर से संबद्ध है। परंतु फिर भी, जिस प्रकार सुंदर शरीरसंस्थान मनुष्य के बाह्य व्यक्तित्व की शोभा बढ़ाता हुआ वास्तव में उसकी आत्मा का ही

उपकार करता है, उसी प्रकार रीति भी अंततः काव्य की आत्मा का ही उपकार करती है। अलंकारों का संबंध भी शब्दार्थ से ही है। परंतु रीति का संबंध स्थिर है, अलंकारों का अस्थिर—अर्थात् यह आवश्यक नहीं है कि सभी काव्यशब्दों में अनुप्रास या किसी अन्य शब्दालंकार का, और सभी प्रकार के काव्यार्थों में उपमा या किसी अन्य अर्थालंकार का चमत्कार नित्यरूप से वर्तमान ही हो। अलंकारों की स्थिति आभूषणों की सी है जो अनित्यरूप से शरीर की शोभा बढाते हुए अंततः आत्मा के सौंदर्य में ही वृद्धि करते हैं। शरीरसौंदर्य की स्थिति आत्मा के बिना संभव नहीं है, अतएव शव के लिये सभी आभूषण व्यर्थ होते हैं। (यहाँ यह स्पष्ट कर देना उचित होगा कि ध्वनिकार ने अलंकार को अत्यंत संकुचित अर्थ मे ग्रहण किया है। अलंकार को व्यापक रूप में ग्रहण करने पर, अर्थात् उसके अंतर्गत सभी प्रकार के उक्तिचमत्कार को ग्रहण करने पर—चाहे उसका नामकरण हुआ हो या नहीं, चाहे वह लक्षणा का चमत्कार हो अथवा व्यंजना का—जैसा कुंतक ने वक्रोक्ति के विषय में किया है, उसे न तो शब्दार्थ का अस्थिर धर्म सिद्ध करना ही सरल है, और न अलंकार अलंकार्य में इतना स्पष्ट भेद किया ही जा सकता है।

(१०) **उपसंहार**—अंत में, उपसंहार रूप में, ध्वनि सिद्धात का एक सामान्य परीक्षण और आवश्यक है। क्या ध्वनि सिद्धात सर्वथा निर्भ्रांत और काव्य का एकमात्र स्वीकार्य सिद्धात है? क्या वह रस सिद्धात से भी अधिक मान्य है। इस प्रश्न का दूसरा रूप यह है—काव्य की आत्मा ध्वनि है अथवा रस? जैसा प्रसंग में कहा गया है, अंततोगत्वा रस और ध्वनि मे कोई अंतर नहीं रह गया था। यों तो आनंदवर्धन ने ही रस को ध्वनि का अनिवार्य तत्व माना था, पर अभिनव ने इसको और भी स्पष्ट करते हुए रस और ध्वनि सिद्धातों को एकरूप कर दिया। फिर भी, इन दोनो में सूक्ष्म अंतर न हो, ऐसी बात नहीं है। इस अंतर की चेतना अभिनव के उपरांत भी निरसंदेह बनी रही। विश्वनाथ का रसप्रतिपादन और उसके उपरांत पंडितराज जगन्नाथ द्वारा उनकी आलोचना तथा ध्वनि का पुनःस्थापन इस सूक्ष्म अंतर के अस्तित्व का साक्षी है। जहाँ तक दोनों के महत्व का प्रश्न है, उसमें संदेह नही किया जा सकता। ध्वनि रस के बिना काव्य नहीं बन सकती, और रस ध्वनित हुए बिना, केवल कथित होकर, काव्य नहीं हो सकता। काव्य मे ध्वनि को सरस, रमणीय होना पडेगा और रस को व्यंग्य। 'सूर्य अस्त हो गया' से एक ध्वनि यह निकलती है कि अब काम बंद करो—परंतु ध्वनि की स्थिति असंदिग्ध होने पर भी रस के अभाव में यह काव्य नहीं है। इसी प्रकार 'दुष्यंत शकुंतला से प्रेम करता है।' यह वाक्य रस का कथन करने पर भी व्यंजना के अभाव में काव्य नहीं है। अतएव दोनों की अनिवार्यता असंदिग्ध है। परंतु प्रश्न सापेक्षिक महत्व का है। विधि और तत्व दोनों

का ही महत्व है, परंतु फिर भी तत्व तत्व ही है। रस और ध्वनि में तत्व पद का अधिकारी कौन है ? इसका उत्तर निश्चित है—रस। रस और ध्वनि दोनों में रस ही अधिक महत्वपूर्ण है—उसी के कारण ध्वनि में रमणीयता आती है। पर इसको व्यापक अर्थ में ग्रहण करना चाहिए। रस को मूलतः परंपरागत संकीर्ण विभावानुभाव व्यभिचारी के संयोग से निष्पन्न रस के अर्थ में ग्रहण करना संगत नहीं। रस के अंतर्गत समस्त भावविभूति अथवा अनुभूतिवैभव आ जाता है। अनुभूति की वाहक (व्यंजक) बनकर ही ध्वनि रमणीय होती है, अन्यथा वह काव्य नहीं बन सकती। अनुभूति ही सहृदय के मन में अनुभूति जगाती है। हाँ, कवि की अनुभूति को सहृदय के मानस तक प्रेषित करने के लिये कल्पना का प्रयोग अनिवार्य है—उसी के द्वारा अनुभूति का प्रेषण संभव है। कल्पना द्वारा अनुभूति का प्रेषण ही तो शास्त्रीय शब्दावली में उसकी व्यंजना या ध्वनन है। इस प्रकार रस और ध्वनि का प्रतिद्वंद्व अनुभूति और कल्पना का ही प्रतिद्वंद्व ठहरता है। और अंत मे जाकर यह निश्चय करना रह जाता है कि इन दोनो में से काव्य के लिये कौन अधिक महत्वपूर्ण है ? यह निर्णय भी अधिक कठिन नहीं है—अनुभूति और कल्पना मे अनुभूति ही अधिक महत्वपूर्ण है क्योंकि काव्य का संवेद्य वही है। कल्पना इस संवेदन का अनिवार्य साधन अवश्य है, परंतु संवेद्य नहीं है। इसीलिये प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक आलोचक रिचर्ड्स ने प्रत्येक कविता को मूलतः एक प्रकार की अनुभूति ही माना है। और वैसे भी 'रसो वै सः'—रस तो जीवनचेतना का प्राण है। काव्य के क्षेत्र मे या अन्यत्र उसको अपने पद से कौन च्युत कर सकता है ? ध्वनि सिद्धात का सबसे महत्वपूर्ण योग यह रहा कि उसने जीवन के प्रत्यक्ष रस और काव्य के भावित रस के बीच का अंतर स्पष्ट कर दिया।

७. नायक-नायिका-भेद

(१) **पृष्ठाधार**—लक्ष्य ग्रंथो की ही भित्ति पर लक्षण ग्रंथ का निर्माण होता है—यह कथन काव्य के अन्य अंगो—अलंकार, गुण, दोष, रीति, ध्वनि, रस, शब्दशक्ति—पर तो घटित होता है, पर 'नायक-नायिका-भेद' पर पूर्ण रूप से घटित नहीं होता। यदि लक्ष्य ग्रंथों को ही आधार माना जाय तो नायिका के प्रमुख भेदो में से केवल स्वकीया नायिका ही 'नायिका' कहलाने की अधिकारिणी ठहरती है, शेष दो—परकीया (प्रौढ़ा तथा कन्या) और सामान्या—नायिकाएँ नहीं, क्योंकि संस्कृत साहित्य के काव्य और नाटक परकीया और सामान्या नायिकाओ को प्रमुख रूप में उपस्थित नहीं करते। यहाँ वसंतसेना, वासवदत्ता, शकुंतला और तारा के विषय में आपत्ति उठाई जा सकती है, पर न 'मृच्छकटिकम्' की वसंतसेना सामान्या नायिका की शास्त्रीय परिभाषा पर खरी उतरती है और न 'स्वप्नवासवदत्तम्' की वासवदत्ता तथा 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' की शकुंतला 'कन्या-परकीया' की। वसंतसेना को द्रव्य से

मोह नहीं और न वासवदत्ता और शकुंतला का प्रेम संसार से गुप्त है। प्रौढ़ा नारी तारा के प्रति बाली का तथावर्णित रतिसंबंध भी सामाजिक के हृदय में काव्यानंद की उत्पत्ति नहीं करता।

काव्य और नाटक के अतिरिक्त हरिवंश, पद्म, विष्णु, भागवत और ब्रह्मवैवर्त पुराणों में वर्णित कृष्णगोपी संबंधी आख्यानों को भी हमारे विचार में नायक-नायिका-भेद के पृष्ठाधार के रूप मे स्वीकार करना समुचित नहीं है। संस्कृत काव्यशास्त्रीय उपलब्ध ग्रंथो के आधार पर सर्वप्रथम भरत (३य शती ई० पू०—३य शती ई०) ने अपने ग्रंथ नाट्यशास्त्र मे कुलजा, कन्या, आभ्यंतरा (वेश्या), बाह्या (कुलीना) आदि नायिकाओं की ओर संकेत किया है। पहले तो यह निश्चित नहीं है कि उक्त सभी अथवा इनमें से कुछेक पुराणों के कृष्णगोपी संबंधी आख्यानों की रचना भरत से पूर्व हो चुकी थी, और दूसरे, भरत का नायक-नायिका-भेद-निरूपण किसी भी रूप में कृष्ण-गोपी-संबंध को सिद्धातबद्ध नहीं करता। वैष्णव परंपरा द्वारा अनुमोदित उज्वलनीलमणि ग्रंथ के रचयिता रूप गोस्वामी अपने ग्रंथ में परकीया नायिका को तो स्थान देते हैं, पर सामान्या को नहीं। उधर भरत के नाट्यशास्त्र में वेश्या (आभ्यंतरा) और स्वकीया (बाह्या तथा कुलजा) को तो स्थान मिला है, पर परकीया को नहीं। वैष्णव विचारधारा भरत के समय मे भिन्न रही हो और रूप-गोस्वामी के समय मे भिन्न—यह धारणा असंभव जान पड़ती है। इसके अतिरिक्त कृष्णाख्यानों की परकीयाएँ एकत्र रहकर ईर्ष्याभाव कर सकती हैं, पर परंपरागत नायिका-भेद-प्रकरणों मे परकीया का ऐसा स्वरूप चित्रित नहीं किया गया।

वस्तुतः 'लोकानुकृतिः नाट्यम्' का विवेचन करनेवाले भरत को लोक में प्रचलित साधारण स्त्रीपुरुषों की विभिन्न प्रकृतियों और उनके व्यवहारों से प्रेरणा मिली है और इसी आधार पर उन्होंने नायक-नायिका-भेदों का निरूपण किया है। इसी प्रसंग में कामशास्त्रों से प्राप्त प्रेरणा की भी उन्होंने चर्चा की है[1], पर किसी पुराण का यहाँ उल्लेख नही है। कामशास्त्र का पृष्ठाधार भी निस्संदेह साधारण जगत् का साधारण स्त्री-पुरुष-व्यवहार ही है, न कि नाटक, काव्य अथवा आख्यायिका

[1] (क) तत्र राजोपभोगं तु व्याख्यास्यामनुपूर्वका. ।
उपचारविधि सम्यक् कामसूत्रसमुत्थितम् ॥
(ख) आस्ववस्थासु विज्ञेया नायिका नाटकाश्रयाः ।
एतासां यच्च वक्ष्यामि कामतन्त्रमनेकधा ॥ —नाट्यशास्त्र, २४।१४१-४२,२१३,२२४
(ग) कुलागनानामेवाय प्रोक्त. कामाश्रयो विधि. ।
(घ) भावाभावौ विदित्वा च ततस्तैस्तैरुपक्रमैः ।
पुमानुपरेन्नारीं कामतंत्रं समीक्ष्य तु ॥ —नाट्यशास्त्र २५।६५

संबंधी ग्रंथसमुच्चय। अतः हमारे विचार में नायक-नायिका-भेद प्रकरणों का पृष्ठाधार साहित्यिक लक्ष्यग्रंथ न होकर मूलतः साधारण स्त्रीपुरुषों का पारस्परिक रतिव्यवहार ही है। यह अलग प्रश्न है कि आगे चलकर प्रचलित नायक-नायिका-भेद के आधार पर जयदेव जैसे संस्कृत कवियों ने गोपी कृष्ण संबंधी मुक्तक काव्यों का निर्माण किया, रूप गोस्वामी जैसे आचार्य ने नायक-नायिका-भेद प्रकरण को कृष्ण-गोपी-संबंध की भित्ति पर प्रतिष्ठित कर उसमें यथासाध्य परिवर्तन कर दिया और इधर हिंदी रीतिकालीन कवि नायक-नायिका-भेद संबंधी पूर्वस्थित धारणाओं को लक्ष्य में रखकर मुक्तक रचनाओं का निर्माण करता चला गया।

(२) नायक-नायिका-भेद-निरूपक आचार्य और ग्रंथ—संस्कृत वाङ्मय में नायक-नायिका-भेद को नाट्यशास्त्र, काव्यशास्त्र और कामशास्त्र संबंधी ग्रंथों में स्थान मिला है। कामशास्त्र संबंधी ग्रंथों में कामसूत्र, अनंगरंग, रतिरहस्य आदि के नाम विशेषतः उल्लेख्य हैं। नाट्यशास्त्र संबंधी चार ग्रंथ सुलभ हैं—भरत का नाट्यशास्त्र, धनंजय का दशरूपक, सागरनंदी का नाटक-लक्षण-रत्नकोष और रामचंद्र गुणचंद्र का नाट्यदर्पण। इन सबमें नायक-नायिका-भेद का यथास्थान निरूपण हुआ है, पर भरत के ग्रंथ के अतिरिक्त शेष ग्रंथों में पूर्ववर्ती काव्यशास्त्रकारों का ही अनुकरण मात्र है। नायक-नायिका-भेद की दृष्टि से काव्यशास्त्र संबंधी ग्रंथों के दो वर्ग हैं :

(क) शृंगार रस के अंतर्गत नायक-नायिका-भेद-निरूपक ग्रंथ : इनमें से रुद्रट का काव्यालंकार, भोज का सरस्वतीकंठाभरण और शृंगारप्रकाश तथा विश्वनाथ का साहित्यदर्पण विशेष उल्लेखनीय हैं। इनके अतिरिक्त रुद्रभट्ट, अग्निपुराणकार, श्रीकृष्ण कवि, वाग्भट्ट प्रथम, हेमचंद्र, शारदातनय, विद्यानाथ, शिंगभूपाल, वाग्भट्ट द्वितीय और केशव मिश्र के काव्यशास्त्रों में भी इस प्रकरण को स्थान मिला है, पर इनमें इस संबंध में कोई उल्लेखनीय नवीनता उपलब्ध नहीं होती।

(ख) केवल नायक-नायिका-भेद-निरूपक ग्रंथ : इस वर्ग में दो ग्रंथ अति प्रसिद्ध हैं—भानु मिश्र की रसमंजरी और रूप गोस्वामी का उज्वलनीलमणि। तीसरा ग्रंथ संत अकबर शाह प्रणीत शृंगारमंजरी प्रसिद्धि की दृष्टि से न सही, विषय-व्यवस्था और मौलिक मान्यताओं के लिये उल्लेखनीय एवं उपादेय है।

उपर्युक्त आचार्यों के ग्रंथों की अपनी अपनी विशिष्टताएँ हैं। भरत के नाट्यशास्त्र का मूल विषय नाटक होने के कारण यद्यपि नायक-नायिका-भेद की चर्चा केवल तीन अध्यायों में—२४वें, २५वें और ३४वें अध्यायों में और वह भी गौण रूप से—की गई है, फिर भी परवर्ती आचार्यों द्वारा प्रस्तुत लगभग सभी नायक-नायिका-भेदों और उनके उदाहरणों के मूल स्रोत भरत के इन्हीं प्रसंगों में यत्रतत्र निहित हैं। भरत के पश्चात् सर्वप्रथम रुद्रटप्रणीत काव्यालंकार में यह प्रकरण

अत्यंत व्यवस्थित रूप में प्रस्तुत किया गया और शताब्दियों तक इसी ग्रंथ की भेदयोजना का अनुकरण होता रहा है। भोजराज के सरस्वतीकंठाभरण और शृंगार-प्रकाश के प्रतिपादन की एक प्रमुख विशेषता है—अपने समय तक प्रचलित अथवा अप्रचलित काव्य के लगभग सभी अंगो एवं उपागो का यथासंभव वर्गबद्ध संकलन और संपादन। यह अलग बात है कि परवर्ती आचार्यों ने संभवतः इनके विस्तृत निरूपण से भयभीत होकर इनका अनुकरण नहीं किया। यही स्थिति इनके नायक-नायिका-भेद-प्रकरण की भी है। इस दृष्टि से विश्वनाथ अधिक सफल हुए। उन्होंने अपने समय तक प्रचलित नायक-नायिका-भेद संबंधी विस्तृत सामग्री मे से सारग्रहण कर उसे संक्षिप्त रूप में प्रस्तुत किया जो विद्वद्वर्ग तथा छात्रवर्ग दोनों के लिये उपयोगी हुआ।

नायक-नायिका-भेद की स्वतंत्र विवेचना सबसे पहले भानु मिश्र ने की। उनसे पूर्व इस प्रकरण को शृंगार रस के आलंबन विभाव के अंतर्गत निरूपित किया जाता था, परिणामतः इतना विस्तृत प्रसंग रसनिरूपण में एक अवाछित सी बाधा और विषय के अनुपात मे एक अनुचित सी विषमता उपस्थित करता रहा। पर भानु मिश्र के इस स्वतंत्र निरूपण से इनके ग्रंथ रसमंजरी मे ये दोष नही रहे। इसके अतिरिक्त विषय के विस्तार और स्वच्छ व्यवस्था की दृष्टि से भी यह ग्रंथ उपादेय एवं अनुकरणीय रहा है। रूप गोस्वामी के उज्वलनीलमणि ग्रंथ मे नायक-नायिका-भेद जैसे शुद्ध शृंगार रस के प्रसंग को इन्होने 'मधुर' रस के रूप मे ढालकर नवीन पथप्रदर्शन के साथ साथ नायक-नायिका-भेद से प्रभावित भक्त कवियो को शृंगारी कवि कहाने के लाछन से मुक्त करने का सुंदर प्रयास किया है। हिंदी के रीतिकालीन आचार्य नायक-नायिका-भेद के लक्षणपक्ष में भानु मिश्र से प्रायः प्रभावित हैं, और लक्ष्यपक्ष मे रूप गोस्वामी से। इन्होने उदाहरणनिर्माण के लिये प्रायः रूप गोस्वामी के समान गोपी कृष्ण को नायिका एवं नायक के भेदों का माध्यम बनाया है।

इस वर्ग के तीसरे लेखक अकबरशाह की प्रसिद्धि अपेक्षाकृत कम है। किंतु उनके ग्रंथ में नायक-नायिका-भेद का अत्यंत प्रौढ एवं खंडनमंडनात्मक विवेचन उपलब्ध होता है। लेखक ने स्थान स्थान पर भानु मिश्र की रसमंजरी और उसपर 'आमोद' नामक किसी अप्राप्य टीका का दुराग्रहरहित होकर खंडन प्रस्तुत करते हुए अपने सिद्धातों का प्रतिपादन किया है। यह ग्रंथ निम्नोक्त दो कारणों से हिंदी रीतिग्रंथों में अधिक प्रचार नहीं पा सका। प्रथम यह कि ग्रंथ की रचना दक्षिण भारत में होने के कारण इसकी 'संस्कृत छाया' उत्तर भारतीय हिंदी आचार्यों को प्रायः दुष्प्राप्य रही होगी। यद्यपि चिंतामणि ने इसकी 'हिंदी छाया' की भी रचना की थी, पर वह अपने मूलाधार के बिना जटिल एवं दुर्बोध बनी रही। दूसरा

कारण प्रथम की अपेक्षा कहीं अधिक सबल है और वह है *शृंगारमंजरी* की खंडन-मंडनात्मक गद्यबद्ध गंभीर शैली। रीतिकालीन हिंदी आचार्यों ने कभी इस खंडनमंडन के प्रपंच में पड़ना उचित नहीं समझा।

(३) नायक तथा नायिका के भेदोपभेद—

(अ) नायकभेद—भरत से लेकर अकबर शाह तक सभी आचार्यों ने विभिन्न आधारों पर नायक के भेदों का उल्लेख किया है। भरत ने नायक को प्रकृति के आधार पर तीन प्रकार का माना है—उत्तम, मध्यम और अधम; शील के आधार पर चार प्रकार का—धीरोद्धत, धीरललित, धीरोदात्त और धीरप्रशांत, नारी के प्रति रति संबंधी तथा अन्य व्यवहार के आधार पर भरत ने पुरुष के पाँच भेद माने हैं—चतुर, उत्तम, मध्यम, अधम और संप्रवृद्ध।

भरत के उपरांत रुद्रट ने नायिका के प्रति प्रेमव्यवहार के आधार पर नायक के चार भेद गिनाए हैं—अनुकूल, दक्षिण, शठ और धृष्ट। इनके पश्चात् भोजराज ने विभिन्न आधारों पर नायक के नवीन भेदों का उल्लेख किया है। उनके कथनानुसार कथावस्तु के आधार पर नायक के छह भेद हैं—नायक, प्रतिनायक उपनायक, नायकाभास, उभयाभास और तिर्यगाभास, प्रकृति के आधार पर तीन भेद हैं—सात्विक, राजस और तामस; परिग्रह के आधार पर दो भेद—साधारण (अनेकानुरक्त) और अनन्यजाति (अनन्यानुरक्त)। इनके अतिरिक्त भरतसंमत उत्तम आदि तीन तथा धीरोद्धत (उद्धत) आदि चार भेदों का इन्होंने भी उल्लेख किया है।

भोज के उपरांत फिर विश्वनाथ ने नायकभेदों का निरूपण किया है, पर उनमें कोई नवीनता नहीं है, हाँ, विषय की सुव्यवस्था के लिये वे अवश्य उल्लेखनीय हैं। इनके उपरांत भानु मिश्र ने नायक के तीन नूतन भेद उपस्थित किए हैं—पति, उपपति और वैशिक। यद्यपि इन भेदों का स्वरूप पूर्वाचार्यों ने किसी न किसी अन्य रूप में प्रस्तुत किया था, पर इनका नामकरण सर्वप्रथम भानु मिश्र के ग्रंथ में उपलब्ध होता है। इनमें से प्रथम दो नायक नायिका के प्रति व्यवहार के आधार पर चार चार प्रकार के हैं—अनुकूल, दक्षिण, धृष्ट और शठ। अन्य अज्ञात आचार्यों द्वारा स्वीकृत मानी और चतुर इन दो नायकभेदों को भानु मिश्र ने शठ के अंतर्भूत किया है। इनमें चतुर नायक दो प्रकार का है—वाक्चतुर और चेष्टाचतुर। प्रोषण के आधार पर नायक के तीन भेद हैं—प्रोषितपति, प्रोषितोपपति और प्रोषितवैशिक। जाति के आधार पर स्वीकृत नायक के तीन भेदों—दिव्य, अदिव्य और दिव्यादिव्य—को भानु मिश्र ने स्वीकार नहीं किया।

भानु मिश्र के पश्चात् रूप गोस्वामी ने धीरोदात्त आदि चार तथा अनुकूल आदि चार भेदों के अतिरिक्त पति और उपपति नामक दो भेदों तथा पूर्णतम,

पूर्वोत्तर और पूर्वा नामक भेदों की गणना की है। 'वैशिक' को इन्होंने नहीं लिया। इस विषय के अंतिम आचार्य संत अकबर शाह ने कुछेक नए नायकभेद माने हैं— प्रच्छन्न और प्रकाश। ये दो भेद शठ नायक के हैं। इनके अतिरिक्त इन्होंने दो वर्ग और बनाए हैं। प्रोषित, अमिलित और विरही, ये तीन भेद एक वर्ग में हैं और भद्र, दत्त, कुचमार और पाचाल ये चार भेद दूसरे वर्ग में। पहले वर्ग का आधार नायिकावियोग है, और दूसरे वर्ग का आधार कामशास्त्रीय मान्यता।

(आ) नायिकाभेद—भरत ने विभिन्न आधारों पर नायिका (नारी) के भेदो का उल्लेख किया है। सामाजिक व्यवहार के आधार पर उन्होंने नारी के पहले तीन भेद माने हैं—बाह्या (कुलीना), आभ्यंतरा (वेश्या) और बाह्याभ्यंतरा अथवा कृतशोचा (अर्थात् वेश्यावृत्ति त्यागकर शुद्ध रूप से प्रेमी के साथ रहनेवाली) और फिर इसी आधार पर दो अन्य भेद—कुलजा और कन्यका। नायक के साथ संयोग अथवा वियोग के अवस्थानुसार भरत ने नायिका के आठ भेद गिनाए हैं—वासकसज्जा, विरहोत्कंठिता, स्वाधीनपतिका, कलहांतरिता, खंडिता, विप्रलब्धा, प्रोषितभर्तृका और अभिसारिका। नायक के प्रति प्रेम के आधार पर नारी के तीन भेद हैं—मदनातुरा, अनुरक्ता और विरक्ता। प्रकृति के आधार पर नायिका के तीन भेद हैं—उत्तमा, मध्यमा और अधमा। यौवनलीला के आधार पर नारी के चार भेद हैं—प्रथम यौवना, द्वितीय यौवना, तृतीय यौवना और चतुर्थ यौवना। गुण के आधार पर भी चार भेद हैं—दिव्या, नृपपत्नी, कुलस्त्री और गणिका।

भरत के उपरात रुद्रट ने नायिकाभेदों का उल्लेख किया है, जो प्रथम बार सुव्यवस्थित रूप में प्रस्तुत होने के कारण प्रायः सभी परवर्ती आचार्यों द्वारा अनुकरणीय रहा है। इनके अनुसार नायिका के प्रमुख तीन भेद हैं—आत्मीया, परकीया और वेश्या। आत्मीया के रतिविलास के आधार पर तीन भेद हैं—मुग्धा, मध्या और प्रगल्भा। इनमें से अंतिम दो के (पति द्वारा प्राप्त प्रेमव्यवहार के आधार पर) पहले दो दो भेद हैं—ज्येष्ठा और कनिष्ठा, फिर इन दोनों के (मान, व्यवहार के आधार पर) तीन तीन भेद—धीरा, अधीरा और मध्या। परकीया के दो भेद हैं— कन्या और अन्योढ़ा। आत्मीया के अन्य दो भेद हैं—स्वाधीनपतिका और प्रोषितपतिका, तथा आत्मीया, परकीया और वेश्या इन तीनों के अन्य दो दो भेद हैं— अभिसारिका और खंडिता।

रुद्रट के उपरांत भोजराज ने अपने दोनों ग्रंथों—सरस्वतीकंठाभरण और शृंगारप्रकाश—में कतिपय नवीन भेदोपभेद प्रस्तुत किए हैं। सरस्वतीकंठाभरण में उन्होंने कथावस्तु के आधार पर नायिका के पाँच भेद गिनाए हैं—नायिका, प्रतिनायिका, उपनायिका, अनुनायिका और नायिकाभास; उपयमन के आधार पर दो भेद—ज्येष्ठा और कनीयसी, मानवृद्धि के आधार पर चार भेद—उद्धता, उदात्ता,

शांता और ललिता; वृत्ति के आधार पर तीन भेद—सामान्या, पुनर्भू और स्वैरिणी; तथा आजीविका के आधार पर गणिका, रूपजीवा और विलासिनी। *शृंगारप्रकाश* में पुनर्भू नायिका के निम्नोक्त चार उपभेदों का उल्लेख है—अक्षता, क्षता, यातायाता और यायावरा; तथा सामान्या नायिका के इन पाँच उपभेदों का—ऊढ़ा, अनूढा, स्वयंवरा, स्वैरिणी और वेश्या।

भोजराज के उपरात भानु मिश्र ने अपने समय तक प्रचलित नायिकाभेदों में से महत्वपूर्ण भेदो का व्यवस्थापूर्ण संकलन प्रस्तुत कर हिंदी रीतिकालीन आचार्यों का इस विषय में दिशाप्रदर्शन किया। उनके अनुसार नायिका के प्रमुख तीन भेद हैं—स्वीया, परकोया और सामान्या। स्वीया के प्रमुख तीन भेद हैं—मुग्धा, मध्या और प्रगल्भा। मुग्धा के दो भेद हैं—अज्ञातयौवना और ज्ञातयौवना और फिर पति के प्रति विश्रब्धता के आधार पर दो अन्य भेद—नवोढ़ा और विश्रब्धनवोढ़ा। प्रगल्भा के दो भेद हैं—रतिप्रीतिमती और आनंदसंमोहवती। मध्या और प्रगल्भा नायिकाओं के मानावस्थाजन्य तीन तीन भेद हैं—धीरा, अधीरा और धीराधीरा। फिर इन छहो नायिकाओ के पतिस्नेह के आधार पर दो दो भेद—ज्येष्ठा और कनिष्ठा। इस प्रकार स्वीया के कुल प्रमुख १३ भेद हुए। परकीया के दो भेद हैं—परोढ़ा, कन्यका। गुप्ता, विदग्धा, लक्षिता, कुलटा, अनुशयना, मुदिता आदि नायिकाभेदो और उनके उपभेदों का अंतर्भाव भानु मिश्र ने परकीया के अंतर्गत माना है। सामान्या के भेदोपभेदों की चर्चा भानु मिश्र ने नहीं की। इस प्रकार नायिका के कुल प्रमुख भेद १३+२+१=१६ हुए। ये ही सोलह भेद भरतसंमत उक्त स्वाधीनपतिका आदि आठ भेदो तथा उत्तम आदि तीन भेदों के साथ गुणन द्वारा भानु मिश्र के मत में ३८४ तक पहुँच जाते हैं। उक्त संख्या में भानु मिश्र द्वारा निरूपित नायिका के अन्य तीन भेद—अन्यसंभोगदुःखिता, वक्रोक्तिगर्विता, (प्रेमगर्विता, सौंदर्यगर्विता) तथा मानवती संमिलित नहीं है। अवस्था के अनुसार प्रवत्स्यत्पतिका नामक नवीं नायिका भी इन्हीं ने गिनाई है। श्रीकृष्ण कवि द्वारा परिगणित दिव्या, अदिव्या और दिव्यादिव्या भेद इन्हें स्वीकृत नहीं हैं।

भानु मिश्र के उपरात उज्वलनीलमणि के कर्ता रूप गोस्वामी ने परंपरागत नायिकाभेदों के अतिरिक्त हरिप्रिया, वृंदावनेश्वरी तथा यूथेश्वरी नामक भेदों तथा इनके भेदोपभेदों का उल्लेख किया है, पर इन भेदों को किसी भी परवर्ती संस्कृत अथवा हिंदी के काव्यशास्त्री ने नहीं अपनाया।

इस विषय के अंतिम काव्याचार्य हैं संत अकबर शाह। इनके ग्रंथ *शृंगारमंजरी* में निरूपित नायिका के नवीन भेदों की सूची इस प्रकार है—मध्या नायिका के प्रच्छन्न और प्रकाश भेद; प्रगल्भा नायिका के परकीया और सामान्या भेद; परोढ़ा नायिका के उद्बुद्धा और उद्बोधिता भेद; उद्बुद्धा नायिका के सात उपभेदों में से

निपुणा (स्वयंदूती), लक्षिता और साहसिका उपभेद; उद्बोधिता नायिका के धीरा आदि तीन उपभेद; सामान्या के पाँच उपभेद—स्वतंत्रा अनन्याधीना, नियमिता, क्लृप्तानुरागा और कल्पितानुरागा। अवस्थानुसार भरतसंमत आठ भेदों में अकबर शाह ने एक और नवीं नायिका 'वक्रोक्तिगर्विता' जोड़कर इनके अनेक उपभेदों की गणना की है। इनके अतिरिक्त इस ग्रंथ में कामशास्त्रीय हस्तिनी, चित्रिणी, शंखिनी और पद्मिनी नायिकाओं का भी उल्लेख हुआ है।

संत अकबर शाह के उपरांत संस्कृत के किसी आचार्य ने नायक-नायिका-भेदों का उल्लेख नहीं किया। इधर हिंदी आचार्यों ने भी इनके ग्रंथ का आधार ग्रहण नहीं किया। कुछ भेदोपभेद इधर उधर हिंदी आचार्यों के ग्रंथो मे अवश्य उपलब्ध हो जाते हैं, उदाहरणार्थ—तोष, गुलाम नबी, रसलीन और भिखारीदास के ग्रंथों में उद्बुद्धा और उद्बोधिता नामक नायिकाभेदो का उल्लेख है। कुमारमणि ने रसिकरसाल में सामान्या के अकबरसंमत स्वतंत्रा आदि उक्त पाँच भेदों की चर्चा की है।

(४) नायक-नायिका-भेद-परीक्षण—यहाँ तक तो रही विवेचन और विस्तार की बात। अब प्रश्न है कि यह सब सामाजिक व्यवहार, कर्तव्यशास्त्र, रस-शास्त्र आदि की दृष्टि से कहाँ तक ग्राह्य अथवा अग्राह्य है।

(१) सामाजिक व्यवहार के आधार पर नायिका के प्रमुख तीन भेद हैं—स्वकीया, परकीया और वेश्या, और इन्हीं भेदो के अनुरूप नायक के भी तीन भेद हैं—पति, उपपति और वैशिक। परकीया का परपुरुष से स्नेहसंबंध भी है और यौन संबंध भी, पर वेश्या का पुरुष के साथ केवल यौन संबंध है। मम्मट और विश्वनाथ ने परदारा के साथ अनुचित व्यवहार को रसाभास का विषय माना है[1]। जब विषय के प्रकांड आलोचकों द्वारा परकीया के प्रति इतनी अवहेलना प्रकट की गई है तो वेश्या के प्रति इससे भी कहीं अधिक अवहेलना स्वतःसिद्ध है। निस्संदेह सामाजिक व्यवस्था के परिपालन के लिये समुचित भी यही है। स्वकीया के ही समान परकीया और वेश्या का भी नायिका के रूप में चित्रण काव्य को निम्न स्तर पर ले जायगा—इसी आशंका से संस्कृत साहित्य के लक्ष्य ग्रंथों में परकीया और वेश्या को शास्त्रीय स्वरूपानुसार काव्य का विषय नहीं बनाया गया। पर फिर भी नायक-नायिका-भेद के अंतर्गत इन दोनो नायिकाओं और उपपति तथा वैशिक नायकों को बहिष्कृत नहीं करना चाहिए, क्योंकि एक तो नायक-नायिका-भेद लोकव्यवहार तथा कामशास्त्र के ग्रंथों पर आधृत है, न कि लक्ष्य

[1] का० प्र० ५।११६ (वृत्ति भाग); सा० द० ३।२६२, २६३

ग्रंथों पर और दूसरे, 'रसाभास' रस की अपेक्षा हीन कोटि का काव्य होते हुए भी ध्वनिकाव्य का एक सबल अंग और गुणीभूत व्यंग्य तथा चित्रकाव्य की अपेक्षा उत्कृष्ट कोटि का काव्य है। अतः नायिकाभेदों में परकीया और वेश्या भी अपना महत्वपूर्ण स्थान रखती हैं।

उक्त तीन नायिकाओं के अतिरिक्त सामाजिक व्यवहार पर आधृत इस वर्ग के अंतर्गत संस्कृत के आचार्यों में भरत ने कृतशोचा, और अग्निपुराणकार तथा भोज ने पुनर्भू नायिकाओं को भी संमिलित किया है। पर इन दोनों का अंतर्भाव स्वकीया नायिका में बड़ी सरलता के साथ किया जा सकता है। इन्हें अलग मानने की आवश्यकता नहीं।

(२)—स्वकीया नायिका के तीन उपभेद हैं—मुग्धा, मध्या और प्रगल्भा। वय तथा तत्प्रभूत लाज—इन दो आधारों पर मुग्धा के कुल चार भेद हैं—अज्ञात-यौवना और ज्ञातयौवना तथा (अविश्रब्ध) नवोढ़ा और विश्रब्धनवोढा। अंतिम दो भेद स्वाभाविक और संभव हैं पर प्रथम दो भेदों पर हमें आपत्ति है। अज्ञातयौवना मुग्धा और उसके पति के बीच स्नेह-व्यवहार-वर्णन उभयपक्षीय न होकर लगभग एकपक्षीय होने के कारण काव्य का बहिष्करणीय विषय है, तथा दोनों में रतिजन्य यौन-संबंध का वर्णन क्रूरता, प्रकृतिविरुद्धता तथा अनाचार का सूचक भी। अतः अज्ञातयौवना भेद प्रशस्त और शरीर-विज्ञान-संमत नहीं है और इस दृष्टि से उसके विलोम रूप में परिगणित ज्ञातयौवना भेद की स्वीकृति भी समुचित नहीं है।

(३)—परकीया के दो उपभेद हैं—परोढा और कन्या। ये दोनों नायक के प्रति प्रच्छन्न रूप से स्नेह निभाती चलती हैं। इनमें से परोढा निस्संदेह परकीया है। पर कन्या को इस कारण परकीया कहना कि वह पिता आदि के अधीन रहती है[1]—हमारे विचार में युक्तिसंगत नहीं है। नायक-नायिका-भेद मूलतः रतिसंबंध पर आश्रित है। परोढा और उसके पति का पारस्परिक रतिसंबंध, सामाजिक दृष्टि से ही सही, प्रत्यक्ष है, पर कन्या और उसके पिता के बीच पोषक-पोष्य-संबंध के बल पर कन्या को परकीया कहना अवश्य खटकता है। अतः कन्या को परकीया का उपभेद न मानकर स्वतंत्र भेद मानना समुचित है। संस्कृत आचार्यों में वाग्भट ने यही किया है[2]। हाँ, यह अलग प्रश्न है कि बाद में उसी पुरुष से विवाह संबंध स्थापित हो जाने पर वह स्वकीया, अथवा किसी अन्य पुरुष से विवाह संबंध स्थापित हो जाने पर भी उसी अथवा किसी अन्य के साथ गुप्त मिलन निभाते चले

[1] कन्यायाः पित्राधीनतया परकीयता। —र० मं०, पृ० ५१

[2] अनूढा च स्वकीया च परकीया पण्यांगना। —वा० अ० ५।१०

जाने की अवस्था में वह परकीया कहाए, पर वर्तमान परिस्थिति में तो उसे परकीया नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार सामाजिक व्यवहार के आधार पर नायिका के चार प्रमुख भेद होने चाहिए—स्वकीया, परोढ़ा (परकीया), कन्या और सामान्या तथा इनके अनुरूप नायक के तीन भेद—पति, जार और वैशिक। परोढा और कन्या से प्रच्छन्न रतिसंबंध रखनेवाले पुरुष को 'उपपति' नाम से अभिहित करना 'पति' शब्द का तिरस्कार है। अतः उसे 'जार' की संज्ञा मिलनी चाहिए। नायक के प्रमुख चार भेदों में से अनुकूल का संबंध केवल पति के साथ मानना चाहिए, और दक्षिण, धृष्ट और शठ का जार और वेशिक के साथ। भानु मिश्र ने ये चार भेद पति के और उपपति के स्वीकार किए हैं, पर हमारे विचार में ये नायक के सामान्य भेद हैं।

(४)—भोजराज ने मुग्धादि तीन उपभेदों का संबंध परकीया (परोढ़ा और कन्या) के साथ भी स्थापित किया है। हम इनके साथ आंशिक रूप से सहमत हैं। मुग्धा नायिका का यथानिरूपित शास्त्रीय स्वरूप उसे परकीयात्व में ढकेलने से बचाए रखने में सदा समर्थ है। केवल मध्या और प्रगल्भा अवस्थाओं में पहुँची हुई नारियाँ ही परकीयात्व की ओर फिसल सकती हैं। अतः मानव मन के ऐक्य के आधार पर परकीया के भी मध्या और प्रगल्भा भेद संभव हैं, पर मुग्धा के अनुकरण में एक ओर तो मध्या और प्रगल्भा नायिकाएँ केवल स्वकीया के साथ संबद्ध की हैं और दूसरी ओर इन दोनों नायिकाओं के मान के आधार पर धीरादि तीन उपभेद स्वकीया के अतिरिक्त परकीया के साथ भी जोड़े हैं। उनके ये कथन परस्पर विरोधी अवश्य हैं, पर पिछले वर्गीकरण द्वारा प्रकारांतर से हमारी उपर्युक्त धारणा की पुष्टि हो रही है कि मध्या और प्रगल्भा भेद परकीया के भी संभव हैं।

(५)—नायक के व्यवहार से उद्भूत अवस्था के आधार पर नायिका के स्वाधीनपतिका आदि आठ भेद हैं। इनके शास्त्रनिरूपित स्वरूप से स्पष्ट है कि :

(क) आठो प्रकार की ये नायिकाएँ अपने अपने प्रियतमों के प्रति सच्चा स्नेह रखती हैं। 'कुलटा' परकीया का इनमें कोई स्थान नहीं है।

(ख) विप्रलब्धा और खंडिता नायिकाएँ अपने अपने नायकों की प्रवंचना की शिकार हैं, और शेष छहों को पूर्ण स्नेह संप्राप्त है।

(ग) स्वाधीनपतिका और खंडिता को छोड़कर शेष सभी नायिकाओं के नायक इनसे दूर हैं और ये उनसे संमिलन के लिये समुत्सुक हैं।

(घ) स्वाधीनपतिका सर्वाधिक सौभाग्यवती है—उसका नायक सदा उसके पास है। मिलनवेला समीप होने के कारण वासकसज्जा और अभिसारिका का सौभाग्य दूसरे दरजे पर है और मिलन की आशा पर जीवित विरहोत्कंठिता और प्रोषितभर्तृका का सौभाग्य तीसरे दरजे पर।

विप्रलब्धा और खंडिता दुर्भाग्यशालिनी हैं—पहली का नायक परनारी-संभोग के लिये चला गया है और दूसरी का नायक संभोगोपरात ढीठ बनकर उसके सामने आ खड़ा हुआ है। सबसे दयनीय दशा बेचारी कलहांतरिता की है—(चाटुकारिता करनेवाले) नायक को पहले तो इसने घर से निकाल दिया और अब बैठी पछता रही है।

(६)—पुरुष और नारी की मनःस्थिति के ऐक्य के कारण स्वाधीनपत्नीक आदि आठ भेद नायक के भी संभव हैं—इसी स्वाभाविक शंका को भानु मिश्र ने उठाकर उसका खंडन भी स्वयं कर दिया है। उनके मतानुसार नायक के उक्त खंडित, विप्रलब्ध आदि भेद संभव नहीं हैं। काव्यपरंपरा नायक के शरीर पर अन्य-संभोगजन्य चिह्नों और उन चिह्नों के आधार पर उसकी धूर्तता से आशंकित नायिका द्वारा ही मानप्रदर्शन का वर्णन करती आई है। अन्यथा काव्य का यह विषय (शृंगार) रस की कोटि में आ जायगा। और सत्य इससे भी कहीं अधिक कटु है। स्त्री भले ही पुरुष की धूर्तता को सहन कर ले, फिर मानप्रदर्शन द्वारा उसे कुछ काल के लिये तड़पा ले और इस प्रकार उसे और भी अधिक रत्यानंद प्रदान करने का कारण बन जाए, पर पुरुष का पौरुष नारी के शरीर पर रतिचिह्नों को देखकर प्रतिकार के लिये उद्यत हो रक्त की नदी बहाने के लिये हुंकार कर उठेगा और तब यह काव्यवर्णन शृंगार रसाभास के स्थान पर रौद्र रसाभास में परिणत हो जायगा।

उक्त आठ अवस्थाओं में से प्रोषितावस्था नायक पर अवश्य घटित हो सकती है। परदेश में गए पति, उपपति और वैशिक का अपनी अपनी प्रेयसियों की विरहाग्नि में जलना उतना ही स्वाभाविक है जितना प्रोषितपतिका स्वकीया अथवा परकीया का। भानु मिश्र ने इसी कारण नायक के तीन अन्य भेद भी गिनाए हैं—प्रोषितपति, प्रोषितोपपति, और प्रोषितवैशिक। मेघदूत का यक्ष प्रोषितपति का स्पष्ट उदाहरण है।

(७)—भानु मिश्र संमत तीन अन्य भेदों—अन्यसंभोगदुःखिता, मानवती और गर्विता भेदों के आधार के विषय में उनके ग्रंथ से कुछ भी ज्ञात नहीं होता। हमारे विचार मे यह आधार नायककृतापराधजन्य प्रतिक्रिया है। प्रथम दो भेदों पर तो यह आधार निस्संदेह घटित हो जाता है। गर्विता पर भी, जिसके भानु मिश्र ने दो उपभेद—रूपगर्विता और प्रेमगर्विता—गिनाए हैं, कुछ सीमा तक घटित हो सकता है। ऐसी नायिकाओं की संख्या में भी कभी कमी नहीं रह सकती जो दुःखिता और मानवती होकर पराजित होने की अपेक्षा अपने रूप और प्रेम के बल पर अपराधी नायक को सुमार्ग पर लाने का सुप्रयास करती हैं। फिर भी गर्विता नायिका का यह आधार इतना सुपुष्ट नहीं है। भानु मिश्र ने इस ओर भी कोई संकेत नहीं किया कि उक्त तीन भेद नायिका के धर्मानुसार स्वकीयादि भेदों एवं अवस्थानुसार स्वाधीन-

पतिकादि भेदों में से किस किसके साथ संबद्ध हैं। अब प्रश्न रहा इन भेदों को स्वकीया आदि भेदो के साथ संबद्ध करने का। हमारे विचार में वेश्या के साथ प्रथम दो भेद संबद्ध नहीं किए जा सकते। रूपगर्विता भेद भले ही वेश्या के साथ संबद्ध हो जाय, पर बाह्यरूप से राग दिखानेवाली वेश्या के साथ प्रेमगर्विता भेद को भी संबद्ध करना बेचारे वैशिक को आत्मप्रवंचना का शिकार बनाना है।

शेष रहीं स्वकीया और परकीया नायिकाएँ। मुग्धा स्वकीया के लिये उसका मौग्ध्य वरदान के समान है, अतः पतिकृत अपराध से उत्पन्न प्रतिक्रिया के परिणाम-स्वरूप दुःख, मान, क्लेश और गर्व करने की पीड़ा से वह नितात बची रहती है। शेष रहीं मध्या और प्रगल्भा स्वकीयाएँ। निस्संदेह ये तीनों भेद इन दोनो से ही संबद्ध हैं, मुग्धा स्वकीया से नहीं। इनकी सचेतावस्था इन्हें उक्त वेदनाएँ झेलने के लिये बाध्य कर देती है। परकीया पर भी ये तीनों भेद घटित हो सकते हैं। माना कि वह अपनी और अपने प्रिय की लंपटता से भली भाँति परिचित है, परंतु नारीसुलभ सौतिया डाह वश उसे भी अपने प्रिय का अपराध उतना ही उद्विग्न और विह्वल करता है जितना स्वकीया को।

(८)—संस्कृत के आचार्यों में रुद्रट के समय से ही विभिन्न आधारों पर आधृत नायक-नायिका-भेदों को परस्पर गुणनक्रिया द्वारा अधिकाधिक संख्या तक पहुँचाने की प्रवृत्ति रही है। निम्नांकित अंको से हमारे इस कथन की पुष्टि हो जायगी। रुद्रट ने नायक ४ माने हैं और नायिकाएँ ३८४, भोजराज ने १०४ और १४३; विश्वनाथ ने ४८ और ३८४, भानु मिश्र ने १२ और ३५४ तथा रूप गोस्वामी ने ६६ और ३६०। इन संख्याओं में से विश्वनाथ की नायक-भेद-संख्या तथा भानु मिश्र की नायिका-भेद-संख्या अधिकतर अनुकरणीय रही है। पर हमारे विचार में गुणन-क्रिया पर आश्रित यह भेदोपभेद संख्या तर्क और बुद्धि की कसौटी पर खरी नहीं उतरती। पहले नायकभेदों को लें। विश्वनाथ ने धीरोदात्तादि ४ गुणा अनुकूलादि ४ गुणा उत्तमादि ३=४८ नायकभेद माने हैं। पर यह संबंधस्थापन युक्तिसंगत नहीं है। प्रथम तो धीरोदात्त आदि भेद केवल शृंगार रस की कथावस्तु से संबद्ध न होकर सभी रसों की कथावस्तु से संबद्ध हैं। अतः इनका परस्पर संयोजन विरोधी रसों में संपर्कस्थापन होने के कारण काव्यशास्त्र की दृष्टि से सदोष है। दूसरे (राम जैसे) धीरोदात्त नायक को दक्षिण, धृष्ट और शठ नामों से और (वत्सराज जैसे) धीरललित नायक को केवल अनुकूल नाम से भी अभिहित करना परंपरापुष्ट आख्यानों और मनोविज्ञान दोनों को झुठलाना है। यही कारण है कि संस्कृत आचार्यों में वाग्भट द्वितीय ने केवल धीरललित नायक के अनुकूलादि चार भेद माने हैं, शेष के नहीं। पर धीरललित भी इन चारो भेदों के साथ सदा संबद्ध हो सके—यह निश्चित नहीं है। इसी प्रकार विश्वनाथ के मतानुसार धीरोदात्त और

अनुकूल को मध्यम और अधम भी मानना तथा धृष्ट और शठ को उत्तम भी कहना न्याय्य नहीं है।

अब भानु मिश्र संमत नायिकाभेदों को लें। उन्होंने नायिका के ३८४ भेद माने हैं—स्वकीया, परकीया और सामान्या के (१३+२+१=) १६ भेद गुणा स्वाधीनपतिका आदि ८ भेद गुणा उत्तमादि ३ भेद=३८४ भेद। पर गुणनप्रक्रिया द्वारा उक्त पारस्परिक गठबंधन मनोविज्ञान की कसौटी पर खरा नहीं उतरता। स्वाधीनपतिका आदि सभी नायिकाएँ अपने अपने प्रियतमों के प्रति सच्चा स्नेह रखती हैं, अतः सामान्या नायिका अपने शास्त्रीय स्वरूप के आधार पर किसी भी अवस्था में इन आठ भेदों में से किसी के साथ संबद्ध नहीं की जा सकती। स्वकीया और परकीया के साथ भी ये सभी नायिकाएँ संबद्ध नहीं हो सकतीं। स्वाधीनपतिका नायिका केवल स्वकीया ही हो सकती है और अभिसारिका केवल परकीया ही। शेष छहों नायिकाओं का संबंध स्वकीया और परकीया दोनों के साथ है[1]। इसी प्रकार उत्तमा, मध्यमा और अधमा भेद स्वकीया तथा परकीया पर तो घटित हो सकते हैं, पर सामान्या पर किसी भी रूप में नहीं। उससे स्नेहपूर्ण हित की आशा रखना अथवा अहित की आशंका करना व्यर्थ है। केवल संख्यावृद्धि के विचार से गुणन-प्रक्रिया का आश्रय खिलवाड़ मात्र है, बुद्धिसंगत और तर्कपरिपुष्ट नहीं।

(५) नायक-नायिका-भेद और पुरुष—नायक-नायिका-भेद-निरूपण में पुरुष का स्वार्थ पद पद पर अंकित है। नारी उसके विलासमय उपभोग की सामग्री के रूप में चित्रित की गई है। एकाधिक नारियों के साथ रतिप्रसंग तो मानो पुरुष का जन्मसिद्ध अधिकार है। 'परकीया' नायिका पर भी यह लांछन लगाया जा सकता है कि वह परपुरुष से प्रेमसंबंध रखती है पर शास्त्रीय आधार के अनुसार उसका परकीयात्व इसी में है कि वह अपने पति को स्नेह से वंचित रखकर केवल एक ही परपुरुष की वासनातृप्ति का साधन बने, भले ही वह पुरुष अनेक स्त्रियों का उपभोक्ता भी क्यों न हो। एकाधिक पुरुषों के साथ रतिप्रसंग करने पर शास्त्र नारी को तो 'कुलटा' नाम से कुख्यात कर देता है, किंतु परनारीरत दक्षिण, धृष्ट और शठ नायकों के प्रति शास्त्र ने कोई तिरस्कारसूचक भाव नहीं प्रकट किया।

[1] संस्कृत के काव्यशास्त्रों में हेमचंद्र के काव्यानुशासन (पृ० ३७०) में परकीया की केवल तीन अवस्थाएँ मानी गई हैं—विरहोत्कंठिता, विप्रलब्धा तथा अभिसारिका और शारदातनय के भावप्रकाश में अन्या (वेश्या) की केवल तीन अवस्थाएँ—विरहोत्कंठिता, अभिसारिका और विप्रलब्धा। पर इन आचार्यों की ये धारणाएँ भी तर्क की कसौटी पर खरी नहीं उतरतीं। परकीया की अन्य अवस्थाएँ भी संभव हैं, और वेश्या की उपरिगणित अवस्थाओं में से हमारे विचार में एक भी अवस्था संभव नहीं है।

निरपराध सौत भी स्वाकीया नायिका पुरुष के स्वार्थ से विमुक्त नहीं हो सकी। वह अपने समादर के लिये पति के प्रेम की भिखारिणी है। 'ज्येष्ठा' कहलाने का अधिकार उसे तभी मिलेगा जब दूसरी सौतों की अपेक्षा उसे अधिक स्नेह प्राप्त हो, अन्यथा वह 'कनिष्ठा' ही बनी रहेगी, चाहे वह आयु में ज्येष्ठा ही क्यों न हो और उसका विवाह पहले ही क्यों न संपन्न हो चुका हो।

पुरुष के स्वार्थ का एक और नमूना है 'मुग्धा स्वकीया' का 'अज्ञातयौवना' नामक उपभेद। 'अज्ञातयौवना मुग्धा' तो नायक के विलास का साधन बनकर सरस काव्य का विषय बन सकती है, पर इधर सांकेतिक चेष्टा-ज्ञान-शून्य 'अनभिज्ञ' नायक का वर्णन काव्य में रसाभास का विषय माना गया है[1]। आखिर अज्ञात-यौवना के यौवन के साथ यह खिलवाड़ क्यों ?

नारी की दुर्दशा का एक दृश्य और। पुरुष को यह साहस हो सकता है कि रात भर परनारी के साथ संभोग के उपरात प्रातःकाल होते ही रात्रिजागरण के कारण आँखों में लालिमा और नारी-नेत्र-चुंबन के कारण ओष्ठों में काजल की कालिमा तथा अन्यान्य रतिचिह्न लिए स्वकीया के संमुख ढीठ बनकर आ खड़ा हो और 'उत्तमा' नायिका को इतना भी अधिकार न रहे कि उसके अनिष्ट की जरा भी कल्पना कर सके अन्यथा वह मध्यमा अथवा अधमा के निम्न स्तर पर जा गिरेगी।

आचार्यों ने ऐसी नारियों को 'मान' करने का अधिकार अवश्य दिया है। पर इसमें भी पुरुष का स्वार्थ छिपा हुआ है। नायिका को मनाने के लिये पादस्पर्श-पूर्वक प्रशंसा आदि कार्य नायक को और अधिक आनंद देते हैं। धीरा, अधीरा और धीराधीरा नायिकाओं के मानमिश्रित विभिन्न कोपप्रदर्शनों में भी नायक विभिन्न प्रकार के सुखों का अनुभव करता है। वक्रोक्तिगर्विता और सौंदर्यगर्विता नायिकाओं का गर्व इन नायिकाओं को मानसिक शाति दे अथवा न दे, पर नायक की वासना को प्रदीप्त करने का साधन अवश्य बन जाता है। इन मानप्रदर्शनों और गर्वोक्तियों से नायक की वासनापूर्ति की इच्छा और भी अधिक वेगवती हो उठती है।

मानवती नायिका चाहे जितना भी तड़पा ले, पर शास्त्रीय दृष्टिकोण से अंत में उसे मान की शाति अवश्य कर लेनी चाहिए, अन्यथा काव्य का यह प्रसंग रसा-भास और अनौचित्य का विषय बन जाता है[2]। आवेशाधिक्य के वशीभूत हो यदि वह क्रोध में आकर नायक को कभी बाहर निकाल देती है, तो उसके चले जाने के

[1] अनभिज्ञो नायको नायकाभास एव। —र० मं०, पृ० १८७

[2] असाध्यस्तु रसाभासः। —र० मं०, पृ० ८३

बाद 'कलहांतरिता' के रूप में पश्चात्ताप करना और झुँझलाना ही उसके भाग्य में लिखा रहता है। भला बेचारे नायक का यह 'सौभाग्य' कहाँ कि वह पश्चात्ताप की अग्नि में झुलसता फिरे। खंडिता और अन्य-संभोग-दुःखिता बनना भी नायिका के ललाट में लिखा है और क्रूर नायक की वासना का शिकार बनकर नखक्षत, दंतक्षत आदि सहन करना भी।

काव्यशास्त्र ने पुरुष को तो चेतावनी दे दी है कि अमुक नारियाँ संभोग के लिये 'वर्ज्या' हैं पर पुरुषों की ऐसी सूची प्रस्तुत न करके काव्याचार्यों ने नारी की कोमल भावनाओं को ठेस पहुँचाने का अधिकार वर्ज्य और अवर्ज्य दोनों प्रकार के पुरुषों को प्रकारांतर से दे दिया है। पुरुष के हाथ में लेखनी हो और वह नायक-नायिका-भेद जैसे निरूपण में अपनी स्वार्थसिद्धि की पूर्ति के लिये सिद्धांतनिर्माण न करे, ऐसे अवसर से हाथ धो बैठे, यह भी तो कम दुर्भाग्य का विषय न होगा।

तृतीय अध्याय

रीतिकाव्य का साहित्यिक आधार

जिस साहित्यिक दृष्टिकोण की रूपरेखा हिंदी में चिंतामणि के उपरात बँधकर निश्चित हुई वह कोई आकस्मिक घटना नहीं थी। उसका एक विशेष साहित्यिक पृष्ठाधार था। वह एक प्राचीन परंपरा का नियमित विकास थी जिसके अंतर्तत्व प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश और हिंदी के भक्तिकाव्य मे धीरे धीरे ज्ञात अथवा अज्ञात रूप में विकसित होते रहे। यह प्राचीन परंपरा थी मुक्तक कविता की जो काव्य की अभिजात परिपाटी और उसमें निर्णीत उदात्त 'काव्यवस्तुओ' को छोड़कर नित्यप्रति के सरल ऐहिक जीवन के छोटे छोटे चित्रो को आँक रही थी। स्वदेश और विदेश के पंडितो का अनुमान है कि जब आभीर जाति भारत में आकर बस गई और आर्यों की शिक्षा संस्कृति का आभीरो के उन्मुक्त जीवन से संयोग हुआ तो भारतीयो के मन में परलोक की चिंता से मुक्त नित्यप्रति के गृहस्थ जीवन के प्रति आकर्षण बढने लगा। जीवन से बढकर इस प्रवृत्ति का प्रभाव काव्य पर पड़ा और कवि की कल्पना आकाश अथवा आकाशचुंबी राजमहलों से उतरकर साधारण जीवन के सुख-दुःखों में रमने लगी। इस दृष्टिपरिवर्तन की सबसे पहली अभिव्यक्ति हमें हाल की 'सतसई' मे मिलती है जिसकी रचना चिंतामणि से कम से कम १३ शताब्दी पूर्व और अधिक से अधिक १६ शताब्दी पूर्व हुई थी। हाल की 'सतसई' रीतिकाव्य का सबसे प्रथम प्रेरक ग्रंथ है। प्राकृत मे रची हुई ये गाथाएँ प्राकृत जीवन के सरल सहज घातप्रतिघातों को चित्रबद्ध करती हैं। इनका वातावरण सर्वथा गार्हस्थिक है और यौन संबंधो के वर्णन में बेहद स्पष्टता पाई जाती है। अभिव्यक्ति में सहज गुण और स्वभावोक्ति ही इनकी विशेषता है, अतिशयोक्ति को कही भी महत्व नहीं दिया गया है। इसी से इन गाथाओं में मतिराम आदि के समान एक भोली सुकुमारता मिलती है :

> **जस्स जहं विअ पढमं तिस्सा, अंगम्मि णिवडिआ दिट्ठी।**
> **तस्स तहिं चेअ ठिआ सव्वंङ केण विण दिट्ठम्।**
> **(यस्य यत्रैव प्रथमं तस्या अंगे निपतिता दृष्टिः।**
> **तस्य तत्रैव स्थिता सर्वांगं केनापि न दृष्टम्॥)**

सतसई के उपरांत इस प्रकार के शृंगारमुक्तकों के दो प्रसिद्ध ग्रंथ संस्कृत में मिलते हैं। एक अमरुक कवि का 'अमरुशतक', दूसरी गोवर्धन की 'आर्या-

सप्तशती'। इनकी रचना निश्चित ही 'प्राकृत सतसई' के आधार पर हुई है, परंतु वातावरण में अंतर है। संस्कृत के इन छंदों में गाथाओं में अंकित प्राकृत जीवन का वह सहज सौंदर्य नहीं है, इनमें नागरिक जीवन की कृत्रिमता आ गई है। हाल की गाथाओं और गोवर्धन की आर्याओं को साथ रखकर पढ़ने से यह अंतर स्पष्ट हो जायगा। गाथाओं का सहज गुण और उसपर आश्रित वन्य सुकुमारता इन आर्याओं में नहीं है—अभिव्यक्ति में अलंकरण और अतिशयोक्ति की ओर स्पष्टतः इनका आग्रह बढ़ चला है। यह परंपरा संस्कृत और प्राकृत से अपभ्रंश में भी अवश्य चली होगी, परंतु इसके प्रमाण में कोई विशेष स्वतंत्र ग्रंथ नहीं मिलता—केवल जयवल्लभ और हेमचंद्र के 'काव्यानुशासन' में स्फुट गीतछंद मिलते हैं। हेमचंद्र के ग्रंथ में उद्धृत मुंज के दोहे अपभ्रंश और हिंदी के बीच की कड़ी हैं। इनके अतिरिक्त संस्कृत साहित्य में ऐहिक मुक्तक काव्य के कतिपय और भी ग्रंथों की रचना हुई, जिनमें कालिदास के प्रचलित 'शृंगारतिलक', 'घटकर्पर', भर्तृहरिरचित 'शृंगारशतक' विल्हण की 'चौरपंचाशिका' आदि अपने शृंगारमाधुर्य के लिये प्रसिद्ध हैं। परंतु ग्रंथ उपर्युक्त परंपरा से थोडे भिन्न हैं, यद्यपि इसमें संदेह नहीं कि उस परंपरा पर इनका यथेष्ट प्रभाव अवश्य पड़ा है। इनकी आत्मा मे जो आभिजात्य की गंध है वह इन्हे 'सतसई', 'आर्यासप्तशती' और 'अमरुशतक' के साधारण धरातल से पृथक् कर देती है। संस्कृत साहित्य में शृंगार के इन मुक्तकों के समानातर भक्तिपरक मुक्तकों की भी एक परिपाटी चल पड़ी थी जिसके अंतर्गत 'दुर्गासप्तशती' 'चंडीशतक', 'वक्रोक्तिपंचाशिका' (शिव-पार्वती-वंदना) और कृष्णजीवन से संबद्ध 'कृष्णलीलामृत' आदि अनेक स्तोत्रग्रंथ आते हैं। इन स्तोत्रों की आत्मा मे भक्ति की प्रेरणा होते हुए भी बाह्य रूप में प्रायः शृंगार की प्रधानता मिलती है। इनमें शिवपार्वती और राधाकृष्ण की शृंगारलीलाओ का जो वर्णन मिलता है वह किसी भी शृंगारकाव्य को लज्जित कर सकता है। बारहवीं से चौदहवीं शताब्दी तक बंगाल और बिहार में राधाकृष्ण की भक्ति के जो छंद रचे गए वे काम के सूक्ष्म रहस्यो से ओतप्रोत हैं, विद्यापति के गीत इन्हीं के तो हिंदी संस्करण हैं। इन ग्रंथो के विषय में भी ठीक वही कहा जा सकता है जो 'शृंगारतिलक' आदि के विषय में कहा गया है, अर्थात् इनका प्रभाव उपर्युक्त परिपाटी पर असंदिग्ध रूप में स्वीकार करते हुए भी इनकी आत्मा को उसकी आत्मा से भिन्न मानना पडेगा। परंतु हिंदी रीतिकाव्य में जो 'राधा कन्हाई सुमिरन' के बहाने का एक निरंतर मोह तथा नायक के लिये कृष्ण और नायिका के लिये राधा शब्द का सप्रयास प्रयोग मिलता है उसके लिये इन स्तोत्रों का प्रभाव बहुत कुछ उत्तरदायी है। वास्तव में रीतिकाव्य की आत्मा का संबंध यदि ऐहिक मुक्तको की उपर्युक्त परंपरा से मानें तो उसके बाह्य रूप (जिसमें राधाकृष्ण के प्रतीको का प्रयोग हुआ है) के विधान में इन स्तोत्रों का कुछ स्पर्श अनिवार्यतः मानना पड़ेगा।

इस सत्य को स्वीकार करने के लिये इसलिये और भी बाध्य होना पड़ता है कि स्वयं रीतियुग में 'चंडीशतक', 'चरणचंद्रिका' आदि स्तोत्रवत् ग्रंथों की रचना यदाकदा होती रहती थी।

इन दोनों श्रेणियों के काव्यों को प्रभावित करनेवाली एक तीसरी चिंताधारा थी कामशास्त्र की, जो वैसे तो बहुत पहले से ही प्रभावशाली थी, परंतु संस्कृत काव्य की अंतिम शताब्दियों में अत्यधिक लोकप्रिय हो गई थी। इस चिंताधारा की सबसे महत्वपूर्ण अभिव्यक्ति हुई वात्स्यायन के 'कामसूत्र' में जिसके उपरांत 'रतिरहस्य', 'अनंगरंग' आदि अनेक ग्रंथों का प्रणयन हुआ। यौनविज्ञान और आयुर्वेद पर इनका प्रभाव जो कुछ भी पड़ा हो, परंतु काव्य के वर्णन और मनोविज्ञान को इन्होंने निश्चित रूप से प्रभावित किया। ऐहिक शृंगारमुक्तकों, शिव और कृष्णभक्ति के स्तोत्रों और नायिकाभेद के ग्रंथों पर इनकी स्पष्ट छाप थी। उनमें अंकित शृंगार-भावनाओं तथा केलिक्रीड़ाओं के चित्रों एवं नायिकाओं के भेदप्रभेदों में स्थान स्थान पर उपर्युक्त ग्रंथों की प्रतिध्वनि सुनाई देती है।

संस्कृत की ये ही तीन मुख्य साहित्यिक परंपराएँ थीं जिनसे प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप में हिंदी रीतिकाव्य ने अपने अंतर्तत्वों को ग्रहण किया। इसके उपरात तो हिंदी साहित्य का ही उदय हो गया।

हिंदी का आदिम युग वीरगीतों और वीरगाथाओं से मुखरित था। वीरगीतो का तो प्रश्न ही नहीं उठ सकता, परंतु वीरगाथा के कवियो में कुछ कवि, विशेषकर चंद बरदायी, काव्यरीति के प्रति निश्चय ही सावधान थे। 'पृथ्वीराजरासो' के शृंगार-चित्रों में अनेक चित्र ऐसे मिल जाते हैं जिनमें रूप के उपमानों को बहुत कुछ उसी प्रकार रीति में जकड़कर उपस्थित किया गया है जैसा रीतियुग में। उदाहरण के लिये एक परिचित नखशिख लिया जा सकता है:

(१) मनहु कला ससि भान कला सोलह सो बन्निय,
बाल बेस ससि ता समीप अमृत रस पिन्निय।
बिगसि कमल स्रग भ्रमर बैन खंजन मृग लुट्टिय,
हीर कीर अरु बिम्ब मोति नखसिख अहि घुट्टिय।
छप्पति गयन्द हरि हंस गति बिह बनाय संचे सचिय।
पदमिनिय रूप पद्मावतिय मनहु काम कामिनि रचिय[1]॥

[1] चंद : पृ० रा० (पद्मावती समय)

(२) देखि बरन रति रहस । बुंद कन स्वेद संभुवर ।
चंद किरन मनमथ्थ । हथ्थ कुट्ठ बहु दुक्कर ।
सुकवि चंद बरदाय । कहिय उप्पम श्रुति चालह ।
मनो मयंक मनमथ्थ । चंद पुज्यो मुत्ताहय ।
कर किरनि रहसि रति रंग दुति । प्रफुलि कली कलि सुंदरिय ॥
सुक कहे सुकिय इंछनि सुनवि । पै पंगानिय सुंदरिय[1] ॥

परंतु इस प्रकार के रीतिग्रथित वर्णन कहीं भी पाए जा सकते हैं। इसीलिये इनमें या इस प्रकार के अन्य वर्णनों में रीतितत्व खोजना विशेष अर्थ नहीं रखता। हिंदी में वास्तव में सबसे पहले कवि विद्यापति हैं जिनमें रीतिसंकेत असंदिग्ध रूप में मिलते हैं। रीतिकाव्य की ऐंद्रिय शृंगारिकता का तो विद्यापति में अपार वैभव है। उसकी रीतियों का भी उनको अत्यंत मोह था। विद्यापति के शृंगारचित्र सभी अलंकृत हैं और प्रायः उन सभी के पीछे नायिकाभेद का स्पष्ट पृष्ठाधार है। ऊपर गिनाई हुई काव्यपरंपराओं में ऐतिहासिक मुक्तकों की परंपरा स्तोत्रों के भक्तिरस में रँगकर जो रूप धारण कर सकती है बहुत कुछ वही हमें विद्यापति में मिलता है। इसीलिये विद्यापति के सब चित्र ऐंद्रिय उल्लास से दीप्त होते हुए भी अधिक स्थूल नहीं हो पाए है। उनमें एक सूक्ष्म तरलता है। दूसरे रूप के प्रति भी उनका दृष्टिकोण सर्वथा भावगत ही है, वस्तुगत नहीं। उनका धरातल नित्यप्रति के गार्हस्थ जीवन तक नहीं उतरा। इसलिये उनमें वह मूर्खता नहीं है जो रीतिकाल के शृंगारचित्रों में अनिवार्यतः मिलती है। इन्हीं दो कारणों से विद्यापति रीतिकाव्य की परंपरा से थोड़ा बच जाते हैं। अन्यथा उनमे रीतिसंकेतों का प्राचुर्य असंदिग्ध है। उनके छंद रीतिकाव्य के किसी भी संग्रह में उठाकर रखे जा सकते हैं :

किछु किछु उतपति अंकुर भेल।
चरन चपल गति लोचन लेल।
अब सब खन रह आँचर हात।
लाजे सखिगन न पुछए बात ॥
कि कहब माधव वयस क संधि।
हेरतई मनसिज मन रहु बंधि ॥
तइअओ काम हृदय अनुपाम।
रोपल घट ऊचल कए ठाम।

[1] चंद

सुनइत रस-कथा थापय चीत।
जइसे कुरंगिनि सुनये संगीत।
सैसव जौवन उपजल बाद।
कैओ न मानय जय-अवसाद[1]।

उपर्युक्त पद की प्रतिध्वनि आप न जाने कितने रीतिछंदों में सुन सकते हैं।

चंद, विद्यापति आदि के काव्य से यह सर्वथा स्पष्ट है कि इनको रीतिशास्त्र का पूरा पूरा ज्ञान था और उस समय रीतिग्रंथों का बहुत कुछ प्रचार हिंदी में भी निश्चित रूप से था। कृपाराम कृत 'हिततरंगिणी' इस अनुमान को सार्थक करती है। एक तो स्वयं उसकी ही रचना हिंदी काव्य के अत्यंत आरंभिक काल, संवत् १५९८ में, हुई :

सिधि निधि शिवमुख चंद्र लखि माघ शुद्ध तृतियासु।
हिततरंगिणी हौं रची कविहित परम प्रकासु॥

इसके अतिरिक्त कृपाराम ने असंदिग्ध शब्दों में अपने पूर्व रचे हुए रीतिग्रंथों की ओर संकेत किया है :

बरनत कवि सिंगार रस छंद बड़े बिस्तारि।
मैं बरन्यौं दोहान बिच यातें सुघरि बिचारि[2]॥

अतएव इसमें कुछ भी संदेह नहीं रह जाता कि हिंदी में रीतिकाव्य की परंपरा लगभग उसके जन्म से ही आरंभ हो जाती है—पुष्य या पुंड का अस्तित्व चाहे रहा हो या नहीं। 'हिततरंगिणी' शुद्ध रीतिग्रंथ है। वह रीति का लक्ष्यग्रंथ भी नहीं, व्यक्त रूप से लक्षणग्रंथ है, जिसमें संपूर्ण नायिकाभेद अत्यंत विस्तार के साथ वर्णित है। कृपाराम ने, जैसा उन्होंने स्वयं स्वीकार किया है, इस ग्रंथ का प्रणयन अनेक ग्रंथ पढने के उपरांत, फिर आप विचारकर, कवियों और नागरिकों के लिये किया है। उनका मूल आधार यद्यपि भरत का ग्रंथ है, तथापि उन्होने सभी परवर्ती ग्रंथो का अनुशीलन किया है और अत्यंत स्वच्छ लक्षण उदाहरणों के द्वारा बड़ी सुथरी भाषा मे नायिकाभेद के सूक्ष्मातिसूक्ष्म भेदों का निरूपण किया है। विस्तार की दृष्टि से यह ग्रंथ हिंदी के अनेक परवर्ती ग्रंथों से अधिक समृद्ध है। बाद में मतिराम, बेनी प्रवीन, पद्माकर, आदि ने भी इतने सूक्ष्म भेद नहीं किए। इनके अतिरिक्त दूसरा गुण इस ग्रंथ में यह है कि इसकी शैली सर्वत्र वर्णनात्मक ही नहीं

[1] विद्यापति पदावली
[2] हिततरंगिणी

है, स्थान स्थान पर विवेचनात्मक भी है। कवि ने भिन्न भिन्न भेदों का समन्वय और संगठन करने का प्रयत्न किया है।

सूर कृपाराम के समसामयिक ही थे। 'सूरसागर' में भी रीतिबद्ध श्रृंगार-चित्रों की कमी नहीं है। विद्यापति की भाँति संयोग और वियोग के सभी पहलुओं का सूक्ष्म वर्णन तो सूर में है ही, उनके चित्रों में अलंकरण का प्राचुर्य है और नायिकाभेद का पृष्ठाधार भी। यहाँ तक कि सूर ने विपरीत रति को भी नहीं छोड़ा। भक्त कवि सूर की खंडिता का एक चित्र देखिए :

> **तहँइ जाहु जहँ रैनि बसे।**
> **अरगज अंग मरगजी माला बसन सुगंध भरे से हैं।**
> **काजर अधर कपोलनि चन्दन लोचन अरुन ढरे से हैं[1]।**

और रीतिकवि बिहारी के प्रसिद्ध दोहे से मिलाइए :

> **पलक पीक, अंजन अधर, लसत महावर भाल।**
> **आजु मिले सु भली करी, भले बने हो लाल[2]॥**

इस प्रकार रीतिकवियों ने रस, भाव, हाव, नायिका और अलंकार के उदाहरणों में सूर के अनेक चित्रों का बिना किसी कठिनाई के रूपांतर करके रख दिया है।

सूर का दूसरा ग्रंथ 'साहित्यलहरी' दृष्टिकूट और चित्रालंकारों का चक्रव्यूह है, इसलिये एक तरह से वह रीत्यंतर्गत अलंकारपरंपरा में आता है। सूर के उपरात तुलसीकृत 'बरवै रामायण' पर रीति का प्रभाव स्पष्ट है—उसके अनेक बरवै प्रायः अलंकारों के उदाहरण से लगते हैं। उधर रहीम और नंददास ने तो नायिका-भेद पर स्वतंत्र ग्रंथ ही लिखे हैं। रहीम का प्रसिद्ध ग्रंथ है 'बरवै नायिकाभेद' जिसमें विभिन्न नायिकाओं के लक्षण न देकर अत्यंत सरस और स्वच्छ उदाहरण ही दिए हुए हैं। यह ग्रंथ निश्चय ही एक मधुर रीतिग्रंथ है। इसमें नायिकाओं के देशभेद भी दिए गए हैं। आगे चलकर देव ने 'रसविलास' आदि में इसी का अनुकरण किया। इसके अतिरिक्त रहीम के अनेक फुटकर श्रृंगार दोहों को भी बड़ी सरलता से रीतिकाव्य के अंतर्गत माना जा सकता है।

नंददास ने अपना ग्रंथ 'रसमंजरी' भानुदत्त की 'रसमंजरी' के आधार पर लिखा है :

[1] सूरसागर।
[2] बिहारीसतसई।

'रसमंजरि' अनुसारि कै, नंद सुमति अनुसार ।
बरनत बनिता भेद जहँ, प्रेम सार बिस्तार ॥

रहीम ने जहाँ केवल उदाहरण ही दिए हैं वहाँ नंददास ने उदाहरण न देकर लक्षण मात्र ही दिए हैं। नंददास का नायिकानिरूपण अत्यंत स्पष्ट और विशद है। उन्होंने अपने लक्षणों का सूत्र बनाकर ही नहीं छोड़ दिया वरन् भिन्न भिन्न नायिकाओं के स्वरूप का स्वच्छता और विस्तार के साथ वर्णन किया है। वास्तव मे, जैसा हिंदी के एक लेखक ने कहा है, 'रसमंजरी नायिकामेद पर एक सुंदर पद्यबद्ध निबंध है।'

इस प्रकार रीतिपरिपाटी गिरती पड़ती किसी न किसी रूप में आरंभ से ही चल रही थी परंतु अभी हिंदी मे कोई ऐसा आचार्य नहीं हुआ था जिसके व्यक्तित्व से उसको बल प्राप्त होता। कृपाराम की 'हिततरंगिणी' यद्यपि शुद्ध रीतिग्रंथ थी तथापि एक तो उसका क्षेत्र केवल नायिकाभेद तक ही सीमित था, दूसरे कृपाराम के व्यक्तित्व मे इतनी शक्ति नही थी कि रीतिपरंपरा को काव्य की अन्य प्रचलित परंपराओ के समकक्ष प्रतिष्ठित कर सकते। यह कार्य केशवदास ने किया। केशवदास हिंदी के पहले आचार्य हैं जिन्होने काव्यरीति के प्रति सचेत होकर उसके विभिन्न अंगो का गभीर और पाडित्यपूर्ण विवेचन किया है। यह तो ठीक है कि उनका सिद्धातवाक्य यह दोहा :

जदपि जाति सुलच्छिनी, सुबरन सरस सुवृत्त ।
भूषन बिनु न बिराजई, कविता बनिता मित्त ॥

और व्यावहारिक रूप में अलंकार के प्रति उनका अनुचित मोह, दोनों उन्हे दंडी आदि अलंकारवादियो की कोटि मे रखते हैं, परंतु उनकी 'रसिकप्रिया' रस और नायिकाभेद का प्रौढ ग्रंथ है। यदि हम केशव की 'रसिकप्रिया' को ही ले, 'कविप्रिया' को न देखें, तो उन्हें रसवादी कहने में कोई आपत्ति नहीं की जा सकती। उन्होंने भी उसी आग्रह से शृंगार को रसराज माना है और उसी तन्मयता के साथ नायिका के सूक्ष्मातिसूक्ष्म भेदों का वर्णन किया है। कहने का तात्पर्य यह है कि केशव ने वास्तव मे पूर्वध्वनि तथा उत्तरध्वनि दोनो कालों की विचारधाराओ को हिंदी में अवतरित किया। 'कविप्रिया' में अलंकार्य और अलंकार में अभेद करनेवाली पूर्वध्वनिकाल की विचारधारा की अभिव्यक्ति है और शृंगार को एकमात्र रस स्वीकृत करनेवाली 'रसिकप्रिया' पर उत्तरध्वनिकाल की सिद्धांत-परंपरा का गहरा प्रभाव है। अतएव केशवदास हिंदी-रीति-परंपरा के सबसे पहले मार्गस्तंभ हैं। केशव के उपरात दूसरा महत्वपूर्ण नाम प्रसिद्ध कवि सेनापति का है, जिन्होंने 'कल्पद्रुम' में काव्य के अंग उपागो का विवेचन किया है। 'काव्यकल्पद्रुम' आज अप्राप्त है परंतु उसके नाम और एकाध स्थान पर उसके प्रति किए गए संकेतों

से अनुमान किया जाता है कि वह काव्यप्रकाश की शैली का काव्य की संपूर्ण रीतियों पर प्रकाश डालनेवाला ग्रंथ होगा। फिर तो चिंतामणि और उनके बंधुद्वय का ही युग आ जाता है और रीतिग्रंथों की क्षीण रेखाधारा, जो हिंदी के जन्मकाल से ही दबती छिपती चली आ रही थी, शतशतमुखी होकर प्रवाहित होने लगती है।

उपर्युक्त विवेचन के उपरात साधारणतः यही परिणाम निकाला जा सकता है कि हिंदी में रीतिपरंपरा का आरंभ तो उसके जन्मकाल से ही मानना पड़ेगा—पुष्य या पुंड कविविशेष का अस्तित्व चाहे मानें या नहीं। जनसमाज में जहाँ समय-प्रभाव के अनुकूल वीरभाव अथवा निर्गुण सगुण भक्ति की भावनाएँ काव्यरूप में अभिव्यक्त हो रही थीं, वहाँ साहित्यविद् पंडितों की गोष्ठियों में आरंभ से ही रीति-परंपरा का किसी न किसी रूप में पोषण हो रहा था। (वीरगाथा और भक्तिकाल के शास्त्रनिष्ठ कवियों की कविता मुक्तात्मा होकर भी रीति के रेशमी बंधनो का मोह नहीं छोड़ पाती थी—चंद, नरपति नाल्ह, सूर, तुलसी, नंददास, सभी की रीति के प्रति जागरूकता इसका असंदिग्ध प्रमाण है।) कुछ इतिहासकारो का यह तर्क कि हिंदी साहित्य के प्रारंभ में ही रीतिग्रंथो का किस प्रकार निर्माण हो सकता है, लक्षणग्रंथ तो लक्ष्यग्रंथो की समृद्धि के उपरात ही संभव हैं, अत्यंत स्थूल है क्योकि हिदी साहित्य स्वतंत्र रूप से फूटा हुआ कोई सर्वथा नवीन स्रोत नहीं है। वह संस्कृत और प्राकृत अपभ्रंश की प्रवहमान काव्यधारा का एक रूपातर मात्र है। संस्कृत काव्य का पर्यवसान रीतिग्रंथों में ही हुआ था, अतएव हिंदी के आरंभ में रीतिग्रंथों की रचना सर्वथा स्वाभाविक और सहज थी। हिंदी की इस रीतिपरंपरा का पहला निश्चित स्फुरण है 'हिततरंगिणी', परंतु उसकी वास्तविक गौरव-प्रतिष्ठा हुई 'कविप्रिया' और 'रसिकप्रिया' की रचना के साथ। केशव के पूर्व और केशव के समय में भी चूँकि जनरुचि अनुकूल नहीं थी (केशव का युग भी आखिर तुलसी और सूर के सर्वव्यापी प्रभाव से आक्रात था), इसलिये रीति-परंपरा में बल नहीं आ पाया। चिंतामणि के समय तक उसे जनरुचि का भी बल प्राप्त हो गया और तभी से यह धारा शतसहस्रमुखी होकर बहने लगी। अतएव चिंतामणि का महत्व केवल आकस्मिक और संयोगजन्य है—यह एक संयोग मात्र ही तो था कि उनके समय से जनरुचि भी उनके साथ हो गई और रीतिग्रंथों का ताँता बँध गया। युगप्रवर्तन का गौरव उनको नहीं दिया जा सकता—परवर्ती रीतिकवियो में से किसी ने भी उनका इस रूप में स्मरण नहीं किया। यह गौरव केशव को ही दिया गया है और वास्तव में केशव ही इसके अधिकारी भी हैं, क्योंकि उन्होंने विचारपूर्वक संस्कृत रीतिकाव्य की परंपरा को हिंदी में अवतरित किया और साथ ही अपने व्यवहार में भी उसको वाछित महत्व दिया।

द्वितीय खंड

सामान्य विवेचन

प्रथम अध्याय

सामान्य विवेचन

१. साहित्य का कालविभाग

आचार्य शुक्ल द्वारा हिंदी साहित्य के इतिहास का कालविभाजन दोहरे नामों से हुआ है :

(१) आदिकाल अर्थात् वीरगाथाकाल—सं० १०५० से १३७५ वि०। (२) पूर्व मध्यकाल अर्थात् भक्तिकाल—सं० १३७५ से १७०० वि० तक। (३) उत्तर मध्यकाल अर्थात् रीतिकाल—सं० १७०० से १९०० वि० तक। (४) आधुनिक काल अर्थात् गद्यकाल—सं० १९०० से आज तक।

डा० श्यामसुंदरदास, डा० रामकुमार वर्मा, महापंडित राहुल सांकृत्यायन और डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने भी थोड़े बहुत अंतर से शुक्ल जी के ही संवतों में हिंदी साहित्य के इतिहास का कालविभाग माना है।

२. नामकरण का दुहरा प्रयोजन और नामकरण का आधार

आचार्य रामचंद्र शुक्ल के इतिहास से पहले मिश्रबंधुओं द्वारा 'मिश्रबंधु विनोद' लिखा जा चुका था। उसमें कालविभाजन के प्रसंग के अंतर्गत आदि, माध्यमिक और आधुनिक नाम आ चुके थे। यद्यपि शुक्ल जी ने 'मिश्रबंधु विनोद' की तत्र यत्र आलोचना की है, तथापि वह पुस्तक शुक्ल जी के लिये मार्गदर्शक के रूप में थी। मानव का मनोविज्ञान किसी कालावधि को सामान्यतः तीन ही भागों में विभक्त करता है—(१) आदि, (२) मध्य, (३) अन्त या आधुनिक; अतएव आचार्य शुक्ल ने भी परंपराप्राप्त ये उक्त नाम तो दिए ही, साथ ही प्रवृत्तियों की प्रमुखता की दृष्टि से भी एक विशिष्ट नाम जोड़ दिया और इस तरह चारों कालों के दोहरे नाम देकर प्रत्येक काल की विशिष्ट प्रवृत्ति को भी स्पष्ट कर दिया। आदिकाल में शुक्ल जी को वीरगाथाओं की प्रवृत्ति का प्राधान्य दिखाई दिया। अतः आदिकाल को वीरगाथाकाल नाम दिया गया।

मध्यकाल में दो भिन्न प्रवृत्तियाँ परिलक्षित हुईं। इसीलिये शुक्ल जी ने मध्यकाल को दो भागों में विभक्त कर दिया—पहले भाग को पूर्व मध्यकाल नाम देकर साथ में भक्तिकाल नाम भी लिखा जिससे तत्कालीन साहित्य की भक्तिपरक प्रवृत्ति की प्रमुखता का पता पाठक को सहज में ही लग सके। दूसरे भाग का

उत्तर मध्यकाल नाम देकर साथ में रीतिकाल नाम भी लिखा ताकि उस काल की साहित्यिक प्रवृत्ति से पाठक अवगत हो सकें। आधुनिक काल में गद्यलेखन की प्रमुखता देखकर ही उसे शुक्ल जी ने 'गद्यकाल' के नाम से व्यक्त किया है। अतएव निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि पूर्वपरंपरा और कालगत प्रवृत्ति-प्राधान्य के कारण ही कालविभाग में दोहरा नामकरण हुआ है। शुक्ल जी के नामकरण का आधार साहित्य की तत्कालीन प्रवृत्तियों की प्रमुखता ही है।

साहित्य के इतिहास का कालविभाजन प्रायः कृति, कर्ता, पद्धति, व्यक्ति अथवा विषय को दृष्टि में रखकर किया जाता है। जब कालविभाजन के लिये कोई स्पष्ट आधार दृष्टिगत नहीं होता तब विवेच्य काल का नामकरण किसी प्रभावशाली प्रतिनिधि कवि या लेखक के नाम पर किया जाता है। भारतेंदु युग, द्विवेदी युग, प्रसाद युग आदि नामकरणों का आधार यही है। मिश्रबंधुओं ने भी सेनापति काल, बिहारी काल, आदि कुछ नामकरण इसी आधार पर किया है। कभी कभी साहित्य-सर्जना की शैलियाँ, राजनीतिक आदोलन अथवा सामाजिक क्रांतियाँ भी नामकरण का आधार बन जाती हैं। छायावादी काल, प्रगतिवादी काल, प्रयोगवादी काल, आदि नाम प्रायः साहित्यसर्जना की शैलियों के आधार पर ही रखे गए हैं।

आचार्य शुक्ल ने अपने इतिहास में कृतियों को प्रधानता दी और आदिकाल का नाम वीरगाथाकाल रखा। डा० रामकुमार वर्मा ने कर्ता को प्रधानता देकर उसका नाम चारणकाल रखा। शुक्ल जी ने जो उत्तर मध्यकाल को रीतिकाल नाम से और आधुनिक काल को गद्यकाल नाम से व्यक्त किया है उसका आधार पद्धति-विशेष ही है। आगे चलकर गद्यकाल को शुक्ल जी ने जो प्रथम, द्वितीय और तृतीय उत्थानो में बाँटा, उसका आधार साहित्यविकास ही माना जा सकता है। उपर्युक्त सभी आधारो को दृष्टिपथ में रखते हुए हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि साहित्य के इतिहास के कालविभाजन में नामकरण के लिये तत्कालीन प्रवृत्तियों को ही आधार मानना उपयुक्त और न्यायसंगत है।

३. रीतिकवियों की व्यापक प्रवृत्ति

रीतिकालीन रीतिकवियो को प्रमुखतः दो वर्गों में विभक्त किया जा सकता है—(१) रीतिग्रंथकार कवि जिन्होंने प्रत्यक्ष रूप में काव्यशास्त्र संबंधी लक्षणग्रंथो पर काव्य रचे, जैसे केशव, मतिराम, भूषण आदि; (२) रीतिबद्ध कवि जिन्होंने अप्रत्यक्ष रूप में लक्षणग्रंथों को दृष्टिपथ में रखकर अपने स्वतंत्र काव्य रचे, जैसे बिहारी।

इन कवियों की व्यापक प्रवृत्तियों का विश्लेषण निम्नांकित रूप में किया जा सकता है :

(१) पृष्ठभूमि—(क) राजनीतिक, सामाजिक और सास्कृतिक।
(ख) संस्कृत के आचार्यों की कृतियों का अनुकरण, विशेषतः भानुदत्तकृत 'रसमंजरी' का और जयदेव-कृत 'चंद्रालोक' का।

(२) वर्ण्य विषय—राज्यविलास, राजप्रशंसा, दरबारी-कला-विनोद, मुगल-कालीन वैभव, नखशिख, ऋतुवर्णन, अष्टयाम, नायिका-भेद, आलंबन और आश्रय के रूप में राधा और कृष्ण अथवा कृष्ण और राधा, रस, अलंकार और छंद।

(३) भाषा—संस्कृत, अपभ्रंश तथा कहीं कहीं फारसी के शब्दों से प्रभावित ब्रजभाषा।

(४) शैली—मुक्तक शैली।

(५) छंद—दोहा, कवित्त और सवैया।

(६) रस—*श्रृंगार* और वीर, किंतु *श्रृंगार* रस की प्रमुखता।

(७) अलंकार—शब्दालंकारों में अनुप्रास, यमक और श्लेष का बाहुल्य, अर्थालंकारों में उपमा, रूपक और उत्प्रेक्षा की प्रबलता।

(१) प्रधान रस श्रृंगार—रीतिग्रंथकार कवियों तथा रीतिबद्ध कवियों के काव्यों पर दृष्टि डालने के उपरात हम यह कह सकते हैं कि उनमें *श्रृंगार* रस का ही प्राधान्य है। रीतिग्रंथकार कवियों में केवल भूषण ने प्रधानतः वीररस की कविताएँ लिखी हैं, प्रीतम ने कुछ कविताएँ हास्य रस की भी रची हैं, शेष सभी ने *श्रृंगार* रस के ग्रंथ ही प्रमुख रूप से लिखे हैं। जिन रीतिकालीन कवियों ने वीररस लिखा, उन्होंने *श्रृंगार* रस की कविताएँ भी रचीं। भूषण कवि की भी कुछ *श्रृंगार* रस की रचनाएँ मिलती हैं। अतः हम कह सकते हैं कि रीतिकवियों का प्रधान रस *श्रृंगार* ही है। उपर्युक्त सप्तसूत्री प्रवृत्ति का विश्लेषण *श्रृंगार* रस में डुबाकर ही किया गया है।

(२) श्रृंगारसंवलित भक्ति—रीतिकाल के अंतर्गत हमें तीन प्रकार के कवियों के दर्शन होते हैं—(१) रीतिग्रंथकार कवि, (२) रीतिबद्ध कवि, (३) रीतिमुक्त कवि। बिहारी जैसे रीतिबद्ध कवि की भक्तिभावना भी *श्रृंगार*संवलित रूप में ही दृष्टिगोचर होती है। राधा और कृष्ण *श्रृंगार* के नायिका और नायक के रूप में ही चित्रित हुए हैं। राधा के संबंध में कवि का भक्तिभाव *श्रृंगार* में लिपटकर ही व्यक्त हुआ है :

तोपर वारौं उरबसी, सुनि राधिके सुजान।
तू मोहन के उर बसी, ह्वै उरबसी समान॥

—बिहारी रत्नाकर से

शुद्ध भक्तिभावना में भक्त भगवान् के चरणों का सानिध्य चाहता है। भक्त की दृष्टि भगवान् के चरणों पर ही रहती है। किंतु प्रेमी प्रियतम के मुखारविंद का मकरंद पान करके ही जीवित रहता है। मतिराम की निम्नांकित भक्तिभावना में शृंगारभाव का ही पुट है, क्योंकि कवि की दृष्टि मोहन के चरणों पर नहीं, अपितु उनके हृदय और अधरों पर है। इस शृंगारभाव की पूर्ति के लिये ही वह वनमाला और मुरली बनने की अभिलाषा कर रहा है :

> **क्यों इन आँखिन सौं निहसंक ह्वै मोहन को तन पानिप पीजै ?**
> **नेकु निहारे कलंक लगै यहि गाँव बसे कहु कैसे कै जीजै ?**
> **होत रहै मन यों मतिराम, कहूँ बन जाय बड़ो तप कीजै।**
> **ह्वै बनमाल हिये लगिये अरु ह्वै मुरली अधरा रस पीजै॥**

रीतिमुक्त कवियों में कुछ वीर रस के रचयिता हुए और कुछ शृंगार रस के। लाल, जोधराज, सूदन आदि की रचनाएँ वीर-रस-प्रधान हैं, किंतु बनवारी, आलम, शेख, घनानंद, बोधा, ठाकुर, चंद्रशेखर बाजपेयी, द्विजदेव आदि ने अधिकांशतः शृंगार रस में ही काव्यरचना की है। भक्तिकालीन कवि रसखान और सेनापति में तो शृंगारसंवलित भक्ति के दर्शन होते ही हैं, आलम, घनानंद और नागरीदास की भक्तिभावना पर भी शृंगार की छाप स्पष्ट दिखाई पड़ती है। प्रेमोन्मत्त कवि आलम की निम्नांकित भक्तिभावना में शृंगारसंवलित प्रेम की पीर साफ़ सुनाई पड़ती है :

> **जा थल कीने बिहार अनेकन ता थल काँकरी बैठि चुन्यो करैं,**
> **जा रसना सों करी बहु बातन ता रसना सों चरित्र गुन्यो करैं।**
> **'आलम' जौनके कुंजन में करी केलि तहाँ अब सीस धुन्यो करैं,**
> **नैनन में जो सदा रहते तिनकी अब कान कहानी सुन्यो करैं॥**

रसखान, आलम, घनानंद और बोधा, इन कवियों की भक्ति का प्रवाह शृंगारभावना को लेकर ही चला है। इसका प्रमुख कारण यही है कि ये कवि मानवीय प्रेम की सीढ़ी पर पाँव रखकर ईश्वरीय प्रेम की झाँकी देखने के लिये ऊपर चढ़े थे। इनमें इश्कमजाजी और हकीकी दोनों ही थे अतः इनकी भक्ति में मानवीय प्रेम को प्रकट करनेवाला शृंगार भी पर्याप्तरूपेण मिलता है। ये कोरे विरागी भक्त नहीं थे, अपितु प्रेम की पीर को पहचाननेवाले शृंगारी भक्त थे। भक्तवर नागरीदास में भी हमें उसी भावना की झाँकी मिलती है :

> **भादों की कारी अँध्यारी निसा झुकि बादर मंद फुही बरसावै।**
> **स्यामा जू आपनी ऊँची अटा पै छकी रसरीति मलारहि गावै॥**
> **ता समै मोहन के दग दूरि तें आतुर रूप की भीख यों पावै।**
> **पौन मया करि घूँघट टारै, दया करि दामिनी दीप दिखावै॥**

४. रीतिमुक्त प्रवाह

रीतिकाल में कुछ ऐसे कवि भी हुए जिन्होंने केशव, मतिराम, भूषण आदि की भाँति न तो कोई रीतिग्रंथ ही लिखा और न बिहारी की भाँति रीतिबद्ध रचना ही की। ऐसे कवियों की संख्या पचास के लगभग है। इन्हें हम मुख्यतः छः वर्गों में बाँट सकते हैं :

प्रथम वर्ग उन कवियों का है जिन्होंने लक्षणबद्ध रचना नहीं की, और जो स्वतंत्र रचना करके जनता को प्रेम की पीर ही सुनाते रहे। इनमें रसखान, घनानंद, आलम, ठाकुर और बोधा के नाम प्रसिद्ध हैं। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने अपने इतिहास में रसखान को दो रूपो में अंकित किया है—एक तो कृष्णभक्ति शाखा के भक्त कवियों में और दूसरे रीतिकाल के अन्य कवियो में। घनानंद, आलम, ठाकुर आदि प्रेमोन्मत्त कवियों के साथ रसखान की कविताओं का अवलोकन करने पर वे रीतिमुक्त प्रवाह के ही कवि ठहरते हैं। उनमे शृंगारसंवलित भक्ति का ही स्वर गूँज रहा है।

द्वितीय वर्ग उन कवियो का है जिन्होने विशेष रूप से कथाप्रबंध काव्य लिखे; जैसे छत्रप्रकाश के रचयिता लालकवि, सुजानचरित के लेखक सूदन, हम्मीररासोकार जोधराज और हम्मीरहठ के लेखक चंद्रशेखर।

तृतीय वर्ग दानलीला, मानलीला आदि वर्णनात्मक प्रबंध काव्य लिखनेवाले कवियो का है।

चतुर्थ वर्ग में नीति संबंधी पद्य रचनेवाले कवि आते हैं, जिनमें वृंद, गिरिधर, घाघ और बैताल जैसे सूक्तिकार अधिक प्रसिद्ध हैं।

पंचम वर्ग मे वे कवि हैं जिन्होने ब्रह्मज्ञान और वैराग्य संबंधी उपदेशात्मक पद्य लिखे हैं।

षष्ठ वर्ग उन कवियो का है जिन्होंने या तो भक्तिभाव मे डूबकर विनय के पद गाए हैं या वीर रस की स्वतंत्र फुटकल रचनाएँ की हैं।

उपर्युक्त वर्गों के कवि वास्तव में रीतिमुक्त प्रवाह के कवि थे, क्योकि इन्होने न तो कोई लक्षणग्रंथ लिखा और न लक्षणग्रंथो से प्रभावित होकर अथवा बँधकर काव्यरचना ही की।

५. नामकरण की उपयुक्तता

मिश्रबंधुओं ने अपने 'मिश्रबंधु विनोद' में रीतिकाल के लिये 'अलंकृत काल' नाम दिया है। यहाँ इसपर विचार करना आवश्यक है। कविता का भावपक्ष और कलापक्ष तो भक्तिकाल में भी सुंदर, चमत्कारिक और अलंकृत था, फिर रीतिकाल को

ही 'अलंकृत काल' क्यों कहना चाहिए ? वीरगाथाकाल से लेकर गद्यकाल तक की रचनाएँ बहुत कुछ अलंकारों से सुसज्जित रही हैं। इस आधार पर प्रत्येक काल 'अलंकृत काल' कहलाने का अधिकारी हो सकता है। इसके अतिरिक्त रीतिकाल के कवियों की कविताओं में केवल अलंकारों का ही प्राधान्य नहीं है। अलंकार तो उनकी काव्यकला का एक अंग माना जा सकता है। केशव को छोड़कर अन्य बहुत से कवि ऐसे हैं जो रस और ध्वनि को काव्य की आत्मा मानकर बड़ी सुंदर काव्य-रचना कर गए हैं। रस की दृष्टि से मतिराम और ध्वनि की दृष्टि से बिहारी का नाम प्रस्तुत किया जा सकता है। अतः 'अलंकृत काल' नाम हमारे विवेच्य काल का पूरा प्रतिनिधित्व नहीं करता।

कुछ वर्तमान आलोचक रीतिकाल को 'शृंगार काल' भी लिखने लगे हैं। यह कहाँ तक समीचीन है ? प्रश्न यह है कि क्या रीतिकाल के कवियों ने शृंगार रस के अंगों का ही विशद विवेचन किया है ? क्या रति नामक स्थायी भाव को आधार मानकर उसके आलंबन विभाव, उद्दीपन विभाव, अनुभाव, और संचारियों के वर्णन और विवेचन में ही कवियों ने कविताएँ लिखी हैं ? संपूर्ण काल पर एक विहंगम दृष्टि डालने से पता लगता है कि उन कवियों की ऐसी परिपाटी नहीं रही। फिर शृंगारकाल नाम देने का प्रश्न ही नहीं उठता। शृंगार की प्रमुखता असंदिग्ध है एवं वह स्वतंत्र नहीं है, सर्वत्र रीतिबद्ध ही है। इस काल के समस्त कवियों को हम तीन वर्गों में विभक्त कर सकते हैं—(१) रीतिग्रंथकार कवि, (२) रीतिबद्ध कवि, (३) रीतिमुक्त कवि। हम देखते हैं कि रीति का प्रभाव प्रत्येक वर्ग के कवियों पर है। रीति शब्द के दो ही अर्थ हैं। एक विशिष्ट पदरचना और दूसरा लक्षणग्रंथ। रीतिग्रंथकार कवियों और रीतिबद्ध कवियों की कविताएँ तो किसी न किसी प्रकार लक्षबद्ध थीं ही। रही रीतिमुक्त कवियों की बात, उनमें भी एक प्रकार की कवित्वपूर्ण पदरचना का वैशिष्ट्य पाया जाता है। अतः हिंदी साहित्य के उत्तर मध्यकाल को रीतिकाल नाम से अभिहित करना ही अधिक उपयुक्त है, अलंकृत काल और शृंगार काल नाम उसकी आतरिक प्रवृत्ति का ठीक तरह से प्रतिनिधित्व नहीं करते।

द्वितीय अध्याय

सीमानिर्धारण

साहित्य के इतिहास में किसी विशिष्ट प्रवृत्तिमूलक काल का सीमानिर्धारण देश या जाति के इतिहास के समान सुनिश्चित सन् संवतों के आधार पर नहीं किया जा सकता। साहित्यिक प्रवृत्तियों या वादों का प्रवर्तन भौतिक घटनाओं के समान किसी एक तिथि पर नहीं होता, अतः उसके उद्भव की सीमा एक निर्णीत तिथि या संवत् न होकर व्यापक कालपरिधि में संनिविष्ट रहती है। एक ही काल में, साहित्य जगत् में, अनेक प्रकार की प्रवृत्तियाँ या विचारधाराएँ प्रचलित रहती हैं। उनमें से जो प्रवृत्ति या विचारधारा प्रबल होकर सबसे अधिक व्याप्त हो जाती है, उसी के आधार पर उस काल का नामकरण और सीमानिर्धारण किया जाता है। उदाहरणार्थ हिंदी साहित्य के इतिहास को ही लिया जा सकता है। आदि काल से आधुनिक काल तक विविध प्रकार की साहित्यिक प्रवृत्तियाँ समय समय पर उदित और अस्त होती रहीं। एक ही समय में दो या दो से अधिक प्रवृत्तियाँ भी विद्यमान रहीं, किंतु इतिहासलेखकों ने कालविशेष का नामकरण तथा सीमानिर्धारण करते समय प्रवृत्ति के प्राधान्य को ही ध्यान में रखा है। वीरगाथाकाल के बाद भक्तिकाव्य का प्रणयन प्रारंभ हुआ, किंतु वीर रस की रचनाओं का सर्वथा अभाव नहीं हुआ। अतः काल की सीमा निश्चित करते समय प्रवृत्ति के प्राधान्य को ही दृष्टि में रखा गया। गौण विचारधाराओं को छोड़कर प्रमुख प्रवृत्ति के आधार पर ही संज्ञा तथा सीमानिर्धारण किया गया। इसी प्रकार भक्तिकाल में शृंगार एवं प्रेम का वर्णन करनेवाले अनेक भक्त (और अभक्त) कवि उत्पन्न हुए, विशेष रूप से कृष्णभक्त कवियों ने तो शृंगार की ऐसी रसधारा प्रवाहित की जिसमें भक्तिभाव सर्वथा निमज्जित हो गया, किंतु प्रवृत्ति की दृष्टि से इन कृष्णभक्त कवियों के काव्य की आत्मा शृंगारनिष्ठ न होकर भक्तिनिष्ठ थी, फलतः इस काल को 'भक्तिकाल' नाम ही दिया गया। इसी प्रकार उत्तर मध्यकाल मे भी भक्तिभावना का सर्वथा लोप नहीं हुआ था, अनेक भक्त कवि अठारहवीं और उन्नीसवीं शती मे उत्पन्न हुए, किंतु रीतिकाव्य के प्राचुर्य ने भक्ति की विरल धारा को ढक लिया था। कहने का तात्पर्य यह है कि सीमानिर्धारण करते समय उस काल की प्रमुख प्रवृत्ति या प्रधान चिंताधारा को ही दृष्टि में रखना समीचीन होता है, अन्य भावधाराएँ गौण बनकर प्रवाहित होती रहती हैं।

रीतिकाल का सीमानिर्धारण करते समय हमें यह ध्यान में रखना होगा कि हिंदी साहित्य में रीतिकाव्यों का प्रधान रूप से प्रणयन कब आरंभ हुआ और

कब तक वह अखंड एवं अविरल रूप में प्रवाहित होता रहा। सामान्यतः हिंदी रीतिकाव्य का प्रारंभ यदि रीति के रचनाविधान को ध्यान में रखकर माना जाय तो उसे भक्तिकाल से ही देखा जा सकता है। भक्तिकाल में दो प्रकार के कवियों ने रीति-काव्य-रचना में अभिरुचि प्रदर्शित की थी। प्रथम कोटि के कवि तो भक्त थे जिन्होंने कृष्णभक्ति के परिवेश में अलंकार या नायिकाभेद को स्वीकार करके रीतिकाव्य का अप्रत्यक्ष रूप से प्रणयन किया था। सूरदास का दृष्टिकूट साहित्यलहरी ग्रंथ नायिका-भेद के साथ अलंकारों का भी वर्णन करनेवाला है। नंददास की रसमंजरी नायिका-भेद का ग्रंथ है, इसे उन्होंने स्वयं स्वीकार किया है :

> रसमंजरि अनुसारि कै नंदसुमति अनुसार।
> बरनत बनितामेद जहँ, प्रेमसार बिस्तार॥

नंददास की रसमंजरी पर भानुदत्त की रसमंजरी की गहरी छाप है। कुछ स्थल तो रूपांतर मात्र ही हैं। भानुदत्त कृत गद्य व्याख्या को नंददास ने ग्रहण नहीं किया है, इस कारण शास्त्रीय विवेचन उसमें नहीं आ सका है। प्रेम-रस-निरूपण ही नंददास का ध्येय था अतः शास्त्रीय तर्कवितर्क में उलझने की आवश्यकता उन्होंने नहीं समझी।

दूसरी कोटि के रीति-काव्य-प्रणेता वे कवि हैं जो रस, अलंकार आदि काव्यांगनिरूपण मे ही प्रवृत्त हुए थे। उनमें कृपाराम का नाम कालक्रम मे सर्व-प्रथम आता है। कृपाराम ने हिततरंगिणी (१६६८) नामक ग्रंथ कविशिक्षा के निमित्त दोहा छंद मे लिखा था। उन्होंने अपने पूर्ववर्ती रीति-काव्य-प्रणेताओं का भी संकेत किया है किंतु अभी तक किसी ऐसे रीतिग्रंथ का शोध नहीं हुआ है। अतः कृपाराम को ही सर्वप्रथम रीतिकाव्यकार मानना उचित है। कृपाराम के ग्रंथ का आधार भरत का नाट्यशास्त्र है, जैसा उन्होंने स्वयं लिखा है : 'कृपाराम यो कहत हैं, भरत ग्रंथ अनुमानि।' कृपाराम के पश्चात् विक्रम की सत्रहवीं शती मे अनेक कवि उत्पन्न हुए जिनका ध्यान रीतिबद्ध काव्यरचना की ओर गया। उन कवियों में मोहनलाल मिश्र रचित शृंगारसागर नायिकाभेद का सुंदर ग्रंथ है। अकबरी दरबार के कवियों ने भी रीतिकाव्य की ओर रुचि प्रदर्शित की थी जिनमे करनेस, रहीम, बलभद्र मिश्र और गंग के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

करनेस कवि रचित 'करणाभरण श्रुतिभूषण' और 'भूपभूषण' अलंकार शास्त्र से संबंध रखनेवाले रीतिग्रंथ हैं जो रीतिपरंपरा का निर्वाह करते हुए भी रीतिशास्त्र की किसी प्रभावशाली शैली का प्रवर्तन नहीं करते। इनकी शैली संस्कृत ग्रंथों की छायानुवादमयी एवं अपूर्ण ही बनी रही। इन कवियों का वर्ण्य विषय तो शृंगार था किंतु शैली रीतिशास्त्र की थी। अकबर के दरबार के ऐसे अनेक कवियों का वर्णन एक सवैए में किया गया है :

पाय प्रसिद्ध पुरंदर ब्रह्म सुधारस अमृत अमृत बानी ।
गोकुल गोप गोपाल करनेस गुनी, गुन सागर गंग सुजानी ॥
जोध जगन्न जगे जगदीस जगामग जैत जगत्त है जानी ।
कोरे अकब्बर सों न कथी, इतने मिलि कै कविता जु बखानी ॥

इन दरबारी कवियों ने शृंगारवर्णन के लिये रीतिपरंपरा को स्वीकार करते समय अपने समक्ष संस्कृत के 'चंद्रालोक' और 'कुवलयानंद' को आदर्श रूप में रखा था। अलंकारों का वर्णन करनेवाले करनेस कवि ने अपने 'करणाभरण श्रुतिभूषण' और 'भूपभूषण' की रचना इन्हीं ग्रंथो के आधार पर की थी। रसनिरूपण तथा नायिका-भेद-वर्णन के लिये भानुदत्त की रसतरंगिणी और रसमंजरी का आधार ग्रहण किया गया। रीतिग्रंथों के प्रणयन की ऐसी परंपरा होने पर भी सत्रहवीं शती अथवा उसके उत्तरार्ध को भी रीतिकाव्य की कालसीमा में नहीं रखा जा सकता। कारण यह है कि इस काल में भक्त कवियों की अजस्र परंपरा और प्रभूत ग्रंथराशि ने रीतिकाव्य को आच्छन्न कर भक्ति की अविरल धारा प्रवाहित कर रखी थी। यथार्थ में इस काल की काव्यात्मा रीतिग्रंथो में न होकर भक्तिग्रंथो मे पैठी हुई थी। यह तो ठीक ही है कि रीतिकाव्य का अखंड रूप से प्रणयन भक्तिकाल में अर्थात् सत्रहवीं विक्रमी शती में प्रारंभ हो गया था और उसमें अनेक रीतिकवि उत्पन्न हुए जिनकी संक्षिप्त तालिका इस प्रकार है :

विक्रमी संवत् (रचनाकाल)	कविनाम	ग्रंथनाम
१५६८	कृपाराम	हिततरंगिणी
१६०७	सूरदास	साहित्यलहरी
१६६८	नंददास	रसमंजरी
१६१६	मोहनलाल	शृंगारसागर
१६३७	करनेस	करणाभरण श्रुतिभूषण, भूपभूषण
१६४०	बलभद्र मिश्र	नखशिख
१६४०	रहीम	बरवै नायिकाभेद
१६५०	केशवदास	कविप्रिया, रसिकप्रिया
१६५०	मोहनदास	बारहमासा
१६५१	हरिराम	छंदरत्नावली
१६७५	बालकृष्ण	रामचंद्रप्रिया (पिंगल)
१६६०	मुबारक	अलकशतक, तिलकशतक

१६७०	गोप	अलंकारचंद्रिका
१६७६	लीलाधर	नखशिख
१६८०	व्रजपति भट्ट	रंगभावमाधुरी
१६८५	छेमराज	फतेहप्रकाश
१६८८	सुंदर	सुंदरशृंगार
१७००	सेनापति	षट्ऋतुवर्णन

उपर्युक्त कवियों की लंबी शृंखला को देखकर यह कहना अधिक युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता कि संवत् १७०० वि० से पूर्व हिंदी रीतिकाव्य की रचना में अखंडता नहीं थी, या रीतिकाव्य की धारा विरल और वेगहीन थी। इन कवियों ने रीतिकाव्य की रचना की है। किसी ने काव्य के एक ही अंग का विस्तृत वर्णन उठाया है तो किसी ने एक लघु अंग पर लक्ष्य मात्र प्रस्तुत किया है। इस प्रकार लक्षण और लक्ष्य दोनों कोटि के रीतिग्रंथों की रचना सत्रहवीं शताब्दी में उपलब्ध होती है। अतः इस शैली को रीति-काव्य-रहित नहीं ठहराया जा सकता। किंतु रीतिकाल के सीमानिर्धारण के प्रश्न को ध्यान में रखकर यह निर्णय करना आवश्यक है कि क्या विक्रम की सत्रहवीं शती अथवा उसके अंतिम चरण में रीतिकाव्य का स्वर सर्वप्रधान हो गया था। क्या इस शताब्दी का रीतिकाव्य परिमाण और गुणवत्ता में भक्तिकाव्य से वरिष्ठ और श्रेष्ठ था? इन दोनों प्रश्नों का उत्तर स्पष्ट है कि सत्रहवीं शती में रीतिकाव्य का उदय तो हुआ—किंतु परिमाण और गुण में उस समय का रीतिकाव्य भक्तिकाव्य से श्रेष्ठतर और प्रचुरतर नहीं था। अतः सत्रहवीं शती को भक्तिकाल की उत्तर सीमा में ही रखना समीचीन है।

सत्रहवीं शती के काव्य की आत्मा भक्तिनिष्ठ होने पर भी एक प्रश्न पूरी गंभीरता के साथ हिंदी रीतिकाव्य के अध्येता के सामने आता है। क्या आचार्य केशवदास रीतिकाव्य के प्रवर्तक प्रथम आचार्य नहीं हैं? क्या उनके रसिकप्रिया और कविप्रिया ग्रंथ रीतिपरंपरा से सर्वथा असंबद्ध और रीतिबाह्य ग्रंथ है? क्या केशवदास ने रीतिशास्त्र का सर्वांग निरूपण करके हिंदी रीतिकाव्य-परंपरा को सत्रहवीं शती मे ही पूर्णरूपेण स्थापित नहीं कर दिया था? यदि इन प्रश्नों का उत्तर स्वीकारात्मक है तो केशव को प्रथम आचार्य कहकर सत्रहवीं शती से ही रीतिकाल का प्रारंभ क्यों न माना जाय?

इसमें कोई संदेह नहीं कि आचार्य केशव ने रसिकप्रिया और कविप्रिया का प्रणयन करके अलंकार, रस, गुण, दोष, रीति, वृत्ति आदि शास्त्रीय विषयों की चर्चा द्वारा प्रामाणिक रूप से हिंदी साहित्य में काव्यशास्त्र की स्थापना कर दी थी। केशव से पहले के जिन रीतिप्रवर्तक कवियों का इतिहासग्रंथों में उल्लेख है, उनके ग्रंथों का अद्यावधि संधान नहीं हो सका है। शिवसिंह सेंगर द्वारा संकेतित पुष्य

नामक कवि का अलंकारग्रंथ उपलब्ध नहीं है, व्रजवासी क्षेम कवि और मुनिलाल का भी उल्लेख मात्र खोज रिपोर्टों में हुआ है। किंतु इनके ग्रंथ न तो किसी ने देखे हैं और न कभी उनका परवर्ती कवियों ने उपयोग किया है। ये सूचनाएँ शोध की दृष्टि से भले ही महत्व रखती हों किंतु रीति-काव्य-परंपरा की कड़ी बनने में सहायक नहीं होतीं। गोप और मोहनलाल रचित ग्रंथ भी उपलब्ध नहीं हैं। अतः कृपाराम की हिततरंगिणी ही रीतिग्रंथो की शृंखला बनाने में सहायक है। कृपाराम की हिततरंगिणी रसग्रंथ है, किंतु सर्वांगनिरूपक आचार्य की क्षमता उसमें दृष्टिगत नहीं होती। फलतः आचार्य केशव ही सर्वप्रथम रीतिकाव्य के सर्वांगनिरूपक प्रौढ कवि सिद्ध होते हैं। केशव में मौलिक सिद्धातसृजन की क्षमता नहीं थी इसलिये उन्होंने अपना कोई स्वतंत्र काव्यपंथ प्रवर्तित नहीं किया। केशवदास प्रवर्तित काव्यसिद्धांतों के सफल व्याख्याता आचार्य भी नहीं थे। काव्य के मूलभूत सिद्धातों के सफल तात्विक ज्ञान और उनका निर्भ्रांत एवं स्वच्छ विवेचनव्याख्यान उनकी क्षमता से बाहर था। हाँ, काव्यरसिकों और काव्यअध्येताओं के निमित्त काव्य-शिक्षा-विषयक सामग्री एकत्र करने की योग्यता उनमें थी। वे कविशिक्षक कोटि के रीति-काव्य-लेखक थे। उन्होंने अपने कविप्रिया ग्रंथ में इस बात को स्वयं स्वीकार किया है :

समुझै बाला बालकन, वर्णन पंथ अगाथ।
कविप्रिया केशव करी, छमियहु कवि अपराध॥

केशव का उद्देश्य कवियों को काव्यशिक्षा देने के साथ संस्कृत के रीतिग्रंथों से भी परिचित कराना था। केशव की काव्य-निरूपण-शैली के संबंध में विद्वानों की धारणा है कि उसमे संस्कृत की छाया मात्र है, मौलिकता नहीं है। संस्कृत के भामह, दंडी, केशव मिश्र आदि आचार्यों की शैली का अनुकरण मात्र केशव ने किया है। फिर भी केशव का आचार्यत्व असंदिग्ध है। यह पद न तो हिंदी के किसी पूर्ववर्ती रीतिकवि को दिया जा सकता है और न परवर्ती कवि को। कृपाराम का क्षेत्र अत्यंत संकुचित है, सर्वांगनिरूपण की दृष्टि से उनका कोई स्थान नहीं है। चिंतामणि भी केशव की तुलना में हलके ठहरते हैं। चिंतामणि के बाद रीतिकाव्य ग्रंथों की अविच्छिन्न परंपरा चल पड़ने से उन्हें रीति-मार्ग-प्रवर्तन का श्रेय मिलना एक संयोग मात्र है। चिंतामणि यदि रीति-काव्य-परंपरा के प्रमुख आचार्य होते तो परवर्ती रीतिबद्ध आचार्य कवि अवश्य उनका नामोल्लेख अपने ग्रंथों में करते, किंतु किसी ने चिंतामणि का आचार्य कवि के रूप में स्मरण नहीं किया। हाँ, केशवदास के प्रति देव और दास जैसे महाकवियों ने भी अपनी श्रद्धाजलि अर्पित की है।

आचार्य केशवदास का रीति-काव्य-परंपरा में इतना महत्वपूर्ण स्थान होने पर भी उनके काल को रीतिकाल का प्रारंभ काल स्वीकार न करने में विशेष कारण है। केशव अलंकारवादी चमत्कारप्रिय कवि थे। अलंकार सिद्धात को जिस प्रकार

परवर्ती काल में संस्कृत के आचार्यों ने अस्वीकार कर दिया था वैसे ही केशव के परवर्ती हिंदी के रीतिबद्ध कवियों ने स्वीकार नहीं किया। दूसरे शब्दों में, परवर्ती रीतिकार कवियों ने केशव को आदर्श रूप मे ग्रहण नहीं किया। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने केशवदास की रीतिपद्धति के विषय में लिखा है: इसमें संदेह नहीं कि काव्यरीति का सम्यक् समावेश पहले पहल आचार्य केशव ने ही किया। पर हिंदी में रीतिग्रंथो की अविरल और अखंडित परंपरा का प्रवाह केशव की 'कविप्रिया' के प्रायः पचास वर्ष पीछे चला और वह भी एक भिन्न आदर्श को लेकर, केशव के आदर्श को लेकर नही। अतः केशव के प्रादुर्भावकाल से रीतिकाल का प्रवर्तन स्वीकार न करके चिंतामणि के समय से ही रीतिकाल का प्रवर्तन मानना अधिक युक्तिसंगत है। कृपाराम, करनेस और केशव की रचनाओं को रीतिकाव्य की प्रस्तावना के रूप में ही ग्रहण करना चाहिए। उक्त प्रस्तावना के साथ आगे के रीतिकाव्य का अध्ययन करने पर रीतिकाल का प्रारंभ अठारहवीं शती से मानना होगा।

सत्रहवीं शताब्दी में भक्तिकाल के युगपत जो शृंगारकाव्य रचा गया, उसमे भी रीतिकाल के तत्वों का प्रचुर मात्रा मे समावेश हुआ। किंतु विचक्षण पाठक को शृंगारकाव्य तथा भक्तिकाव्य के विभाजक तत्वो को दृष्टि मे रखते हुए ही दोनो का अध्ययन करना चाहिए। भक्तिकाल की सीमा में निर्मित रीति-शृंगार-काव्य परिमाण और प्रकर्ष मे भक्तिकाव्य से हीन है। उस काल के रीति-काव्य-कवियो और भक्ति-काव्य-कवियो का तुलनात्मक अध्ययन किया जाय तो रीति-शृंगार-काव्य प्रायः नगण्य सा ही प्रतीत होगा। भक्त कवियो मे तुलसी, सूर, मीरा, नंददास, परमानंददास, हितहरिवंश, व्यास, ध्रुवदास, नागरीदास आदि उदात्त कोटि के भक्तों के नाम आते हैं, जिनका विपुल साहित्य हिंदी की श्रीवृद्धि में सहायक हुआ है। उस काल की सामान्य प्रवृत्ति भक्ति है। भाव और रस की भूमि पर पहुँचकर भक्ति अनेक रूपो मे वर्ण्य बनी और उसके द्वारा एक ओर भक्तिसंप्रदायों, मतों, और पंथों का प्रवर्तन हुआ तो दूसरी ओर आर्त जनता को दीनबंधु, दीन-वत्सल परमात्मा की शरण में जाने का मार्ग मिला। सोलहवीं और सत्रहवीं शती में भक्तिभाव आवेश के रूप में काव्य मे समा गया था, अतः रीति और शृंगार की धारा के अस्तित्व का उसपर कोई उल्लेख्य प्रभाव नहीं पड़ा। फलतः सत्रहवीं शती के अंतिम चरण तक भक्तिकाल मानना ही उचित है।

रीतिकाल का वास्तविक आरंभ विक्रम संवत् १७०० से मानना चाहिए। शृंगारप्रधान रीतिकाव्य का व्यापक प्रभाव, जिसने भक्तिकाव्य के प्रबल वेग को मंद किया, इसी समय से बढना शुरू हुआ और १९वीं शताब्दी (विक्रमी) तक वह हिंदी काव्य पर बना रहा। अतः दो सौ वर्षों का यह काल रीतिकाल के नाम से अभिहित होना चाहिए।

रीतिकाल की उत्तर सीमा का प्रश्न भी विचारणीय है। भारतेंदु हरिश्चंद्र के आगमन से पूर्व तक रीतिकाल की उत्तर सीमा निर्धारण करने में एक आपत्ति यह उठाई जा सकती है कि भारतेंदुयुग में भी रीति-काव्य-रचना करनेवाले कवियों की विशाल परंपरा मिलती है। संवत् १६५० तक ऐसे अनेक रससिद्ध कवि हुए जिन्होंने रीतिबद्ध काव्यशैली को स्वीकार कर वैसी ही उत्कृष्ट रचना की जैसी रीतिकालीन कवि करते थे। अतः उत्तर सीमा से उनका बहिष्कार कैसे किया जा सकता है ? इस शंका के समाधान के लिये भारतेंदुयुग की नूतन चेतना एवं अभिनव काव्यप्रवृत्तियों पर दृष्टिपात करना आवश्यक है।

भारतेंदुयुग के अनेक कवि शृंगारप्रधान रीतिशैली की कविता मे लीन होकर भी शृंगार को उस युग की प्रमुख प्रवृत्ति बनाने में समर्थ नहीं हो सके। उस युग की काव्यात्मा शृंगार से हटकर सामाजिक एवं राजनीतिक चेतना में प्रविष्ट हो गई थी। नई धारा के कवि उदय होने लगे थे और कविता का प्रधान प्रतिपाद्य समाजकल्याण ही बन गया था। शृंगारप्रधान कविता के अपेक्षाकृत न्यून प्रचार का एक कारण यह भी था कि भारतवर्ष की राजनीतिक परिस्थिति मे परिवर्तन आने से कवियों द्वारा राजाश्रय की प्राप्ति में कमी होती जा रही थी। पाश्चात्य शिक्षा के प्रभाव से कवियों का ध्यान शनैः शनैः केलिकुंजों से हटकर देश की पतितावस्था की ओर जाने लगा था। सन् १८५७ की क्रांति के बाद एक विशेष प्रकार की राजनीतिक चेतना देश मे व्याप्त हो गई थी। फलतः शृंगारप्रधान रीति-कविता का स्थान गौण होने लगा था। काशी, रीवा, अयोध्या, मथुरा, प्रयाग आदि साहित्यिक केंद्रों के अतिरिक्त अन्य स्थानों पर शृंगारपरंपरा समाप्त होने लगी थी। प्राचीन रीतिसाहित्य का जो प्रभाव शेष रह गया था उसी के अंतर्गत कुछ परंपरा-वादी कवि उसका पिष्टपेषण मात्र करने मे लीन थे। यथार्थ में इस काल को हम रीतिशृंगार का उपसंहृतिकाल कह सकते हैं। परिमाण की दृष्टि से संवत् १६०० तक विपुल रीतिसाहित्य प्रणीत हुआ किंतु उसका प्रभाव सीमित हो गया था। साहित्य की नूतन प्रवृत्तियाँ युगपरिवर्तन कर शृंगार और विलास को तिलांजलि देने की प्रेरणा कर रही थीं—अतः कुछेक कवियों को छोड़कर इस पचास वर्ष के समय में अधिकांश कवियों ने सामाजिक एवं राजनीतिक चेतना को ही अपने काव्य का मेरुदंड बनाया है। इसीलिये रीतिकाल की उत्तर सीमा संवत् १६०० तक ही स्थिर की जाती है। संवत् १६५० तक रीतिकाव्य लिखा अवश्य गया और कतिपय कवियों ने सुंदर रचना करके रीतिकाव्य को समृद्ध भी बनाया किंतु इन पचास वर्षों में रीति-शृंगार का प्राधान्य न होकर नूतन काव्यचेतना का ही प्राधान्य था। गद्य के आवि-र्भाव ने कविता को वैसे भी अपेक्षाकृत प्रभावहीन बना दिया था, अतः परंपराभुक्त काव्यधारा के समर्थक दिनों दिन कम होने लगे थे। उनके स्थान पर नई काव्य-

धारा प्रबल वेग से प्रवाहित होने लगी थी। इस धारा को पूर्ण वेग के साथ प्रवाहित करने का सबसे अधिक श्रेय भारतेंदु हरिश्चंद्र को ही दिया जाना चाहिए। काव्य को प्रभावित करनेवाले सामाजिक तथा धार्मिक आदोलन एवं उनके प्रवर्तक नेता भी इसी युग में क्रियाशील होकर मैदान में उतरे। इन आंदोलनों के सर्वव्यापी प्रभाव ने भी रीतिशृंगार की परंपराभुक्त कविता को अपदस्थ करने में बड़ा योग दिया और संवत् १६०० के बाद हिंदी कविता का अंतरंग प्रायः परिवर्तित हो गया। हाँ, कविता का बहिरंग (अर्थात् भाषा और शैली) तब तक विशेष रूप से नहीं बदला था किंतु परिवर्तन का आभास उसमें दृष्टिगत होने लगा था। खड़ी बोली की कविता के यत्रतत्र दर्शन होने लगे थे।

संक्षेप में, रीतिकाल का सीमानिर्धारण संवत् १७०० से १६०० तक ही होना चाहिए। सत्रहवीं और बीसवीं शती के रीतिकाव्य का क्रमशः प्रस्तावना और उपसंहार के रूप में आकलन किया जा सकता है। यथार्थ रीतिकाल का विस्तार तो संवत् १७०० से संवत् १६०० तक ही है।

तृतीय अध्याय

उपलब्ध सामग्री के मूल स्रोत

रीतिकालीन शतसहस्र रीतिग्रंथों में से कुछेक इने गिने ग्रंथो को छोड़कर शेष सभी लुप्तप्राय होते जा रहे हैं। चिंतामणि का कविकुलकल्पतरु, जसवंतसिंह का भाषाभूषण, कुलपति का रसरहस्य, मतिराम का ललितललाम और रसराज, देव का शब्दरसायन, भूषण का शिवराजभूषण, भिखारीदास का काव्यनिर्णय, पद्माकर का पद्माभरण और जगद्विनोद, प्रतापसाहि की व्यंग्यार्थकौमुदी केवल ये ही गिनेचुने ग्रंथ आज शेष रह गए हैं। यद्यपि ये सभी ग्रंथ प्रकाशित हैं, तथापि भारत के इने गिने पुस्तकालयों मे ही ये प्राप्य हैं। यह अवस्था तो उक्त प्रख्यात एवं प्रतिनिधि ग्रंथों की है। ऐसे अनेक ग्रंथ हैं जो प्रकाशित हो जाने पर भी न केवल स्मृति से हट चुके हैं, अपितु प्रसिद्ध पुस्तकालयों मे भी अप्राप्य हैं और गिनेचुने पुस्तकालयों एवं संग्रहालयों में प्राचीन ऐतिहासिक पदार्थों के समान प्रदर्शनी की वस्तु बन चुके हैं। इनके अतिरिक्त अनेक हस्तलिखित ग्रंथ भी उपलब्ध हैं, जो अभी तक प्रकाशित नहीं हुए। पिछले कुछ वर्षों से कुछ रीतिग्रंथ पुनः प्रकाशित हो रहे हैं और हस्तलिखित ग्रंथ भी प्रकाशित किए जा रहे हैं। इस दिशा में काशी नागरीप्रचारिणी सभा की 'आकर ग्रंथमाला' का सत्प्रयास सराहनीय है। नीचे प्रकाशित तथा हस्तलिखित उपलब्ध रीतिग्रंथों की सूची दी जा रही है। अप्रकाशित ग्रंथों का प्राप्तिस्थान भी उल्लिखित है :

प्रकाशित ग्रंथ

आचार्यनाम (कालक्रमानुसार)	ग्रंथनाम	प्रकाशक अथवा संपादक का नाम अथवा प्राप्तिस्थान
केशवदास	कविप्रिया	नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ
		सं० लाला भगवानदीन
		सं० लक्ष्मीनिधि त्रिपाठी
		सं० हरिचरणदास
	रसिकप्रिया	वेंकटेश्वर प्रेस, बंबई
		सं० लक्ष्मीनिधि त्रिपाठी
	केशव ग्रंथावली	हिंदुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद
चिंतामणि	कविकुलकल्पतरु	नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ

	शृंगारमंजरी	सं० डा० भगीरथ मिश्र
तोष	सुधानिधि	भारतजीवन प्रेस, काशी
जसवंतसिंह	भाषाभूषण	मन्नालाल, बनारस
		सं० ब्रजरत्नदास
		सं० गुलाबराय
		वेंकटेश्वर प्रेस, बंबई
		रामचंद्र पाठक, बनारस
		हिंदी साहित्य कुटीर, बनारस आदि
मतिराम	रसराज	भारतजीवन प्रेस, काशी
	ललितललाम	,, ,,
	मतिराम ग्रंथावली	गंगा पुस्तकमाला, लखनऊ
रघुनाथ	रसिकमोहन	नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ
भूषण	शिवराजभूषण	नागरीप्रचारिणी सभा, बनारस
	भूषण ग्रंथावली	,, ,,
कुलपति	रसरहस्य	इंडियन प्रेस, इलाहाबाद
देव	शब्दरसायन	हिंदी साहित्य संमेलन, प्रयाग
	भवानीविलास	भारतजीवन प्रेस, काशी
	सुखसागर तरंग	बंबई बुकसेलर, अयोध्या
	रसविलास	भारतजीवन प्रेस, काशी
	भावविलास	तरुण भारत ग्रंथावली, प्रयाग
		भारतजीवन प्रेस, काशी
कुमारमणि	रसिकरसाल	विद्याविभाग, कॉकरौली
गोविंद	कर्णाभरण	भारतजीवन प्रेस, काशी
रसलीन	रसप्रबोध	गोपीनाथ पाठक, काशी
		नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ
		भारतजीवन प्रेस, काशी
भिखारीदास	काव्यनिर्णय	वेलवेडियर प्रेस, प्रयाग,
		भारतजीवन प्रेस, काशी
		सं० जवाहरलाल चतुर्वेदी
	रससाराश शृंगारनिर्णय	गुलशने अहमदी प्रेस, प्रतापगढ़
	भिखारीदास ग्रंथावली	नागरीप्रचारिणी सभा, काशी
समनेस	रसिकविलास	दतिया राज पुस्तकालय, दतिया
रतन कवि	अलंकारदर्पण	,, ,,
ऋषिनाथ	अलंकारमणिमंजरी	आर्य यंत्रालय, वाराणसी

रामसिंह	अलंकारदर्पण	भारतजीवन प्रेस, काशी
दूलह	कविकुलकंठाभरण	दुलारेलाल भार्गव, लखनऊ
पद्माकर	पद्माभरण	भारतजीवन प्रेस, काशी
	जगद्विनोद	,, ,,
	पद्माकर पंचामृत	रामरत्न पुस्तकभवन, काशी
काशीराज	चित्रचंद्रिका	नागरीप्रचारिणी सभा, काशी
गिरिधरदास	भारतीभूषण	नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ
बेनी प्रवीन	नवरस तरंग	सं० कृष्णबिहारी मिश्र
रसिक गोविंद	रसिक गोविंदानंदघन	नागरीप्रचारिणी सभा, काशी
प्रतापसाहि	व्यंग्यार्थकौमुदी	भारतजीवन प्रेस, काशी वाराणसी संस्कृत यंत्रालय, काशी

हस्तलिखित प्राप्य ग्रंथ

आचार्यनाम (कालक्रमानुसार)	ग्रंथनाम	प्राप्तिस्थान
चिंतामणि	शृंगारमंजरी	दतिया राज पुस्तकालय, दतिया
मतिराम	अलंकारपंचाशिका	आर्काइव्स लाइब्रेरी, पटियाला
	छंदसारसंग्रह (वृत्त-कौमुदी)	नागरीप्रचारिणी सभा, काशी कैप्टेन शूरवीर सिंह, अतिरिक्त जिला अधिकारी, बुलंदशहर
देव	रसविलास	नागरीप्रचारिणी सभा, काशी याज्ञिक संग्रहालय
	सुखसागरतरंग	नागरीप्रचारिणी सभा, काशी याज्ञिक संग्रहालय
	काव्यरसायन	सवाई महेंद्र पुस्तकालय, ओरछा (टीकमगढ़)
कालिदास	वधूविनोद	दतिया राज पुस्तकालय, दतिया कैप्टेन शूरवीर सिंह, अतिरिक्त जिलाधिकारी, बुलंदशहर
सूरति मिश्र	काव्यसिद्धांत	सवाई महेंद्र पुस्तकालय (ओरछा, टीकमगढ)
कृष्ण भट्ट देवऋषि	शृंगाररस माधुरी	नागरीप्रचारिणी सभा, काशी याज्ञिक संग्रहालय
गोप कवि	रामचंद्र भूषण	सवाई महेंद्र पुस्तकालय, ओरछा

		तथा दतिया राज पुस्तकालय, दतिया
	रामचंद्राभरण	सवाई महेंद्र पुस्तकालय, ओरछा (टीकमगढ़)
याकूब खाँ	रसभूषण	दतिया राज पुस्तकालय, दतिया
कुमारमणि	रसिकरसाल	सवाई महेंद्र पुस्तकालय, ओरछा (टीकमगढ)
श्रीपति	काव्यसरोज	पं० कृष्णविहारी मिश्र गंधौली का पुस्तकालय, लखनऊ
रसिक सुमति	अलंकारचंद्रोदय	काशी नागरीप्रचारिणी सभा याज्ञिक संग्रहालय
सोमनाथ	रसपीयूषनिधि	,, ,,
	शृंगारविलास	,, ,,
रसलीन	रसप्रबोध	सवाई महेंद्र पुस्तकालय, ओरछा (टीकमगढ)
भिखारीदास	रससाराश	प्रतापगढ नरेश पुस्तकालय, प्रतापगढ
	शृंगारनिर्णय	,, ,,
रसरूप	तुलसीभूषण	नागरीप्रचारिणी सभा, काशी
उदयनाथ कवींद्र	रसचंद्रोदय	सवाई महेंद्र पुस्तकालय, ओरछा (टीकमगढ)
रूपसाहि	रूपविलास	काशी नागरीप्रचारिणी सभा याज्ञिक सग्रह
शोभा कवि	नवलरस चंद्रोदय	काशी नागरीप्रचारिणी सभा (याज्ञिक संग्रह)
बैरीसाल	भाषाभरण	पं० कृष्णविहारी मिश्र
रगखाँ	नायिकाभेद	काशी नागरीप्रचारिणी सभा (याज्ञिक संग्रहालय)
जनराज	कविता रसविनोद	,, ,,
उजियारे कवि	रसचंद्रिका	,, ,,
यशवंतसिंह	शृंगारशिरोमणि	पं० कृष्णविहारी मिश्र
जगतसिंह	साहित्य सुधानिधि	,, ,,
रामसिंह	रसनिवास	दतिया राज पुस्तकालय, दतिया
	अलंकारदर्पण	,, ,,
रतनेश	,, ,,	,, ,,

सेवादास	रघुनाथअलंकार	नागरीप्रचारिणी सभा, काशी
चंदन	काव्याभरण	पं० कृष्णविहारी मिश्र
रणधीरसिंह	काव्यरत्नाकर	सवाई महेंद्र पुस्तकालय, ओरछा (टीकमगढ)
प्रतापसाहि	व्यंग्यार्थकौमुदी	दतिया राज पुस्तकालय, दतिया
	काव्यविलास	नागरीप्रचारिणी सभा, काशी (याज्ञिक संग्रह)
रामदास	कविकल्पद्रुम	सवाई महेंद्र पुस्तकालय, ओरछा (टीकमगढ)
ग्वाल	रसरंग	सेठ कन्हैयालाल पोद्दार, निजी पुस्तकालय
	अलंकार भ्रमभंजन कविदर्पण	चतुर्थ त्रैवार्षिक खोज के अनुसार प्राप्त

उक्त पुस्तकों के अतिरिक्त निम्नलिखित रीतिग्रंथों का उल्लेख हिंदी साहित्य के इतिहास संबंधी विभिन्न ग्रंथों में मिलता है :

लेखक	ग्रंथ	रचनाकाल
मोहनलाल	शृंगारसागर	सं० १६१६ वि०
बलभद्र मिश्र	रसविलास	सं० १६४० वि० के लगभग
ब्रजपति भट्ट	रंगभावमाधुरी	सं० १६८० वि०
सुंदर कवि	सुंदरशृंगार	सं० १६८८ वि०
शंभुनाथ सोलंकी	नायिकाभेद	सं० १७०७ वि०
तुलसीदास	रसकल्लोल	सं० १७११ वि०
मंडन	रसरत्नावली	सं० १७२०
गोपालराम	रससागर	सं० १७२६ वि०
शुकदेव मिश्र	रसरत्नाकर एवं रसार्णव	सं० १७३० के लगभग
	शृंगारलता	सं० १७३३ वि०
श्रीनिवास	रससागर	सं० १७५० वि०
केशवराम	नायिकाभेद	सं० १७५४ वि०
बलवीर	दंपतिविलास	सं० १७५६ वि०
देव	जातिविलास	सं० १७६० वि०
लोकनाथ चौबे	रसतरंग	,,
खड्गराम	नायिकाभेद	सं० १७६५ वि०
बेनीप्रसाद	रसशृंगारसमुद्र	,,

श्रीपति	रससागर	सं० १७७० वि०
आजम	शृंगाररसदर्पण	सं० १७८६ वि०
कुंदन	नायिकाभेद	सं० १७९२ वि०
गुरुदत्तसिंह (भूपति)	रसरत्नाकर, रसदीप	१८वीं शती का अंत
रघुनाथ	काव्यकलाधर	सं० १८०२ वि०
उदयनाथ कवींद्र	रसचंद्रोदय	सं० १८०४ वि०
शंभुनाथ	रसकल्लोल, रसतरंगिणी	सं० १८०६ वि०
चंददास	शृंगारसागर	सं० १८११ वि०
शिवनाथ	रसवृष्टि	सं० १८२८ वि०
दौलतराम उजियारे	रसचंद्रिका, जुगलप्रकाश	सं० १८३७ वि०
	शृंगारचरित	सं० १८४१ वि०
बेनी बंदीजन	रसविलास	सं० १८४९ वि०
लाल कवि	विष्णुविलास	सं० १८५० वि०
भोगीलाल दुबे	बखतविलास	सं० १८५६ वि०
यशवंतसिंह	शृंगारशिरोमणि	,,
यशोदानंदन	बरवै नायिकाभेद	सं० १८७२ वि०
करन कवि	रसकल्लोल	सं० १८९० वि०
कृष्ण कवि	गोविंदविलास	सं० १८९३ वि०
नवीन	रसतरंग	सं० १८९९ वि०
जगदीशलाल	ब्रजविनोद नायिकाभेद	१९वीं शती का अंत
गिरिधरदास	रसरत्नाकर	,,
नारायण भट्ट	नाट्यदीपिका	,,
चंद्रशेखर	रसिकविनोद	सं० १९०३ वि०
बंशमणि	रसचंद्रिका	अज्ञात

चतुर्थ अध्याय

रीति की व्याख्या

१. 'रीति' शब्द की व्युत्पत्ति, लक्षण और इतिहास

संस्कृत काव्यशास्त्र में 'रीति' शब्द एक काव्यागविशेष के अर्थ में व्यवहृत होता रहा है। सर्वप्रथम वामन (६वीं शती) ने इसका स्वरूप 'विशिष्टा पदरचना' निर्दिष्ट करते हुए इसे 'काव्य की आत्मा' घोषित किया। पर आगे चलकर आनंद-वर्धन के समय में ध्वनि, विशेषतः रसध्वनि, को काव्य की आत्मा घोषित करने पर अन्य काव्यागो के समान रीति की उक्त महत्ता नष्ट हो गई और अब वह रस की उपकारक मात्र रह गई। इस काव्याग के अनेक भेदो में से प्रचलित तीन भेद हैं— वैदर्भी, गौड़ी और पाचाली। रीति के इस शास्त्रीय अर्थ का ग्रहण और विवेचन संस्कृत के आचार्यों के समान हिंदी के आचार्यों ने भी किया है।

किंतु हिंदी मे 'रीति' शब्द का प्रयोग एक अन्य अर्थ में भी चिंतामणि के समय से ही होता आया है और वह अर्थ है—काव्य-रचना-पद्धति (तथा उसका निर्देशक शास्त्र)। केशव तथा कुछेक रीतिकालीन आचार्यों ने इसी अर्थ मे 'पंथ' शब्द का भी प्रयोग किया है। उदाहरणार्थ :

केशव—समुझैने वाला बालक हूँ वर्णन पंथ अगाध।

चिंतामणि—रीति सु भाषा कबित की बरनत बुध अनुसार।

मतिराम—सो विश्रब्धनवोढ़ यो बरनत कवि रसरीति।

भूषण—सुकविन हूँ की कछु कृपा, समुझि कविन को पंथ।

देव—अपनी अपनी रीति के काव्य और कविरीति।

सुरति मिश्र—बरनन मनरंजन जहाँ रीति अलौकिक होइ।
निपुन कर्म कवि कौ जु तिहि काव्य कहत सब कोइ॥

सोमनाथ—छंद रीति समुझै नहीं बिन पिंगल के ज्ञान।

दास—(क) काव्य की रीति सिखी सुकवीन्ह सो।
(ख) अब कछु मुक्तक रीति लखि, कहत एक उल्लास।
(ग) बंदौं सुकविन के चरण अरु सुकविन के ग्रंथ।
जाते कछु हौं हूँ लह्यौ, कवितार्इ को पंथ॥

दूलह—थोरे क्रम क्रम ते कही अलंकार की रीति।

पद्माकर—ताही को रति कहत हैं, रसग्रंथन की रीति।

बेनीप्रवीन—या रस अरु नव तरँग में, नव रस रीतहिं देखि।
अति प्रसन्न है ललन जी, कीन्हीं प्रीति बिसेखि॥

प्रतापसाहि—कबित रीति कछु कहत हौं व्यंग्य अर्थ चित लाय।

उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि रीति अथवा पंथ शब्द प्रायः अकेले प्रयुक्त नहीं हुए, अपितु इनके साथ कोई न कोई विशेषण प्रायः संलग्न रहा—कविचरीति, कविरीति, काव्यरीति, छंदरीति, अलंकाररीति, मुक्तकरीति, वर्णनपंथ, कविपंथ, और कवितापंथ। अतः रीति शब्द काव्यशास्त्र अथवा काव्यशास्त्रीय विधान का वाचक न होकर व्यापक अर्थ में विधान अथवा शास्त्रीय विधान का ही वाचक है। पर आज 'रीतिकवि' अथवा 'रीतिग्रंथ में प्रयुक्त 'रीति' शब्द का संबंध काव्यशास्त्र के साथ ही स्थापित हो गया है और यही कारण है कि मिश्रबंधुओं ने इस युग का नाम 'अलंकृत काल' रखते हुए भी इन कवियों के ग्रंथों को रीतिग्रंथ और उनके विवेचन को रीतिकथन कहा है। 'मिश्रबंधु विनोद' मे एक स्थान पर रीति के तत्कालीन प्रयोग की बड़ी स्वच्छ व्याख्या की गई है: 'इस प्रणाली के साथ रीतिग्रंथों का भी प्रचार बढ़ा और आचार्यता की वृद्धि हुई। आचार्य लोग तो कविता करने की रीति सिखलाते हैं, मानो वह संसार से यह कहते हैं कि अमुकामुक विषयों के वर्णनो मे अमुक प्रकार के कथन उपयोगी हैं और अमुक प्रकार के अनुपयोगी। ऐसे ग्रंथों से प्रत्यक्ष प्रकट है कि वह विविध वर्णनोंवाले ग्रंथों के सहायक मात्र हैं न कि उनके स्थानापन्न।' कहने का तात्पर्य यह कि रीति शब्द, जैसा कुछ लोगों का विचार है, शुक्ल जी का आविष्कार नहीं है। यह बहुत पहले से हिंदी में प्रयुक्त हो रहा था, इसीलिये तो शुक्ल जी ने कहीं भी उसकी व्याख्या करने की चेष्टा नही की। शब्द स्वयं इतना सर्वपरिचित था कि व्याख्या की आवश्यकता ही नहीं हुई। फिर भी, शुक्ल जी की शास्त्रनिष्ठ प्रतिभा ने ही उसे शास्त्रीय व्यवस्था एवं वैज्ञानिक विधान दिया, इसमें संदेह नहीं किया जा सकता। उनसे पूर्व रीति शब्द का स्वरूप निश्चित और व्यवस्थित नहीं था। ऐसे लक्षणग्रंथों के लिये भी, जिनमे रीतिकथन तो नहीं है, परंतु रीतिबंधन निश्चित रूप से है, रीति संज्ञा शुक्ल जी से पहले अकल्पनीय थी। शुक्ल जी ने कुछ अंशों में वामन के रीति शब्द का भी अर्थसंकेत ग्रहण करते हुए रीति को केवल एक प्रकार न मानकर एक दृष्टिकोण माना। यह उनकी विशेषता थी। उनके विधान में, जिसने रीतिग्रंथ रचा हो, केवल वही रीतिकवि नहीं है वरन् जिसका काव्य के प्रति दृष्टिकोण रीतिबद्ध हो वह भी रीतिकवि है। शुक्ल जी के उपरात कुछ आलोचकों ने इस काल को रीतिकाल की अपेक्षा अलंकारकाल या शृंगारकाल कहना अधिक उपयुक्त माना, परंतु हिंदी में

उनका अनुसरण नहीं हुआ। फलतः आज हिंदी के लगभग सभी विद्वान्, आलोचक एवं इतिहासकार केशव, बिहारी, देव, पद्माकर आदि के काव्यविशेष को, जिसमें रचना संबंधी नियमों का विवेचन अथवा उन नियमों का बंधन है, रीतिकाव्य के ही नाम से पुकारते हैं।

यदि 'रीति' शब्द का हिंदी में प्रचलित इस विशिष्ट अर्थ का स्रोत संस्कृत के काव्यशास्त्रों से ढूँढ़ने का प्रयास करें तो इधर उधर से शायद कुछ सामग्री मिल जाय। उदाहरणार्थ—भोज ने 'पंथ' शब्द का प्रयोग किया है, और 'रीङ् गतौ' धातु से 'रीति' शब्द की व्युत्पत्ति स्वीकार कर इस शब्द को 'पंथ' अथवा 'काव्यमार्ग' का पर्याय माना है। कुंतक ने भी 'पंथ' को 'रीति' का पर्याय स्वीकार किया है। निस्संदेह इन दोनों आचार्यों के निम्नोक्त उद्धरणों में ये दोनो शब्द अपने पारिभाषिक अर्थ में—काव्यागविशेष के अर्थ में—प्रयुक्त हुए हैं, न कि शास्त्रीय अथवा काव्यशास्त्रीय विधान के अर्थ में, फिर भी 'रीति' का स्रोत ढूँढ निकालने में उनका यह प्रयोग अप्रत्यक्ष संकेत अवश्य कर देता है :

> भोज—वैदर्भादिकृतः पन्थाः काव्ये मार्ग इति स्मृतः।
> रीङ् गताविति धातोः सा व्युत्पत्त्या रीतिरुच्यते॥
> — सं० क० भ० २।२७
>
> कुन्तक—तत्र तस्मिन् काव्ये मार्गाः पन्थानस्त्रयः सम्भवन्ति।
> —व० जी०, १।२४ (वृत्ति)

इन उद्धरणों मे 'रीति' शब्द 'काव्यमार्ग' अथवा 'पंथ' का पर्याय होने से इस अर्थ का भी प्रकारातर से द्योतक अवश्य है कि आचार्यों द्वारा निर्दिष्ट जिस मार्ग पर गमन कर कविजन काव्यनिर्माण करते थे उसे भी 'रीति' कहते हैं। इस प्रकार हिंदी में उपर्युक्त प्रचलित अर्थ—काव्य-रचना-पद्धति—का आधार भी संस्कृत काव्यशास्त्र मे ढूँढा जा सकता है।

२. रीतिकाव्य की प्रेरणा और स्वरूप

रीतिकविता राजाओ और रईसों के आश्रय में पली है—यह एक स्वतः-प्रमाणित सत्य है, अतएव उसकी अंतःप्रेरणा और स्वरूप को कवियो और उनके आश्रयदाता दोनो के संबंध से ही समझा जा सकता है।

इस युग के इतिहास से स्पष्ट है कि रीतिकाल के आरभ से ही दिल्ली दरबार का आकर्षण कम होने लग गया था—औरंगजेब के समय में कलावंतों को दिल्ली में कोई आकर्षण नहीं रह गया था। औरंगजेब की मृत्यु के उपरात साम्राज्य की शक्ति का और उसके साथ राजदरबार का विकेंद्रीकरण बड़े वेग से आरंभ हो गया

था और कवि, चित्रकार, गायक तथा शिल्पी, सभी राजाओं और रईसों के यहाँ आश्रय की खोज में भटकने लग गए थे। ये राजा और रईस अधिकांशतः हिंदू या हिंदू रीतिरिवाजों से घुले मिले हिंदीरसिक मुसलमान थे। कुछ स्वनामधन्य महाराजाओं को छोड़कर शेष सभी का जीवन सामयिक राजनीति से पृथक्‌ अवकाश और विलास का जीवन था। दिल्ली का राजवंश भी जब इतने कोलाहल के बीच ऐश और आराम में मस्त था तो इन राजाओं और रईसों को तो चिंता तथा संघर्ष कम और अवकाश एवं विकास का अवसर कहीं अधिक था। अतएव ये लोग, चाहे छोटे पैमाने पर ही सही, राजदरबार की प्रतिच्छाया थे। शताब्दियों के दासत्व और उत्पीड़न के कारण इनमें आत्मगौरव की चेतना निःशेष हो चुकी थी, इसीलिये तो अव्यवस्था और उत्क्रांति के युग में भी ये लोग चैन की वंशी बजा सकते थे। जीवन के प्रति इनका दृष्टिकोण सर्वथा ऐहिक और सामंतीय रह गया था। परंतु ऐहिकता और सामंतवाद की शक्ति अब उनमें नहीं रह गई थी, केवल भोगवाद ही शेष था।

अतएव ये लोग भोग के सभी उपकरणों को—विनोद के सभी साधनों को एकत्र करने में प्रयत्नशील रहते थे जिनमें सुबाला, सुराही और प्याला के साथ साथ तानतुक ताला और गुणी जनों का सरस काव्य भी संमिलित था। कहने की आवश्यकता नहीं कि इन सभी में कविता सबसे अधिक परिष्कृत उपकरण थी—वह केवल विनोद का ही साधन नहीं थी, एक परिष्कृत बौद्धिक आनंद का स्रोत तथा व्यक्तित्व का शृंगार भी थी। ये राजा और रईस अपनी संस्कृति और अभिरुचि को समृद्ध करने के लिये रससिद्ध व्युत्पन्न कवियों का सत्संग और काव्य का आस्वादन अनिवार्य समझते थे—इससे इनका व्यक्तित्व कलात्मक एवं संस्कृत बनता था।

रीतिकाल के कवि वे व्यक्ति थे जिनको प्रायः साहित्यिक अभिरुचि पैतृक परंपरा के रूप में प्राप्त थी—काव्य का परिशीलन और सृजन इनका शगल नहीं था, स्थायी कर्तव्य कर्म था। ये लोग यद्यपि निम्न वर्ग के ही सामाजिक होते थे, तथापि अपनी काव्यकला के द्वारा ऐसे राजाओं अथवा रईसों का आश्रय खोज लेते थे जिनकी सहायता से इनकी काव्यसाधना निर्विघ्न चलती रहे। अतएव इनका संपूर्ण गौरव इनकी काव्यकला पर ही निर्भर रहता था—इसी कारण कविता इनके लिये मूलतः एक ललित कला थी जिसके बल पर ये अपनी प्रतिभा का प्रदर्शन करते हुए गोष्ठी के शृंगार बन पाते थे। अपनी प्रतिभा और कला के प्रदर्शन के प्रति ये जागरूक थे। इनका निषेध तो नहीं किया जा सकता—परंतु इसके आगे बढ़कर इनको काव्यव्यवसायी या फर्मायशी कवि कहना अन्याय होगा। सारांश यह है कि रीतिकाव्य में आत्मा की काँपती हुई आवाज आपको नहीं मिलेगी। वह अपने प्रतिनिधि रूप में वैयक्तिक गीत कविता नहीं है। वह कलात्मक कविता है—स्वभावतः उसमें वस्तुतत्व असंदिग्ध है। इसलिये उसकी मूल प्रेरणा सीधे आत्माभिव्यंजना

की प्रवृत्ति में न खोजकर आत्मप्रदर्शन की प्रवृत्ति में खोजनी चाहिए। हिंदी साहित्य के प्राचीन इतिहास में यही युग ऐसा था जब कला को शुद्ध कला के रूप में ग्रहण किया गया था। अपने शुद्ध रूप में रीतिकविता न तो राजाओं और सैनिकों को उत्साहित करने का साधन थी, न धार्मिक प्रचार अथवा भक्ति का माध्यम और न सामाजिक अथवा राजनीतिक सुधार की परिचारिका ही। काव्यकला का अपना स्वतंत्र महत्व था—उसकी साधना उसी के निमित्त की जाती थी—वह अपना साध्य आप थी।

निदान, रीतिकाव्य में दो प्रवृत्तियाँ अभिन्न रूप से गुँथी हुई मिलती हैं—(१) रीतिनिरूपण अथवा आचार्यत्व और (२) शृंगारिकता।

पंचम अध्याय

रीतिकालीन कवियों की सामान्य विशेषताएँ

१. वातावरण : मनोवैज्ञानिक परिवर्तन

जिस विशेष सामंतीय वातावरण मे रीतिकवियों का लालन पालन हुआ उससे उनकी मनःस्थितियाँ बहुत कुछ बदल गई। इस काल के कवियों मे वह ऊर्जस्विता न थी कि वे 'संतन को कहा सीकरी सों काम ?' की घोषणा कर सकें अथवा 'प्राकृत-जन-गुण-गाना' से असंपृक्त रह सकें। अपने पूर्ववर्ती भक्त कवियो के ठीक विपरीत वे सीकरी जैसे राजस्थानों में निवास करने मे गर्व का अनुभव करते थे। प्राकृत-जन-गुणगान तो उनके काव्य का मुख्य प्रतिपाद्य बन गया। उनके मनोगत-परिवर्तनों को तत्कालीन सामाजिक वातावरण तथा परंपरा से प्राप्त साहित्यिक प्रभावों के प्रकाश मे अच्छी तरह विश्लेषित किया जा सकता है।

भक्तिकाल मे राजनीतिक दासता के शिकार होते हुए भी यहाँ के निवासियो की आध्यात्मिक ज्योति मलिन नहीं पड़ी थी। जीवन के प्रति उनकी आस्था का दीप बुझ नहीं पाया था। पर रीतिकाल के आते आते न तो आध्यात्मिकता की ज्योति का पता था और न आस्था के दीप की लौ का। विदेशी प्रभुसत्ता के आगे देशी रजवाडे नतमस्तक होकर निष्प्रभ हो चुके थे। वे अपने मन की गाँठें खोलने मे भी असमर्थ थे। इस प्रकार के घुटनशील वातावरण में वे अपने मे बुरी तरह सीमित हो गए। सत्तागत तेज के हत हो जाने के कारण वे उस कमी की पूर्ति कृत्रिम वैभव और ऐश्वर्यगत उपकरणों के भोग द्वारा करने लगे। जब मन की गाँठ बाहर नहीं खुल पाई तो वे नारीशरीर के चतुर्दिक् केंद्रित हो गई। उन राजाओं की छाया मे रहनेवाले कवियों ने सिद्ध कर दिया कि 'यथा राजा तथा प्रजा'। भक्ति-काव्य-परंपरा में उन्हें अपने अनुकूल कुछ ऐसी सामग्री प्राप्त हो गई जिससे शृंगारिक—कभी कभी घोर शृंगारिक—कविता लिखने के लिये उनका मार्ग प्रशस्त हो गया।

ऐसा करने के लिये उन्होंने मुख्यतः दो प्रकार के चित्र प्रस्तुत किए—वैभव-विलास के उन्मादक वातावरण के तथा अनेक हाव-भाव-समन्वित, रूप-गुण-संपन्न नारियों (नायिकाओं) के। यह कहा जा चुका है कि प्रभुसत्ता के हत हो जाने से राजे महाराजे विलासपरक सामग्री के चयन द्वारा उसकी क्षतिपूर्ति करने लगे थे। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से रीतिकाव्य में वर्णित वैभवविलास के अतिरंजनापूर्ण चित्र उसी क्षतिपूर्ति के उपकरण हैं।

उन सामंतों, सरदारों के निवासस्थान अद्वितीय और अतिशय मनोरम थे। उनके अभ्रभेदी विशाल भवन वैभवविलास से दीप्त थे। अनेकानेक खंडों और तल्लों से सुशोभित प्रासाद इंद्रलोक के परम रम्य भवनों से होड़ लेते थे। राजमार्गों की नयनाभिराम झाँकी लेने के लिये प्रासादों और महलों में उस ओर अनेक झरोखे बने थे, जिनसे 'पावक झर सी झ कि' कर नायिकाएँ रसिकों का हृदय मरोड़ जाती थीं। किसी किसी महल का ऊर्ध्व भाग चंद्रमा की भाँति शुभ्र तथा वृत्ताकार होता था। इन भवनों के निर्माण में साधारण पत्थर नहीं लगे थे। स्फटिकशिलाओं से निर्मित उन भवनों के ऐश्वर्य का क्या पूछना! शुक्ल पक्ष की दुग्धफेनिल चाँदनी रात में उनका वैभव उद्वेलित हो उठता था। शीशमहलों में जड़े हुए अगणित मूल्यवान् दर्पण उन भवनों की शोभा को कई गुना बढ़ा देते थे। इन दर्पणों में प्रतिबिंबित अंगच्छवि ऐसी प्रतीत होती थी मानो संपूर्ण संसार को जीतने के लिये कामदेव ने कायव्यूह बनाया हो। उन महलों से गुप्त रूप से (मिलन के निमित्त) बाहर जाने के लिये पृष्ठद्वार होते थे। मुगल शैली की साजसज्जा तथा झाड़फानूस से सुशोभित महल दीपज्योति में जगमग जगमग हो उठते थे। ऐसे ऐश्वर्यशाली भवनों के ऊपरी तल्ले पर कभी चढ़ती और कभी उतरती उत्कंठिता नायिका अपने पायल की झंकारों से संपूर्ण महल को झंकृत कर जाती थी। कल्पना और यथार्थ तथा वास्तविकता और संभावनाओं का कैसा चमत्कारपूर्ण तथा ऐंद्रिय चित्रण है! 'देव' के आदर्श महल का एक चित्र देखिए—

उज्जल अखंड खंड सातएँ महल महा-
मंडल सँवारो चंद्रमंडल की चोट ही।
भीतर हू लालनि के जालनि बिलास ज्योति,
बाहर जुन्हाई जगी जोतिन की जोट ही॥

इसका तात्पर्य यह नहीं है कि इस प्रकार का वैभवविलासपूर्ण, मणिमाणिक्य के जालों की विशाल ज्योति से जगमगाता हुआ, चंद्रमंडल का प्रतिद्वंद्वी कोई महल रहा ही होगा, पर इससे इतना तो प्रकट है कि वह ऐश्वर्य और विलास की संभावनाओं का ऐसा दृश्य उपस्थित करना चाहता है जो तत्कालीन सामंतीय आकांक्षाओं का मानसिक विरामस्थल है।

अब थोड़ा नगर के बाहर स्थित सामंतीय उपवनों को भी देखिए। ये उपवन वे विश्रामभूमियाँ नहीं हैं जहाँ की प्राणदायिनी वायु का सेवन करने के बाद व्यक्ति पुनः चलने की शक्ति ग्रहण करता है, प्रत्युत् ये वे भूमियाँ हैं जहाँ व्यक्ति अपने अवसाद को विस्मृत कर अपनी चेतना पर गहरा लेप चढ़ा लेता है। ये उपवन उन प्रमदवनों के सदृश हैं जहाँ पर सामंत सरदार सुरा और सुंदरी की सेवा किया करते थे। ये उपवन, वापी, तड़ाग आदि काव्य में ही उद्दीपन नहीं होते

थे बल्कि जीवन में भी उससे अधिक इनका महत्व नहीं रह गया था। अनेक प्रकार के फौवारों से सुशोभित उपवनो में भारतीय तथा पारस्यदेशीय रंगबिरंगे पुष्पों की बहार थी। इन उपवनों में पुष्पचयन के व्याज से नायकनायिका मिलनसुख लूटा करते थे। नायकनायिकाओं के घर में फूलों की काफी खपत थी। शयनकक्ष की शय्या पर फूलों की कोमल पंखड़ियाँ बिछाई जाती थीं, विरहताप में उनसे विरहोपचार का काम लिया जाता था। पुष्पनिर्मित रंगीन आभूषणो से नायिकाओं का शृंगार किया जाता था। काव्य मे वर्णित इन उपवनो में तत्कालीन सहृदयों का मन खूब रमता था। रीतिकवियो की मनोवृत्ति उनसे भिन्न न थी। वे उन रसिको को उनकी मनोनुकूल दिशा ही नहीं देते थे बल्कि उन्हें ऐसे लोक में पहुँचा देते थे जहाँ अपनी रही सही चिंताओ से भी वे मुक्त हो जाते थे।

शृंगरागो तथा वेशभूषा के प्रति अत्यधिक सतर्कता भी क्षतिपूर्ति की ही द्योतक है। तत्कालीन रईस अपने शरीर तथा वस्त्राभूषणो को चोवा, चंदन, घनसार, इत्र आदि से सुवासित करते थे। वासकसज्जा नायिकाओ का तो यह प्रधान व्यापार ही था :

> **पाँमरी के पाँमरे परे हैं पुर पौरि लागि,**
> **धाम धाम धूपनि के धूम धुनियत हैं।**
> **कस्तूरी, अतरसार, चोवा, रस, घनसार,**
> **दीपक हजारन अँध्यार लुनियत हैं॥**
>
> **—देव**

किंतु कवि नायकनायिकाओं के शयनकक्षो तक ही अपने को सीमित नहीं रख पाता था, वह इससे भी आगे बढकर देखता था रंगबिरंगी साड़ियों और पारदर्शी बहुमूल्य दुकूलो से झाँकती हुई नायिकाओ की उन्मादक शोभा और मणिमाणिक्य तथा कीमती जवाहिरातों से अभिमंडित उनका जगमग करता हुआ उद्दीपक सौंदर्य। नारी की उद्दीपक शोभा और रंगीन अंचल को अपनी शरणभूमि मान लेने का तात्पर्य यह है कि उन्हें जीवन की अन्य समस्याओ में कोई विशेष रुचि नहीं रह गई थी। दूसरे शब्दो मे इसे यो भी कहा जा सकता है कि अन्य दिशाओं को अवरुद्ध देखकर मन रमाने की कोई और विश्रामस्थली भी तो नहीं है। रीतिकाव्यों मे 'चोर मिहीचनी' खेल का प्रचुर वर्णन भी यही सिद्ध करता है कि लुकाछिपी करने तथा एकात भाव से रमनेवाले लोगों की सीमाएँ कितनी संकुचित तथा क्रियाकलाप कितने संकीर्ण थे।

सामंत सरदारो के संपूर्ण व्यवहार भोगविलास में इस तरह केंद्रित हो गए थे कि इसके परे जैसे उन्हें कुछ सोचने को ही नहीं रह गया था। बौद्धिक ह्रास और चिंतनहीनता के इस युग में चिंतन का विषय भोगभावना तक ही सीमित हो गया।

अट्टालिकाओं का प्रणयन उनकी दैनंदिनी की प्रेरणा का ही फल तो है। फिर तो रीतिकवियों ने भी ऋतु के अनुकूल बरफ, शीतलपाटी और 'आसव व अंगूर की ही टाटी' का नुस्खा पेश करना प्रारंभ कर दिया। पद्माकर रीतिकाल के अंतिम कवियों में थे और इस तरह के नुस्खों का उल्लेख उन्होंने अधिक किया है। इस समय तक थकान और चिंतनहीनता अपनी चरम सीमा पर पहुँच गई थी फलतः कविसामंत संपूर्णभावेन घोर शृंगार में आकंठ मग्न हो गए।

रीतिकाल के ठीक पूर्व भक्तिकालीन रचनाओं में पहले से ही रीतितत्व मौजूद थे। रीतिकवियों के मन में अतिशय शृंगारिक कविताएँ लिखने पर झिझक न उत्पन्न हुई हो, ऐसा नहीं कहा जा सकता। भक्तिपरक कविताओं के राधाकृष्ण रीतिकाव्यों में भी दिखाई पड़ते हैं। पर जहाँ भक्त कवि राधाकृष्ण की आराधना में तन मन से तन्मयीभूत थे वहाँ रीतिकवि राधाकृष्ण के स्मरण के बहाने शृंगारिक भावों की अभिव्यक्ति करते थे। फिर भी उनकी पूरी झिझक नहीं मिट पाई। प्रायः सभी रीतिकवियों ने समय समय पर भक्तिपरक उद्‌गार प्रकट किए हैं। किंतु भक्त कवियों की राधाकृष्ण विषयक घोर शृंगारिक कविताओं ने रीतिकवियों के नैतिक अवरोध को दूर कर दिया। फिर तो भगवद्‌भक्ति संबंधी शृंगारिक भावनाओं को निर्बाध भाव से लौकिक शृंगार में परिणत किया जाने लगा।

संक्षेप मे कहा जा सकता है कि जब मौलिक चिंतन का द्वार बंद हो गया, राजा रईसों का व्यक्तित्व चारों ओर से अवरुद्ध हो गया तो शृंगार के अतिरिक्त कोई ऐसी भूमि नहीं थी जहाँ पर तत्कालीन रसिकों को शरण मिलती। भक्ति-काव्य-परंपरा ने कवियों के प्रकृत मार्ग में जहाँ एक ओर अवरोध खड़ा किया वहाँ शृंगार-मार्ग का अनुधावन करने का दृढ़ संकेत भी दिया। इस तरह उस सामंतीय वातावरण में ऐसे उपादान एकत्र हो गए जो अकुंठित शृंगार की अभिव्यंजना में पूर्ण सहायक सिद्ध हुए।

२. प्रमुख प्रतिपाद्य

यद्यपि रीतिकालीन कवियों का मुख्य वर्ण्य विषय नायिकाभेद, नखशिख, अलंकार आदि का लक्षण उदाहरण प्रस्तुत करना रहा है, फिर भी उन्होंने उनके माध्यम से शृंगार का ही प्रतिपादन किया है। वास्तव में यही उनका प्रमुख प्रतिपाद्य भी है। शृंगारिकता के अतिरिक्त उन्होंने भक्ति और नीतिपरक उक्तियाँ भी की हैं पर वे संख्या में इतनी कम हैं कि उनका महत्व अत्यधिक गौण हो गया है।

साँचा चाहे नायिकाभेद का रहा हो चाहे नखशिख आदि का, उसमें ढली है शृंगारिकता ही; इसकी अभिव्यक्ति में उन्होंने किसी प्रकार का संकोच नहीं किया। इसलिये उनकी 'शृंगारिकता में अप्राकृतिक गोपन अथवा दमन से उत्पन्न ग्रंथियाँ

नहीं है, न वासना के उन्नयन अथवा प्रेम को अतींद्रीय रूप देने का उचित अनुचित प्रयत्न। जीवन की वृत्तियाँ उच्चतर सामाजिक अभिव्यक्ति से चाहे वंचित रही हों, परंतु शृंगारिक कुंठाओं से ये मुक्त थी। इसी कारण इस युग की शृंगारिकता में घुमड़न अथवा मानसिक छलना नहीं है[१]।'

शृंगारिकता के प्रति उनका दृष्टिकोण मुख्यतः भोगपरक था, इसलिये प्रेम के उच्चतर सोपानों की ओर वे नहीं जा सके। प्रेम की अनन्यता, एकनिष्ठता, त्याग, तपश्चर्या आदि उदात्त पक्ष भी उनकी दृष्टि में बहुत कम आ पाए हैं। उनका विलासोन्मुख जीवन और दर्शन सामान्यतः प्रेम या शृंगार के बाह्य पक्ष—शारीरिक आकर्षण—तक ही केंद्रित रहकर रूप को मादक बनानेवाले उपकरण ही जुटाता रहा। यह प्रवृत्ति नायिकाभेद, नख-शिख-वर्णन, ऋतुवर्णन, अलंकारनिरूपण—सभी जगह देखी जा सकती है।

३. नायिकाभेद

नायिकाभेद का आलोड़न हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचाता है कि प्रायः सर्वत्र रूप के प्रति कवियों की तीव्र आसक्ति व्यक्त हुई है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विचार करने पर प्रेम का मूलाधार है भी रूपासक्ति ही। नायिका होने के लिये किसी स्त्री का सुंदर होना पहली शर्त है—'मानो रची छबि मूरति मोहिनी, श्रीधर ऐसी बखानत नायिका'। दास ने नायिका का लक्षण लिखते हुए उसके कतिपय गुणों का उल्लेख किया है :

> **सुंदरता बरननु तरुनि सुमति नायिका सोइ।**
> **सोभा कांति सुदीप्ति जुत बरनत हैं सब कोइ॥**

अर्थात् नायिका का सौंदर्य यौवन, शोभा, कांति और दीप्ति से संयुक्त होना ही चाहिए। ये नायिका के सहज गुण हैं, इन्हें सहज सौंदर्य भी कहा जा सकता है। इसके अतिरिक्त नायिका के रूपवर्णन के दो अन्य ढंग भी अपनाए गए हैं—आलंकारिक रूपवर्णन तथा इंद्रियोत्तेजक रूपवर्णन।

सहज सौंदर्य में एक अनिर्वचनीय मोहनशक्ति होती है—अनलंकृत, अकृत्रिम शोभा, कांति, दीप्ति आदि को अलग अलग खोज पाना न तो संभव है और न मनोवैज्ञानिक। यह ठीक है कि ये तीनों स्मरविलास के क्रमिक सोपान हैं। पर ये परस्पर ऐसे संबद्ध हैं कि इनका अलग अलग विश्लेषण सौंदर्यानुभूति की समन्वित

[१] डा० नगेंद्र - रीतिकाव्य की भूमिका तथा देव और उनकी कविता, प्रथम संस्करण, पूर्वार्ध, पृ० १७४

चेतना को बिखरा देता है। स्वयं रीतिकाव्यों में, जहाँ नायिका के उपर्युक्त लक्षणों का अलग अलग वर्णन किया गया है, वहाँ सौंदर्यचेतना प्रायः निष्प्रभ हो गई है। दास का शोभा का एक उदाहरण देखिए :

कमला सी चेरी हैं घनेरी बैठीं आसपास,
विमला सी आगे दरपन दरसावती।
चित्ररेखा मेनका सी चमर डोलावैं,
लिए अंक उरबसी ऐसी बीरन खवावती॥
रति ऐसी रंभा सी सची सी मिलि साज भर,
मंजु सुर मंजुघोषा ऐसी ढिग गावती।
मध्य छबि न्यारी प्यारी बिलसै प्रजंक पर,
भारती निहारि हारी उपमा न पावती॥

इस उदाहरण में शोभा का कहीं पता नहीं है। कमला, चित्ररेखा, मेनका आदि की नामावली शोभा के किसी पक्ष को नहीं उभार पाती, हाँ, साहिबी (दास ने शोभा-काति-सुदीप्ति के लक्षणों के अंतर्गत साहिबी की भी गणना की है) आदि से अंत तक व्याप्त है। जहाँ शोभा, कान्ति, दीप्ति आदि सौदर्यचेतना का अभिन्न अंग हो गई हैं वहाँ नायिका का सहज सौंदर्यवर्णन अपनी पूरी ऊँचाई पर पहुँच गया है :

(१) अंग अंग छबि की लपट उपटति जाति अछेह।
खरी पातरीऊ तऊ लगै भरी सी देह॥

—बिहारी

(२) कुंदन कौ रँगु फीको लगै, झलकै अति अंगन चारु गोराई।
आँखिन में अलसानि चितौन में मंजु बिलासन की सरसाई॥
को बिन मोल बिकात नहीं, मतिराम लहै मुसुकानि मिठाई।
ज्यों ज्यों निहारिए नेरे ह्वै नैननि, त्यों त्यों खरी निकरै सी निकाई॥

—मतिराम

(३) आई हुती अन्हवावन नायन, सौंधे लिए कोइ सौंधे सुभायनि।
कंचुकी छोरि धरी उबटैबो कौं, ईंगुर से अँग की सुखदायनि॥
'देव' सुरूप की रासि निहारति, पाँव तें सीस लौं सीस तें पायनि।
ह्वै रहीं ठौरई ठाढी ठगी सी, हँसै कर ठोढ़ी दिए ठकुरायनि॥

—देव

उपर्युक्त तीनों उदाहरण नायिका के सौंदर्य का जो नयनाभिराम और मार्मिक चित्र उपस्थित करते हैं वे शास्त्रीय शोभा, काति, दीप्ति के बंधनों से मुक्त हैं। पर इनमें उन सभी लक्षणों को देखा जा सकता है। लेकिन इन चित्रों में वे कौन सी

विशेषताएँ हैं जो इन्हें सौंदर्यचित्रण के श्रेष्ठ उदाहरण सिद्ध करती हैं ? ऊपर कहा जा चुका है कि केवल शोभा, कांति आदि के रूढ़ लक्षणों के समावेश से कोई सौंदर्यचित्र उत्कृष्ट नहीं कहा जा सकता। तब इनका माप कैसे किया जाय ? वस्तुतः यह अत्यंत गंभीर प्रश्न है। इसके उत्तर के लिये प्रश्न की गहराई में पैठना होगा। केवल चाक्षुष बिंबों के आधार पर किसी रचना को उत्कृष्ट अथवा अनुत्कृष्ट नहीं कहा जा सकता। संभवतः सहृदय की संपूर्ण ऐंद्रिय चेतना को जो चित्र जितनी गहराई मे स्पर्श करेगा, वह उतना ही श्रेष्ठ होगा। पहले उदाहरण की व्यंजकता अपेक्षाकृत अधिक सूक्ष्म और अनुभूतिपूर्ण है। इसमें संवेगात्मकता कम और संवेदनात्मकता अधिक है। इसलिये मन प्राणों का स्पर्श यह गहराई से कर पाता है। दूसरे चित्र में कई रेखाएँ लगी हैं पर जोरदार हैं आँखो की अलसता और चितवन-विलास की रेखाएँ ही। इनमें मन्मथ से आप्यायित द्युति देखी जा सकती है। स्मरविलास से अभिवृद्ध शोभा को निरखा जा सकता है। 'निकाई' के खरेपन का चित्रण इसका अभिप्रेत है और इस अर्थ मे यह निस्संदेह श्रेष्ठ चित्र है। जहाँ तक सरलता और स्पष्टता का प्रश्न है, यह बेजोड़ है। पर पहले की अनुभूत्यात्मकता अधिक गहरी है। एतदर्थ उसकी प्रभावान्विति का तीव्रतर होना भी स्वाभाविक है। बिना किसी शोभन उपकरण की चर्चा किए हुए देव ने तीसरे उदाहरण मे नायिका के राशि राशि सौदर्य का बहुत ही भावपूर्ण चित्र खींचा है। इसमें जिस अद्‌भुत तत्व (वंडर एलीमेंट) तथा नाटकीय व्यापार की नियोजना की गई है वह मतिराम की अपेक्षा पाठको की ऐंद्रिय चेतना का गहरा स्पर्श करती है। संपूर्ण ऐंद्रिय चेतना के स्पर्श की दृष्टि से इन उदाहरणो मे बिहारी का सौंदर्यचित्र निरसंदेह सर्वोत्कृष्ट है। पर अपने अपने स्थान पर सबके सब नायिकाओं की सहज शोभा के उत्कृष्ट उदाहरण हैं।

सौंदर्यचित्रण का दूसरा प्रकार है इंद्रियोत्तेजक रूपवर्णन जिसे मनोवैज्ञानिक शब्दावली में संवेगात्मक रूपचित्रण भी कह सकते हैं। संवेगात्मक रूपचित्रण काव्योत्कर्ष मे घट कर नहीं होता। इसमें कवि की वैयक्तिक भावना भी लिपटी हुई दिखाई पड़ती है जो सहृदयो के संवेगो पर चोट करती है। इस तरह के सर्वाधिक चित्र देव में मिलते हैं। रूप के प्रति जितनी आसक्ति इनमें दिखाई पड़ती है उतनी किसी अन्य रीतिकवि मे नहीं। बिहारी मुख्यतः चामत्कारिक कवि होने के कारण बहुत कम संवेगात्मक चित्र उपस्थित कर सके हैं। मतिराम में संयम और नियंत्रण के कारण भाव की वह आकुलता नहीं आ पाई है। इस काल के प्रतिनिधि कवियों मे पद्माकर का नाम उल्लेखनीय है। पर उनका भावावेग प्रेमक्रीड़ाओं में ही अधिक व्यक्त हुआ है। देव के दो उदाहरण लीजिए :

(१) जगमगे जोबन जराऊ तरिवन कान,
ओठन अनूठो रस हाँसी उमड़ो परत।

कंचुकी में कसे आवैं उकसे उरोज बिंदु,
बंदन लिलार बड़े बार घुमड़े परत।
गोरे मुख स्वेत सारी कंचन किनारीदार,
देव मणि झूमका झमकि झुमड़े परत।
बड़े बड़े नैन कजरारे बड़े मोती नथ,
बड़ी बरुनीन होड़ाहोड़ी आड़े परत।

(२) अंग अंग उमग्यो परत रूप रंग, नव-
जोबन अनूपम उज्यासन उजारी सी।
डगर डगर बगरावति अगर अंग,
जगरमगर आपु आवति दिवारी सी॥

इन दोनों चित्रों में रूप के प्रति कवि की वैयक्तिक प्रतिक्रिया अभिव्यक्त हुई है। लेकिन प्रभावात्मक रूपचित्र खड़ा करने के लिये केवल वैयक्तिक प्रतिक्रिया ही अलम् नहीं होती। समर्थ कवि अपनी प्रतिक्रियाओं को पाठक तक इस रूप में प्रेषित करता है कि उसकी सौंदर्यचेतना झंकृत हो उठती है और वह कवि का भावनात्मक अनुकूलत्व (इमोशनल रेसपास) प्राप्त कर लेता है। पहले उदाहरण की तीसरी और सातवीं पंक्तियाँ पाठकों के संवेगों पर गहरी चोट करती हैं और वह भी कवि की ही भाँति बड़े बड़े कजरारे नैनों को देखने लगता है। नायिका की सहज शोभा के प्रसंग में देव का जो उदाहरण प्रस्तुत किया गया था उसमें द्रष्टा का व्यक्तित्व प्रायः असंपृक्त था पर इसमें वह आद्यंत लिपटा हुआ है। रूप-रस-गंध-समन्वित ऐसे नयनाभिराम चित्र कम दिखाई पड़ते हैं। दूसरे उदाहरण में भी ऐंद्रिय चेतना के वे सभी पक्ष स्पष्ट हो उठते हैं जो प्रथम उदाहरण में होते हैं। अंतिम दो पंक्तियों में तो अपनी अपार शोभा में नायिका जैसे साकार हो उठती है।

अब इसी प्रसंग में दास का एक चित्र उद्धृत किया जाता है :

घाँघरे झीन सों, सारी महीन सों, पीन नितंबन भार उठै खचि।
बास सुबास सिंगार सिंगारनि, बोझनि ऊपर बोझ उठै मचि।
स्वेद चलै मुखचंद तें च्वै, डग द्वैक धरै महि फूलन सों पचि।
जाति है पंकज-बारि-बयारि सों, वा सुकुमारि की लंक लला लचि॥

प्रथम दो पंक्तियों में ऐंद्रियता अवश्य दिखाई पड़ती है पर अंतिम दो पंक्तियाँ सुकुमारता का उदाहरण प्रस्तुत करने के कारण अपेक्षित प्रभाव उत्पन्न करने में अशक्त हो गई हैं।

आलंकारिक रूपवर्णन कुछ उसी प्रकार की रूपचेतना जाग्रत करता है जिस प्रकार आभूषणों की बहुलता नारी के सहज रूप को प्रकाशित करती है। आभूषणों

का आधिक्य नारी की सहज शोभा को बहुत कुछ आवृत्त भी कर लेता है। काव्य में भी अलंकारों एवं अप्रस्तुतों के भार से नायिका का रूप दब जाता है। रीतिकाव्यों में उपमा, उत्प्रेक्षा आदि के सहारे जो रूपचित्र खड़े किए गए हैं उनमें से अधिकांश चमत्कारप्रदर्शन के नमूने हैं। बिहारी के अप्रस्तुत ज्योतिष-शास्त्र-गृहीत जो रूपचित्र प्रस्तुत करते हैं उनमे भावोद्रेकक्षमता का संनिवेश नहीं हो सका है। इस तरह के रूपचित्र मतिराम, देव, पद्माकर आदि सभी कवियो ने प्रस्तुत किए हैं। बहुज्ञता-प्रदर्शन के नाम पर उनको दाद दी जा सकती है पर काव्यात्मक रूपचित्रण के नाम पर उनकी प्रशंसा नही की जा सकती। अपनी रसग्राही क्षमता के कारण इस तरह के कुछ चित्रो को देव ने प्रभविष्णु बनाने का प्रयास किया है।

इंद्रियोत्तेजक सौदर्यचित्रण मे कवि की ऐंद्रिय बुभुक्षा स्पष्टतः दृष्टिगोचर होती है। इसमे रूप और यौवन के प्रति एक तीखी ललक, एक अमिट प्यास मिलती है। इस काल के भावाकुल कवियो मे यह प्रवृत्ति विशेष रूप से दिखाई देती है। सचेत कलाकार होने के कारण बिहारी मे भावोन्मेष उतना नहीं मिलेगा पर जहाँ तहाँ उनकी प्यास भी व्यक्त हो उठी है। ग्रामबालिकाओं की उपेक्षा करते हुए भी वे लिख ही डालते हैं :

गदराने तन गोरटी ऐपन आड़ लिलार।
+ + +
गोरी गदकारी परै हँसत कपोलन गाड़।

'गदराने' और 'गदकारी' शब्दो द्वारा नायिका का जो मादक रूपचित्र खड़ा होता है वह कवि की अपनी वासनाओ से रिक्त नही है। देव मे तो इस प्रकार के चित्र भरे पडे हैं :

चौकी पै चंदमुखी बिन कंचुकी अंचर में उचकैं कुच कोरै।
बारन गौनी वधू बड़ी बार की बैठी बड़े बड़े बारन छोरै॥

रीतिमुक्त कवियों में रूप की जितनी अमिट प्यास घनआनंद में देखी जाती है उतनी और किसी कवि में नही। वह उसकी एक झलक पर अपने संपूर्ण व्यक्तित्व को निछावर करने के लिये तैयार बैठे हैं। प्रेयसी की एक एक अदा पर वह कुर्बान है :

आनंद की निधि जगमगति छबीली बाल,
अंगनि अनंगरंग दुरि मुरि जागि मैं।

अनंग का यह रंग कवि की अपनी ही अंतरात्मा की प्रतिध्वनि है।

४. संयोग

रूपासक्ति और शरीरी आकर्षण का परिणाम है संयोगसुख। इसमें परंपरानुसार हावादिजन्य चेष्टाएँ, सुरत, विहार, मद्यपान आदि का वर्णन होता है। रीतिकाव्यों में इनका खूब चटकीला चित्रण हुआ है। रीतिकवियों का यह प्रकृत मार्ग था और यहाँ पर उनकी रसिकता खुलकर खेलती दिखाई पड़ती है।

संयोग में बहिरिंद्रियों का संनिकर्ष अनिवार्य है। रसचेष्टा, सुरत आदि का मुख्य आधार बहिरिंद्रियसंनिकर्ष ही तो है। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि शारीरिक सुख की प्रमुखता में मानसिक सुख एवं आनंद उपेक्षित हो गया है। शरीर और मन का कुछ ऐसा संबंध है कि एक का सुख दूसरे का सुख हो जाता है। आलिंगन, परिरंभण जैसे मासल वर्णनों में भी मानसिक उल्लास को प्रायः विस्मृत नहीं किया गया है।

सच पूछिए तो संयोग शृंगार की भित्ति दर्शन, श्रवण, स्पर्श, संलाप आदि की नींव पर ही खड़ी की गई है। दर्शन, स्पर्श आदि की प्रतिक्रियाएँ मुख्यतः दो रूपों में व्यक्त हुई हैं—हाव के रूप में और अनुभाव के रूप में। हाव सचेष्ट व्यापार है तो अनुभाव सहजानुभूति का बहिर्विकार। पहला क्रीड़ापरक है तो दूसरा व्रीड़ापरक। 'हाव' का संचालनसूत्र भी मन के ही हाथों में रहता है जिससे वह प्रेमी को अपेक्षित व्यापार में नियोजित करता है। फिर भी, सचेष्ट व्यापार होने के कारण यह संपूर्णतया मन से संबद्ध नहीं कहा जा सकता। प्रतिक्रिया का दूसरा रूप संवेगात्मक उत्तेजना का स्वाभाविक परिणाम है। उसे शास्त्रीय शब्दावली में सात्विक अनुभाव कहा जाता है।

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विचार करने पर 'हाव' क्रीड़ाप्रवृत्ति (प्ले इंस्टिंक्ट) के अंतर्गत आएगा। यों तो यह रीतिकाव्य की सामान्य प्रवृत्ति है पर बिहारी ने इसके प्रदर्शन में सर्वाधिक रस लिया है। भृकुटि तथा नेत्रादि के विलक्षण व्यापारों से संभोगेच्छा प्रकाशक भाव ही हाव कहलाता है। हाव आश्रयगत भी होता है और आलंबनगत भी। आश्रयगत हाव का दोहरा कार्य होता है—आश्रय की भोगेच्छा का प्रकाशन और आलंबन का भावोद्दीपन। कुछ उदाहरण देखिए :

बतरस लालच लाल की, मुरली धरी लुकाय।
सौंह करै, भौंहन हँसै, दैन कहै, नटि जाय॥

—बिहारी

ओट तें चोट बिरी की करी पिय बार सुधारत बैठी चितै रही।
चंचल चारु दृगंचल कै तब चंदमुखी चहुँ ओर चितै रही॥

—दास

× × ×

साँकरी खोरि में काँकरि की करि चोट चलो फिर लौटि बिहारो।
ता खिन तें इन आँखिन तें न कढ्यौ वह माखन चाखनहारो॥

—पद्माकर

उपर्युक्त तीनों उदाहरणों मे जो चेष्टाएँ—सौंह करना, देने के लिये कहना, नट जाना, चारो ओर चकपका कर देखना, घूम कर देखना—वर्णित हुई हैं वे सोद्देश्य और सचेष्ट व्यापार हैं। पहले दोनो में नायिका का अभिप्राय केवल बातचीत का रस लेना भर नहीं है। वह नायक के मन मे प्रेमोत्पादन भी करना चाहती है। दास का नायक भी नायिका के चकित हाव का आस्वादन करना चाहता है, इसीलिये वह ओट से थिरी की चोट करता है। नायिका का चकपकाकर चारो ओर देखना सामान्यतः सचेष्ट व्यापार नहीं प्रतीत होता। पर ऐसा न होने से यह हाव के अंतर्गत नही आ सकता। उसके चारो ओर देखने के मूल में भी प्रिय के प्रेमोद्दीपन की भावना निहित है। पद्माकर के उदाहरण मे नायक का लौटकर देखना एक ओर उसकी अपनी मनस्थिति का द्योतक है तो दूसरी ओर नायिका के प्रेमभाव के उद्दीपन का।

संयोग या मिलन के प्रसंग में सात्विक अनुभावो के सहारे जिन मनस्थितियो का चित्रण किया गया है वे काव्यसौंदर्य की दृष्टि से यथेष्ट प्रभावोत्पादक बन पड़ी हैं। इन सात्विक अनुभावो की सृष्टि सामान्यतः स्पर्शजन्य अनुभाव के रूप मे दिखाई पड़ती है। स्पर्श त्वगिंद्रिय का गुण है। त्वचा स्नायुतंतुओं, धमनियो आदि की रक्षा ही नहीं करती अपितु बाह्य संसार से हमारा संपर्क भी स्थापित करती है। मनोवैज्ञानिकों ने इसे सर्वाधिक प्राचीन और मूलभूत ज्ञानेंद्रिय कहा है। यह बाह्यानुभूतियो का संदेश मस्तिष्क तक पहुँचाती है। यौन आवेगो की स्थिति स्पर्शज्ञान पर इतनी अधिक निर्भर है कि प्रेम संबंधी संवेगों के संदर्भ मे इसे प्रमुख स्थान दिया जाता है। स्पर्श का विद्युत्प्रवाह शरीर के सारे रोमकूपो में विचित्र सिहरन भर देता है।

यह अनुभाव प्रायः दो प्रकार से व्यक्त होता है—अंगस्पर्श से और स्मृति से। पहले स्पर्श का एक दृश्य देखिए :

स्वेद सलिल रोमांच कुस, गहि दुलही अरु नाथ।
हियो दियो सँग हाथ के, हथलेवा ही हाथ॥

—बिहारी

पाणिग्रहण संस्कार के अवसर पर नायिका ने नायक के हाथ का ज्यों ही स्पर्श किया त्यो ही उसे पसीना हो आया और उसका शरीर रोमांचित हो उठा। स्पर्श की अनुभूति से उसके मन में मिलन की जो उत्कट इच्छा प्रकट हुई वह पसीने के माध्यम से व्यक्त हो गई। चोर मिहीचिनी खेलते समय कंप, स्वेद, रोमांच और अश्रु जैसे सात्विक अनुभावो को एक साथ ही देखा जा सकता है :

एकहि भौन दुरे इक संग ही अंग सौं अंग छुवायौ कन्हाई।
कंप छुट्यौ, घन स्वेद बढ्यौ, तनु रोम उठ्यो, अँखियाँ भरि आईं॥

—मतिराम

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से नारी का सर्वाधिक स्पर्श-सुख-केंद्र उसके उभरे हुए वक्षस्थल हैं। यौन केंद्र के प्राथमिक अंगों से इनका जो स्वाभाविक संबंध है, वह इनमें स्पर्शजन्य सहज संकोच और रोमाच ले आता है। इस काल के अनेक रीति-कवियों ने इनके स्पर्शजन्य रोमाञ्चपुलक का वर्णन किया है :

स्वेद बढ्यौ तन, कंप उरोजनि, आँखिन आँसू, कपोलनि हाँसी।
\+ \+ \+
अंचल मीन झकैं पुलकैं कुच कंद कदंब कली सी।

—देव

कौतुक एक अनूप लख्यौ सखि, आज अचानक नाहु गयो छ्वै।
श्रीफल से कुच कामिनि के दोउ फूलि कदंब के फूल गयो ह्वै।

प्रथम दो उदाहरणों में स्पर्श का प्रसंग केलि के अवसर पर आया है। यह आनंदानुभूति भावनाप्रधान उतनी नहीं है जितनी वासनाप्रधान। तीसरे उदाहरण में ऐंद्रियता का गहरा रंग है।

(१) कल्पना या स्मृतिजन्य अनुभाव—निर्विकार चित्त में किसी भाव के आविर्भूत होने के पूर्व आलंबन की प्रत्यक्ष या परोक्ष स्थिति अनिवार्य है। आलंबन की अनुपस्थिति में स्मृति या कल्पना के सहारे आलंबन का रूप खड़ा कर लिया जाता है। इस तरह भावी मिलन का काल्पनिक आनंद भी आश्रय को अनुभूतिमय बना देता है। कल्पनाजन्य सहज अनुभाव का अतिशय मनोरम चित्र खींचते हुए देव ने लिखा है :

गौने कै चार चली दुलही, गुरु लोगन भूषन भेष बनाए।
सील सयान सखीन सिखायो, बड़े सुख सासुरे हू कै सुनाए।
बोलिए बोल सदा हँसि कोमल, जे मनभावन के मन भाए।
यौं सुनि छोछे उरोजन पै अनुराग के अंकुर से उठि आए॥

—देव

'अभी वास्तविक मिलन नहीं हुआ है। अभी स्थिति सर्वथा मानसिक धरातल पर ही है। पर मन के साथ शरीर का ऐसा सहज संबंध है कि दोनों में एकसाथ चेतना उत्पन्न हो जाती है'[1]। स्मृति से या प्रिय की कोई वस्तु पाकर भी प्रेमी को

[1] डा० नगेंद्र : रीतिकाव्य की भूमिका तथा देव और उनकी कविता, उत्तरार्ध, पृ० ९८

इसी प्रकार का रोमांच हो जाता है। स्पर्शजन्य अनुभवों से उत्पन्न कामचेतना उतनी सूक्ष्म नहीं बन पाई है जितनी कल्पनाजन्य कामचेतना।

संयोग शृंगार में सुरतवर्णन भी आता है पर रीतिकाल के प्रतिनिधि कवियों में अधिकाश ने इसका संक्षिप्त उल्लेख मात्र किया है। बिहारी के अतिरिक्त मतिराम, देव, पद्माकर आदि प्रायः इसमें रस लेते हुए नहीं दीख पड़ते। किंतु बिहारी की घोषणा है :

> **चमक, तमक, हाँसी, ससक, मसक, झपट, लपटानि।**
> **ए जिहिं रति, सो रति मुकति, और मुकति अति हानि॥**

ऐसी स्थिति में लपट झपट के साथ ही सुरतसुखों का वर्णन करना उनके लिये स्वाभाविक था। 'करति कुलाहलु किंकिनी, गह्यो मौन मंजीर' वही लिख सकते थे। मतिराम ने इसका वर्णन करते हुए इतना ही लिखा है :

> **प्रानप्रिया मनभावन संग, अनंग तरंगनि रंग पसारे।**
> **सारी निसा मतिराम मनोहर, केलि के पुंज हजार उघारे॥**

'केलि के पुंज हजार उघारे' में फिर भी सांकेतिकता शेष रह गई है। 'देव' और पद्माकर का मन भी इसमे प्रायः नहीं रमा है।

(२) हास परिहास—मिलन के प्रसंग में हास परिहास प्रेम को घनत्व प्रदान करता है और उसमें एक नवीन ज्योति, नया आकर्षण भरता है। केलि के अवसर पर यह आनंद को कई गुना अभिवृद्ध कर देता है। वस्तुतः यह रहःकेलि का ही एक अंग है। हास परिहास के द्वारा वाणी में जो वक्रता आती है, उससे जो अर्थमाधुरी व्यंजित होती है, वह परिहासकर्ता के किसी अव्यक्त अभिप्राय को भी प्रकट करती है। इससे कभी प्रेमजनित आत्मसमर्पण, कभी गर्व, कभी प्रेमातिशय्य आदि अनेक प्रकार की भावनाएँ व्यक्त होती हैं।

रास्ते में श्रीकृष्ण को दधिदान माँगते हुए देखकर एक गोपिका कहती है :

> **लाज गहो बेकाज कत, घेरि रहे, घर जाहिं।**
> **गोरस चाहत फिरत हौ, गोरस चाहत नाहिं।**

'कुछ तो शर्माओ, व्यर्थ में मुझे क्यों घेरे हुए हो, घर जाने दो। तुम तो गोरस (इंद्रियरस) चाहते हो, दही नहीं। इस प्रकार श्रीकृष्ण का परिहास करती हुई गोपिका ने अपना मंतव्य भी प्रकट कर दिया है। दधिदान का ही एक दूसरा प्रसंग है :

> **ऐसी करौ करतूति बखाय त्यौं नीकी बड़ाई लही जग जातें।**
> **आई नई तरुनाई बिहारी ही ऐसे छके चितवौ दिन रातें।**

लीजिए दान, हौं दीजिए जान, तिहारी सबै हम जानहीं घातैं।
जानौ हमैं जनि वै बनिता जिनसौं तुम ऐसी करी बलि घातैं॥
—मतिराम

तुम्हारी करतूत का क्या कहना ! मैं बलि जाती हूँ ! उससे तुम्हें क्या ही अच्छी बड़ाई मिलती है। दिन रात छके हुए ऐसे देखते रहते हो मानो तुम्हें ही नई जवानी मिली हो। वही सही, अच्छा अपना दान लो और हमें अपनी राह जाने दो। हमें आपके दाँव घात खूब मालूम हैं। हमें व्रज की उन वनिताओं में मत समझो जिनसे तुम घातपूर्ण बातें करते हो। नायिका की थोड़ी सी प्रगल्भता प्रेम-माधुरी को कितना गाढा बना देती है।

सखियों का एक अन्य सरस और मार्मिक परिहास देखिए। गौने के दिन नायिका का श्रृंगार करने के लिये सहेलियों का झुंड जुटा हुआ है। कंचन का बिछुआ पहनाते समय एक अत्यधिक प्रिय सखी ने गूढ परिहास करते हुए कहा कि यह बिछुआ प्रियतम के कानों के पास सर्वदा बजता रहे। यह सुनकर नायिका ने अपनी सखी पर करकमल चलाने के लिये हाथ तो उठाया लेकिन लज्जा के कारण वैसा नहीं कर सकी :

गौने के द्यौस सिंगारन को 'मतिराम' सहेलिन कौ गनु आयौ।
कंचन के बिछुवा पहिरावत, प्यारी सखी परिहास बढ़ायौ।
पीतम-स्रौन-समीप सदा बजै, यों कहिकै पहिले पहिरायौ।
कामिनि कौल चलावनि कौं, कर ऊँचो कियौ पै चल्यौ न चलायौ।
—मतिराम

राधाकृष्ण के विनोद का एक अति सरस और प्रेमपूर्ण उदाहरण देखिए :

लागि प्रेम डोरि जोरि साँकरी है कढ़ी आई,
नेह सों निहोरि जोरि आली मनमानती।
डगते डगाल देव आए नंदलाल, इत
सौंहैं भई बाल नव लाल सुख सानती॥
कान्ह कह्यो टेरि कै, कहाँ ते आई, को हौ तुम,
लागती हमारे जान कोई पहिचानती।
प्यारी कह्यो फेरि मुख, हरि जू चलेई जाहु,
हमैं तुम जानत, तुम्हैं हूँ हम जानती॥
—देव

एक दिन राधिका अपनी सखियों के साथ संकीर्ण गली में चली जा रही थीं। राधिका के आगमन की सूचना पाकर कृष्ण दौड़ते भागते आए और दूर से ही

पुकारकर कहा—'जरा सुनिए तो, आप कहाँ से आ रही हैं ? मुझे कुछ ऐसा लगता है कि मैं आपको पहचानता हूँ'। राधिका मुँह फेरकर बोलीं—'आप चुपचाप चले जाइए। आप मुझे पहचानते हैं, और मैं आपको पहचानती हूँ'। कितना मीठा और कितना गहरा मजाक है।

५. वियोग

वियोग के चार भेद हैं—पूर्वराग, मान, प्रवास और करुण। वियोग के मूल मे अभीष्ट के समागम का अभाव निहित है। इसी दृष्टि से पूर्वराग और मान को भी विप्रलंभ शृंगार के अंतर्गत रखा गया है। पूर्वराग में आलंबन निकट भी रह सकता है पर कुछ व्यवधानो के उपस्थित हो जाने के कारण अथवा समुचित साधनों के अभाव में आश्रय आलंबन का मिलन नहीं हो पाता। पर मान में तो प्रेमियों का विच्छेद नहीं होता, कई अवस्थाओं मे उनका शारीरिक संयोग भी बना रहता है किंतु दोनो के मन में कुछ ऐसा अंतर पड़ जाता है कि संयोग भी वियोग ही मालूम पड़ता है। कुछ विद्वान् पूर्वराग और मान दोनो को वियोग के अंतर्गत रखने में आपत्ति उठाते हैं। पर शास्त्र ही नहीं, मनोविज्ञान की दृष्टि से भी उन्हें वियोग की ही श्रेणी मे रखना होगा। पूर्वानुराग मे तो विविध दशाएँ भी अंतर्भुक्त की गई हैं। इसमें प्रवासजन्य अवसाद का गाभीर्य तो नहीं रहता पर वियोग की तीव्रता अवश्य पाई जाती है। पूर्वानुराग में सामाजिक मर्यादाओं का अवरोध राग को और भी तीव्र बना देता है।

पूर्वानुरागिनी नायिकाएँ अवस्था की दृष्टि से प्रायः मुग्धा होती हैं। इस अवस्था मे भावुकता का स्वाभाविक अतिरेक होता है और वह उनकी भावनाओ को अत्यधिक तीव्र बना देता है। देव ने इसके भीतर की दस दशाओ का वर्णन भी किया है। मतिराम और पद्माकर ने इन दशाओं को क्रमशः 'नवदशा' और 'वियोग अवस्था' का नाम दिया है। पर उन्होने इन दशाओं के जो उदाहरण प्रस्तुत किए हैं वे पूर्वानुराग की अवस्था में ही अधिक उचित प्रतीत होते हैं। पहले पूर्वानुराग-जन्य रागात्मक तीव्रता को लीजिए :

> बाल बिलोचनि कौतन सों, मुसकाइ इतै अरुझाइ चितैगो।
> एक घरी घन-से तन सों, अँखियान घनो घनसार सो दैगो॥
>
> —मतिराम

× × ×

> देव कहूँ हौं मिलौंगी गोपालहि है अब आँखिन ते उर आई।
> न्याव चुकैहौं चुकै ब्रजराज सों आजु तौ लाज सों मोसों लराई॥
>
> —देव

× × ×

घरी घरी पल पल छिन छिन रैन दिन,
नैनन की आरती उतारिबोई करिऐ।
इंदु तें अधिक अरबिंद तें अधिक, ऐसो
आनन गोविंद को निहारिबोई करिऐ॥
—पद्माकर

इन तीनों उद्धरणों में रूपासक्ति की व्याकुलता अत्यंत तीव्र रूप में व्यक्त हुई है। मतिराम की नायिका की आँखों में श्याम कलेवर ने घनसार लगा दिया है। देव की नायिका का अभिलाष लज्जावरोध के कारण और भी तीव्र हो गया है। पद्माकर के कवित्त में नायिका की अभिलाषा, व्याकुलता, बेचैनी प्रत्येक पद में व्यक्त होती हुई दिखाई पड़ती है और वह सामाजिक मर्यादाओं तक को छोड़ देने का विचार करने लगती है। 'नैनन की आरती उतारिबोई करिऐ' में प्रिय के निरंतर दर्शन की कितनी जबरदस्त उत्कंठा व्यक्त हुई है।

मानसिक दशाओं में स्मृति, गुणकथन और प्रलाप द्वारा प्रेमी के चेतन और अवचेतन मन का रहस्योद्घाटन होता है। स्मृति दशा में वे ही चित्र अक्षुण्ण बने रहते हैं जिन्हें काल का प्रवाह बहा नहीं ले जाता। गुणकथन में सौंदर्यादि की सराहना द्वारा प्रेमी कालयापन करता है। प्रलाप के 'निरर्थक बैन' प्रतीकात्मक अर्थ देते हैं। स्मृति दशा में मतिराम का नायक नायिका की अलसाई हुई कज्जलरंजित अत्यंत लावण्यपूर्ण आँखों की याद करता है। उसका तीक्ष्ण कटाक्ष नायक के हृदय में कामदेव के बाणों की भाँति इस प्रकार गड़ गया है कि निकालने से भी नहीं निकलता[1]। गुणकथन में देव का नायक नायिका के महावररंजित कमलवत चरण, गूजरी की मादक ध्वनि, अंचल में उभार ले आनेवाले ऊँचे कुच, संकोच के भार से थोड़ी सी लची हुई सोने की देह, उसकी सोंधी गंध और बड़ी बड़ी आँखों की व्याकुलतापूर्वक याद करता है[2]। पद्माकर की नायिका अपने नायक का गुणकथन करती हुई कहती है : 'छलिया छबीलो छैल छाती छ्वै चलौ गयो[3]।' प्रलाप दशा में प्रायः आलिंगन परिरंभण के प्रति प्रगाढ़ अनुरक्ति दिखाई पड़ती है।

इन दशाओं में भी रूप के प्रति आत्यंतिक आसक्ति ही व्यक्त हुई है। प्रिय के शरीर के प्रायः उन्हीं अंगों का उल्लेख किया गया है जो ऐंद्रिय उत्तेजना में सहायक सिद्ध होते हैं। अनुभूतिसंवलित होने के कारण ये चित्रण श्लाघ्य बन

[1] रसराज, छंद ४०४
[2] सुजानविनोद, पृ० २०-२१
[3] जगद्विनोद, सं० ६५२

पड़े हैं। पर तोष जैसे कवियों का चिंताग्रस्त नायक रीतिकालीन विभिन्न क्रियाओं की याद करता हुआ समस्त काव्यसौंदर्य को विकृत कर देता है[1]।

(१) मान (धीरादि, खंडिताएँ और मानवती)—दास ने अनुरागिनी, मानवती और प्रोषितपतिकाओं को वियोग का आलंबन माना है। अनुरागिनी नायिकाओं का उल्लेख किया जा चुका है। आचार्यों ने मान के दो भेद किए हैं—प्रणयमान और ईर्ष्यामान। प्रणयमान को वियोग के अंतर्गत रखना बहुत संगत नहीं प्रतीत होता क्योंकि यह निर्हेतुक और क्षणस्थायी है। लेकिन ईर्ष्यामान के अंतर्गत कौन नायिकाएँ आएँगी—केवल मानवती नायिकाएँ या धीरादि और खंडिता नायिकाएँ भी ? इन सभी नायिकाओं के क्रोधक्षोभ के मूल मे प्रिय की परतियानुरक्ति है। दास ने कदाचित् नायक-नायिका-भेद में व्यवस्था ले आने के लिये ही खंडिता के अंतर्गत धीरादि तथा मानिनी को भी रखा है। जो हो, इनके वर्णन में रीतिकवियों ने विशेष रुचि प्रदर्शित की है।

इस प्रसंग मे नायिका का क्षोभ और ईर्ष्याजन्य आक्रोश प्रायः दो रूपो मे व्यक्त हुआ है—नायिका के कथन के रूप में तथा नायकनायिका के संवाद के रूप में। नायिका के कथन के रूप में जो व्यंग्यविधान किया गया है, उसमें वह वक्रता नही दिखाई पड़ती, जो संवाद रूप में अभिव्यक्त व्यंग्य में दिखाई पड़ती है।

यह व्यंग्यविधान बिहारी, मतिराम, देव, पद्माकर सभी कवियो की रचनाओ में दिखाई पड़ता है। वैयक्तिक वैशिष्टय के कारण किसी मे विषाद का पुट गहरा हो गया है तो किसी मे अमर्ष का। इस प्रसंग में जहाँ संवाद का सहारा लिया गया है वहाँ व्यंग्योक्तियो मे तीखापन अधिक आ गया है। मतिराम की नायिका प्रिय के यह पूछने पर कि आज तुम रूखी रूखी क्यो बोलती हो और तुम्हारी आँखें आँसुओ से क्यो भरी हैं, उत्तर देती है—'कौन तिन्हे दुख है जिनके तुमसे मनभावन छैल छबीले'। 'मनभावन' और 'छैल छबीले' ने वक्रोक्ति मे जान डाल दी है।

देव की रसग्राही प्रवृत्ति इन नायिकाओं के अवसाद मे अधिक गहरे पैठती नजर आती है। अपनी उदासीनता, विषाद, विवशता, मानापमान आदि मानसिक दशाओं को नायिका सरल पर मर्मस्पर्शी ढंग से व्यक्त करती हुई कहती है—'साथ में राखिए नाथ उन्हें, हम हाथ में चाहती चार चुरी ये'। हे नाथ, आप उन्हें ही साथ रखें, हमारे लिये यही बहुत है कि हमारा सौभाग्य बना रहे। इसमें कितना दैन्य, कितनी विवशता और कितना अवसाद भरा हुआ है। पद्माकर में देव की नायिका की गहरी व्यथा तो नहीं मिलती पर उनमें आक्रोश-क्षोभ की तीव्रता अधिक है।

[1] सुधानिधि, छंद ४२६

खंडिता के वर्णन में बिहारी की दृष्टि प्रिय के बाह्य रतिचिह्नों पर विशेष टिकी है, उसकी मनस्थितियों के चित्रण का प्रयास उन्होंने कम किया है। वे पलकों में पीक, अधरों में अंजन, भाल में महावर, अंगों में किंजल्क, छाती में नखक्षत, अधरों पर दंतक्षत, बाहों पर चोटी का चिह्न, दृगों में ललाई आदि में अधिक उलझे हुए दिखाई पड़ते हैं। इसलिये उनके वर्णनों में भावों का प्राधान्य न होकर चमत्कार का प्राधान्य हो गया है। खंडिता नायिका के क्षोभोत्पादक नायक के बाह्य रतिचिह्नों का स्मरण इस काल के प्रायः सभी कवियों ने प्रेमपूर्वक किया है। पर बिहारी ने इसको काफी विस्तार दिया है। मतिराम, देव, पद्माकर बीच बीच में खंडिता की मानसिक स्थिति भी व्यक्त करते हुए दिखाई पड़ते हैं।

(२) प्रवास—प्रवासजन्य वियोग की अपेक्षित गंभीरता रीतिकाव्यों में प्रायः नहीं मिलती। रीति के बँधे बँधाए ढाँचे में प्रवत्स्यत्पतिका, प्रोषितपतिका और आगतपतिका ही ऐसी नायिकाएँ हैं जिनके प्रसंग में प्रवासजन्य वियोग का वर्णन किया जा सकता है। इनमें से प्रोषितपतिका को प्रवास का गहरा क्लेश सहन करना पड़ता है। पर उसके क्लेश की गहराई को सामान्यतः उसके संताप और दौर्बल्य से मापा गया है। इनके अतिरिक्त संदेशप्रेषण, पत्रलेखन, चित्रलेखन आदि रूढ़ियों को भी इस प्रसंग में समेट लिया गया है।

नायिका की संताप संबंधी उक्तियों के लिये बिहारी काफी बदनाम हैं। अपनी सतसई में मतिराम ने भी उनसे होड़ लेने की कोशिश की है। देव ने अपनी रस-क्षमता के बल पर, जीवन से गृहीत बिंबों के सहारे, ऐसी उक्तियों को अनुभूति-संवलित बना लिया है। पर संताप संबंधी उक्तियों की सामान्य प्रवृत्ति बिहारी के मेल में है। कुछ उदाहरण देखिए :

आड़े दै आले बसन, जाड़े हूँ की राति।
साहस कै कै नेहबस, सखी सबै ढिग जाति॥

—बिहारी

× × ×

सखिन करत उपचार अति, परति बिपति उत रोज।
झुरसत ओज मनोज के, परस उरोज सरोज॥

—मतिराम

× × ×

बालम बिरह जिन जान्यौ न जनम भरि,
बरि बरि उठै ज्यों ज्यों बरसै बरफ राति।
बीजन डुलावत सखी जन त्यों सीतहू में,
सौति के सराप, तन तापन तरफराति॥

देव कहै, साँसन ही अँसुआ सुखात, मुख
निकसै न बात, ऐसी सिसकी सरफराति।
लौटि लौटि परति करौंट खाट-पाटी लै लै,
सूखै जल सफरी ज्यों सेज पै फरफराति॥

बिहारी का संतापजन्य परिवेश वास्तविक जीवन में अकल्पनीय है और मतिराम का संभाव्य, पर दोनों ही नायिका की वेदना को ठीक ढंग से उभार नहीं पाते। किंतु देव की नायिका का संतापचित्रण पाठकों का भावात्मक अनुकूलत्व प्राप्त करने में सर्वथा समर्थ है। नायिका का दोहरा ताप (सौत का शाप और तनताप) उपचार की व्यर्थता को अधिक संगत बना देता है। एक पाटी से दूसरी पाटी तक करवटें बदलना तथा शय्या पर जल के बाहर पड़ी मछली की भाँति तड़फड़ाने का दृश्य इसे पूर्ण वास्तविकता प्रदान करता है।

विरहताप और व्याधिकार्श्य की ऊहात्मक उक्तियों से जहाँ बिहारी को छुट्टी मिली है वहाँ का विरहवर्णन काफी गंभीर बन पड़ा है :

(१) अजौं न आए सहज रँग, बिरह दूबरे गात।
अबहीं कहा चलाइयति ललन चलन की बात॥
\+ \+ \+
(२) स्याम सुरति करि राधिका तकति तरनिजा तीर।
अँसुवन करत तरौंस को खनिक खरोहो नीर॥

पहले उदाहरण में सहज रंग के न आने का सहज वर्णन विरह की गंभीरता को अत्यंत स्वाभाविक पर प्रभावोत्पादक ढंग से व्यक्त करता है। दूसरे उदाहरण में राधिका की बेबसी अपनी पूर्ण गहराई में चित्रित हुई है। मतिराम और पद्माकर के विरहवर्णन में प्रायः अनुभावों की प्रधानता दिखाई देती है यद्यपि उनमें देव की सी तीव्रता नहीं है। पर विरहवर्णन के थोड़े से स्थल विरह की शारीरी प्रतिक्रियाओं तक ही सीमित न रहकर संवेदना का गहरा स्पर्श करते हैं।

प्रवास के प्रसंग में पत्र द्वारा अथवा दूत या पक्षी द्वारा संदेश भेजना काव्य में रूढ़ हो गया है। रीतिकाव्यों में इस परंपरा का भी पालन किया गया है। जहाँ पर विरहाधिक्य से कागज के जल जाने का उल्लेख किया गया है वहाँ का चित्रण प्रायः काव्यसौंदर्य से रिक्त हो गया है। किंतु जहाँ इसे अनुभावों द्वारा अंकित करने का प्रयास किया गया है वहाँ विरहानुभूति तीव्रतर ढंग से अभिव्यक्त हुई है :

आहि कै कराहि काँपि, कृसतन बैठी आइ,
चाहत सँदेसो कहिबो को, पै न कहि जात।
फेरि मसिभाजन मँगायो लिखिबे को कछू,
चाहत कलम गहिबो को, पै न गहि जात॥

एते में उमड़ि अँसुवान को प्रवाह बढ़ो,
चाहे 'संभु' थाह लहिबे को, पै न लहि जात,
बहि जात कागद, कलम हाथ रहि जात।

६. नख-शिख-वर्णन

रीतिकाल में नख-शिख-वर्णन के अनेकानेक ग्रंथ लिखे गए। यदि ग्रंथों की संख्या की दृष्टि से देखा जाय तो कदाचित् इनकी संख्या सर्वाधिक होगी। इसके माध्यम से भी कवियों ने नायिका का रूपवर्णन ही किया है। पर अपनी रूढिबद्धता और अवैयक्तिक दृष्टिकोण के कारण रूप का ऐंद्रिय चित्र खड़ा करने में उन्हें बहुत कम सफलता मिली है। संस्कृत के कवियों ने भी इस दिशा में काफी उत्साह दिखाया है। श्रीहर्ष ने नैषध के द्वितीय सर्ग में दमयंती का विस्तृत नख-शिख-वर्णन किया है। सातवाँ सर्ग तो नख-शिख-वर्णन से भरा पड़ा है। कालिदास का पार्वती का नख-शिख-वर्णन तो अपनी नग्नता के कारण काफी बदनाम हो चुका है। कई शतकग्रंथो में चंडी और दुर्गा के नख-शिख-वर्णन में उनके रूप की भी कम दुर्गति नहीं हुई है।

हिंदी के चंद, विद्यापति, सूर आदि कवियों ने नखशिख का विस्तृत वर्णन किया है। इन कवियो के नख-शिख-वर्णन में भी कवि-प्रौढोक्ति-सिद्ध रूपकातिशयोक्ति का प्रयोग किया गया है। सूरदास के 'अद्भुत एक अनूपम बाग' के संबंध में आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने लिखा है : 'इस स्वभावसिद्ध (तुलसीदास के) अद्भुत व्यापार के सामने कमल पर कदली, कदली पर कुंद, शंख पर चंद्रमा आदि कवि-प्रौढोक्ति-सिद्ध रूपकातिशयोक्ति के कागजी दृश्य क्या चीज हैं[1] ?' इन कवियो को यह अतिशयोक्तिपूर्ण विलक्षणताप्रकाशक शैली जैन अपभ्रंश काव्यो से मिली थी और रीतिकवियों को अपने पूर्ववर्ती भक्त कवियो से।

रीतिकाव्यो का नख-शिख-वर्णन विलक्षणताप्रदर्शन की सीमा पर पहुँच गया। प्रत्येक अंग के लिये 'अलंकारशेखर' और 'कविकल्पलता' आदि आदि में प्रतियोग्य की जो लंबी सूची दी गई है उसका बहुत ही अकाव्योचित प्रयोग किया गया है। नायिकाभेद के प्रसंग में रससिक्त मुक्तको की जितनी बहुलता दिखाई पड़ती है, नखशिख संबंधी उक्तियों में उनकी उतनी ही विरलता।

आचार्य शुक्ल ने जायसी ग्रंथावली की भूमिका में लिखा है : 'नखशिख की पुस्तकों में शृंगार रस के आलंबन का ही वर्णन होता है और वे काव्य की पुस्तकें

[1] आचार्य रामचंद्र शुक्ल : जायसी ग्रंथावली, चतुर्थ संस्करण, भूमिका, पृ० ९३

मानी जाती हैं। जिन वस्तुओं का कवि विस्तृत चित्रण करता है उनमें से कुछ शोभा, सौंदर्य या चिर साहचर्य के कारण मनुष्य के रतिभाव का आलंबन होती हैं, कुछ भव्यता, विशालता, दीर्घता आदि के कारण उसके आश्चर्य का ··· । यदि बलभद्रकृत 'नखशिख' और गुलाम नबी कृत 'अंगदर्पण' रसात्मक काव्य हैं तो कालिदासकृत हिमालयवर्णन और भू-प्रदेश-वर्णन भी[१]।'

शुक्ल जी ने बलभद्रकृत 'नखशिख' और गुलाम नबी कृत 'अंगदर्पण' को रसात्मक काव्य नहीं माना है क्योंकि उनमें हमारी ऐंद्रिय चेतना को उद्‌बुद्ध करने की क्षमता नहीं है। थोड़ी बहुत मात्रा में लगभग सभी नखशिख संबंधी ग्रंथों पर यही बात लागू है। अब आइए यह देखें कि इस काल के नख-शिख-वर्णन पाठकों के रतिभाव या आश्चर्यभाव को किस हद तक प्रभावित कर सकते हैं। नखशिख के अंतर्गत वर्णित कुछ अंगों का सौंदर्य देखिए :

ग्रीवावर्णन—

> सुर नर प्राकृत कवित्त रीति आरभटी,
> सात्तिकी सुभारती की भरती लौं भोरी की।
> किधौं केसोदास कलगानता सुजानता,
> निसंकता सुबचन विचित्रता किसोरी की॥
>
> —केशवदास

+ + +

कर्णवर्णन—

> सोने की सीसी भरी मुकताम कलानिधि जानि भुजानि सों बाँधी।
>
> —देव

कुचवर्णन—

> बाढ़वती हैं एकत्र भए मनो जोम के तोम दुहूँ उर बाढ़े।
> गुच्छ के गुंमज के गिरि के गिरिराज के गर्व गिरावत ठाढ़े॥
>
> —दास

यहाँ पर कुछ ही उदाहरण प्रस्तुत किए गए हैं। इनसे आलंबन का कौन सा सौंदर्यबोध जाग्रत होता है? इस वैलक्षण्य और उक्तिवैचित्र्य की भूलभुलैया में आलंबन का काल्पनिक सौंदर्यपक्ष भी गुमराह हो जाता है।

[१] आचार्य रामचंद्र शुक्ल : जायसी ग्रंथावली, चतुर्थ संस्करण, भूमिका, पृ० ६१

किंतु इससे ऐसा नहीं समझना चाहिए कि नख-शिख-वर्णन में सौंदर्य-बोधात्मक तत्व आया ही नहीं है। आया है, लेकिन है वह नगण्य सा ही। बिहारी और देव के दो उदाहरण देखिए :

> अरुन बरन तरुनी-चरन-अँगुरी अति सुकुमार।
> चुवत सुरँग रँगु सी मनौ चपि बिछियनु कै भार॥
> —बिहारी

× × ×

> बेनी बनाइ कै माँग गुही तेहि माँह रही लर हीरन की फबि।
> सोम के सीस मनो तम तोमहि मध्य ते चीरि कढ़ी रबि की छबि॥
> —देव

दोनों ने उत्प्रेक्षा के सहारे क्रमशः अँगुली की सुकुमारता और माँग के सौंदर्य का चित्रण किया है। केवल एक एक अंग के वर्णन से ही आलंबन के रूप की ईषत् झलक मिल जाती है जिससे पाठकों की सौंदर्यचेतना उद्बुद्ध हो जाती है। एक में आलंबन के प्रति रतिभाव जाग्रत होता है तो दूसरे में सौंदर्य के प्रति आश्चर्य-भाव। लेकिन नख-शिख-वर्णन में इस तरह के ऐंद्रिय चित्र अत्यंत विरल हैं। नख-शिख-वर्णन की सामान्य प्रवृत्ति विलक्षणताप्रदर्शन की है जो सौंदर्यबोध में कोई योग नहीं देती।

७. ऋतुवर्णन

संस्कृत के रसशास्त्रियों ने ऋतुवर्णन को उद्दीपन के अंतर्गत रखा है, पर संस्कृत साहित्य में इसे आलंबन के रूप में ही ग्रहण किया गया है। रीति-काव्यों में, जो संस्कृत के नायिकाभेद की परंपरा में आते हैं, ऋतुवर्णन को उद्दीपन के ही भीतर रखा गया है। प्रसंगनिरपेक्ष ऋतुवर्णन की उनमें अत्यधिक विरलता है। यों, खोजने पर उनके चित्र भी मिलेंगे, पर उनमें न तो संस्कृत के वर्णनों की संश्लिष्टता मिलेगी और न रीतिमुक्त कवियों के वर्णन की ताजगी। रीतिबद्ध कवियों ने ऋतुओं के उद्दीपनपक्ष में ही अधिक रुचि दिखाई है।

(१) निरपेक्ष ऋतुवर्णन—निरपेक्ष ऋतुवर्णन के लिये आवश्यक है कि कवियों में चित्रोल्लेखन की पूर्ण क्षमता हो। संस्कृत के अप्रतिम कवि कालिदास में यह गुण अपनी पूरी ऊँचाई पर पहुँचा हुआ प्रतीत होता है। भक्तिकालीन कवि सेनापति के ऋतुवर्णन की भी यही विशेषता है। रीतिबद्ध कवियों में चित्रोल्लेखन-क्षमता की कमी नहीं है पर निरपेक्ष ऋतुवर्णन में मन न रमने के कारण वे उस ओर ध्यान न दे सके। इनके निरपेक्ष ऋतुचित्रों का ठीक ठीक मूल्यांकन करने के लिये

सेनापति के ऋतुचित्रों को भी प्रस्तुत करना आवश्यक है। पहले सेनापति का ग्रीष्म का एक चित्र देखिए :

> **वृष कौ तरनि तेज सहसौ किरन करि,**
> **ज्वालन के जाल बिकराल बरसत है।**
> **तचति धरनि, जग जरत झरनि, सीरी**
> **छाँह कौ पकरि पंथी पंछी बिरमत है॥**
> **सेनापति नेक दुपहरी के ढरत, होत**
> **धमका बिषम ज्यों न पात खरकत है।**
> **मेरे जान पौनौ सीरी ठौर कौ पकरि कौनौ**
> **घरी एक बैठि घामैं बितवत है॥**

विकराल ज्वालजाल की वर्षा, छाया में पंथी का विश्राम करना, पत्तो का निष्कंप होना सभी इस ढंग से प्रस्तुत किए गए हैं कि ग्रीष्म की असह्य तपन की भयंकरता पाठकों के संमुख उपस्थित हो जाती है।

परस्पर विरोधी जीवों को एक साथ एकत्र कर ग्रीष्म का प्रभाव दिखाने का जो चित्र बिहारी ने खींचा है वह ग्रीष्मकालीन वातावरण उपस्थित करने मे उतना समर्थ नहीं है जितना चमत्कार खड़ा करने में :

> **कहलाने एकत बसत अहि, मयूर, मृग, बाघ।**
> **जगत तपोवन सो कियो, दीरघ दाघ निदाघ॥**

ग्वाल कवि का एक ग्रीष्मचित्र देखिए :

> **पूरन प्रचंड मारतंड की मयूखें मंड,**
> **जारें ब्रह्मंड, अंड डारें पंखधरिए।**
> **लूएँ तन छूएँ, बिन भूएँ की अगिन जैसी,**
> **चूएँ स्वेदबुंद, बुंद धारें अनुसरिए॥**
> **'ग्वाल कवि' जेठी जेठ मास की जलाकन मैं,**
> **प्यास की सलाकन तें ऐसी चित अरिए।**
> **कुंड पिए, कूप पिए, सर पिए, नद पिए,**
> **सिंधु पिए, हिम पिए, पीयबोई करिए॥**

कहना व्यर्थ है कि ग्वाल की अत्युक्तियाँ निष्प्रभ और प्रभावहीन हैं। अब बसंतश्री का एक मोहक चित्र देखिए :

> **छकि रसाल सौरभ सने मधुर माधवी गंध।**
> **ठौर ठौर झूमत झपत भौंर भौंर मधु अंध॥**

इस चित्र में रूप, रस, स्पर्श, गंध सभी का मानसिक प्रत्यक्षीकरण किया जा सकता है। वसंत की व्याप्ति का एक उदाहरण देखिए :

> कूलन में, केलि में, कछारन में, कुंजन में,
> क्यारिन में कलिन कलीन किलकंत है।
> कहै 'पद्माकर' पराग हू में, पौन हू में,
> पातन में, पिकन पलासन पगंत है॥
> द्वार में, दिसान में, दुनी में, देस देसन में,
> देखो दीप दीपन में दीपत दिगंत है।
> बीथिन में, ब्रज में, नवेलिन में, बेलिन में,
> बनन में बागन में बगरयौ बसंत है॥

बिहारी के दोहे में बसंत की मादक गंध को केंद्रीय विषयवस्तु मानकर उसकी संपूर्ण श्री की व्यंजना की गई है पर पद्माकर के उपर्युक्त कवित्त में विविध स्थानों का जो चुनाव किया गया है वह बसंत की व्यापक श्रीसंपन्नता का द्योतक है। यह सच है कि वसंतश्री का यह वर्णन विवरणात्मक है पर इससे उसके तरल सौंदर्यबोध में कमी नहीं आ पाई है। पर इस काल मे निरपेक्ष ऋतुचित्रों की सामान्यतः कमी मिलती है। जो मिलते भी हैं उनमें से अधिकाश पाठको में भावात्मक अनुकूलत्व (इमोशनल रेस्पास) नहीं जागरित कर पाते।

(२) **साक्षेप ऋतुवर्णन**—ऋतुवर्णन को उद्दीपन के अंतर्गत डाल देने का परिणाम यह हुआ कि रीतिकाव्यों में यह नायिका के संयोग और वियोग के साथ संबद्ध हो गया। संयोगावस्था में जो ऋतुएँ प्रेम को उद्दीप्त करने में सहायता पहुँचाती हैं वे ही वियोगावस्था में अत्यंत क्लेशकर सिद्ध होती हैं। इसलिये एक ही ऋतु को दोहरी दृष्टि से देखा गया है।

षट् ऋतुओं में बसंत सर्वश्रेष्ठ है—इसे ऋतुराज कहा भी गया है। वसंत ऋतु अपनी अलौकिक श्रीसुषमा को दिग्दिगंत मे बिखराकर समस्त वातावरण को सुरभित और मादक बना देती है। वसंत के प्रारंभ में पड़नेवाली होली के कारण इस ऋतु में एक अजीब मस्ती भर जाती है। रीतिकाव्यो में वसंत और होली का बहुत ही रंगीन वर्णन हुआ है।

महत्व की दृष्टि से वसंत के बाद वर्षा की गणना की जायगी। घनाच्छादित नभमंडल, बिजली की कौंध, कड़क और बूँदों की रिमझिम से संयोगियों की संभोगात्मक प्रवृत्ति को उत्तेजना मिलती है और वियोगियों का वियोगजन्य क्लेश और भी कटुतर हो उठता है। झिल्ली की झनकारो, बक चातक की पुकारो और मोरों की गुहारो से वर्षा की शोभा द्विगुणित हो जाती है, साथ ही संयोगी और

वियोगी अपनी परिस्थितियों के अनुकूल अर्थ ग्रहण कर लेते हैं। वर्षावर्णन के साथ में हिंडोल और कजली को भी नहीं भूला गया है।

वर्षा के अनंतर जिस ऋतु की ओर कवियों का अधिक आकर्षण देखा जाता है वह है शरद्। शरद् का निरभ्र नभ, शुभ्र ज्योत्स्ना, निर्मल नक्षत्रलोक सर्वदा से कवियों को मुग्ध करते रहे हैं। शरत्पूर्णिमा का श्रीकृष्ण के महारास से संबंध जुट जाने के कारण इस ऋतु की मादकता और भी बढ़ गई है। रीतिकाव्यों में मुख्य रूप से इन्हीं तीन ऋतुओं का वर्णन हुआ है। शेष तीन ऋतुओं—ग्रीष्म, हेमंत और शिशिर—को वर्णन की दृष्टि से गौण स्थान मिला है। पर इन ऋतुओं में भी काव्यसौष्ठव और चमत्कारवैभव देखा जा सकता है।

(१) ऋतु और संयोगवर्णन—चतुर्दिक् बिखरी हुई बसंत की श्रीसुषमा को देखकर संयोगियों का मन नवीन उल्लास से भर जाता है। केवल बनबागों में ही बहार और गंधअंध भौरों की गुंजार नहीं देख सुन पड़ती बल्कि प्रेमियों का मन भी प्रसन्न और प्रफुल्ल हो उठता है। 'औरै तन, औरै मन, औरै बन ह्वै गए' लिखनेवाले कवियों ने उपर्युक्त अनुभूत सत्य को ही वाणी दी है। इस ऋतु के आते ही हमारा जो मानसिक परिवर्तन होता है वह भी कवियों की पैनी दृष्टि से ओझल नहीं हो सका। इस मानसिक परिवर्तन का प्रभाव हमारे स्वास्थ्य और सौंदर्य पर भी पड़ता है। इसीलिये तो पद्माकर ने लिखा है—'छलिया छबीले छैल औरै छवि ह्वै गए'। छलिया, छबीले और छैल के चुनाव का अर्थ है कि वसंतश्री का विशेष प्रभाव रसिकों के ही ऊपर पड़ता है।

कवियों ने वसंत से अधिक महत्व उससे संलग्न होलिकोत्सव को दिया है क्योंकि प्रेमोत्पादन में ही नहीं बल्कि उसको मादक बनाने में भी इसका अत्यधिक महत्व है। बिहारी, देव, पद्माकर, बेनी प्रवीन, ग्वाल आदि सभी कवियों ने होली के 'हुरदंग' का बड़ा ही ऐंद्रिय चित्र उपस्थित किया है।

ऋतु के अनुकूल केसरिया और पीत वस्त्रों की बहार, कोकिल और पपीहे की पुकार, नृत्यगीत, गुलाल, केसर और अबीर की झोली, पिचकारी की फुहार, प्रेमी-प्रेमिकाओं की लपक झपक, धरपकड़, रीझखीझ, भागदौड़, वस्त्रों की खींचतान, डफ, ढोल, मृदंग, वंशी आदि अनेकानेक उपकरणों द्वारा रीतिबद्ध कवियों ने होली का अत्यंत आकर्षक और रागमय वर्णन किया है।

इस फागवर्णन की सबसे बड़ी विशेषता है घरेलू फाग का अत्यंत मधुर, आकर्षक और स्वाभाविक चित्रण। अचानक किसी प्रिय के ऊपर रंग उड़ेल जाना, किसी को बहकाकर फिर उसे रंग में नहलाकर दुर्दशाग्रस्त बनाना अथवा रंग के डर से भागकर किसी प्रकार अपनी रक्षा करना आदि दृश्य केवल फाग की मस्ती

का चित्र ही नहीं उपस्थित करते बल्कि उसके प्रति कवियों के मानसिक आकर्षण का रूप भी व्यक्त करते हैं।

पहले प्रकार का एक दृश्य बिहारी ने अपने एक दोहे में अंकित किया है : पहले तो नायिका नायक की ओर पीठ दिए खड़ी रही, जिससे नायक उसकी भावनाओं को भाँप न सके। लेकिन अचानक उसने जरा सा घूँघट उठाकर नायक पर गुलाल की मूठ चला ही तो दी :

पीठि दिए ही नैकु मुरि, कर घूँघट पट टारि।
भरि गुलाल की मूठि सों, गई मूठि सी मारि॥

फाग की भीड़भाड़ में श्रीकृष्ण को भीतर ले जाकर गोपियों ने उनकी जो दुर्गति की उसकी कितनी सुंदर व्यंजना पद्माकर ने की है :

फागु के भीर अभीरन तें गहि, गोविंदै लै गई भीतर गोरी।
भाई करी मन की पद्माकर, ऊपर नाय अबीर की झोरी।
छीन पितंबर कम्मर तें, सु बिदा दई मीड़ि कपोलन रोरी।
नैन नचाइ, कही मुसक्याइ, लला ! फिर आइयो खेलन होरी॥

अंतिम पंक्ति द्वारा गोपियों की प्रेमव्यंजना का अनूठापन कितना सहृदय-संवेद्य हो उठा है।

संयोगपक्ष मे स्वयं पावस का उतना प्रभावोत्पादक वर्णन नहीं है जितना इससे संबद्ध हिंडोले और तीज त्योहार का। जहाँ पर पावस में प्रेमीप्रेमिका के मिलन का अवसर प्राप्त हुआ है वहाँ पर भी कवियों का मन रमता हुआ दिखाई देता है :

राधा औ माधो खड़े दोउ भीजत, वा झरि में झपकै बन माँही।
'बेनी' गए दुरि बातन में, सिर पातन के छहना, गलबाँही।
पामरी प्यारी उढ़ावत प्यारे कौं, प्यारौ पितंबर की करै छाँही।
आपुस में लहाछेह में छोह में, काहू को भीजिबे की सुधि नाहीं॥

इसी तरह श्रीकृष्ण के कंबल में छिप जाने से भीगने से बची हुई गोपिका का उद्गार देखिए :

तीज नीके सेज, सब सजनी गई री उहाँ,
झूलन हिंडोरे ब्रजबाला बीर बरबर।
'तोषनिधि' तौलौं उठि धुरवा धरा लौं धूमि,
धाराधर धरनि बरसि परौ धर धर॥
मोहिं तो कन्हाई करि कामरी बचाय लीनीं,
और सब भीजीं, तिन तन होय थर थर।

ऐसो बदनाम यहि गाँउ भो गरीबिनी कौ,
देखि सूखी चूनरी चबाउ फैलो घर घर ॥

कहना न होगा कि प्रथम उदाहरण का 'लहालेह' और बेसुधी तथा द्वितीय का वैदग्ध्य पिटा पिटाया और नवीनता रहित है। पर संयोगवर्णन के सिलसिले में ऐसे उदाहरणों का अभाव नहीं है जिनमें काव्यसौदर्य और अनुभूतिमयता की अभिव्यक्ति हुई है। तीज पर्व पर नायिका का मानसिक उल्लास देखिए :

तीर पर तरनि तनूजा के तमाल तरें,
तीज की तयारी ताकि आई तकियान में।
कहै पद्माकर सो उमँग उमगि उठी,
मेंहदी सुरंग की तरंग नखियान में।
प्रेम रंग बोरी गोरी नवल किसोरी तहाँ,
झूलत हिंडोरे यों सुहाई सखियान में।
काम झूलै उर में, उरोजन में दाम झूलै,
स्याम झूलै प्यारी की अन्यारी अँखियान में ॥

इस चित्रण में आनंद का जो अद्भुत वातावरण उपस्थित किया गया है उसमें शारीरिक आकर्षण की अपेक्षा मानसिक आकर्षण अधिक उभरकर व्यक्त हुआ है।

वैष्णव कवियों के शरद्-रास-वर्णन की परंपरा के अनुसार रीतिकाव्य में भी राधाकृष्ण के शरद् रास का वर्णन हुआ है। इसके वर्णन में कवियों ने चूरियों की खनक, मृदंग की ठनक, नूपुरों की रुनझुन, बाँसुरी की सुरीली ध्वनि आदि के आधार पर शरत्कालीन रास का वातावरण निर्मित किया है।

ग्रीष्म, हेमंत और शिशिर में भावोद्दीपन की वह क्षमता नहीं है जो बसंत, वर्षा और शरद् में दिखाई पड़ती है। तापमान की दृष्टि से ग्रीष्म और हेमंत शिशिर-विरोधी ऋतुएँ हैं। रीतिबद्ध कवियों ने इनका उपयोग दूसरे प्रकार से किया है। वे इन ऋतुओं के अनुकूल अपने आश्रयदाताओं के सुखोपभोग की सामग्री जुटाने में इतने तल्लीन हो जाते हैं कि और किसी ओर उनकी दृष्टि ही नहीं जाती। जेठ के निकट आते ही पद्माकर खसखाने और तहखाने की मरम्मत कराने लगते हैं और अतर, गुलाब, अरगजा आदि की खरीद होने लगती है। वे इतने से ही संतुष्ट नहीं होते क्योंकि अंगूर की टाटी के साथ 'अंगूर सों उचौहैं कुच' के बिना सारा मजा किरकिरा हो जाता है। पद्माकर से कई कदम आगे बढ़कर ग्रीष्म की ज्वाला शमन करने के लिये ग्वाल ने और भी अधिक सामग्री एकत्र की। उन्होंने बरफ की शिलाओं पर संदली सेज बिछाकर उसे कमलपत्र से पाटना आवश्यक समझा। शयनकक्ष को शीतल करने के लिये खसखाने को गुलाबजल से तर करना भी जरूरी

था। पद्माकर की भाँति गरमी शांत करने के प्रधान उपकरण—हिमकरआननी—को भला ग्वाल क्यों भूलते ?

हेमंत के लिये पद्माकर का दावा है कि जब 'गुलगुली गिलमें, गलीचा है, गुनीजन हैं' और सुबाला का भी संयोग प्राप्त है तो हेमंत का शीत क्या बिगाड़ सकता है ? ग्वाल ने पाले का कसाला काटने के लिये सोने की अँगीठी में निर्धूम अग्नि, मेवामिष्ठान्न, मसाले की डिब्बियाँ, शालदुशाला, गिलमें, गलीचा, हूरपरी, नवबाला आदि के साथ प्याले पर प्याले का विधान किया है। शिशिर का वर्णन भी बहुत कुछ हेमंत से मिलता जुलता है।

(४) **ऋतु और वियोगवर्णन**—संयोगवर्णन में जो वस्तुएँ सुखप्रद प्रतीत होती हैं वे ही वियोगवर्णन में दुःखप्रद हो जाती हैं—इस सामान्य कथन के अतिरिक्त इनके अंतर को गहराई में पैठकर नहीं देखा गया है। संयोगवर्णन में ऋतुसबंधी समस्त वातावरण को प्रायः उपस्थित नहीं किया जाता, कवियों की दृष्टि मुख्यतः संयोगजन्य सुखों पर टिकी दिखाई पड़ती है। जीवन में भी, जो तटस्थ द्रष्टा नहीं हैं, वे स्वयं ऋतुसौंदर्य की ओर उतने आकृष्ट नहीं होते जितने उससे उद्दीप्त भावावेगों की तृप्ति की ओर। यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है। पर वियोगकाल में, जब भावावेगों की पूर्ति का साधन ही नहीं रहता, वियोगियों की दृष्टि भावोद्दीपक उपकरणों की ओर जाती है। एक तो ये उपकरण विरहानुभूति को यों ही प्रगाढ कर देते हैं, दूसरे इनके संदर्भ में संयोगकालीन स्मृतियाँ उसे द्विगुणित कर देती हैं। इस तरह वियोगवर्णन के समय ऋतुओं का प्रायः दो प्रकार से उपयोग किया गया है। एक तो ऋतुपरक वातावरण की पृष्ठभूमि में विरह निवेदन किया गया है, दूसरे विरह के कारण ऋतु सबंधी उपकरणों को अतिशय दुःखप्रद बतलाया गया है।

पावस की पृष्ठभूमि में विरहनिवेदन का एक उदाहरण देखिए :

जलभरे झूमैं मानो भू मैं परसत आय,
दसहू दिसान घूमैं दामिनि लए लए।
धूरिधार धूमरे से, धूम से धुँआरे कारे,
धुरवान धारे धावैं छबि सों छए छए॥
'श्रीपति' सुकबि कहै घेरि घेरि घहराहिं,
तकत अतन तन ताप मैं तए तए।
लाल बिनु कैसे लाजचादर रहैगी आज
कादर करत मोहि बादर नए नए॥

ऋतुनिर्माता उपकरणों को अतिशय विरहोद्दीपक समझते हुए कभी उन्हें वैसा करने के लिये मना किया गया है, कभी उनके रूपरंग, बोली, गर्जन तर्जन को

अत्यंत दुःखदायक समझकर एक विशेष मानसिक दशा की अभिव्यक्ति की गई है, और कभी संयोगकालीन अनुकूल वस्तुओं को प्रतिकूल समझा गया है।

उन्हें वियोगकाल में शरद्कालीन शुभ्र चंद्रमा कसाई का कार्य करता हुआ दिखाई देता है। किंसुक, अनार और कचनार की डालों पर अंगारों के पुंज डोलते हुए प्रतीत होते हैं, पपीहे की 'पी कहाँ' और कोकिल की कूक प्राणलेवा सिद्ध होती हैं, चंदन, चाँदनी और बादलों से अग्नि बरसती हुई दीख पड़ती है। इनके कुछ उदाहरण देखिए :

(१) ए रे मतिमंद चंद ! आवत न तोहि लाज,
हैकै द्विजराज, काज करत कसाई के।
—पद्माकर

(२) चातक न गावैं, मोर सोर न मचावैं, घन
घुमड़ि न छावैं, जौलौं लाल घर आवैं ना।
—देव

(३) पातकी पपीहा जलपान कौ न प्यासो, काहू
बिथित वियोगिन के प्रानन को प्यासो है।
—पद्माकर

(४) बिरही दुखारे, तिनपर दईमारे, मानौं
मेघ बरसत हैं अँगारे आसमान तें।
—करनेस

८. भक्ति और नीति

शृंगारिकता के अतिरिक्त रीतिकाव्यों में भक्ति और नीतिपरक उक्तियाँ भी बिखरी पड़ी हैं। पर इनके आधार पर रचयिताओं को न तो भक्त माना जा सकता है और न विचक्षण राजनीतिज्ञ। इस प्रकार की उक्तियाँ प्रायः शतकों में ही दिखाई पड़ती हैं जो इन शतककारों को संस्कृत-प्राकृत-अपभ्रंश की काव्यपरंपरा से प्राप्त हुआ था। रसग्रंथों में भक्ति संबंधी उद्‌गार तो मिल जाते हैं, नीतिपरक नहीं मिलते। रीतिकवियों की भक्तिपरक रचनाओं तथा उनमें राधाकृष्ण के नामोल्लेख के आधार पर कुछ विद्वान् उन्हें भक्तकवि ही मानते हैं। और इतना ही वे उनकी परंपरा को भक्तकवियों की परंपरा से जोड़ देने के लिये यथेष्ट समझते हैं।

पर वास्तविकता ठीक इसके विपरीत है। रीतिकवियों का मुख्य प्रयोजन था किसी न किसी आश्रयदाता और रसिक को रिझाना। उनकी रचनाओं को राधाकृष्ण संबंधी भक्तिपरक उद्‌गार कदापि नहीं माना जा सकता, क्योंकि दास ने सबका प्रतिनिधित्व करते हुए भ्राति के लिये कोई स्थान नहीं छोड़ा है। सुकविताई के

प्रसिद्ध होने पर ही उन्हें राधाकृष्ण के सुमिरन का बहाना माना जा सकता है। युग की परिस्थितियों को अनदेखी करके ही रीतिग्रंथों को भक्तिग्रंथों मे परिगणित किया जा सकता है। अपनी समसामयिक परिस्थितियों से मजबूर होकर बेचारे ग्वाल को राधाकृष्ण से माफी माँगनी पड़ी थी :

> श्रीराधा पदपद्म को, प्रनमि प्रनमि कवि ग्वाल।
> छमवत है अपराध कों, कियो जु कथन रसाल॥

डा० नगेंद्र के शब्दो में यह भक्ति भी उनकी शृंगारिकता का अंग थी। जीवन की अतिशय रसिकता से जब ये लोग घबड़ा उठते होगे तो राधाकृष्ण का यही अनुराग उनके धर्मभीरु मन को आश्वासन देता होगा। इस प्रकार रीतिकालीन भक्ति एक ओर सामाजिक कवच और दूसरी ओर मानसिक शरणभूमि के रूप में इनकी रक्षा करती थी। तभी तो ये किसी न किसी तरह उसका आँचल पकड़े हुए थे। रीतिकाल का कोई भी कवि भक्तिभावना से हीन नही है—हो ही नहीं सकता था, क्योकि भक्ति उसके लिये एक मनोवैज्ञानिक आवश्यकता थी। भौतिक रस की उपासना करते हुए भी उनके विलासजर्जर मन मे इतना नैतिक बल नहीं था कि भक्ति रस में अनास्था प्रकट करते, या उसका सैद्धातिक निषेध करते। इसीलिये रीतिकाल के सामाजिक जीवन और काव्य में भक्ति का आभास अनिवार्यतः वर्तमान है और नायकनायिका के लिये बारबार 'हरि' और 'राधिका' शब्दों का प्रयोग किया गया है[1]।

नीतिपरक उक्तियाँ अपने समसामयिक जीवनमूल्यों और परिवेश पर आधारित होती हैं। इस ह्रासोन्मुखी युग मे ऊर्ध्वोन्मुखी मूल्यो के प्रति आस्था नहीं रह गई थी। इसलिये जीवन की असारता, प्रेम की निष्फलता, अस्थिरता, वैभव-विलास के प्रति उदासीनता आदि भावनाएँ नीतिपरक उक्तियो में उभर कर आई हैं। सच पूछिए तो यह भी जीवन के अवसाद और थकान का द्योतक है। राग की अतिशयता से ऊबकर मनुष्य या तो भक्ति और वैराग्य की साधना करता है या म्रियमाण नैतिकता का आँचल पकड़ता है। रीतिकाव्यो के रचयिता इसके अपवाद नहीं थे।

९. जीवनदर्शन

रीतिकाव्य की मुख्य प्रवृत्ति थी शृंगारिकता। इसका विवेचन किया जा चुका है। इस शृंगारिकता में अपेक्षित गंभीरता का अभाव है क्योकि यह रसिकता से

[1] डा० नगेंद्र : रीतिकाव्य की भूमिका तथा देव और उनकी कविता, पूर्वार्ध, पृ० १८७

पोषित और अनेकोन्मुखता से आप्लावित है। इससे यह स्पष्ट है कि रीतिकालीन जीवनदर्शन एक सीमित घेरे में बँध गया था। इस सीमित घेरे के बाहर जाकर जब कभी रीतिकवि भक्ति और नीतिपरक उक्तियाँ कहने लगता है तो निश्चय ही वह घुटे हुए वातावरण से ऊबकर दूसरी हवा में साँस लेने का प्रयास करता है। पर कुछ ही देर बाद वह पुनः अपने घेरे में आ जाता है। वह अपने घेरे में ही जी सकता है। एक संकीर्ण सीमा के भीतर उदात्त और व्यापक जीवनदर्शन के लिये अवकाश कहाँ! जीवन के विविध उतार चढाव, उत्थान पतन, आशा आकांक्षा की स्फूर्तिदायिनी छवियों का चित्रण उसके लिये संभव नहीं था। इस व्यापकता के अभाव में उसमे गहराई आ सकती थी, पर वह भी प्रायः वहाँ नहीं मिलती। इस काल की विषयवस्तु तथा काव्यकर्ताओं की मनोवृत्ति मे ही कुछ ऐसा था कि उनमें हल्कापन आ जाना स्वाभाविक था। शृंगारिक चित्रण या प्रेमाभिव्यंजन अपने आपमें किसी प्रकार त्रुटिपूर्ण नहीं कहा जा सकता। पर सामंतीय रसिकता तथा संस्कृत की ह्रासोन्मुखी परंपरा के लदाव ने उन्हें बहुत कुछ रूढिवादी और चिंतनहीन बना दिया। जीवन के वैविध्य और गांभीर्य से किनारा कसकर वे स्वभावतः अलंकरणप्रिय हो गए। आखिर उस कमी की पूर्ति के लिये उन्हें किसी न किसी ओर तो ढलना ही पड़ता।

रूढिबद्धता को स्वीकार करने का मुख्य कारण था उनका अवैयक्तिक दृष्टिकोण। इसी काल के स्वच्छंदतावादी कवियों मे जो प्रकृत गंभीरता दिखाई पड़ती है उसके लिये उनकी स्वच्छंद मनोवृत्ति दायी है। जिस कामभावना (एरोटिक सेंटिमेंट) की अभिव्यक्ति उनके काव्य मे हुई है वह मात्र प्रवृत्ति होकर रह गई है। उसके द्वारा उत्पन्न गहन सामाजिक समस्याओं अथवा वैयक्तिक उलझनों तक उनकी पहुँच नहीं हो सकी है। इन दिशाओं का स्पर्श तो केवल वे ही कर सकते हैं जिनमे वैयक्तिकता की भावना विद्यमान हो। उसके अभाव मे रीतिकाव्यों मे चित्रित नरनारी का स्वतंत्र व्यक्तित्व कहीं नहीं दिखाई पड़ता—दीखती हैं केवल बँधी बँधाई उन्मादक चेष्टाओं तथा स्वभावज और गात्रज अलंकारों के वृत्त मे चक्कर काटती हुई खेल खिलौनों सी नारियाँ।

रीतिकाव्यों मे जो यांत्रिकता मिलती है वह तत्कालीन जीवन की यांत्रिकता है। बँधी बँधाई लीक न तो जीवन में छोड़ी जा सकती थी और न काव्य मे। संघर्ष की चेतना से विमुख व्यक्ति नवीन दिशाओं का संधान नहीं कर सकता। उस समय के राजा रईस तथा उनके आश्रित कवि, दोनों में यह चेतना नहीं दिखाई पड़ती : पर रमणीयता उनके जीवन और काव्य दोनों में थी। यह विश्राम का वह स्थल है जहाँ पर अवसन्न मन राहत का अनुभव करता है। इस दृष्टि से उन्होंने तत्कालीन समाज को अवश्य उपकृत किया है।

१०. काव्यरूप

काव्य के रूपतत्व और विषयवस्तु के संबंध में पश्चिम में काफी विवाद हुआ है। पर दोनों में कोई तात्विक अंतर नहीं है। काव्यसृजन की प्रक्रिया में रूप, विषयवस्तु, अभिव्यक्ति और शैली में ऐसी अभिन्नता स्थापित हो जाती है कि उनके पार्थक्य का लोप हो जाता है। रीतिकाव्यों मे जो विषयवस्तु अपनाई गई वह अपने आप एक विशिष्ट आकार में ढल गई। राजसभा मे बड़प्पन पाने के लिये, तत्कालीन राजारईसों की रसिकता को तुष्ट करने के लिये चमत्कारक्षम काव्यसृजन की आवश्यकता हुई थी। ऐसी स्थिति मे रीतिकवियों ने मुक्तकों को अपनाया।

'मुक्त' शब्द में 'कन्' प्रत्यय लगने से 'मुक्तक' शब्द बनता है। इसका अर्थ है संपूर्णतया अन्यनिरपेक्ष वस्तु। अन्यनिरपेक्ष होते हुए यह अपने आपमे पूर्ण होता है। इस प्रकार के काव्यरूप लघु लघु रसात्मक खंडदृश्यों के चित्रण मे अधिक सफल होते हैं। प्रबंध को मुक्तकों का उलटा कह सकते हैं। उनमें जीवन के अनेकानेक अनुबंधपूर्ण दृश्य अनुबद्ध होते हैं।

अग्निपुराण के मतानुसार चमत्कारक्षम एक ही श्लोक मुक्तक कहा जाता है—'मुक्तकं श्लोक, एवैकश्चमत्कारक्षमः सताम्।' 'चमत्कारक्षम' शब्द से यह भ्रम उत्पन्न हो सकता है कि क्या यह रसोत्पादन मे असमर्थ है। पर ध्वन्यालोक के टीकाकार अभिनवगुप्त ने मुक्तकों को रसचर्वणक्षम माना है। मुक्तक की चर्चा करते हुए उन्होंने लिखा है कि मुक्तक अन्य से अनालिंगित होता है। इसके अनुसार प्रबंध मे मध्य मे वर्तमान, पूर्वापर से अनाकांक्ष, अर्थवाला काव्य मुक्तक नहीं हो सकता। पर प्रबंध के बीच भी उसे माना जा सकता है। किंतु शर्त यह है कि वह पूर्वापरनिरपेक्ष हो और उससे रसचर्वणा होती हो[1]। यहाँ यह प्रश्न उत्पन्न हो सकता है कि प्रबंध के बीच आनेवाला छंद पूर्वापरनिरपेक्ष कैसे हो सकता है। यदि वह पूर्वापरनिरपेक्ष होगा तो प्रबंधविधान की दृष्टि से क्या वह अयोग्य नहीं सिद्ध होगा ? ऐसी स्थिति में ऐसे छंदों के लिये दुहरे गुणों की आवश्यकता होगी। वह उक्त प्रसंग मे पूर्वापरसापेक्ष होते हुए भी अलग से स्वयं मे पूर्ण और पूर्वापरनिरपेक्ष होगा। अब यह स्पष्ट हो गया कि मुक्तक एक छंदवाला अन्यनिरपेक्ष, पूर्वापरसंबंध-विरहित और रसोद्रेकक्षम होता है।

'हिंदी साहित्य का इतिहास' मे आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने लिखा है : 'मुक्तक

[1] मुक्तकमन्येनानालिंगितम्···। तेन स्वतन्त्रतया परिसमाप्तनिराकाङ्क्षार्थमपि प्रबधमध्यवर्ति न मुक्तमित्युच्यते। ···यदि वा प्रबन्धेपि मुक्तकस्यास्तु सद्भावः, पूर्वापर निरपेक्षणापि येन रसचर्वणा क्रियते तदेव मुक्तकम्। —तृतीयोद्योत लोचनम्।

में प्रबंध के समान रस की धारा नहीं रहती जिसमें कथाप्रसंग की परिस्थिति में अपने को भूला हुआ पाठक मग्न हो जाता है और हृदय में एक स्थायी प्रभाव ग्रहण करता है। इसमें रस के ऐसे छींटे पड़ते हैं जिनसे हृदयकलिका थोड़ी देर के लिये खिल उठती है। यदि प्रबंध काव्य विस्तृत वनस्थली है तो मुक्तक एक चुना हुआ गुलदस्ता है। इसी से वह सभासमाजों के लिये अधिक उपयुक्त होता है। उसमें उत्तरोत्तर अनेक दृश्यों द्वारा संघटित पूर्ण जीवन या उसके किसी एक पूर्ण अंग का प्रदर्शन नहीं होता, बल्कि कोई एक रमणीय खंडदृश्य इस प्रकार सामने ला दिया जाता है कि पाठक या श्रोता कुछ क्षणों के लिये मंत्रमुग्ध सा हो जाता है। इसके लिये कवि को मनोरम वस्तुओं या व्यापारों का एक छोटा सा स्तवक कल्पित करके उन्हें अत्यंत संक्षिप्त और सशक्त भाषा में प्रदर्शित करना पड़ता है[१]।'

उक्त उद्धरण में शुक्ल जी ने मुक्तकों की रसमयता का उल्लेख अवश्य किया है, पर उसे प्रबंधकाव्यों की स्थायी प्रभाव छोड़नेवाली रसमग्नता से नीचा ठहराया है। यद्यपि यह बात बहुत साफ नहीं कही गई है, फिर भी उससे ध्वनित यही होता है। मुक्तकों में रस की अविच्छिन्न धारा के दर्शन नहीं होते पर उसकी गहराई उनमें अवश्य मिलती है। इस गहराई को लक्ष्य करके ही अमरु के काव्य के संबंध में आचार्य आनंदवर्धन ने कहा कि 'अमरुककवेरेक श्लोकः प्रबंध शतायते'। क्या यही बात विद्यापति, सूरदास, घनआनंद-ऐसे कवियों के विषय में नहीं कही जा सकती? रीतिबद्ध कवियों में बिहारी के कुछ दोहों में रसोद्रेक क्षमता को पूरी गहराई में देखा जा सकता है। देव के अधिकाश छंदों में गहराई चाहे उतनी न मिले पर उनमें रसोद्बोधन की पूर्ण क्षमता है, इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। किंतु रीतिकाव्यों की मुख्य विशेषता उनके रसोद्रेकक्षम होने में उतनी नहीं है जितनी चमत्कारक्षम होने में।

इस काल के मुक्तकों में अनेकानेक छंदों के प्रयोग किए गए, यहाँ तक कि चित्रकाव्यों को भी नहीं छोड़ा गया। पर ये छंद छंद के लिये लिखे गए हैं। न तो वे चमत्कारक्षम कहे जा सकते हैं और न रसोद्रेकक्षम। अतः उनकी गणना मुक्तकों में नहीं करनी चाहिए। ऐसी स्थिति में मुक्तकों के लक्षणों को दृष्टि में रखते हुए इस काल में मुख्यतः जो तीन छंद—दोहा, सवैया और कवित्त—प्रयुक्त हुए हैं उन्हीं की विवेचना अपेक्षित है।

(१) **दोहा**—दोहा छंद के प्रथम दर्शन प्राकृतपैंगलम् में होते हैं। वहाँ पर इसका लक्षण देते हुए लिखा गया है :

[१] हिंदी साहित्य का इतिहास, नागरीप्रचारिणी सभा, १९९९ संस्करण, पृ० २४७।

तेरह मत्ता पढम पअ पुणु एआरह देह।
पुणु तेरह एआरहहि दोहा लक्खण एह॥
—प्रा० पैं०, १३८।७८

अपभ्रंश का तो यह प्रसिद्ध छंद है। 'गाहा' कहने से जैसे प्राकृत का बोध होता है वैसे ही 'दूहा' कहने से अपभ्रंश का। बाद में यह हिंदी का अत्यंत लोकप्रिय छंद हो गया और इसमे प्रभूत रचनाएँ होने लगीं।

दोहा अर्धसममात्रिक छंद है। इसके पहले तथा तीसरे चरणों में १३, १३ और दूसरे तथा चौथे चरणों में ११, ११ मात्राएँ होती हैं। सामान्यतः दोहे का यही लक्षण है। व्रजभाषा के प्रकांड पंडित जगन्नाथदास 'रत्नाकर' ने दोहे के कई लक्षणों को उद्धृत करते हुए उनमें अतिव्याप्ति अथवा अव्याप्ति दोष दिखाया है। उन्होंने अपना लक्षण देते हुए लिखा है :

आठ तीन द्वै प्रथम पद दूजैं पद वसु ताल।
बसु में त्रय पर द्वै न गुरु यह दोहा की चाल[1]॥

इसका अभिप्राय यह है कि प्रथम तथा तृतीय चरण में ८, ३, २ और ८, ऽ। पर मात्राएँ अलग हो जानी चाहिए अर्थात् ८वी ९वी से अथवा ११वी १२वीं से मिलकर गुरु न हो जाय। पर ८. ३ इत्यादि पर शब्दों का भी पृथक् हो जाना आवश्यक नहीं है। मात्राओं की बाँट का क्रम इस प्रकार होगा—८+३+२, ८+ (ऽ।)। रत्नाकर जी के इन नियमों के मूलाधार संभवतः बिहारी के दोहे हैं। अन्य श्रेष्ठ कवियों के दोहों को उक्त नियम की खराद पर देखा जा सकता है।

मात्रा संबंधी उपर्युक्त विशेषताएँ बिहारी और मतिराम दोनो के दोहों में मिलेंगी। पर इनके अतिरिक्त दोहों की सफलता कवि की सामासिक क्षमता पर निर्भर है। जो कवि समास पद्धति के द्वारा भावाभिव्यंजना में जितना ही कुशल होगा उसके दोहे भी उतने ही उत्कृष्ट होंगे। दोहे की इस विशेषता के कारण रहीम ने कहा है :

दीरघ दोहा अरथ के, आखर थोरे आहि।
ज्यों रहीम नट कुंडली, सिमिटि कूदि चलि जाहिं॥

थोड़े अक्षरों मे अधिक अर्थ भर देना दोहा की विशेषता है। नट जिस सफाई के साथ अपनी कुंडली से सिमटकर निकल आता है उसी प्रकार दोहों की शब्दयोजना में अत्यधिक सतर्कता अपेक्षित है।

[1] कविवर बिहारी, प्र० सं०, पृ० १३

बिहारी के दोहों में यह सतर्कता सर्वत्र देखी जा सकती है। बारीक से बारीक चेष्टाओं, अनेकानेक अनुभावों, बहुत से अलंकारों को स्थान स्थान पर बिहारी ने इस प्रकार से बाँधा है कि उनमें किसी तरह की विकृति अथवा अस्पष्टता नहीं आ पाई है। किंतु अन्य कवियों में वह सामर्थ्य नहीं था कि इस क्षेत्र में वे बिहारी से होड़ लेते। रीतिकाव्यों के दोहा क्षेत्र में इनका स्थान अद्वितीय है।

(२) सवैया—उपर्युक्त सामग्री के अभाव में सवैया के प्रचलन का काल-निर्णय करना बहुत ही कठिन है। पर इतना तो कहा ही जा सकता है कि यह बहुत पुराना छंद नहीं है। इसे डा० नगेंद्र ने सपादिका का अपभ्रंश माना है। उनका कहना है कि पहले भाट लोग सवैया की अंतिम पंक्ति को दो बार—सबसे पूर्व और चौथे चरण के बाद—पढ़ते थे। इस प्रकार इसमें चार के स्थान पर पाँच पंक्तियाँ नियमपूर्वक पढ़ी जाती थीं। सपाद (सवाए) रूप में पढ़े जाने के कारण ही इसका नाम सवैया (सपादिका) पड़ गया[१]।

संस्कृत में यह छंद नहीं मिलता, पर प्राकृत साहित्य में इसका विरल प्रयोग दिखाई पड़ता है। प्राकृतपैंगलम् में (पृ० ५७५-७६) ८ भगणवाले किरीट और ८ सगणवाले दुर्मिल के लक्षण उदाहरण दिए गए हैं।

(१) **बत्तिस, मत्त पअप्पस लेक्खहु, कह भआर किरीट बिसेसहु।**

(२) **तसु तूणउ सुन्दर किज्जिअ मंदर ठावइ बाणइ सेस धणू।**

यद्यपि प्राकृतपैंगलम् के रचनाकाल के संबंध में विद्वानों में मतैक्य नहीं है, फिर भी साधारणतः यह संवत् १३०० के आसपास की रचना मानी जाती है। इसलिये हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि इस छंद का प्रचलन सं० १३०० के पूर्व ही हो चुका होगा।

जहाँ तक हिंदी में सवैया छंद के प्रयोग का संबंध है, इसका कालनिर्णय और भी कठिन है। वीरगाथाकाल के ग्रंथों में इसका प्रयोग नहीं दिखाई देता। जगनिक के आल्हखंड में कुछ सवैए प्रयुक्त हुए हैं। पर आल्हखंड का जो रूप आज प्राप्त है वह सर्वथा अप्रामाणिक है। शताब्दियों तक यह चारणों द्वारा मौखिक रूप में गाया जाता रहा है, इसलिये समय समय पर इसमें काफी परिवर्तन परिवर्धन भी हुआ है। इसमें सवैया को कब जोड़ दिया गया, कहा नहीं जा सकता। भाषा की दृष्टि से यह काफी बाद की रचना मालूम पड़ती है।

पहले पहले सवैए का प्रयोग अकबर, गंग, टोडरमल, नरोत्तमदास, तुलसी-

[१] डा० नगेंद्र : रीतिकाव्य की भूमिका तथा देव और उनकी कविता, उत्तरार्ध, पृ० २३६

दास आदि की रचनाओं में पाया जाता है। किंतु इनकी भाषा और शैली से ज्ञात होता है कि यह किसी पूर्ववर्ती परंपरा का अगला कदम है। ऐसा प्रतीत होता है कि सवैया की जो परंपरा भाटों और चारणों में मौखिक रूप से चली आ रही थी, इन कवियों ने उन्हीं को ग्रहण किया। फिर तो रीतिकाव्यों का यह अपना छंद हो गया।

(अ) भेद—सवैया में बाईस वर्णों से लेकर छब्बीस अक्षर तक होते हैं। दास ने छंदार्णव पिंगल में 'यकइस ते छब्बीस लगि वरण सवैया साजु' लिखकर इक्कीस अक्षरों तक के छंदों को भी सवैया में परिगणित कर लिया है। आखिर दास ने २१ वर्णों का सवैया क्यों माना ? इसे आचार्यत्व का चमत्कार ही समझना चाहिए। ७ भगण के मदिरा छंद का उदाहरण देकर उन्होंने अपने मत को पुष्ट किया है। पर मदिरा का एक भेद और मानकर (७ भ + ऽ) उन्होंने परंपरा का पालन भी कर लिया है। इसमें एक ही गण की बहुलता होती है। दास के ही शब्दों में : 'इक इक गण बाहुल्य करि वरणयो पन्नग राज'। प्रत्येक चरण के अंत में जोड़े जानेवाले लघुगुरु के विचार से इसके अनेक भेद होते हैं। भानु जी ने छंदप्रभाकर मे मदिरा, मंदारमाला, चकोर, मत्तगयंद, सुमुखी, गंगोदक (लक्ष्मी, खंजन), किरीट, मुक्तहरा, दुर्मिल, वाम, आभार, अरसात, सुंदरी और सुख, इसके चौदह भेद किए हैं।

देव ने शब्दरसायन में सवैया के १२ भेद किए हैं—८ भेद प्राचीन मतानुसार और ४ भेद नवीन मतानुसार। दास ने देव के ग्यारह भेदों का तो उल्लेख किया है, पर सुधा (८ स) नामक भेद को छोड़ दिया है। इनके अतिरिक्त उन्होंने भुजंग (८ य), लक्ष्मी (८ र) और आभार (८ त), इन तीन भेदों के नाम और गिनाए हैं।

इस प्रकार विभिन्न गणों और लघुगुरु के आधार पर सवैयों की संख्या काफी आगे बढ़ाई जा सकती है। जिन भेदों का उल्लेख देव और दास ने किया है उनमें से भी कुछ ही लोकप्रिय और बहुप्रयुक्त रहे हैं। अधिकाश भेद तो लक्षण उदाहरण की परिधि के भीतर ही सिमटे रह गए।

कवियों का सर्वाधिक प्रिय सवैया मत्तगयंद रहा है। मत्तगयंद के बाद दुर्मिल, किरीट और सुमुखी का नाम लिया जायगा। अधिकाश कवियों ने इन्हीं छंदों का अधिक प्रयोग किया है।

मत्तगयंद में ७ भगण और दो गुरु होते हैं। अंत के दो गुरुओं के कारण ध्वन्यावर्तों की पूरी प्रभावान्विति मत्त गयंद सी झूम उठती है। इसलिये वातावरण-निर्माण में यह बहुत ही शक्तिशाली सिद्ध होता है। कदाचित् यही कारण है कि यह कवियों का अत्यधिक प्रिय छंद बन गया। कुछ उदाहरण देखिए :

(१) बोलि उठ्यो पपिहा कहुँ 'पीउ' सु देखिबे को सुनिकै उठि धाई।
मोर पुकारि उठे चहुँ ओर ते देव घटा घिर की चहुँ छाई।
भूलि गई सिव को तन की सुधि देखि उठै बन भूमि सुहाई।
साँसनि सों भरि आयो गरो अरु आँसुन सों अँखियाँ भरि आई॥
—देव

(२) चारहुँ ओर तें पौन-झकोर, झकोरनि घोर घटा घहरानी।
ऐसे समय 'पद्माकर' काहु की आवति पीत पटी फहरानी।
गुंज की माल गोपाल गरे ब्रजबाल बिलोकि थकी थहरानी।
नीरज तें कढ़ि नीरनदी छबि छीजत छीरज पै छहरानी॥
—पद्माकर

'घहरानी', 'फहरानी', 'थहरानी' और 'छहरानी' के अंतिम दो गुरुओं ने स्वर को प्रलंबित कर वातावरण में ठहराव और गांभीर्य भर दिया है। भगण के सात झकोरों के बाद गुरुओं ने वातावरण को धीरे धीरे फैला सा दिया है। अब ८ भगणवाले किरीट का एक उदाहरण देखिए :

साँवरो झीन सो सारी महीन सो पौन नितंबन भार उठै खचि।
दास सुबास सिंगार सिंगारति बोझनि ऊपर बोझ उठै मचि।
स्वेद चलै मुख चंदनि च्वै डग द्वैक धरे महि फूलनि सो सचि।
जात है पंकजबारि बयारि सों, वा सुकुमारि को लंक लला लचि॥
—दास

जहाँ मत्तगयंद में सात नियमित और समान ध्वन्यावर्त बनते हैं वहाँ किरीट में आठ। पर मत्तगयंद मे अंत के दो गुरुओं के विधान से ध्वन्यावर्तों की गति बदल जाती है। इस विशेष प्रसंग मे किरीट ही उपयुक्त छंद है। प्रत्येक चरण का अंतिम भगण झट से लय को समाप्त कर देता है और वहीं पर साँस झटके से टूट जाती है। इसमें नायिका के जिस अभिजात सौकुमार्य का चित्रण किया गया है वह इसी छंद में बँध सकता था। 'खचि' से तुरत लदे हुए भार के बोझ, 'मचि' से बोझ के शीघ्रतापूर्वक एकत्रीकरण एवं 'लचि' से लचकने की त्वरापूर्ण क्रिया का भावात्मक बोध हो जाता है।

(आ) सामान्य विशेषताएँ—सवैया छंद का विश्लेषण करने पर यह दिखाई पड़ता है कि इसकी सामान्य विशेषताएँ भी हैं जो प्रायः सभी कवियो में पाई जाती हैं।

प्रारंभ में ही कहा जा चुका है कि यह मुख्यतः पठंत छंद है। ऐसी स्थिति में इसके शिल्प में शब्दार्थों पर उतना ध्यान नहीं दिया गया है जितना ध्वन्यात्मक

लहरों को कोमल और श्रुतिसुखद बनाने पर। ऐसा करने के लिये कवियों ने मुख्यतः अनुप्रास, छेक, वृत्ति, अंत्य और यमक का अधिक प्रयोग किया है।

यहाँ पर ध्यान देने की बात यह है कि उपर्युक्त शब्दालंकारों की योजना नादसौंदर्य के लिये ही की गई है, चमत्कारप्रदर्शन के लिये नहीं। रीतिकाल के प्रतिनिधि कवियों में देव और पद्माकर में इस प्रकार की प्रवृत्ति कुछ अधिक है। पर इन कवियों में भी ऐसे चामत्कारिक स्थल बहुत थोड़े ही हैं।

ध्वन्यात्मक लहरों को चटुल और संयमित बनाने के लिये चरणों के अंतर्गत ही एक प्रकार के तुकों की व्यवस्था की गई है जिससे लहरों में गति आ जाती है और बल खाती हुई लहरों का सौंदर्य द्विगुणित हो जाता है :

(१) कंप छुट्यो, घनस्वेद बढ़्यो तनु रोम उठ्यो, अँखियाँ भरि आईं।
—मतिराम

(२) रँगराती हरी हहराती लता झुकि जाति समीर के झूकनि सों।
—देव

इनमें अंत्यानुप्रासों द्वारा ध्वन्यात्मक लहरों में तिहरा बल डालकर नाद-सौंदर्य को और भी चटकीला बना दिया गया है। इस तरह की प्रवृत्ति देव में सबसे अधिक है। इसीलिये जगह जगह वे इसके चक्कर में बुरी तरह उलझ गए हैं :

बढ़्यो नभ चंद बढ़्यो जु अनंद कढ़्यो सुख कंद सु देव दगंचल।
तप्यो अति अंग जप्यो रति रंग थप्यो पति संग चप्यो चित चंचल।
हियो कर मैन लियो सर मैन दियो भर मैन सम्हारि कै संचल।
मदै बममाद गदै गद नाद बढ़ै रसबाद ददै मुख अंचल॥

इस नादसौंदर्य का प्रत्येक चरण में निर्वाह करने के कारण कवि का सारा प्रयास कृत्रिम और अप्रभावोत्पादक हो गया है। मतिराम और पद्माकर में इनकी दोहरी लपेटें पाई जाती हैं जो पूरे प्रवाह में अंतर्भुक्त हो जाने के कारण अभिन्न हो गई हैं।

देव के छंदों की चर्चा करते हुए डा० नगेंद्र ने लिखा है : 'सवैए की लय में वैचित्र्य लाने के लिये अन्य प्रयोग हैं यति में परिवर्तन तथा गुरु मात्राओं का लघु उच्चारण, जो स्वभावतः किसी नियम में न बँधकर भावाभिव्यक्ति के अनुसार स्वतंत्र हैं। यह उच्चारण वैचित्र्य का कारण इसलिये है कि दीर्घ को लघु चाहे कितनी ही सावधानी से पढ़ा जाय, उसका उच्चारण शुद्ध लघु की अपेक्षा कुछ दीर्घ अर्थात् मध्यम ही रहता है। उधर गुरु अक्षरों के लघु उच्चारण से यह वैचित्र्य

और भी बढ़ जाता है[1] ।' उन्होंने देव का एक सवैया उद्धृत कर उसके तीसरे चरण में इस वैचित्र्य को देखा है । उनका कहना है कि भावाभिव्यक्ति के अनुसार यह अपने आप हो गया है ।

अब प्रश्न उठता है कि क्या इस प्रकार का वैचित्र्य और कवियों में भी दिखाई देता है ? क्या यह सवैया के रूपविन्यास के मंडन में योग देता है ? क्या लय की यह विरूपता भावाभिव्यक्ति की आवश्यक माँग है ?

सामान्यतः ब्रजभाषा की अपनी प्रकृति के कारण सर्वत्र शुद्ध अभीष्ट गणों का प्रयोग संभव नहीं है । अतः प्रसंगानुसार गुरु का उच्चारण लघु के रूप में किया जाता है । यह नियम सभी सवैयों के साथ समान रूप से लागू है । पर डा० नगेंद्र ने देव के एक सवैए का उद्धरण देते हुए यह बतलाया है कि प्रथम कुछ चरणों में तो अभीप्सित सवैए का लय ठीक चल रहा है किंतु बाद के किसी चरण में गुरुओं के प्रयोगबाहुल्य से गुरु को लघु न पढकर मध्यम ही पढना पड़ता है ।

मतिराम और पद्माकर आदि मे इस प्रकार का लयवैचित्र्य नहीं दिखाई देता । मतिराम की सरलता और संयम के कारण छंद की लय जैसे अपने आप मिल गई है । पद्माकर के सवैयों का स्वच्छ विधान देखते हुए लयगत यह विचित्रता उनमे भी नहीं पाई जाती । एक ही सवैए के एक चरण की लय अन्य चरणों की लय से भिन्न होकर उसके शिल्पविधान को त्रुटिपूर्ण बना देती है । लगता है, देव इस संबंध में बहुत सावधान नहीं थे । इसका मुख्य कारण यह प्रतीत होता है कि उनका भावोद्वेलन सवैया के बंधनों को सर्वथा स्वीकार नहीं कर सका है ।

किंतु इतना तो मानना ही होगा कि इन कवियों ने सवैए को माँजकर उसे चरमोत्कर्ष पर पहुँचा दिया । तुलसी के सवैयों मे भाषा का जो अनगढपन और अपेक्षित प्रवाहमयता का अभाव दिखाई पड़ता है वह रीतिकाव्य के सवैयों में नहीं मिलेगा । अब भाषा मे एक प्रकार की परिनिष्ठता आ गई और वह भावाभिव्यक्ति में अधिक सक्षम और प्रवाहमयता मे अधिक सामर्थ्यवान हो गई । इसके साथ ही सवैया के बंधनों के कारण देव जैसे कवियों ने भाषा को तोड़ा मरोड़ा भी । पर यह त्रुटि एक सीमा तक ही होकर रह गई ।

तुलसी तथा उनके समकालीन अन्य कवियों के सवैयों के ध्वन्यावर्त संगीत की वैसी लहरें नहीं उत्पन्न कर सकते जैसी रीतिकाव्यों के सवैए कर सकते हैं । अपनी इस क्षमता के कारण इनमे रागतत्व का जो संनिवेश हुआ है उससे इनमे गहरी भावानुभूति जागरित करने की शक्ति अपने आप आ गई है ।

[1] डा० नगेंद्र : रीतिकाव्य की भूमिका तथा देव और उनकी कविता, उत्तरार्ध, प्र० सं०, पृ० २५२

(३) कवित्त (घनाक्षरी)—सवैया कवित्त जैसे छंदयुग्म का आविर्भाव कदाचित् एक ही समय हुआ है। सवैया की भाँति कवित्त का प्रयोग भी पहले पहले अकबर के समकालीन कवियों—नरोत्तमदास, गंग, बीरबल, तुलसीदास आदि—की रचनाओं में मिलता है। इन कवियों के साफ सुथरे प्रयोगों से स्पष्ट झलकता है कि इस काल के पहले से ही इसकी परंपरा चली आ रही थी। केशव और सेनापति ने—विशेष रूप से सेनापति ने—कवित्त को विकसित किया। सवैया की भाँति रीति-काल में कवित्त भी अपने उत्कर्ष की पूरी ऊँचाई पर जा पहुँचा।

कुछ विद्वानों ने पयार छंद को इसका मूल प्रेरक छंद माना है। बँगला के इस छंद में आठवें और चौदहवें अक्षर पर यति होती है। पर यह अनुमान ही अनुमान मालूम पड़ता है। प्रमाण के अभाव में इसे स्वीकार नहीं किया जा सकता। क्या नरोत्तमदास और तुलसी ने बँगला के पयार छंद से प्रेरणा ली होगी? नरोत्तम-दास और तुलसी ही क्यों, उनके पहले चारणों ने भी क्या पयार छंद को देखकर उसके आधार पर इसे गढ लिया होगा? पयार छंद को कवित्त का मूल प्रेरक छंद ठहराना उस मनोवृत्ति का द्योतक है जो हर बात के लिये दूसरों का मुख देखने की अभ्यासी हो गई है। वस्तुतः यह हिंदी का अपना मौलिक छंद है जो इसी की मिट्टी में जन्मा और इसी के खादपानी से पुष्ट भी हुआ है। इस छंद के 'आर्ट आव् रीडिंग' की प्रशंसा निराला कर चुके हैं। राजदरबारों में प्रशस्तिपाठ के लिये इस छंद से अधिक उपयुक्त दूसरा छंद नहीं दिखाई पड़ता। नरोत्तमदास, गंग आदि ने इस परंपरा को ही आगे बढाया है।

कवित्त या घनाक्षरी दंडक के अंतर्गत रखा गया है। जिस पद्य के प्रत्येक चरण में वर्णों की संख्या छब्बीस से अधिक हो उसे दंडक कहते हैं। दंडक का अर्थ है दंडकर्ता। इसके पढने से साँसों में एक प्रकार का भराव और फैलाव आता है। इसी से इसका नाम दंडक रखा गया। दंडक के अन्य भेद गणों से या गुरु लघु से बँधे रहते हैं पर कवित्त या घनाक्षरी में इस तरह का कोई बंधन नहीं है। इसमें केवल अक्षरों का विधान है, गणों का नहीं। इसलिये इसे मुक्तक की संज्ञा दी गई है।

मुक्तकों के कई भेद हैं पर मनहर और रूपघनाक्षरी का प्रचलन ही अधिक हो सका है। मनहर कवित्त में ८, ८, ८, ७ पर यति होती है और इस तरह प्रत्येक चरण में ३१ अक्षर होते हैं। रूपघनाक्षरी में ८, ८, ८, ८ पर यति होती है और कुल मिलाकर एक चरण में ३२ अक्षर होते हैं। मनहर के चरणांत में गुरु और रूपघनाक्षरी के चरणांत में लघु होना आवश्यक है। पर इन यतियों का पूर्णतः निर्वाह करना बड़ा कठिन हो जाता है। इसलिये सामान्यतः मनहर में १६, १५ और रूपघनाक्षरी में १६, १६ पर विराम की योजना की गई है।

रीतिकाव्यों में मनहर कवित्त का प्रयोगबाहुल्य दिखाई देता है। पर साधारणतः ८, ८, ८, ७ की यति के संकीर्ण नियम का पालन इन कवित्तों में नहीं हुआ है।

उदाहरण के लिये निम्नलिखित कुछ कवित्तों को देखा जा सकता है :

(१) आई ऋतु पावस अकास आठौ दिसानि मैं,
सोहत स्वरूप जलधरन की भीर को।
—मतिराम

(२) रीझि रीझि रहसि रहसि हँसि हँसि उठे,
साँसें भरि आँसू भरि कहति दई दई।
—देव

(३) लाल कर चरण रदन छद नख लाल,
मोतिन की रदन रही है छबि छाइकै।
—दास

(४) सोसनी दुकूलनि दुराए रूपरोसनी है,
बूटेदार घाँघरी की घूमिन घुमाइ कै।
—पद्माकर

भिखारीदास ने घनाक्षरी का लक्षणनिरूपण करते हुए लिखा है :

'बसु बसु बसु मुनि जाति बरन, घनाक्षरी यकतीस' पर उनका उदाहरण इन नियमों में नहीं बँध सका है :

अबही ते 'दास' मेरी, नजर परी है वह,
तबही ते देखिबे की भूख सरसति है।
होन लाग्यो बाहिर **कलेस को कलाप उर-**
अंतर की ताप छिन छी छिन नसति है।
चलदल पात से उदर पर राजी रोम।
राजी की बनक मेरे मन में बसति है।
सिंगार में स्याही सों लिखी है नीकी भाँति,
काहू मानो जंत्रपाँति घनअक्षरी लसति है।
—छंदार्णव

ऊपर बड़े टाइपों में दिए गए अंश दास के लक्षणनिरूपण पर स्वयं व्यंग्य हैं।

जहाँ तक १६ और १५ पर विराम का संबंध है, मतिराम और पद्माकर के कवित्तों में काफी सफाई दिखाई देगी, किंतु उन लोगों से भी सर्वत्र इसका निर्वाह नहीं हो सका है :

(१) कहा चतुराई ठानियत प्रानप्यारी, (१४ पर यति)
तेरौ मान जानियत रूखी मुख-मुसकानि सों ।
—मतिराम

(२) देखि दग द्वै ही सों न नेकहु अचैये (१४ पर यति)
इन ऐसे झुकाझुक में झपाक झखियाँ दई ।

(३) मेरी कटि मेरी भट्ट कौन धौं चुराई ? (१४ पर यति)
तेरे कुचनि चुराई, कै नितंबनि चुराई है ।
—पद्माकर

देव और दास आदि में तो इस प्रकार के यतिभंग दोष अपेक्षाकृत अधिक संख्या में दिखाई पड़ेंगे, फिर भी इन सभी कवियों के कवित्त साधारणतः लयहीन नहीं हो पाए हैं । इस संबंध में जिस सम-विषम-व्यवस्था का उल्लेख भानु जी ने अपने छंदप्रभाकर मे किया है वह सामान्यतः सभी प्रतिनिधि कवियो के कवित्तो मे दिखाई देती है । उन्होने लिखा है—यदि कहीं विषम प्रयोग आ जाय तो उसके आगे एक विषम प्रयोग और रख देने से उसकी विषमता नष्ट होकर समता प्राप्त हो जाती हे और वे भी कर्णमधुर हो जाते हैं । भानु जी ने इस नियम का उल्लेख छंद की लय को दृष्टि मे रखते हुए किया है । डा० नगेंद्र का कहना है कि देव ने इन नियमो का बड़ी सूक्ष्म रीति से पालन किया है । यदि देव ने इन नियमों का पालन बड़ी सूक्ष्मता से किया है तो मतिराम और पद्माकर के संबंध मे भी यही कहा जा सकता है । लेकिन किसी कवि ने 'सम-विषम-व्यवस्था को ध्यान में रखकर कवित्त नहीं लिखे हैं ।' कवित्त इनका मँजा हुआ छंद था, उसकी लयात्मकता की लपेट में भानु जी की व्यवस्था अपने आप आ जाती है । इसके लिये उन्हे किसी तरह का आयास नहीं करना पड़ा है ।

सवैया की अपेक्षा कवित्त का बंधन शिथिल है । इसलिये जिन विशेषताओं का उल्लेख सवैया के प्रसंग में किया गया है कवित्तों में उनका व्यापक प्रयोग हुआ है । अनुप्रास को ही लीजिए । छेकानुप्रास का प्रचुर प्रयोग तो सवैया मे किया गया है किंतु कवित्तो में वृत्यनुप्रास की संख्या भी काफी मिलेगी । गणों के प्रतिबंध के कारण सवैया में वृत्यनुप्रास का स्वच्छंद प्रयोग कठिन है । यदि चमत्कार उत्पन्न करने के लिये ये प्रयोग नहीं किए गए हैं तो कवित्त के स्फीतमंथर प्रवाह के सौंदर्य में इनका योग सार्थक समझना चाहिए । यों तो मतिराम, कवींद्र, सोमनाथ आदि सभी कवियों में यह प्रवृत्ति पाई जाती है, पर देव और पद्माकर की चित्तवृत्ति इसमें अधिक रमी है :

(१) भारे भल धरनि अँध्यारे धरनी धरनि,
धाराधर धावत धुमारे धुरवानि के । —देव

(२) चाँदनी के चौसर चहूँघा चौक चाँदनी में,
चाँदनी सी आई चंद चाँदनी चितै चितै ॥
—पद्माकर

कहना न होगा कि देव को वृत्यनुप्रास द्वारा वातावरण की मनोरम झाँकी प्रस्तुत करने में काफी सहायता मिली है। यद्यपि पद्माकर का पलड़ा चमत्कार-प्रदर्शन की ओर झुकता हुआ प्रतीत होता है, तथापि अंतिम पंक्ति ने उसे बहुत कुछ संतुलित कर दिया है।

चरणों के भीतर अंत्यानुप्रासों की योजना इस छंद की प्रमुख विशेषता है। इससे कवित्त की लय मे संगीत तत्व का समावेश हो जाता है और वह अधिक श्रुतिसुखद प्रतीत होता है। इस योजना के सबसे बडे समर्थक भी देव, दास और पद्माकर ही हैं :

(१) सूनौ कै परम पद, ऊनौ कै अनंत मद,
नूनो कै नदीस नद इंदिरा झुरै परी।
—देव

(२) गति नर नारिन की पंछी देह धारिन की,
तृन के अहारिन की एकै बार बंधई।
— दास

(३) बूझैंगी चबैया ? तब कैहौं कहा दैया ? इत
पारिगो को मैया ? मेरी सेज पै कन्हैया को।
—पद्माकर

कवित्तों को अलंकृत करने के लिये यमक और वीप्सा का भी सहारा लिया गया है। यमकों का प्रयोग शुद्ध चमत्कारप्रदर्शन की दृष्टि से किया गया है। इससे न तो कवित्तों का वाह्य सौंदर्य ही बढता है और न आतरिक श्रीवृद्धि ही होती है। वीप्सा का बहुत ही सार्थक प्रयोग देव ने किया है। वीप्सा मे एक शब्द का दोहरा प्रयोग होता है। इससे लय में गाभीर्य के साथ ही एक विचित्र प्रकार के संगीत का भी समावेश हो जाता है :

रीझि रीझि रहसि रहसि हँसि हँसि उठे,
साँसें भरि आँसू भरि कहति दई दई।
—देव

जहाँ तक कवित्त छंद के विकास में इन कवियों के योग का संबंध है, उसका विवेचन करने के लिये कुछ कवियो के छंदों को देखना होगा :

कंत ! सुनु मंत, कुल अंत किए अंत हानि,
हातो कीजै हीय तें भरोसो भुज बीस को।
तौलौं मिलु बेगि जौलौं चाप न चढ़ायो राम,
रोषि बान काढ़्यो न दलैया दससीस को।

—तुलसी

इसके बाद रीतिबद्ध कवियों के भी दो उदाहरण देखिए :

बिरह बिथा ते हौं ब्याकुल भई हौं 'देव',
चपला चमकि चित्त चिनगी डढ़ावै ना।
चातक न गावै, मोर सोर ना मचावै, घन
घुमड़ि न छावै, जौ लौं लाल घर आवै ना॥

—देव

कैसे धरौं धीर बीर ! त्रिबिधि समीरै तन,
तरजि गई ती, फेरि तरजन लागी री।
घुमड़ि घमंड घटा घन की घनेरी अबै,
गरजि गई ती, फेरि गरजन लागी री॥

—पद्माकर

स्पष्ट है कि कोमलकांत पदावली की दृष्टि से 'देव' और 'पद्माकर' ने तुलसी को पीछे छोड़ दिया है। भाषा की जो मसृणता और लचकीलापन देव और पद्माकर में दिखाई देता है वह तुलसी मे नहीं है। तुलसी के कवित्त में भावोद्वेलन की वह क्षमता नहीं है जो देव और पद्माकर के कवित्तो मे है। तुलसी का कवित्त बहुत कुछ वर्णनात्मक होकर रह गया है जबकि देव और पद्माकर मे वातावरणनिर्माण और मूर्तियोजना की गहरी क्षमता दिखाई देती है।

११. अभिव्यंजना पद्धति

(१) शैली—विषयवस्तु तथा उसकी अभिव्यंजना प्रणाली में कोई तात्विक भेद नहीं है, क्योंकि कवि की सर्जनात्मक प्रक्रिया मे दोनों क्षीरनीर के मिश्रण की भाँति अभिन्न हो जाती हैं। पर एक ही विषय के संबंध में भिन्न भिन्न व्यक्तियों को भिन्न भिन्न प्रकार की अनुभूति होती है, इसलिये उनकी अभिव्यंजना की पद्धति मे वैयक्तिक विशेषताओं का संनिविष्ट हो जाना स्वाभाविक है। वैयक्तिक विशेषताओं के अतिरिक्त कालविशेष में प्रायः सभी कवियों में अभिव्यक्तिगत कुछ सामान्य विशेषताएँ भी मिलती हैं जो उस युगविशेष के वैशिष्ट्य की द्योतक होती हैं।

शैली एक प्रकार की अभिव्यंजना प्रणाली है जिसमें रचयिता का संपूर्ण व्यक्तित्व—चेतन-अवचेतन—प्रतिफलित होता है। कवि अपनी अनुभूतियों को रूप

देने के लिये कभी सहज भाव से, कभी सचेत होकर शब्दों, विशेषणों, मुहावरों, लोकोक्तियों आदि का चुनाव करता है और उनकी नियोजना इस तरह करता है कि अपेक्षित प्रभाव उत्पन्न करने में वह समर्थ हो सके। इनके अतिरिक्त भावों को मूर्त करने के अभिप्राय से उसे अनेक प्रकार के चित्रों की भी योजना करनी पड़ती है। इन चित्रों के विश्लेषण से शैली की जो विशेषताएँ प्रकट होती हैं उनके आधार पर कवियों की वैयक्तिक रुचि तथा तत्कालीन परिवेश के प्रभाव को बहुत ही अच्छी तरह परखा जा सकता है।

अतः रीतिकाव्यों की शैलीगत विशेषताओं का उद्‌घाटन करने के लिये पहले हम शब्दों का विवेचन करना चाहेंगे, जिससे इस काल का थोड़ा बहुत वैशिष्ट्य स्पष्ट किया जा सके। विशेषणों, मुहावरों, लोकोक्तियों तथा चित्रयोजना के विवेचन द्वारा कवि की वैयक्तिक रुचि तथा परिवेशगत प्रभाव, दोनों की मीमांसा स्वतः हो जायगी। अलंकृत पदयोजना इस काल की शैली की एक प्रमुख विशेषता है। इसलिये इसपर भी विचार कर लेना आवश्यक होगा। अभिव्यंजना पद्धति या शैली का माध्यम भाषा है। अतएव अंत में उसकी विवेचना भी अनिवार्य है।

(अ) शब्द : नए संबंध और नवीन अर्थवत्ता—रीतिकालीन काव्यों में प्रयुक्त शब्दों का अध्ययन दो दृष्टियों से किया जायगा—एक तो नए संबंधों (असोशिएशंस) के कारण नई अर्थवत्ता ग्रहण करनेवाले शब्दों की दृष्टि से, दूसरे नादयोजना द्वारा अपेक्षित परिवेशनिर्माण की दृष्टि से।

यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो एक कालविशेष में प्रयुक्त होनेवाले कुछ शब्द दूसरे काल में नए संबंधों में प्रयुक्त होने के कारण बहुत कुछ अपना अर्थ बदल देते हैं। फिर तो वे इस काल मे उसी बदले हुए अर्थ मे ही बराबर ग्रहण होते हैं क्योंकि उनकी परिवर्तित अर्थवत्ता और उनका चुनाव बहुत कुछ सामाजिक जीवन में उनके चलन (करेंसी) पर निर्भर होता है।

रीतिकाल में, विशेषतः रीतिबद्ध कवियों की रचनाओं में, राधाकृष्ण का प्रचुर प्रयोग हुआ है। पर क्या रीतिकाव्यों के राधाकृष्ण मे वही अर्थवत्ता है जो भक्तिकाव्यों के राधाकृष्ण में पाई जाती है? क्या रीतिकवियों की दृष्टि में राधाकृष्ण के प्रति वही पूत भावना है जो भक्त कवियों में देखी जाती है? क्या रीतिकवियों के राधाकृष्ण भक्त कवियों के राधाकृष्ण की भाँति अलौकिक मर्यादा से अभिमंडित तथा दैवी पराक्रम और ज्योति से देदीप्यमान हैं?

'कीन्हें प्राकृत जन गुन गाना, सिर धुनि गिरा लागि पछिताना।' की प्रतिज्ञा करनेवाले भावविह्वल भक्त कवियों की आत्मा राधाकृष्ण के स्मरण, कीर्तन और लीलागान में इस तरह तन्मय हो गई कि बहुत सी इहलौकिक शृंगारपरक शब्दावली में भी पवित्रता की भावना भर गई। राधाकृष्ण तो परंपरा से प्राप्त उनके इष्ट देवता

ही थे। अतः इनसे संबद्ध बहुत सी लौकिक अभिव्यंजनाओं को भी तत्तत् संदर्भों में धार्मिक अर्थ ग्रहण करने पडे। पर भक्त कवियों के आराध्य राधाकृष्ण रीतिकाव्यों में आकर सामान्य नायकनायिका के अर्थ में प्रयुक्त होने लगे। यही नहीं, रीतिकाल के अंतिम चरण मे 'कन्हैया' और 'साँवलिया' में नई अर्थवत्ता ही नहीं भरी गई वरन् व्यावहारिक जीवन मे भी लोग 'कन्हैया' और 'साँवलिया' का नाटक करने लगे।

एक दूसरे शब्द 'लाल' को लीजिए। यह सामान्यतः पुत्र के अर्थ में प्रयुक्त होता रहा है, जैसे—दशरथलाल। यशोदा के 'लाल' संबोधन में वात्सल्य भाव निहित है पर गोपियों के 'लाल' शब्द में प्रिय भाव[1]। रीतिकाल मे यह सामान्य नायक का द्योतक हो गया। भक्तिकाल मे 'लाल' शब्द का प्रयोग कृष्ण के लिये प्रचुर मात्रा में किया गया है। जब कृष्ण ही नायक के अर्थ मे प्रयुक्त होने लगे तब उनका पर्यायवाची शब्द क्यों न होता? 'लला' शब्द की भी यही स्थिति समझनी चाहिए। इसी तरह और भी अनेक शब्दो को ढूँढा जा सकता है जो रीतिकाल में आकर नए अर्थ मे प्रयुक्त होने लगे।

(आ) वातावरण निर्माण : शब्दध्वनि—कविता में वातावरण निर्माण के लिये ध्वन्यात्मक शब्दो का विशेष महत्व है। इससे जो श्रुतिचित्र तैयार होता है वह अपेक्षित वातावरण को प्रत्यक्ष करने में बड़ा ही प्रभावशाली सिद्ध होता है। ध्वन्यात्मक शब्दो द्वारा जो प्रतिध्वनियॉ पैदा की जाती हैं वे मूलतः संवेगों पर चोट करती हैं और उनकी गूँज देर तक बनी रहती है।

रीतिकाव्यो मे, मुख्यतः मिलन के अवसरो पर, ध्वन्यात्मक शब्दों द्वारा मादक वातावरण प्रस्तुत किए गए हैं। ऐसा करने के लिये प्रायः तीन तरह के शब्दों का प्रयोग किया गया है—(१) रणनात्मक, (२) अनुकरणात्मक और (३) लक्षणात्मक।

मिलन के विशिष्ट प्रसंग में आभूषणो का अनुरणन किस प्रकार संवेगो पर चोट करता है, इसके कुछ उदाहरण देखिए :

(१) झाँझरियाँ झनकैंगी खरी खनकैंगी चुरी तनकौ तन तोरै।

—दास

[1] (आछे मेरे) लाल हो ऐसी आरि न कीजै। —सूरसागर, ना० प्र० सभा, पद ८०८।

× × ×

लाल अनमने कतहि होत हौ तुम देखौ धौ कैसे कैसे करि तिहि लाइ हौं।

—वही, ११३०।

(२) झिल्लिन लौं झहनाइ कै किंकिनि बोले सुकी सुक को सुखदैनी ।
यों बिछियान बजावत बाल मराल के बालनि ज्यों मृगनैनी ॥

—तोष

अनुकरणात्मक शब्दध्वनियो का प्रयोग प्रायः वस्त्रो के हवा में इधर उधर उड़ने के आधार पर किया गया है :

(१) फहर फहर होत पीतम को पीत पट लहर लहर होत प्यारी की लहरिया ।

—देव

(२) फहरै पियरो पट बेनी इतै उनकी चुनरी के झबा झहरैं ।

—बेनी

फहर फहर, लहर लहर शब्द वस्त्रो की लहर का ही द्योतन नहीं करते हैं बल्कि इनसे मिलन संबंधी उल्लासात्मक वातावरण का निर्माण होता है ।

लक्षणात्मक शब्दों को नादतत्व से विरहित नहीं माना जा सकता । पर उनका पूर्ण सौंदर्य लक्षणा द्वारा ही अभिव्यक्त होता है । उदाहरणार्थ 'लहलहाति' शब्द को लिया जा सकता है । बिहारी ने इसका प्रयोग 'लहलहाति तन तरुनई' लिखकर किया है । हरी भरी खेती को हवा और धूप में हिलते डुलते देखकर लोग कहते हैं कि खेत खूब लहलहा रहे हैं । तरुणाई के प्रसंग में इसके मुख्यार्थ का बोध होता है और लक्षणा के सहारे उसके स्वस्थ, प्रसन्न और मादक यौवन की अर्थप्रतीति होती है । इसी तरह देव के 'उमड्यो परत रूप' में लक्ष्यार्थ द्वारा रूपाधिक्य का इंद्रियग्राही चित्र उपस्थित किया गया है । काव्यसौंदर्य की दृष्टि से ऐसे सौंदर्यचित्रों का विशेष महत्व आँका जाता है ।

उपर्युक्त शब्दो द्वारा जो ऐंद्रिय वातावरण और ऐंद्रिय चित्र उपस्थित किए गए हैं वे उस काल के कवियो के उपभोगात्मक दृष्टिकोण के द्योतक हैं ।

(इ) विशेषण—सामान्य विशेषणो तथा काव्योचित विशेषणो में स्पष्ट अंतर यह है कि जहाँ प्रथम में एक अस्पष्टता और अमूर्तता (ऐब्स्ट्रैक्टनेस) रहती है वहाँ द्वितीय में इंद्रियगोचर मूर्त रूपसृष्टि की अद्भुत शक्ति । ये किसी विशेष क्रिया, अर्थ या रुचि का द्योतन करते हैं । ये विशेष क्रिया, अर्थ या रुचि के व्यापार मात्र नहीं हैं बल्कि इनके मूल में कवि का अपना दृष्टिकोण और व्यक्तित्व भी निहित है । वस्तु के प्रति अपनी भावात्मक प्रतिक्रिया व्यक्त करने के लिये कवि किसी एक ही विशेषण का चुनाव कर सकता है, उसका पर्याय अभिप्रेत अर्थ और काव्यसौंदर्य नहीं प्रकट कर सकता । कभी कभी विशिष्ट अर्थगांभीर्य उत्पन्न करने के लिये असाधारण विशेषणों का भी चयन करना आवश्यक हो जाता है ।

इन विशेषणों के चित्रोपम सौंदर्य और उनके मूल में निहित कवि की दृष्टि के

विश्लेषण के लिये इस काल के प्रतिनिधि कवियों के काव्यग्रंथों में प्रयुक्त विशेषणों का अध्ययन आवश्यक है। नीचे कुछ विशेषणों के उदाहरण दिए जाते हैं :

(ई) आँख—अनियारे नयन (बि० बो० दो० ८६), अहेरी नैन (बि० बो० दो० १२७), ललचौंहीं चखनि (बि० बो० दो० २३६), लगौंहैं नैन (बि० बो० दो० ४०३), अलसौंहैं नैन (बि० बो० ४११), हंसौंहैं नैन (वही, ३७७), निगोडे नैन (वही, ४५८) अनखभरी अँखियानि (म० स० छं० ३३८), दोषभरी अँखियानि (म० स० छं० ३५३) बड़रे दृग (देव, सु० इ० छं० १०६), बड़ी बड़ी आँखें (देव, सु० त० छं० १०६), तीखी चितवनि (दे०, सु० त० छं० ३२६), सुंदर सुरंग नैन (प०, ज० वि० छं० १२), रसभीने बडे दृग (प०, ज० वि० छं० ३४), चंचल चितौनि (ज०, वि० छं० २१४), करेरे कटाच्छ (दे०, प्रे० चं० पृ० ११), मोह मढी उमड़ी बड़ी आँखिन (प्रे० चं० पृ० ३१), लाज कसी अँखियाँ (सु० वि० छं० १२), विसाल अनूप बडे बडे नैन री (सु० वि० छं० १५)।

(उ) **वक्षोदेश**—उतंग, खरे उरोजनि (बि० बो० ५६६), ओछे उरोजनि (दे०, भा० वि० छं० ३), करेरे कुच (सु० त० छं० २४५), ठाढे उरोजनि (सु० त० छं० २७६), निपट कठोर उरोजन (म०, र० रा० छं० २११), उच्च कुच (प०, ज० वि० छं० ४६) गोरे करेरे तोरे उरोजन (सु० ति० छं० ३१)।

(ऊ) कुछ अन्य विशेषण—सुरँग कुसंभी चूनरी (बि० बो० छं० ११८), नाजुक बाल, हसौंहैं मुख (बि० बो० १५), निबिड़ नितंब (सु० त० छं० २१५), सघन जघन (सु० त० छं० १५), चटकीली चूनरी (सु० त० छं० २७८), थोरी थोरी बैस (सु० त० छं० २४६), जगमगे जोबन (सु० त० छं० २६४), गदगदे गोलन कपोलन (सु० त० छं० ७२५), मुखर मंजरि (म०, रसराज छं० ४६७), चूनरि लाल खरी (देव, सु० वि० छं० १५)।

विशेषणों की चित्रोपमता और भावोद्दीपनक्षमता उनके चुनाव की युक्तियुक्तता पर निर्भर करती है। इसके लिये जरूरी है कि कवि विशेषणों के औचित्य और आवश्यकता को ठीक ढंग से परखकर उनका प्रयोग करे। 'तरल तीखे अनसीले नैन' (देव०, सु० त० ३०७) को ही लीजिए। 'तरल' से आँखों की सहज आर्द्रता, अनुभूतिमयता, 'तीखे' से अचूक प्रभाव तथा 'अनसीले' से उनके प्रकृत भोलेपन का ऐंद्रिय चक्षुचित्र (विजुअल इमेज) उपस्थित होता है। आँखों का यह भावपूर्ण चित्र 'रूप' के साथ ही 'रस' से भी समन्वित है। इसी प्रकार पद्माकर के 'रसभीने बडे दृग' में 'बडे' आँख के आकार का द्योतक है तो 'रसभीने' नायिका की मनःस्थिति (या नायक की मानसिक प्रवृत्ति) का प्रकाशक चाक्षुष् चित्र है।

जहाँ पर विशेषणों के औचित्य और आवश्यकता का निर्वाह नहीं हो पाता वहाँ पर विशेषणों की चित्रोपमता और भावोद्रेकक्षमता निःशेष हो जाती है। ऊपर उद्धृत विशेषणों में एक विशेष्य के लिये कहीं एक, कहीं दो और कहीं कहीं तीन, चार या पाँच विशेषण प्रयुक्त हुए हैं। 'गोरे करेरे तरेरे उरोजनि' में पहला विशेषण किसी तरह का चित्र नहीं अंकित कर पाता। इसी तरह 'कटाक्ष' के लिये 'बंक बिसाल रँगीले रसाल छबीले' पाँच विशेषण प्रयुक्त किए गए हैं। इनमें पहले को छोड़कर शेष इस संदर्भ में उपयुक्त न होने के कारण कटाक्ष का रूप खड़ा करने में अशक्त हैं। पद्माकर के आँखों के लिये 'सुंदर सुरंग' विशेषण में चित्रोल्लेखन और भावोद्दीपन की कोई क्षमता नहीं है।

बिहारी ने इस काल के अन्य कवियों की भाँति एक विशेष्य के लिये एकाधिक विशेषणों का प्रयोग प्रायः नहीं किया है। ऐसा करने के मूल में मुख्यतः दो कारण हैं—एक तो सजग कलाकार होने के कारण वे शब्दों का प्रयोग खूब जान बूझकर करते हैं, दूसरा यह कि उनके दोहों की संकीर्ण सीमा में बहुत से विशेषण अँट भी नहीं सकते। उनके विशेषणों की विशेषता है उनका क्रियामूलक (फंक्शनल) होना। अपने विशेष्यों की क्रिया या स्वभाव को अंकित करने के लिये उन्होंने क्रिया-विशेषणों का प्रयोग अधिक किया है। 'ललचौहीं', 'लगौहैं', 'अलसौहैं' आदि विशेषण ऐसे व्यापार की सूचना देते हैं और वे ऐसे जीवंत चित्र उपस्थित करते हैं कि वे पाठकों के भावों को उद्दीप्त करने में अच्छी तरह समर्थ होते हैं।

कुचों के लिये प्रयुक्त विशेषणों में 'उच्च', 'पीन' आदि उनके आकार तथा 'कठोर', 'कोरे' आदि उनके गुणों के प्रकाशक हैं। किंतु 'ठाढे', 'उँचौहैं', 'उठे', 'उचके' उनके क्रियात्मक पक्ष के द्योतक हैं। अपनी क्रियात्मकता के कारण इनमें चित्रोल्लेखन तथा भावोद्दीपन की क्षमता अपेक्षाकृत अधिक परिलक्षित होती है। 'ठाढे' और 'खरे' सामान्यतः पर्यायवाची होते हुए भी सूक्ष्म अर्थभेद रखते हैं। 'खरे' में जो मांसलता और विषयोत्तेजकता (सेंसुअलिटी) निहित है वह 'ठाढे' में कहाँ !

रीतिबद्ध कवियों के विशेषणों का वैशिष्ट्य तब तक पूर्णतः प्रगट नहीं किया जा सकता जब तक रीतिमुक्त कवियों के विशेषणों से इनकी तुलना न कर ली जाय। घनआनंद के विशेषण 'तृषित चखनि' (घ० क०, छं० ३), 'अँखिया निपेटनि' (घ० क०, छं० २६), 'प्रीति पगी अँखियानि' (घ० क०, छं० ३४) आदि—एक अन्य प्रकार के दृष्टिकोण के द्योतक हैं। स्पष्ट है कि इन विशेषणों पर विषयिनिष्ठता का गहरा रंग है। घनआनंद के विशेषण मुख्यतः आश्रयगत हैं तो रीतिबद्ध कवियों के आलंबनगत। इसलिये स्वाभाविक है कि आश्रयगत विशेषण जहाँ व्यथा और दैन्य के चित्र उपस्थित करते हैं वहाँ आलंबनगत विशेषण ऐंद्रियविलास के मद-विह्वल चित्र। एक में विरह और जलन की गंभीरता है तो दूसरे में संयोग और भोग की चटकीली रंगीनी।

अप्रधान यौन अवयवों (सेकंडरी सेक्सुअल कैरेक्टर्स) के अतिरिक्त नारी के वस्त्रों के लिये—विशेषतः चूनरी, साड़ी तथा चोली के लिये—रागोद्दीपक विशेषणों के प्रयोग हुए हैं। सामान्यतः साड़ी और चोली दोनों के लिये लाल विशेषण का प्रयोग अधिक हुआ है। लाल रंग अन्य रंगों की अपेक्षा अधिक चक्षुग्राह्य और उत्तेजनात्मक होता है। देव ने इस रंग को और भी उत्तेजनामूलक और प्रभावापन्न बनाने के लिये 'चुनि चूनरि लाल' लिखकर उसके साथ 'खरी' विशेषण जोड़ लिया है। इस विशेषण के सहारे चूनरी का जो चाक्षुष् चित्र अंकित किया गया है वह अतिशय मार्मिक और भावपूर्ण बन पड़ा है।

(२) **मुहावरे**—प्रयोगातिशय्य के कारण मुहावरों का अर्थ रूढ़ हो गया है। अपने प्रारंभिक काल में ये भी प्रयोजनवती लक्षणा ही रहे होंगे। पर बहुत दिनों तक एक ही अर्थ मे प्रयुक्त होने के कारण उन्हें रूढा लक्षणा के अंतर्गत मान लिया गया है। अधिक से अधिक भावों को तीव्रतर ढंग से व्यक्त करने के लिये मुहावरों का प्रयोग आवश्यक होता है। पर जहाँ मुहावरेदानी स्वयं कवि की साध्य हो जाती है वहाँ भावव्यंजना का स्थान चमत्कारप्रदर्शन ले लेता है। भावों की तीव्रता और चमत्कारप्रदर्शन के आधार पर कविता की प्रवृत्ति और कवि की मनोवृत्ति का विश्लेषण भी किया जा सकता है।

लोकव्यवहार तथा काव्यभाषा में मुहावरों की अपेक्षा लोकोक्तियों या कहावतों का प्रयोग कम होता है। वाक्य में प्रयुक्त होने पर जहाँ लोकोक्तियाँ अपरिवर्तित रहती हैं वहाँ मुहावरा काल, पुरुष, लिंग और वचन के अनुसार अपने को ढाल लेता है। अलंकार की दृष्टि से विचार करने पर भी लोकोक्ति का क्षेत्र अत्यधिक संकुचित दिखाई पड़ता है। लोकोक्ति के प्रयोग से केवल इसी नाम का अलंकार होता है। मुहावरे के कारण स्वभावोक्ति, उपमा, उत्प्रेक्षा, विरोधाभास आदि कई अलंकार रूपग्रहण करते हैं। मुहावरे जहाँ पर दुहरा काम करते हैं, वहाँ पर उनके द्वारा अलंकारों को चमत्कारपूर्ण बनाया जाता है। एक तो उनके द्वारा भावों में तीव्रता आती है, दूसरे अलंकारों की चामत्कारिकता भी बढ़ जाती है।

रीतिकाव्यों में आँख, मन और चित्त संबंधी मुहावरे अधिक संख्या में प्रयुक्त हुए हैं। इसका मुख्य कारण यह है कि शृंगार और प्रेम से इनका घनिष्ठ संबंध है। अतः मुख्य रूप से इनसे संबद्ध मुहावरों की छानबीन कर लेनी चाहिए।

(अ) आँख संबंधी मुहावरे—

(बिहारीबोधिनी से)

नैन मिलत (दो० १८१), नैना लागत (दो० २००), दीठि जुरि दीठि सों (दो० ६०), लगालगी लोयन करैं (दो० २१६), कहा लड़ैते दृग करैं (दो० २८०)।

(मतिरामकृत रसराज से)

अँखियाँ भरि आईं (छं० १६), भौंह चढाय (छं० ५३), दृग जोरै (छं० १२७, २२१), नैनन को फल पायो (छं० २३८)।

(देव)

बंक बिलोकनि ही पै बिकान्यौ (प्रे० चं०, पृ० ६), मिले दृग चारो (सु० वि० द० १२)।

(पद्माकरकृत जगद्विनोद से)

दृग दै रहति (छं० ४१), दृग फेरे रहैं (छं० ६६), उनकी उनसे जो लगी अँखियाँ (छं० १०३), अँखियाँ ते न कढ़्यो (छं० १३६)।

(आ) मन संबंधी मुहावरे—

(मतिरामकृत रसराज से)

गनत न मन पथ कुपथ (छं० ३३), मन बाँधत बेनी बँधे (छं० ३६), मन भायो न कियो (छं० १३८)।

(पद्माकरकृत जगद्विनोद से)

गुन औगुन गनै नहीं (छं० ५३), मन धरि आए हौ (छं० ५६), एकन को मन लै चलै (छं० १०७)।

(इ) हृदय, चित्त या दिल संबंधी मुहावरे—

लिए जात चित चोरटी (दो० २५०), चोरि चित्त (दो० १६१)।

—बिहारी

हिए हजारन के हरै (छं० ६६), उर आगि न लगाइए (छं० २५४), चित चोरि (छं० ३११)।

—मतिराम, रसराज

चित लाल चूमि रह्यो (प्रे० चं०, पृ० ३६), मूरति चित्त चढ़ी है (सु० वि०, पृ० २२)।

—देव

(ई) कुछ अन्य मुहावरे—

छाती फाटी जाति (बि० बो०, दो० २२३), कानन लाए कान (बि० बो०, दो० १६०), कुलकानि गँवाए (मतिराम, रसराज, छं० १३२), गरे परि (देव०, प्रे० चं०, पृ० १०), पर्‍यो मरिबो सिर तेरेई (वही, पृ० २१), तिन तोरत फिरत (देव, सु० वि०, पृ० ६), दंतन दाबि रहे अँगुरी (वही, पृ० १६) आदि।

आँख, मन और चित्त संबंधी मुहावरों की मूल प्रवृत्तियों को देखते हुए उन्हें तीन मुहावरों में सीमित किया जा सकता है—(१) आँखों का लड़ना, (२) मन का बँधना और (३) चित्त का चोरी जाना। इन मुहावरों से प्रेम के तीन सोपानों की जो अभिव्यक्ति होती है वे एक दूसरे से क्रमिक रूप से संबद्ध हैं। आँख के लड़ने के बाद मन का बँधना और चित्त का चोरी चला जाना अत्यंत स्वाभाविक क्रियाएँ हैं। रीतिकवियों के प्रेम का मूल आधार आँखों का लड़ना ही है जो मुख्यतः रूपलावण्य पर आश्रित है। अन्य मुहावरों का विवेचन करने पर हमें यह दिखाई देता है कि वे मन की विविध दशाओं का भी चित्र उपस्थित करते हैं पर उनमें अधिकांश ऐसे ही मिलेंगे जो आश्चर्यजनक शरीरी सौंदर्य की अभिव्यंजना में योग देते हैं।

रीतिकाव्यों में ऐसे मुहावरे भी कम नहीं मिलेंगे जो मध्यवर्गीय घरेलू वातावरण से संगृहीत किए गए हैं। 'चलत घैरु घर', 'रवा राखत न राई सी', 'ठेंग गनौगी' आदि मुहावरे घरेलू वातावरण का जीवंत चित्र उपस्थित करते हैं। 'ठेंग गनौगी' और 'जी का ज्यान' तो आज की मध्यवर्गीय नारी के भी नित्य व्यवहार के मुहावरे हैं।

भावों को तीव्रतर बनाने के लिये मुहावरों का सुविचारित प्रयोग करना पड़ता है। यदि एक विशेष मुहावरे के स्थान पर उससे मिलता जुलता दूसरा मुहावरा रख दिया जाय तो अभिप्रेत अर्थ की अभिव्यक्ति नहीं की जा सकती। उदाहरणार्थ बिहारी सतसई का यह दोहा देखिए—'कहा लड़ैते दृग करे परे लाल बेहाल'। इसमें आँख लड़ाना मुहावरा एक चेष्टामूलक व्यापार है। यदि आँख लड़ाने के स्थान पर दूसरा मुहावरा रख दिया जाय तो दोनों के अर्थ में भारी अंतर पड़ जायगा। 'आँख लड़ाने' के प्रयोग से हृदयस्थ वासना को और भी अधिक तीव्रतर बनाया गया है।

अलंकारों को चामत्कारिक और कथन को वक्र बनाने के लिये रीतिकाव्यों में मुहावरों का सहारा लिया गया है। इस प्रकार के मुहावरे बिहारी में सर्वाधिक दिखाई पड़ते हैं :

दृग उरझत टूटत कुटँब, जुरत चतुर चित प्रीति।
परति गाँठ दुरजन हिए, दई नई यह रीति॥

× × ×

लगा लगी लोयन करैं, नाहक मन बँधि जाय।

ऊपर के दोहों में असंगति अलंकार का जो चमत्कार दिखाई पड़ता है उसका श्रेय बहुत कुछ उनमें प्रयुक्त मुहावरों को है। बिहारी और मतिराम ने अतिशयोक्ति और स्वभावोक्ति अलंकारों में भी चामत्कारिकता ले आने के लिये

मुहावरों पर अधिक ध्यान दिया है। रीतिमुक्त कवि घनआनंद ने विरोधाभास के लिये मुहावरों का प्रचुर प्रयोग किया है।

(३) चित्रयोजना—काव्य मे मुख्यतः भावों और अनुभूतियो की ही अभिव्यक्ति होती है और इनको आकार देने के लिये चित्र का माध्यम ग्रहण करना आवश्यक हो जाता है। इसके विपरीत गद्य में, जो प्रधानतः विचारों का क्षेत्र है, चित्रयोजना की अपेक्षा प्रायः नहीं होती है। गद्य में जहाँ कही चित्रयोजना की भी जाती है वहाँ उसमे काव्यचित्रो की भावोद्रेकक्षमता तथा रस की साद्रता प्रायः नहीं दिखाई पड़ती। वस्तुतः सघन मनोवैज्ञानिक क्षणों (इंटेंसीफाइड साइकोलाजिकल मोमेंट्स) को काव्य की चित्रभाषा में जितने सहज और प्रभावोत्पादक ढंग से बाँधा जा सकता है उतने स्वाभाविक ढंग से गद्यात्मक लय मे नही।

सामान्यतः काव्यचित्रों के दो भेद किए जा सकते हैं—लक्षित चित्रयोजना (डाइरेक्ट इमैजरी) और उपलक्षित चित्रयोजना (फिगरेटिव इमैजरी)। लक्षित चित्रयोजना को बाह्य रेखाओं या वर्णों द्वारा तुरत लक्षित किया जा सकता है, पर उपलक्षित चित्रयोजना को लक्षित करने के लिये अप्रस्तुतों के सादृश्यविधान की जानकारी आवश्यक है। लक्षित चित्रयोजना को भी स्थूल रूप से दो कोटियों में विभाजित किया जा सकता है—रेखाचित्र और वर्णचित्र। एक मे आलंबन की रूपचेष्टाओं आदि को रेखाओं मे तथा दूसरे मे वर्णों मे अंकित किया जाता है। रेखाओं और वर्णों द्वारा ये चित्र सहज मे ही लक्षित हो जाते हैं और इनमे साधारणतः कवि का चेतन मन उद्घाटित होता है। पर काव्य मे उपलक्षित चित्रों का विशेष महत्व है। इन चित्रों मे अप्रस्तुओं के सादृश्यविधान द्वारा जिन घनीभूत मनोवैज्ञानिक क्षणों को अंकित किया जाता है उनमें कवि का अवचेतन मन भी चित्रित हो उठता है। इन उपलक्षित चित्रों के उपस्थापन मे जिन अप्रस्तुतो का विधान किया जाता है उनका अध्ययन स्वयं में अत्यंत रोचक विषय है। इनके आधार पर संबद्ध कवियों की रुचि अरुचि, आस्था विश्वास, मान्यता अमान्यता आदि का उद्घाटन भी अच्छी तरह हो जाता है। इस तरह चित्रयोजनाओं के विश्लेषण द्वारा दुहरा कार्य संपन्न होता है—एक तो उससे रीतिबद्ध कवियों की चित्रोपस्थापन क्षमता का सम्यक् ज्ञान होता है और दूसरे इन चित्रों के मूल में निहित कवि का चेतन और अचेतन मन भी प्रत्यक्ष हो जाता है।

(४) लक्षित चित्रयोजना—

(अ) रेखाचित्र—काव्यगत रेखाचित्र में केवल रूप का ही अंकन नहीं होता है बल्कि वह शब्द, स्पर्श, गंध और रस से भी संपुष्ट होता है। शब्द, स्पर्श आदि से विरहित केवल चाक्षुष् चित्र (विजुअल इमैजरी) का विशेष साहित्यिक

मूल्य नहीं आँका जा सकता। केवल चाक्षुष् चित्र वस्तुमुखी होने के कारण सूक्ष्म ऐंद्रिय बोध की दृष्टि से संतोषप्रद नहीं होते। इन चित्रों की प्रभावोत्पादकता तभी बढ़ सकती है जब ये शब्द, गंध, रस आदि से समन्वित हो।

रीतिकाव्यों की नायक-नायिका-भेद की संकुचित सीमा में चित्रों की विविधता और व्याप्ति नहीं मिलेगी। कुछ चित्र तो रूढ़ियों पर आधृत होने के कारण एकरूप और नीरस हो गए हैं, जैसे, नख-शिख-वर्णन अत्यधिक रूढ़िग्रस्त, घिसे पिटे और ताजगी से शून्य हैं। अभिसारिका और खंडिता के चित्रों मे भी प्रायः एकरूपता मिलेगी। पर अपनी सीमा के अंतर्गत नायिका के अनेक नयनाभिराम रूपों, भावों, चेष्टाओं आदि के उत्कृष्ट चित्रों से रीतिकाव्य भरे पड़े हैं, इसमें संदेह नहीं। इस प्रकार के चित्रों का अंकन लक्षित और उपलक्षित दोनों चित्रयोजनाओं के अंतर्गत हुआ है।

आलंबन का रूप प्रेमोत्पादन का मुख्य हेतु है तथा उसके हावभाव और चेष्टाएँ आदि उद्दीपन के प्रधान उपकरण हैं। इन चित्रों के अतिरिक्त नायिका का हृदयस्थ प्रेम जब अनुभावों के रूप मे प्रकट होता है तब वह चित्र का स्वतंत्र विषय बन जाता है। इस तरह रेखाचित्रों में नायिका के रूप, चेष्टाएँ और अनुभाव—तीनों को बाँधने की कोशिश की गई है। कुछ रूपचित्र देखिए :

> **कुंदन कौ रँगु फीकौ लगै, झलकै अति अंगन चारु गुराई।**
> **आँखिन में अलसानि चितौन में मंजु बिलासन की सरसाई।**
> **को बिनमोल बिकात नहीं, 'मतिराम' लहै मुसकानि मिठाई।**
> **ज्यों ज्यों निहारिए नेरे ह्वै नैननि त्यों त्यों खरी निकरै सी निकाई।**
>
> —मतिराम

> **डोलत समीर लंक लहकैं समूल अंग,**
> **फूल से दुकूलन सुगंध बिथुरयो परै।**
> **इंदु सौ बदन, मंद हाँसी सुधा बिंदु,**
> **अरबिंद ज्यौं मुदित मकरंदन मुरयौ परै।**
> **ललित लिलार श्रम झलक अलक भार,**
> **मग में धरत पग जावक घुरयौ परै।**
> **'देव' मनि नूपुर परमपद नूपर ह्वै,**
> **भू पर अनूप रंगरूप निचुरयौ परै।**
>
> —देव

मतिराम के रूपचित्र में बहुत कम रेखाओं का प्रयोग किया गया है पर जो थोड़ी सी रेखाएँ खिंच पाई हैं वे काफी जोरदार हैं। इनमें न रूढ़िग्रस्त उपमानों का प्रयोग किया गया है और न नायिका के प्रत्येक अंग के पृथक् पृथक् सौंदर्यांकन का

प्रयास। कुंद के रंग सा गौर वर्ण, आँखों में आलस्य और चितवन में विलास के उल्लेख द्वारा सौंदर्य का जो संश्लिष्ट चित्र उपस्थित किया गया है वह काफी व्यंजक, आकर्षक और मनोरम बन पड़ा है। अंतिम पंक्ति इस रेखाचित्र की सर्वाधिक महत्वपूर्ण रेखा है। इसके कारण संपूर्ण चित्र इतना भावमय हो उठता है कि पाठकों की सौंदर्यचेतना पूर्णतः जागरूक हो जाती है।

देव के चित्र में मतिराम की अपेक्षा अधिक रेखाएँ लगी हैं तथापि वह वैसा प्रभावपूर्ण नहीं बन पड़ा है। इंदु, सुधाबिंदु, प्रफुल्ल अरविंद जैसे रूढ अप्रस्तुत सहज सौंदर्य नहीं अंकित कर सकते। अंतिम दो पंक्तियों में सौकुमार्य की ऐंद्रिय अनुभूति अवश्य जागरित होती है।

रीतिबद्ध कवियों में बिहारी ने नायिका का संपूर्ण रूपचित्र बहुत कम खींचा है। उनकी चित्तवृत्ति हावों और चेष्टाओं को ही अंकित करने में अधिक रम सकी है। इस तरह के चित्रों में एक प्रकार की गतिशीलता होती है जो आलंबन की क्रियाओं या सचेष्ट व्यापारों में व्यक्त होती है। इसलिये ऐसे चित्रों को क्रिया विधायक (फंक्शनल) चित्र कह सकते हैं। बिहारी की सतसई में इस तरह के चित्र भरे पड़े हैं। कुछ उदाहरण देखिए :

बतरस लालच लाल की मुरली धरी लुकाय।
सौंह करै, भौंहनि हँसै, दैन कहै नटि जाय॥

\+ \+ \+

नासा मोरि नचाय दृग, करी कका की सौंह।
काँटे सी कसकति हिए, वहै कटीली भौंह॥

दोनों दोहों में नायिका की विशिष्ट भंगिमाओं को कुछ रेखाओं में बाँध दिया गया है। पहले दोहे में पहली पंक्ति चित्र की पृष्ठभूमि के रूप में उपस्थित की गई है। दूसरी पंक्ति में चार लघुलघु दृश्य हैं जो समवेत रूप में नायिका की भंगिमाओं को आकार देते हैं। इस चित्र में चमत्कार प्रदर्शन के साथ ही भावात्मक काव्यानुभूति उत्पन्न करने की भी विशेष क्षमता है। दूसरे दोहे में तीन लघु दृश्य हैं जो समष्टि रूप में नायिका की चेतन चेष्टाओं को व्यक्त करते हैं। पर दोनों चित्रों की प्रभावोत्पन्नता में गुणात्मक और मात्रात्मक (क्वाटिटेटिव) अंतर है। एक विशेष संदर्भ से संबद्ध होने के कारण प्रथम दोहे में जो प्रभावोत्पादकता दिखाई पड़ती है वह दूसरे दोहे में, जो प्रायः संदर्भनिरपेक्ष सा है, नहीं दिखाई देती। पहले दोहे में आश्रय और आलंबन, दोनों पक्ष समुपस्थित हैं। उसमें नायिका के प्रेमाधिक्य को उसकी मुखरता में बड़ी ही कुशलता से व्यक्त किया गया है और साथ ही नायक के बेचारेपन की भी व्यंजना हो गई है। इस प्रकार इस चित्र में जो

नाटकीय व्यापार दृष्टिगोचर होता है वह नायिका की अनुपस्थिति में दूसरे चित्र में नहीं दिखाई पड़ता।

नायिका की चेष्टाओं को रूप देने में कवि विशेष सचेत रहता है पर अनुभावों के आधार पर निर्मित चित्रों में उसे बहुत कुछ आभ्यंतरिक (सब्जेक्टिव) होना पड़ता है। ऐसी स्थिति में इस तरह के चित्र अधिक भावोद्दीपक और रसार्द्र होते हैं। मतिराम की मुग्धा खंडिता का एक मनोरम चित्र देखिए :

लिखै कर के नख सों पग को नख, सीस नवाय के नीचे ही जोवै।
बाल नवेली न रूसनो जानति, भीतर भौन मसूसनि रोवै॥

नख से पैर के नख को कुरेदना, सिर झुकाकर नीचे देखना, मसोस मसोसकर रोना—एक पूर्ण चित्र की कतिपय रेखाएँ हैं। इस चित्र मे नायिका के निष्क्रिय पर सशक्त क्षोभ को व्यक्त करने की अद्भुत क्षमता है। इसमें 'बाल नवेली' की व्यर्थ की रेखा है। इससे चित्र की भावप्रवणता में वृद्धि के स्थान पर ह्रास ही दिखाई पड़ता है, क्योंकि शेष रेखाएँ उसे 'बाल नवेली' सिद्ध करने मे स्वयं समर्थ हैं। फिर भी इसमें अभिव्यक्त कवि की अनुभूति के साथ पाठकों का सहज तादात्म्य स्थापित हो जाता है।

अनुभावो का संबंध मन से होता है, इसलिये इसके द्वारा अंकित चित्रों में मन की विविध दशाएँ स्वतः व्यक्त हो उठती हैं। रीतिबद्ध कवियो में इस तरह की चित्र-निर्माण-क्षमता देव मे सर्वाधिक है :

सुख दै सुजाइ बन सूनो दुख दूनो दियो,
एकै बार ससे सरोस साँस सरकनि।
औचक उचकि चित चकित चितौत चहूँ,
मुकताहरानि यहरानि कुच थरकनि।
रूप भरे भारे वे अनूप अनियारे दृग-
कोरनि दरारे कजरारे बूँद दरकनि।
'देव' अरुनई अरु नई रिसि छवि सुधा,
मधुर अधर सुधा मधुर की करकनि॥

(आ) वर्णचित्र—काव्य में जहाँ नपी तुली बाह्य रेखाओं द्वारा चित्र निर्मित किए जाते हैं, वहाँ वर्ण द्वारा भी उनका निर्माण होता है। वर्णयोजना में कवि की अभिप्रेत केवल वर्णयोजना नहीं है, बल्कि इसके द्वारा अभीप्सित भावों की अभिव्यक्ति करना तथा उन्हें पाठको तक प्रेषणीय बनाना भी है।

रीतिकालीन कवियों ने रंगो का चुनाव मुख्यतः तीन क्षेत्रों से किया है—(१) प्रकृति के क्षेत्र से, (२) वस्त्राभूषणों के क्षेत्र से तथा (३) पावक और

दीपशिखा के क्षेत्र से। प्राकृतिक उपकरणों को दो कोटियों में रखा जा सकता है—आकाशस्थित (सूर्य, चंद्र, नक्षत्र, बादल, बिजली आदि) तथा पुष्पादि से संबद्ध (लता, पुष्प, पल्लव, मालती, मल्लिका, कंज, गुलाब, सोनजुही, बंधूक, जपा, गुल्लाला, कंदकली, नवकिसलय, कमलपत्र इत्यादि)। वस्त्राभूषणों में रंगीन और कामदार साड़ियाँ, अँगियाँ, चूनरी तथा विविध आभूषण, मणिमाणिक्य, विद्रुममुक्ता आदि संनिविष्ट हैं। पावक और दीपशिखा की ज्योति अंगद्युति को प्रकाशित करने के लिये ले आई गई है। इन समस्त उपादानो का उपयोग चित्र को आकर्षक और भावोद्दीपक बनाने के लिये किया गया है। उनका महत्व अपने आप में न होकर रंग के प्रभाव को आकर्षक और मादक बनाने में है। सच तो यह है कि रंग तो गिने गिनाए रहते हैं, चित्रकार की सफलता उनके आनुपातिक मिश्रण और औचित्यपूर्ण चुनाव पर निर्भर करती है। रीतिकालीन काव्य मे वर्णयोजना के प्रायः पाँच प्रकार मिलते हैं:

१—नायिका के आंगिक वर्ण
२—अनुरूप वर्णयोजना (मैचिंग कलर)
३—वर्णों का मिश्रण (काबिनेशन आफ् कलर)
४—प्रतिरूप वर्णयोजना (कान्ट्रास्टिंग कलर)
५—वर्णपरिवर्तन (चेंज आफ् कलर)

नायिका के अवयवो के रंगनिर्देश के निमित्त जिन उपकरणों का उपयोग किया गया है वे बहुत कुछ वर्णनात्मक हो गए हैं। ऐसी स्थिति मे वे ऐंद्रिय अनुभूति जागरित करने मे अशक्त हैं। इन्हें रूढियो के अंतर्गत ही समझना चाहिए। कंचन, केसर, सोनजुही, बिजली आदि के रंगो द्वारा नायिका के शरीर का जो रंगनिर्देश किया गया है वह परंपरा भुक्त परिपाटी पर आधारित है। उदाहरणार्थ चरणो के लिये यह कहना कि 'विद्रुम औ बंधूक जपा गुललाला गुलाब की आभा लजावति' तथा 'कौहर कोल जपा दल विद्रुम का इतनी जो बंधूक में होति है' परिगणन परिपाटी के द्योतक हैं।

(इ) वर्णों की गतिशीलता—जड़ वर्णों को जब कवि अपने प्रयोग से जीवंत बना देता है तब कविता भी प्राणवान् हो उठती है। रीतिकाल के कुछ कवियों ने रंगो में इस तरह की प्राणप्रतिष्ठा कर नायिका के लावण्य को अत्यंत प्रभावोत्पादक ढंग से मूर्तिमान् किया है। इनके कुछ उदाहरण दिए जाते हैं:

पाँव धरे अलि ठौर जहाँ तेहि ओर तें रंग की धार सी धावति,

—सुंदरीतिलक

+ + +

भीतर भौन तें बाहिर लौं द्विजदेव जुन्हाई की धार सी धावति ।

—वही, छं० ११

इन पंक्तियो में अलग अलग दो रंगो का चुनाव किया गया है—लाल और श्वेत । पाँव की प्रकृत ललाई के लिये रंग की लाली और शरीर की द्युति के लिये ज्योत्स्ना की तरलता उपस्थित की गई है । नायिका जहाँ पैर रखती है वहाँ से रंग की धारा सी दौड़ पड़ती है । दौड़ती हुई रंग की धारा हमारे संमुख जो चित्र उपस्थित करती है उसमे पैरों की सुकुमारता, कोमलता और ललाई का जो भावात्मक ऐंद्रिय बोध होता है उससे नायिका के समग्र सौंदर्य की भी एक मनोरम कल्पित झाँकी मिल जाती है । दूसरा चित्र पहले की अपेक्षा अधिक ऐंद्रिय और सौंदर्यबोधात्मक है । 'जुन्हाई की धार' 'रंग की धार' की अपेक्षा मूर्त प्रत्यक्षीकरण में अधिक समर्थ है, क्योंकि हमारे दैनिक जीवन से इसका गहरा लगाव है । ज्योत्स्ना में स्वयं एक प्रवाह होता है जो अपने आप रंग में नहीं होता । 'जुन्हाई की धार' पद हमारे सामने शुभ्रवर्णा, तन्वंगी, ज्योति की तरंगों पर तैरती हुई सी एक अशेष सुकुमार सुदरी का भावोद्रेकपूर्ण चित्र प्रत्यक्ष करता है । घर के भीतर से बाहर तक (जहाँ तक नायिका जाती है) चाँदनी की दौड़ती हुई धारा उसके असाधारण सौंदर्य और अंगज्योति की सूचना देती है ।

अनुरूप वर्णयोजना के अंतर्गत वे चित्र आते हैं जिनमें बहुत कुछ मिलते जुलते रंगो (मैचिंग कलर्स) का प्रयोग इस ढंग से होता है कि सौंदर्य में एक नवीन आकर्षण आ जाय । कुछ उदाहरण देखिए :

सहज सेत पचतोरिया, पहिरे अति छबि होति ।
जल चादर के दीप लौं, जगमगाति तन जोति ॥

— बिहारी

अंगन में चंदन चढ़ाय घनसार सेत,
सारी छीर फेन की सी आभा उफनाति है ।

— मतिराम

दास पग पग दूनो देह दुति दग दग
अग अग ह्वै रही कपूर धूर सारी पर ।

—भिखारीदास

इन तीनों चित्रो में श्वेत रंग की साड़ी और गोरे रंग के शरीर में रंग की एकरूपता ले आई गई है । इस वर्णयोजना का प्रयोजन है अनुकूल वेशविन्यास द्वारा नायिका की रूपानुभूति का भावात्मक चित्रण । श्वेत साड़ी के प्रभाव से तीनों कवियों की नायिकाओं की अंगद्युति एक नई ज्योति से जगमगाती हुई दिखाई दे

रही है। अनुरूप वर्णयोजना के सहारे नायिकाओं को ऐंद्रिय आकर्षण का केंद्र बनाते हुए उनके वैभवविलास को भी अंकित किया गया है।

(ई) वर्णों का मिश्रण (कांबिनेशन आफ् कलर)—वर्णों के मिश्रण में कवि को दोहरे दायित्व का निर्वाह करना पड़ता है। एक ओर उसे चित्रविशेष के लिये अनुकूल रंगों का चुनाव करना पड़ता है, दूसरी ओर रंगों के आनुपातिक मिश्रण पर भी ध्यान देना पड़ता है। बिहारी और देव मे विविध रंगों के मिश्रण की कला विशेष रूप से दिखाई पड़ती है। इन दोनों में भी रंगों की छायाओं (शेड्स) की अद्भुत पकड़ मे बिहारी की दृष्टि अचूक है।

बिहारी का रंगपरिज्ञान तथा उचित रंगों के मेल की क्षमता 'सतसई' के प्रथम दोहे से ही परिलक्षित होने लगती है। राधिका के पीतवर्ण की छाया मे श्रीकृष्ण का श्यामवर्ण हरा हो जाता है। इस दोहे में राधिका की शोभा, सौंदर्य और अंगद्युति की अलौकिकता को उभारकर सामने रखना ही कवि का मुख्य प्रयोजन है। इसी तरह कई रंगों के मेल से बाँसुरी की इंद्रधनुषी शोभा देखिए :

> **अधर धरत हरि के परत ओठ डीठि पट जोति।**
> **हरित बाँस की बाँसुरी, इंद्रधनुष छवि होति॥**

मूलवर्ण केवल पाँच होते हैं—श्वेत, रक्त, पीत, कृष्ण और हरित। 'श्वेतोरक्तस्तथा पीत कृष्णो हरितमेव च। मूलवर्णाः समाख्याताः पंच पार्थिव सत्तमम्'। बाँसुरी के हरे रंग पर आँखों के श्वेतकृष्ण रंग, ओठ का लाल रंग और पीताबर के पीत वर्ण की छाया पड़ती है। इनके संमिश्रण से वंशी इंद्रधनुष के रंग की हो जाती है। यहाँ पर वर्णतरंगो से श्रीकृष्ण की एक अत्यंत मोहक भंगिमा की व्यंजना भी हो जाती है।

वयःसंधि की अवस्था को बिहारी ने 'धूपछाँह' के रंग में देखा है :

> **छुटी न सिसुता की झलक, झलक्यो जोबन अंग।**
> **दीपति देह दुहून मिलि, दिपत ताफता रंग॥**

'धूपछाँह' के रंगसंकेत से वयःसंधि की रेशमी शोभा कितनी भावपूर्ण हो गई है।

देव के वर्णचित्रों में कई रंगों के मिश्रण प्रायः कम दिखाई पड़ते हैं। इन्होंने प्रायः एक रंग से ही चमत्कारप्रदर्शन का प्रयास किया है। इनके चित्रों में रंगो का वैभव तो दिखाई पड़ता है, किंतु उनके मिश्रण द्वारा नए भावात्मक चित्र खड़े करने में उनका मन नहीं रम सका है। एक उदाहरण है :

मॉंग गुही मोतिन भुजंग ऐसी बेनी वर,
 उरज उतंग औ मतंग गति गौन की।
अंगना, अनंग कैसी पहिरै सुरंग सारी,
 तरल तुरंग दृग चाखी मृगदौन की।
रूप की तरंगनि बरंगनि के अंगनि से
 सौंधे की अरंग लौं तरंग उठे पौन की।
सखी संग रंग में कुरंगनैनी आवै तोलौं,
 कैधो रंगमई भूमि भई रंगभौन की।

आइए, पहले इसपर रूपभेद की दृष्टि से विचार करें। रूपभेद के अनुसार केवल रूपाधायक अंगों को ही अंकित करना चाहिए, लेकिन प्रारंभिक पंक्तियों में कवि ने नख-शिख-वर्णन की परंपरा के अनुसार रूढ़ अंगों का भी उल्लेख किया है। आवश्यकतानुसार इसमें हल्के गहरे रंगो का स्पर्श भी दिखाई पड़ता है, इसलिये प्रमाण की दृष्टि से इस चित्र का औचित्य नहीं ठहराया जा सकता। रंगों की तड़कभड़क ने चित्र के सौंदर्य को बहुत कुछ विकृत कर दिया है। भावयोजना की दृष्टि से भी इसका विशेष महत्व नहीं आँका जा सकता। हाँ, कुछ पंक्तियों में लावण्य की सुष्ठु योजना की गई है। सादृश्य और वर्णिकाभंग की दृष्टि से भी इस चित्र को महत्वपूर्ण नहीं कहा जा सकता। नायिका के रंगरूप द्वारा बहुरंगी रंगभूमि की कल्पना को साकार करने का प्रयास तो यहाँ अवश्य किया गया है किंतु इसमें स्वयं रंगों का महत्व इतना अधिक हो गया है कि ऐंद्रिय अनुभूति की अपेक्षित अन्विति नहीं हो पाई है।

तीन रंगों के मेल से पद्माकर ने जो चित्र खींचा है उसमें जो ताजगी और वातावरणनिर्माण की क्षमता है वह कम चित्रों में दिखाई पड़ती है :

आहिरे आगलि सी जमुना जब बूड़े बहै उमहै वह बेनी।
त्यौं पद्माकर हीर के हारन गंग तरंगन की सुख देनी॥
पाँयन के रँग सों रँग जाति सी भाँति ही भाँति सरस्वती सेनी।
पैरे जहाँ ही जहाँ वह बाल तहाँ तहाँ ताल में होत त्रिवेनी।

इस चित्र में कहीं हल्के, कहीं गहरे रंगस्पर्श से नायिका की छवि अंकित की गई है। 'बूड़े', 'बहे', 'उमहे' शब्दों से गतिशील यमुना का दृश्य आँखों के संमुख उपस्थित हो जाता है। हीरों के हार के स्पर्श से गंगा की तरंगो की भाँति ताल का जल भी शुभ्र हो जाता है। पाँवों का रंग जल को सरस्वती के रंग में रँग देता है। यहाँ पर नायिका का सौंदर्य रेखाओं में नहीं बल्कि रंगों में बाँधा गया है। चित्र की दृष्टि से यह वर्णिकाभंग का श्रेष्ठ उदाहरण है। वास्तव में कवि यहाँ पर एक सुंदरी नायिका का रूप खड़ा करना चाहता है। विविध रंगों के मेल से सौंदर्यसंगम

का नयनाभिराम दृश्य उपस्थित करने में उसे यहाँ पूर्ण सफलता मिली है, इसमें संदेह नहीं।

बिहारी नायिका की अँगुली का वर्णन करते हुए त्रिवेणी का दृश्य उपस्थित करते हैं :

> **गोरी छिगुनी अरुन नख, छला स्याम छबि देय,**
> **लहत मुकुत रति छिनक ये, नैन त्रिवेनी सेय।**

इस चित्र में अँगुली की गुराई, नख की ललाई और उसमें पहने हुए लोहे के छल्ले को एक स्थान पर एकत्र कर देने मात्र से रंगो को एकान्वित नहीं किया जा सकता। इससे न तो कोई मूर्त प्रत्यक्षीकरण हो पाता है और न प्रभावोत्पादन की क्षमता ही व्यक्त हो पाती है। इस प्रकार स्पष्ट है कि विविध रंगों के मिश्रण से नायक अथवा नायिका का जो रूपचित्रण रीतिकालीन काव्य में किया गया है उसके मूल में कवि का उसे मोहक बनाने का दृष्टिकोण निहित है। इस रंगमिश्रण के द्वारा भी नायिका के वैभव और रूपश्री दोनों को अभिव्यक्त किया गया है।

(ङ) **विरोधी वर्णयोजना**—विरोधी रंगों का प्रयोग यद्यपि इस काल के कवियों ने कम किया है फिर भी कुछ स्थलो मे इनके द्वारा नायिका की जगमगाती छवि के बड़े ही आकर्षक चित्र अंकित किए गए हैं। इस कला में भी बिहारी सबसे प्रवीण हैं। इस तरह के उनके दो चित्र दिए जाते हैं :

> **छप्यो छबीलो मुख लसै, नीले आँचर चीर।**
> **मनो कलानिधि झलमले, कालिंदी के नीर॥**
>
> \+ + +
>
> **सोनजुही सी जगमगी, अँग अँग जोबन जोति।**
> **सुरँग कुसुंभी चूनरी, दुरँग देह दुति होति॥**

पहले दोहे में नीले और श्वेत रंग का विरोध है और दूसरे में पीले और लाल का। एक में वस्तूत्प्रेक्षा और दूसरे में पूर्णोपमा अलंकार द्वारा चित्र को अच्छी तरह निखार दिया गया है। पहले में रूपाधायक अंश मुख्य है, दूसरे में संपूर्ण अंग की कांति। इस तरह नायिक की जग मग करती हुई अंगज्योति के वर्णन द्वारा उसका संपूर्ण सौंदर्य प्रतिभासित हो उठा है।

लेकिन जहाँ पर बिहारी ने चमत्कारप्रदर्शन के निमित्त गोरे मुख में चंदन की बेंदी को मद की लाली की पृष्ठभूमि में उभार दिया है अथवा नीलमणिजटित लौंग के रंगों को चंपा की कली पर बैठा हुआ भौंरा कहकर पीले और काले दो विरोधी रंगों द्वारा चित्र को रूप देने का प्रयास किया है वहाँ न तो काव्यसौंदर्य प्रस्फुटित हो पाया है और न कोई रूप ही संमूर्तित हो सका है।

(ऊ) **वर्णपरिवर्तन**—वर्णपरिवर्तन मानवीय भावों का बैरोमीटर तथा मनःस्थितियों का प्रकाशक व्यापार है। रस की गणना सात्विक अनुभावों के अंतर्गत होनी चाहिए। पश्चिम के कवियों ने चेहरे में लज्जा की ललाई (ब्लश्) का प्रचुर वर्णन किया है। रीतिकालीन कवि गिने गिनाए अनुभावों के चतुर्दिक् चक्कर लगाने के कारण स्वतंत्र रूप से अनुभावों की अभिव्यक्ति प्रायः नहीं कर सके हैं। लेकिन ढूँढ़ने पर वर्णपरिवर्तन के कुछ अच्छे उदाहरण मिल जाते हैं।

नायक ने 'मौलसिरी' की माला सखी द्वारा नायिका के पास भेजी है। सखी नायिका को माला पहनाकर आई है और नायक से नायिका की दशा का वर्णन करती है :

> **पहिरत ही गोरे गरे, यों दौरी दुति लाल।**
> **मनो परसि पुलकित भई, मौलसिरी की माल॥**
>
> —**बिहारी**

मौलश्री के स्पर्श में उसे नायक के स्पर्श का अनुभव हुआ, अतः उसका सारा शरीर रोमांचित हो उठा। यही नहीं, माला गले में पड़ते ही उसकी अंगदीप्ति में ललाई दिखाई देने लगी। गोरेपन का सहसा बदलकर ईषत् लाल हो जाना नायक के प्रति उसके प्रेम की अभिव्यक्ति ही है।

लज्जा के कारण लाल होने का एक दूसरा चित्र देखिए :

> **ज्यों ज्यों परसत लाल तन, त्यों त्यों राखै गोय।**
> **नवल बधू डर लाज तें, इंद्रबधू सी होय॥**
>
> — **मतिराम**

यह नवोढ़ा नायिका का उदाहरण है। प्रिय के स्पर्श मात्र से वह डर और लज्जा के कारण संकुचित होती जाती है और उसका रंग इंद्रवधू के रंग सा हो जाता है। 'इंद्रबधू' शब्द हमारे सामने केवल वर्णपरक परिवर्तन ही नहीं उपस्थित करता, बल्कि अपने में सिमटती हुई वधू का प्रत्यक्षीकरण भी कराता है। इंद्रवधू भी स्पर्श मात्र से ही संकुचित हो जाती है।

शरीर के रंग की छाया से नायिका की माला का रंग बदल गया है, किंतु अज्ञातयौवना होने के कारण उसे इसका पता नहीं लगता। इस वर्णपरिवर्तन का एक अत्यंत मार्मिक चित्र उपस्थित करते हुए बेनी प्रवीन ने लिखा है :

> **काल्हई गूँथि बबा कि सौं मैं, गजमोतिन की पहिरी अति आला।**
> **आई कहाँ तें इहाँ पुखराज की, संग गई जमुना तट बाला।**
> **न्हात उतारी हौं 'बेनी प्रवीन' हँसै सुनि बैनन नैन रसाला।**
> **जानत ना अँग की बदली, सब सौं बदली बदली कहै माला॥**

बाबा की शपथ खाकर मैं सच कहती हूँ कि अभी तो कल ही मैंने गजमोतियों की माला गूँथकर पहन रखा था। यह पुखराज की माला कहाँ से आ गई ? क्या यमुनातट पर स्नान करते समय किसी अन्य की माला से बदल तो नहीं गई ?

उस बेचारी मुग्धा नायिका को क्या पता कि शरीर की पीताभ छाया के कारण गजमुक्ताओं की श्वेत माला का रंग कुछ इस प्रकार बदल गया है कि उससे पुष्पराग मणियों की माला की भ्रांति होती है। यहाँ पर वर्णपरिवर्तन के सहारे नायिका के सौंदर्य की जो व्यंजना की गई है वह अतिशय मनोरम और हृदयग्राही है।

बिहारी के उपर्युक्त दोहे में कोई दूती नायक से नायिका की प्रेमानुभूति का चित्र खींचकर नायक के मन की ललक को और भी अधिक बढ़ा देने का उपक्रम कर रही है। मतिराम के दोहे में नायिका को विशेष परिस्थिति में डालकर उसे छुई मुई होती हुई दिखाने का अभिप्राय उसके प्रति नायक के आकर्षण को और भी तीव्र बना देना है। बेनी प्रवीन का वर्णपरिवर्तन द्वारा नायिका के सौंदर्यअंकन का उद्देश्य उससे भिन्न नहीं है। चाहे अनुरूप वर्णयोजना हो चाहे प्रतिरूप वर्णयोजना, सब की सब वर्णयोजनाओं द्वारा मुख्य रूप से नायिका के सौंदर्य को आकर्षणमूलक और उन्मादक बनाने का प्रयास किया गया है। कवि के चेतन मन का निर्माण उसकी समसामयिक परिस्थितियों द्वारा होता है। सामंतीय वातावरण में इसी तरह के रूपलावण्य और वैभवसमन्वित नायिका के वर्णन की आवश्यकता थी।

(ए) उपलक्षित चित्रयोजना (अप्रस्तुत विधान और चित्रयोजना)— अप्रस्तुत या उपमान द्वारा कवि एक ऐसा भव्य चित्र उपस्थित करता है जो प्रस्तुत या उपमेय का रूप खड़ा करने में पूर्ण समर्थ होता है। अधिकांश अलंकारों का आधार उपमान या सादृश्य होता है। इसलिये उपमालंकार को आलंकारिकों ने अलंकारविवेचन में प्रथम स्थान दिया है। अप्पय दीक्षित ने चित्रमीमांसा में लिखा है कि काव्य के रंगमंच पर विविध प्रकार के नृत्य आदि से सहृदयों का रंजन करनेवाली केवल यही एक अभिनेत्री है[1]। इसके बाद उन्होंने ऐसे चौबीस अलंकारों के नाम लिए हैं जो मूलतः उपमा ही हैं। उपमा की यह व्याप्ति उपमेय तथा उपमान के सादृश्य पर ही निर्भर है।

पश्चिम में उपमा को काव्योत्कर्ष में उतना विधायक नहीं माना जाता जितना

[1] उपमैका शैलूषी संप्राप्त चित्र-भूमिका भेदान्।
रंजयन्ती काव्यरंग नृत्यन्ती तद्विदां चेतः॥
—चित्रमीमांसा, निर्णयसागर, पृ० ५

रूपक को। अरस्तू ने रूपक को कविप्रतिभा की कसौटी माना है, क्योंकि अदृश्य वस्तुओं में सादृश्य की योजना प्रातिभ ज्ञान (इनट्यूशन) पर ही निर्भर है[1]। मिडिल्टन मरी,[2] हर्बर्ट रीड आदि पाश्चात्य विचारकों ने काव्य के उत्कर्ष में रूपक को बहुत महत्वपूर्ण उपकरण बतलाया है। रीड का कहना है कि उपमा, जिसमें दो वस्तुओं में सादृश्ययोजना की जाती है, साहित्यिक अभिव्यक्ति की प्राथमिक अवस्था की द्योतक है[3]। किंतु विचार करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि भारतीय और पश्चिमी मत परस्पर विरोधी न होकर अपने अपने स्थान पर औचित्यपूर्ण हैं। अपने संदर्भों की चित्रयोजना में कहीं उपमा अधिक समर्थ प्रतीत होती है तो कहीं रूपक। उपमा का एक उदाहरण लीजिए—चंद्रमुखी न हिले न डुले निरबात निवास मे दीपसिखा सी। इस स्थान पर अनुकूल भावाभिव्यक्ति के लिये उपमा का सहारा ही अपेक्षित है, इस तरह का चित्र खड़ा करने में रूपक अक्षम सिद्ध होगा। दूसरा उदाहरण 'रूपक' का देखिए—दृग खंजन गहि लै गयो, चितवन चेंपु लगाय। अथवा मानस का प्रसिद्ध रूपक देखिए—'ढाहत भूप-रूप-तरु-मूला। चली बिपतिबारिधि अनुकूला'। इन दोनों भावपूर्ण चित्रों को उपमा इतने सफलतापूर्वक नहीं उपस्थित कर सकती।

उपमा और रूपक में उपमान का जो विधान किया जाता है उसके मुख्य प्रयोजन पर भी विचार कर लेना चाहिए। क्या इसको केवल स्वरूपबोध के लिये ही ले आया जाता है? ऐसा होने पर इसका महत्व केवल चाक्षुष् चित्र (विजुअल इमैजरी) तक ही सीमित हो जायगा। किंतु चाक्षुष् चित्र का सृजन इसका गौण प्रयोजन है। मुख्य रूप से उपमानों की सृष्टि भावों को तीव्र करने के लिये तथा एक वातावरण उत्पन्न करने के लिये की जाती है। 'निरबात निवास में दीपसिखा सी' हमारे मन में नायिका की खिन्न और उदास मनःस्थिति का एक भावपूर्ण चित्र ही नहीं उपस्थित करता है बल्कि एक अवसादपूर्ण सन्नाटे का वातावरण भी अंकित करता है। रूपक के उदाहरण से भी यही बात सिद्ध होती है। विपत्ति का समुद्र नहीं होता, लेकिन इससे विपत्ति की अनंतता और भयंकरता का वातावरण तो उपस्थित हो ही जाता है। इस वातावरण का प्रयोजन भी भावों को तीव्र करना ही है।

ये उपमान रूढ़ अलंकारों के अंग होने की अपेक्षा कहीं अधिक आंतरिक महत्व रखते हैं। कवि व्यक्तिगत ढंग से किसी विषयवस्तु को किस रूप में देखता

[1] अरिस्टोटल : पोएटिक्स, भाग २२, पृ० १६-१७
[2] द प्राब्लेम आव् स्टाइल, पृ० १२, ८२, ११४
[3] इंग्लिश प्रोज स्टाइल, पृ० २८

है, इसकी सूचना उपमानों के चुनाव से मिलती है। परंपराभुक्त उपमानों के अतिरिक्त कवि ऐसे उपमानों का उपयोग भी करता है, जिससे उसकी रुचि, वातावरण और देशकाल आदि का संकेत मिलता है। लेकिन उपमानों के चुनाव में सामान्यतः उसे सचेत नहीं रहना पड़ता है। ये तो उसकी अंतश्चेतना से स्वतः उद्भूत होते हैं। इस चित्रयोजना का संबंध कवि की संपूर्ण बोधवृत्ति और भावपरिधि से स्थापित किया जाना चाहिए। उसकी बोधवृत्ति और भावपरिधि का निर्माण विशेष संस्कार, समाज और वैयक्तिक रुचि के द्वारा होता है। एक ही विषय पर काव्यरचना करनेवाले दो कवियों की चित्रयोजना कुछ अंशों में समान होने पर भी अनेक अंशों में भिन्न होती है। एक कवि भिन्न भिन्न चित्र उपस्थित करने के लिये अपने कुछ प्रिय उपमानो को बार बार ले आता है, दूसरा कवि अपने दूसरे प्रिय उपमानो का प्रयोग अधिक संख्या मे करता है। दो कवियों के रुचिभेद को समझने के लिये इनके द्वारा प्रयुक्त उपमानो का अध्ययन एक उत्तम साधन है।

रीतिकालीन कवियों ने नायिका के स्थूल अंगों के लिये रूढ़ उपमानो का प्रयोग किया है उनका विस्तृत उल्लेख यहाँ पर अप्रासंगिक होगा। यहाँ पर इस काल के कुछ प्रतिनिधि कवियों के अप्रस्तुतो की तालिका उपस्थित कर उसके आधार पर उनके चित्रों की भाव-निरूपण-क्षमता तथा प्रेम संबंधी दृष्टिकोण का विश्लेषण किया जायगा।

अपनी चित्रयोजना के लिये कवि कई क्षेत्रों से अप्रस्तुतो को ग्रहण करता है। मुख्यतः उसके अप्रस्तुतों के चुनाव के पाँच क्षेत्र हैं :

१—तत्कालीन वातावरण, २—प्रकृति, ३—पशुपक्षी, ४—शास्त्रज्ञान और ५—घरेलू जीवन। अब आइए यह देखें कि रीतिकाल के कुछ प्रमुख कवियों ने किस क्षेत्र से क्या ग्रहण किया है। पहले बिहारी को ही लें।

तत्कालीन वातावरण और जीवन से :

प्रस्तुत	अप्रस्तुत	ग्रंथ और छंदसंख्या
आँख	सुभट	बि० बो० ६८
	किबलनुमा	,, ६१
	दलाल	,, १६६
रूप	फानूस के भीतर का दीपक	,, १५०
हँसी	फाँसी	,, ६६
देह	सुंदर देश	,, १७५
नायिका	राजा	,, ,,
सुरति	रण	,, ३४०
दूती	मेहराब का भराव	,, ३०७

प्रस्तुत	अप्रस्तुत	ग्रंथ और छंदसंख्या
नागरितन	मुल्क	बि० बो० ३२
यौवन	शासक	,, ,,
पुतली	पातुरराय	,, ६३
प्रेम	चौगान	,, ३५०
काम	मीना	,, १०४
लज्जा	लगाम	,, २४७
आँसू	कौड़ा	,, ५२२
बरुनी	जंजीर	
नेत्र	फकीर	
रूप	ठग	,, ६६
प्रकृति से—		
प्रेम	सरिता	,, २१५
प्रेम	पेड़	,, २१६
पशुपक्षी से—		
आँख	तुरंग	,, ७४
चित्त	,,	,, ३५०
मन	मृग	,, १२७
,,	मस्त हाथी	,, ३८२
,,	गौरा पक्षी	,, ७५
तरुण	मृग	,, ६४
नायिका	नागिन	,, २५१
शास्त्रज्ञान (ज्योतिष)—		
किशोरावस्था	सूर्य	,, २५
तिय	तिथि	,, ,,
बयःसंधि	संक्रांति	,, ,,
कज्जल	शनि	,, ,,
चख झख	लगन	बि० बो० २५
स्नेह	सुदिन	,, ,,
विंदु	मंगल	,, ,,
मुख	शशि	,, ,,
गुरु	केसरि आड़	,, ,,
सौंदर्य	चूरन	,, २३०

घरेलू जीवन से—

छवि (अंगद्युति)	बरमा	बि० बो० १४३
,,	गुड़ की डलिया	,, १८७
हृदय	हिंडोल	,, २०५

अब विविध क्षेत्रों से लिए गए 'देव' के कुछ अप्रस्तुत देखिए—

तत्कालीन वातावरण और जीवन से—

आँख	दलाल	सु० तरंग ११८
वयःसंधि	चतुरंग चमू	,, १८

प्रकृति से—

अश्रु	सावन भादों	,, १६५
रूप	सिंधु	,, ४३४
नायिका	मंजरी	,, ५७२

पशु-पक्षी-जगत् मे—

आँखें	मतवारे मतंग	,, २३८
,,	तुरी	,, ३६०
,,	तीखा तुरंग	सु० वि० १८
,,	मधुमक्खी	,, ,,
मन	जाल का मीन	प्रे० चं० पृ० २०
रूप	कल्पवृक्ष	सु० ते० छं० ३६३
नायिका	पिंजरा की चिरी	,, ५३६
,,	सोनचिरी	,, ३०५
प्रीति	पतंग	,, ६०३

घरेलू जीवन से—

मन	घी (काम धूप है)	सु० त० छं० २४८
,,	माखन	,, २६०
,,	मोम	,, ३८१
नायिका	फिरकी	,, ५३६
वयःसंधि	मधु+दधि+दूध+ऊख	,, ३६३
यौवन	दूध	,, २६०

इन दोनों कवियों के अप्रस्तुतों की सूची से स्पष्ट पता लग जाता है कि इनका झुकाव किस तरह के चित्रों की ओर है। स्मृति अतीत की घटनाओं का माल-गोदाम नहीं, बल्कि चुनाव करने का यंत्र है। यह स्मृतियंत्र अपनी मनोवृत्तियों के अनुकूल दृश्यों और वस्तुओं का चयन और सुरक्षा करता है।

एक कवि की स्मृतिसीमा में प्रायः एक ही तरह के अप्रस्तुत घूम फिरकर आते हैं। बिहारी के अधिकांश अप्रस्तुत दरबारी वातावरण तथा पुस्तकों से संगृहीत किए गए हैं। देव ने अपने अप्रस्तुतों को प्रधान रूप से पशु-पक्षी-जगत् तथा घरेलू जीवन से लिया है। पशु-पक्षी-जगत् से बिहारी ने तुरंग, मृग, कुही, मस्त हाथी, नागिन आदि को अप्रस्तुत के रूप में लिया है जबकि देव की दृष्टि मधुमक्खी, जाल के मीन, पतंग, सोनचिरी, लालमुनिया आदि की ओर गई है। चित्र की योजना में इन अप्रस्तुतों का प्रतीकात्मक अर्थ भी होता है जो कवि के दृष्टिकोण का प्रकाशन करता है। मन के लिये मृग कहने में उनका तात्पर्य यह है कि यह मृग की भाँति ही भोलाभाला है और सहज में ही बिंध जाता है। तुरंग से उसकी चंचलता, मस्त हाथी से उसका मनमानापन और गौरा पक्षी से आँख रूपी 'कुही' द्वारा मर्मांतक पीड़ा पाना द्योतित होता है। रूप से सहज में बिंध जाना तथा किसी की सुंदर आँखों की गहरी चोट खा जाना सामंतीय मन की विशेषताएँ हैं। अनियंत्रित ढंग से मनमानी करना स्वच्छंद सामंतों का दैनंदिन व्यापार है। इससे प्रेम की नहीं, वासना और मुक्त विहार के अतिरेक की गंध आती है। देव का मन जाल का मीन है। इसमे प्रेमजन्य तड़प और विह्वलता है। बिहारी की नायिका नागिन सी डस लेनेवाली है, तो देव की नायिका 'पिंजरा की चिरी' है। बिहारी की नायिका के रूप का जो प्रभाव नायक पड़ा है और जिस ढंग से वह उसकी अभिव्यक्ति करता है वह उसकी रूपासक्ति और शारीरिक भूख को प्रकट करता है। लेकिन 'पिंजरा की चिरी' प्रेमजन्य पीड़ा, वेदना, तड़फड़ाहट, व्याकुलता आदि मानसिक स्थितियों को एक साथ ही अभिव्यंजित करने में पूर्ण समर्थ है।

अब जरा घरेलू जीवन से संगृहीत अप्रस्तुतों की मार्मिकता और अमार्मिकता पर भी विचार कर लेना चाहिए। बिहारी को घरेलू जीवन के अप्रस्तुतों के लिये गुड़ की डलिया और बरमा ही मिले। ये दोनों अप्रस्तुत छवि के लिये आए हैं। इन अप्रस्तुतों से न तो रूप की तरलता आदि का स्वरूप खड़ा हो पाता है और न भाव को तीव्र ही बनाया जा सका है। लेकिन द्रष्टा और स्रष्टा की रूपपीड़ित मनोवृत्ति छिप नहीं सकी है, फ़ारस और ईरान की आशिकी प्रवृत्ति को भारतीय लिबास पहनाने का प्रयत्न भी अप्रकट नहीं रह सका है।

घरेलू अप्रस्तुतों में देव ने मन के लिये घी, माखन, मोम आदि लाकर मन की द्रवणशीलता की ओर संकेत किया है। किसी के देखने, संभाषण करने आदि से मन का द्रवीभूत होना ही तो स्नेह है। दलाल, चतुरंगिणी सेना आदि की ओर इनकी दृष्टि न गई हो, ऐसी बात नहीं है, लेकिन उनमें इस तरह के अप्रस्तुतों की संख्या कम है। बिहारी के ज्योतिषशास्त्रीय अप्रस्तुत कोई चित्र उपस्थित नहीं करते, हाँ, एक नया चमत्कार अवश्य खड़ा करते हैं। देव का मन इस तरह के अप्रस्तुतों में

नहीं रम सका है। मतिराम और पद्माकर में भी इस तरह के चित्रों की कमी है। पर मतिराम के दोहों में जो अप्रस्तुत आए हैं उन्हें बिहारी की पुनरावृत्ति से अधिक नहीं समझना चाहिए।

घनआनंद में अप्रस्तुतों की संख्या उतनी अधिक नहीं मिलेगी किंतु उनसे उनकी प्रेम संबंधी मनोवृत्ति का पता लग जाता है। पक्षियों में बार बार चातक और चकोर को याद किया गया है। ये वियोग, एकनिष्ठता और तन्मयता के प्रतीक हैं। वियोग के लिये अक्षयवट और जीव के लिये गुड्डी का प्रयोग वियोग का अमरत्व और जीव की अस्थिरता सूचित करते हैं। यद्यपि घनआनंद भी 'नैनसुभट' और 'प्रेमरणक्षेत्र' से अपरचित नहीं हैं, फिर भी इस रणभूमि में सुभट नेत्रों के युद्ध संबंधी दृश्यों को बहुत कम दिखलाया गया है।

उपर्युक्त विवेचना के आधार पर निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि :

१—सामान्यतः अपने भोगमूलक दृष्टिकोण के कारण अप्रस्तुतों के चुनाव में कवियों की दृष्टि रूप और प्रेम को उद्दीप्त करनेवाले अप्रस्तुतों पर विशेष रही है। मानसिक पक्ष को उभाड़कर सामने रखनेवाले अप्रस्तुतों की प्रायः उपेक्षा हो गई है।

२—अप्रस्तुतों को प्रधानतः तीन क्षेत्रों से चुना गया है—सामंतीय वातावरण तथा जीवन, पुस्तकों और घरेलू जीवन तथा प्रकृति से। सामंतीय वातावरण तथा जीवन से गृहीत अप्रस्तुत रूप के प्रति विलासात्मक आसक्ति के द्योतक हैं। पुस्तकीय अप्रस्तुत तो बिंब खड़ा करने में नितांत असमर्थ हैं। बिहारी ने ऐसे अप्रस्तुतों को अधिक संख्या में ग्रहण किया है। देव के अप्रस्तुत अधिकतर घरेलू जीवन से लिए गए हैं जो मन की द्रवणशीलता के द्योतक हैं। पशुपक्षियों के रूप में गृहीत अप्रस्तुत नायिका की संयोग-वियोग-जन्य मानसिक दशाओं को प्रकट करते हैं। प्रेम के मानसिक पक्ष के उद्घाटन में उनकी वृत्ति अधिक रमी है। मतिराम और पद्माकर की स्थिति इन दोनों की मध्यवर्तिनी है। वे सामान्यतः अप्रस्तुतों के फेर में अधिक नहीं पड़े हैं।

(५) **अलंकारयोजना**—काव्यरूपों की विवेचना करते समय इस बात को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है कि काव्यरूप, भावानुभूति और अभिव्यंजना में कोई पार्थक्य नहीं है। भामह और वामन आदि अलंकारिकों ने सूत्र रूप में इस तथ्य की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया है। आलंकारों को अभिव्यंजना से पृथक् नहीं माना जा सकता। भामह ने अलंकारों के मूल में वक्रोक्ति और अतिशयोक्ति को स्वीकार कर एक प्रकार से अलंकार को अभिव्यक्ति का अपरिहार्य अंग मान लिया है। काव्यसर्जना के सघन क्षणों में कवि की अभिव्यक्ति में असाधारणता आ जाती है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि उसकी अभिव्यक्तियाँ वक्रोक्तिपूर्ण हो

जाती हैं। वामन ने तो कुछ और आगे बढ़कर अलंकारों को सौंदर्य का समानार्थी मान लिया है—सौंदर्यमलंकारः। वामन का यह कथन पश्चिम के सौंदर्यशास्त्रियों के उस मत के समकक्ष रखा जा सकता है जिसमें भावानुभूति और अभिव्यक्ति में एकरूपता स्थापित की गई है।

किंतु आगे चलकर अलंकारों को काव्य का शोभाकर धर्म मान लिया गया और आलंकारिकों ने अलंकार और अलंकार्य के बीच सुस्पष्ट विभाजक रेखा खींच दी। अब अलंकार भावानुभूति को तीव्रतर बनानेवाला तथा वस्तु के रूप, गुण, व्यापार आदि को उत्कर्ष प्रदान करनेवाला माना गया। इसका एक दुष्परिणाम यह भी हुआ कि कुछ लोगों ने स्वयं अलंकार को साध्य मान लिया। इसके फलस्वरूप काव्य का आतरिक पक्ष दुर्बल पड़ गया।

काव्य को शोभाकर अथवा काव्यगत भावानुभूति और वस्तु को तीव्रतर तथा भावप्रवण बनाने के लिये कवि जीवन और जगत् के विविध क्षेत्रों से अप्रस्तुतो का चुनाव करते हैं। कवि का अनुभव जितना व्यापक और परिज्ञान जितना गहरा होता है उसका अप्रस्तुत भी प्रस्तुत को उतना ही प्रभावोत्पादक और मर्मस्पर्शी बना पाता है। यह अप्रस्तुत योजना मुख्यतः सादृश्य पर आधृत है। यह सादृश्य प्रधानतः तीन प्रकार का होता है—रूपसादृश्य, धर्मसादृश्य और प्रभावसादृश्य।

(अ) **रूपसादृश्य**—प्रस्तुत की रूपानुभूति को तीव्रतर बनाने की दृष्टि से जिन सादृश्यमूलक अप्रस्तुतों की योजना की जाती है वे आकार में प्रायः प्रस्तुत के अनुरूप होते हैं। लेकिन उनका मुख्य कार्य होता है प्रस्तुत के आकार का भावात्मक बोध कराना। जहाँ अप्रस्तुत भावात्मक बोध कराने में अक्षम प्रतीत होते हैं वहाँ उनकी सारी सार्थकता व्यर्थ सिद्ध होती है।

रीतिकवियों के रूपवर्णन—मुख्यतः नख-शिख-वर्णन—रूढ़िबद्ध और अवैयक्तिक हैं। उन्होंने प्रायः संस्कृत के लक्षणग्रंथों में निर्धारित प्रत्येक अंग के उपमानों को ही ग्रहण किया है। इस प्रकार के पिष्टपेषित उपमान सौंदर्यानुभूति जागरित करने में सर्वथा असमर्थ हैं। आँखों के लिये कुछ रूढ उपमानो का प्रयोग देखिए :

(१) हरिनी के नैनान तें, हरि नीके ये नैन।
—बिहारी

(२) खंजरीट, कंज, मीन, मृगन के नैनन की
छीन छीन लेहि छवि ऐसी तें लहाई है।
—मतिराम

(३) हिरन, चकोर, मीन, चंचरीक, मैनबान,
खंजन, कुमुद, कंजपुंज न तुलत हैं
—देव

(४) खंजन के प्रान, पिय बिरह-तिमिर-भान
मीनन के मान, घनबान मनमथ के।
—श्रीपति

इस परंपराप्राप्त उपमानो के एकत्रीकरण से न तो आँखों की रूपानुभूति ही तीव्र हो पाती है और न उनके प्रति किसी प्रकार का भावोद्वेलन ही हो पाता है। कटि के लिये केशव ने 'कटि जथा भूत की मिठाई, जैसो साधु की भुठाई, जैसी स्यार की ढिठाई, ऐसी छीन छहरतु है' लिखा तो देव ने बहुत कुछ उसी को दुहराते हुए 'जानि न परत अति सूक्ष्म ज्यों देवगति, भूत की चाल कीधौं कला है कोटि नट की' लिख मारा।

जहाँ इन्हें मृग, मीन, खंजन के रूढ उपमानो से छुट्टी मिली है वहां पर इन्होंने भावोत्तेजक अप्रस्तुत योजना प्रस्तुत की है :

(१) पानिप बिमल की झलक झलकन लागी
काई सी गई है निकल लरिकाई अंग ते।
—मतिराम

(२) डगर डगर बगरावति अगर अंग,
अगर मगर आगु आवति दिवारी सी।
—देव

(३) सीरे उपचारन घनेरे घनसारन सों,
देखत ही देखौ दामिन लौं दुरि जायगी।
—पद्माकर

प्रथम उदाहरण में ज्ञातयौवना नायिका के आगत रूपलावण्य को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है। लड़कपन के बीत जाने पर यौवन के पानिप का आगमन होता है। इसे स्पष्ट करने के लिये काई के हटने पर जो स्वच्छ जल प्रकट होता है उसे अप्रस्तुत के रूप में ग्रहण किया गया है। यह अप्रस्तुत न तो असाधारण है और न चमत्कृत करनेवाला, इससे प्रायः सभी परिचित हैं। काई के हट जाने पर पानी का सौंदर्य अपने प्रकृत रूप में ही आता है किंतु वह हमारी आँखों को अत्यंत मनोरम, आकर्षक और ताजगी से भरा हुआ लगता है, क्योंकि काई से बिलकुल अलग करके उसे हम नहीं देख पाते। इस अप्रस्तुत द्वारा ज्ञातयौवना नायिका का लावण्यमय व्यक्तित्व उभर आता है। 'पानिप' शब्द उस रूप (आगत रूपानुभूति) को तीव्रतर बना देता है।

देव ने नायिका के लिये 'दिवारी' अप्रस्तुत की योजना करके हमारे संमुख एक अत्यंत नयनाभिराम चित्र प्रस्तुत किया है—दीपमालिका की जगमगाहट नायिका की रूपच्छटा को अतिशय भावप्रवण बना देती है। नायिका मणिमाणिक्य जड़े हुए आभूषणों से अलंकृत है। इन आभूषणों की चमक उसकी तनद्युति से मिलकर इस तरह शोभायमान हो रही है मानो दीपावली जगमगा रही हो। पर यह दीपावली की जड़ शोभा नहीं है—चलती हुई नायिका स्वयं गतिशील दीपमालिका बन गई है।

बेनी प्रवीन का दूसरा उदाहरण लीजिए :

एक ही दिना में जलधर सी उमहि आई,
जोबन की उमँग अवाई सुनि कंत की।

इस रूपसादृश्य के साथ साथ धर्मसादृश्य भी है। आषाढ़ के बादलों की उमड़न घुमड़न, उनके लघु दीर्घ आकारों की दौड़धूप, यौवनजन्य लालसा भरे सौंदर्य तथा उसकी उमंगों को मूर्त करने में कितने समर्थ हैं।

पद्माकर ने पुराने उपमान 'दामिन' का प्रयोग किया है। पर जिस प्रसंग में यह प्रयुक्त हुआ है उसमें यह क्षणिकता का भावात्मक रूप खड़ा करने में पूर्णतः समर्थ है।

(आ) धर्मसादृश्य—रूपसादृश्य की अपेक्षा धर्मसादृश्य सूक्ष्मतर विधान है। इसके द्वारा प्रस्तुत के गुणधर्म की अनुभूति को तीव्रतर बनाया जाता है। आधुनिक कवियों ने रूपसादृश्य की अपेक्षा धर्मसादृश्य का अधिक ध्यान रखा है। साधर्म्यमूलक अप्रस्तुतों में प्रायः लक्षणा शक्ति का चमत्कार निहित रहता है और आधुनिक काव्यों में लक्षणा का प्रयोगबाहुल्य स्वभावतः साधर्म्यमूलक अप्रस्तुतों को समाविष्ट कर लेता है।

रीतिबद्ध कवियों में इस तरह के अप्रस्तुतों की साधारणतः कमी ही दिखाई देती है। रीतिमुक्त कवि घनानंद में अवश्य साधर्म्यमूलक अप्रस्तुतों की भरमार है, क्योंकि उनकी रचनाओं में लाक्षणिक प्रयोगों की बहुलता है। रीतिबद्ध कवियों में देव ही ऐसे कवि दिखाई पड़ते हैं जिन्होंने इस तरह के अप्रस्तुतों का अपेक्षाकृत अधिक प्रयोग किया है।

इस संबंध में ध्यान देने की बात यह है कि यदि आलंबन को परिस्थिति विशेष में डालकर उसकी मानसिक प्रतिक्रियाओं को स्पष्ट करने तथा उन्हें भावप्रवण बनाने के लिये अप्रस्तुतों की योजना की जायगी तो वे अधिक भावोद्रेकपूर्ण बन सकेंगे। प्रस्तुत के सामान्य धर्मबोध के लिये जो उपमान प्रयुक्त होंगे वे न तो उतने व्यंजक होंगे और न प्रभावपूर्ण। इस संबंध में 'देव' का ही एक उदाहरण देखिए :

माखन सो तन दूध सो जोबन।

माखन अप्रस्तुत शरीर के कोमलता धर्म का बोध मात्र कराता है और यह बोध भावपरक भी नहीं बन पाया है। यदि 'माखन सो तन' के स्थान पर 'माखन सो मन' होता तो मन के धर्म की भावात्मक अनुभूति का मूर्तीकरण संभव हो पाता। 'दूध' अप्रस्तुत तो 'जोबन' के धर्मगुण के स्पष्टीकरण में नितांत असमर्थ है।

देव का ही एक दूसरा उदाहरण देखिए जो अपेक्षाकृत अधिक प्रभावशाली बन पड़ा है :

पारे ही के मोती किधौं प्यारी कै सिथिल गात,
ज्यों ही ज्यों बटोरियत त्यों त्यों बिथुरत है।

प्रणयमान की मानसिक अवस्था में होने के कारण नायिका कृत्रिम शैथिल्य का अनुभव करती हुई प्रतीत होती है। यहाँ पर नायिका को एक विशेष परिस्थिति में डालकर उसकी मानसिक प्रतिक्रिया स्पष्ट की गई है। नायिका के बिथुरते हुए शरीर की अनुभूति को स्पष्ट करने के लिये पारे के मोती का अप्रस्तुत ले आया गया है। स्पर्श मात्र से पारे के बिखरने का व्यापार नायिका की शिथिलता को मूर्त बना देता है।

इसी प्रकार धर्मसादृश्य के आधार पर मतिराम ने गुरुजनों के बीच पड़ी हुई नवोढ़ा नायिका के संकोच का बहुत मार्मिक चित्र खींचा है :

ज्यों ज्यों परसै लाल तन, त्यों त्यों राखे गोय।
नवल बधू डर लाज ते, इंद्रबधू सी होय॥

यहाँ पर डर और लज्जा के द्वंद्व में पड़ी हुई नववधू के लिये 'इंद्रबधू' अप्रस्तुत ले आया गया है। शालीनता नारी की आवयविक (आरगैनिक) विशेषता है। नवागत बहू का प्रिय के स्पर्श मात्र से संकुचित हो जाना स्वाभाविक है। इस व्यापार को अनुभूतिमय बनाने के लिये 'इंद्रबधू' को प्रस्तुत किया गया है। इंद्रवधू को जहाँ स्पर्श किया कि वह छुई मुई हुई। दोनो के छुई मुई हो जाने में जो स्पर्शसाम्य ले आया गया है वह इस चित्र को काफी भावात्मक और उद्रेकपूर्ण बना देता है।

हरख मरुधरनि को नीर भौ री।
जियरो मदन तीर गन को तुनीर भौ।

—दास

इसमें हृदय के हर्ष और मरुधरणी के नीर में कोई रूपसाम्य नहीं है। मरु का धर्म जल को सोख जाना है। इस अप्रस्तुत के द्वारा हृदय के हर्ष के विलीन होने के व्यापार को प्रत्यक्ष किया गया है। इस अप्रस्तुत के अछूतेपन के कारण प्रस्तुत का मूर्त रूप और भी प्रभावोत्पादक हो गया है।

(इ) प्रभावसादृश्य—प्रभावसादृश्य साधर्म्य की अपेक्षा भी सूक्ष्मतर अप्रस्तुत योजना है। रीतिबद्ध कवियों में इस तरह के अप्रस्तुतों की योजना और भी विरल है। इसका प्रयोग आलंबन के प्रभाव को स्पष्ट और अनुभूतिमय बनाने के लिये किया जाता है। रीतिबद्ध कवियो में सर्वाधिक संवेदनशील होने के कारण देव ने इस तरह के अप्रस्तुतों का प्रयोग औरों की अपेक्षा अधिक किया है :

> **ये अँखियाँ सखि आनि तिहारियै जाय मिलीं जलबूँद ज्यों कूप में।**
> **कोटि उपाव न पाइए फेरि समाइ गईं रँगराइ के रूप में।**

आँखों के श्रीकृष्ण के रूप में समा जाने तथा कूप में जलबिंदु के मिलने में न तो रूपसादृश्य है और न विशेष धर्मसादृश्य ही। पर जलबिंदु के कूपजल में समाहित हो जाने तथा आँखों के रूप में लय हो जाने में गहरा प्रभावसाम्य है। प्रभावसादृश्य के आधार पर लयमान होने के व्यापार का मूर्त प्रत्यक्षीकरण सहजसंभव है।—

दास का एक दूसरा उदाहरण देखिए :

> **दास न जानत कोऊ कहूँ तन में मन में छबि में बस जाती।**
> **प्यारे की तारे कसौटिन में अपनो छबि कंचन की कसि जाती॥**

आँखो के श्याम तारो मे बसी हुई नायिका की स्वर्णिम छवि के लिये कसौटी पर कसे हुए सोने की पीतवर्णी लीक में स्थूलतः रूपसादृश्य है पर लक्षणा के सहारे किसी की आँखो में छवि की रेखा खिंच जाने का तात्पर्य है उसकी संपूर्ण चेतना का किसी की रूपछटा से अभिभूत होना।

पर, जैसा पहले कहा जा चुका है, अपनी सीमाओं और विशिष्ट शैली के कारण इस तरह के अप्रस्तुतो की प्रायः कमी मिलेगी।

(ई) संभावनामूलक अप्रस्तुत योजना—कुछ सादृश्यमूलक अप्रस्तुत ऐसे भी होते हैं जो संभावनाओं पर आश्रित होते हैं। उत्प्रेक्षा ऐसा ही अलंकार है। 'प्रकृतस्य परात्मना संभावना उत्प्रेक्षा' अर्थात् उपमेय का उपमान रूप में संभावना उत्प्रेक्षा है। इसमें प्रकृत या उपमेय (प्रस्तुत) उतना प्रधान नहीं होता जितना उपमान या अप्रस्तुत होता है। प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों का पार्थक्य बना रहता है, किंतु किसी न किसी कारण से दोनों में अभिन्नता स्थापित की जाती है।

उन सादृश्यमूलक अलंकारों की अपेक्षा, जिनकी चर्चा पीछे की जा चुकी है, रीतिकाव्यों में उत्प्रेक्षा के लिये काफी अवकाश दिखाई पड़ता है। इसका कारण यह है कि इसमें कल्पना की उड़ान और चमत्कारप्रदर्शन की छूट रहती है। अद्भुत और चमत्कार के प्रति विशेष प्रेम होने के कारण रीतिबद्ध कवियों ने इसका प्रचुर प्रयोग किया है।

अन्य अलंकारों की भाँति उत्प्रेक्षा में भी अप्रस्तुत जितना ही अधिक लोकानुभूति और लोककल्पना की सीमा में रहेगा वह उतना ही अधिक काव्यसौंदर्य की सर्जना में समर्थ हो सकेगा। पर बहुज्ञताप्रदर्शन और चमत्कारसर्जना के फेर में पड़कर प्रायः सभी कवियों ने किताबी अप्रस्तुतों का भी प्रयोग किया है। ऐसे अप्रस्तुत न तो रूपानुभूति में सक्षम होते हैं और न विषयी के धर्म और प्रभाव के संमूर्तन में। इस तरह के अप्रस्तुतों के कुछ उदाहरण देखिए :

(१) सिय मुख लखि हीराजरी, बेंदी बढ़े विनोद।
सुत सनेह मानौ लियौ, बिधु पूरन बधु गोद॥
—बिहारी

(२) भौंहन मध्य मृगंमद केसरि बंदन लीक सुवेर पुरानो।
भू पर ते नभ ऊपर को त्रिशिरा शर मैन तनू पर तानो।
—देव

(३) सारी महीन यों लीन बिलोकि बिचारत हैं कवि के अवनी पै।
सोदर जानि ससीरि मिली सुत संग लिए मनो सिंधु मैं सीपै॥
—दास

(४) बंदन बिंदौना दै दुरायै मुख घूँघट में,
झीन स्याम सारी त्यौं किनारी चहुँ फेर में।
भूमिसुत भानुसुत सुत सोमभान मानौ
झलकै मयंक घनदामिनी के घेर में।
— बेनीप्रवीन

इन अप्रस्तुतों से कवियों की सूझबूझ और दूर की कौड़ी ले आने की प्रवृत्ति पर दाद दी जा सकती है, पर इनके द्वारा काव्यसौंदर्य बहुत कुछ न्यून हो जाता है। अप्रस्तुत का कार्य प्रस्तुत को स्पष्ट करना तथा उसका भावात्मक रूप खड़ा करना होता है। इस दृष्टि से उपर्युक्त सभी उपमान अत्यंत अशक्त हैं। ये प्रस्तुत को स्पष्ट करने के स्थान पर उसे और भी धुँधला और अचित्रोपम बना देते हैं। पर इस तरह के अप्रस्तुतों की संख्या अधिक नहीं है। इनका उपयोग प्रायः नखशिख के वर्णन में किया गया है।

उत्प्रेक्षा का प्रयोग अधिकांश में भाव को चमत्कारपूर्ण लालित्य प्रदान करने में किया गया है जिससे काव्यसौंदर्य की श्रीवृद्धि हुई है। लोकजीवन की कल्पना और अनुभव की सीमा के भीतर से चुने अप्रस्तुतों द्वारा रूप और भाव की रमणीयता में जो निखार आया है वह द्रष्टव्य है :

(१) सोहत ओढ़े पीत पट स्याम सलोने गात ।
मनो नीलमनि सैल पर आतप परयो प्रभात ।
लसत सेत सारी ढक्यौ, तरल तरयौना कान ।
परयौ मनौ सुरसरि सलिल, रवि प्रतिबिंब बिहान ॥
—बिहारी

(२) नील नलिन दल सेज मैं, परी सुतनु तनु देह ।
लसै कसौटी में मनो, तनक कनक की रेह ।
सारी सुही 'मतिराम' लसै मुख संग किनारी की यौं छबि छाजै ।
पूरन चंद पियूष मयूष मनो परवेष की रेख बिराजै ॥
—मतिराम

(३) हार मानि प्यारी बिपरीत के बिहार लगि ।
सिथिल सरीर रही साँवरे के तन पर ।
मानहु सकेलि केलि केतिको कला की करि,
थाकी है चलाकी चंचला की छोर घने पर ॥
—पद्माकर

बिहारी के पहले दोहे में अप्रस्तुत कविकल्पित है। लेकिन यह कल्पना ऐसी नहीं है कि उसका मानस प्रत्यक्षीकरण न किया जा सके। नीलमणि का शैल नहीं होता, पर कल्पना के द्वारा नीलमणि शैल पर पड़ती हुई बालारुण की किरणों का जो नयनाभिराम दृश्य उपस्थित होता है वह प्रस्तुत की रूपचेतना को अत्यंत रमणीय बना देता है। उन्हीं के द्वितीय दोहे का अप्रस्तुत संभावित है। श्वेत साड़ी से ढके हुए स्वर्ण तरौने की भावानुभूति कराने के लिये गंगाजल में पड़ते हुए प्रातःकालीन सूर्य के प्रतिबिंब को अप्रस्तुत के रूप मे रखा गया है। यद्यपि अति परिचित होने के कारण दूसरा अप्रस्तुत पहले की भाँति भावोद्रेकक्षमता नहीं रखता, फिर भी श्वेत साड़ी में झिलमिलाते हुए तरौने का भावात्मक संमूर्तन हो जाता है।

मतिराम के भी दो अप्रस्तुत उद्धृत किए गए हैं। ये दोनों संभावित हैं। दोहे में विरहिणी नायिका का वर्णन है। नील कमलदल की शय्या पर लेटी हुई पीतवर्णी तन्वी के लिये कसौटी पर कसी हुई क्षीण स्वर्णरेखा को अप्रस्तुत के रूप में ले आया गया है। पिटापिटाया अप्रस्तुत होते हुए भी 'तनक' विशेषण के कारण यह बिलकुल ताजा हो गया है। यह 'तनक' उसकी तनुता का बहुत ही सजीव चित्र उपस्थित करता है।

दूसरा अप्रस्तुत प्रकृति के क्षेत्र से ग्रहण किया गया है। अमृतधारी पूर्णिमा के चाँद का ज्योतिर्मय परिवेश कासनी रंग की साड़ी की प्रदीप्त किनारी से आवृत

नायिका के मुखमंडल की गहरी रूपचेतना जागरित करता है। पद्माकर का अप्रस्तुत केलिश्लथ नायिका का रूपचित्र खड़ा करने मे उतना भावात्मक नहीं बन पाया है जितना उसके क्रीड़ात्मक पक्ष का रूपचित्र खड़ा करने में।

यह तो रूपचेतना को उभारने और रमणीय बनानेवाले संभावनामूलक अप्रस्तुतो का चित्रण हुआ। भावानुभूति को तीव्रतर बनानेवाली अनेकानेक संभावनाएँ भी रीतिकाव्यों में बिखरी पड़ी हैं :

(१) लौनी सलौनी के अंगनि माह सु, गौने की चूनरि टोने से कीने।

—मतिराम

(२) यों सुनि ओछे उरोजन पै, अनुराग के अंकुर से उठि आए।

—देव

(३) मीने मीमे सुंदर सलोने पद दास लोने,
मुख की चटक ह्वै लगन लागी टोने सी।

—दास

टोना और अनुराग के अंकुर का रूपचेतना से कोई संबंध नहीं है, किंतु वे मावोद्वेलन में अतिशय सशक्त हैं। यहाँ प्रभावसाम्य के आधार पर चूनरी और लगन के प्रभावातिशय्य को स्पष्ट करने के लिये टोना ले आया गया है। उरोजों के रोमहर्ष की अनुराग के अंकुर के रूप में जो संभावना की गई है, वह नायिका के गहरे प्रेम की द्योतक है।

(उ) **चमत्कारमूलक अलंकार**—काव्यसौंदर्य का विश्लेषण करने पर उसमें कुछ अद्भुत या विस्मय की संहिति भी दिखाई देती है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विचार करने पर विस्मय का प्रादुर्भाव किसी नव्यतर या सामान्यतः अपरिचित विषय-वस्तु या घटना के कारण होता है। कहा जा सकता है कि जब काव्य की आत्मा रस है तो इस विस्मय और अद्भुत के लिये उसमें कहाँ अवकाश है। लेकिन ध्यान देने की बात यह है कि विस्मय और अद्भुत रसपोषक होने पर रसानुभूति को तीव्रतर बनाते हैं। हाँ, स्वयं साध्य हो जाने पर ये काव्य के अंतःसौंदर्य को बहुत कुछ विकारग्रस्त बना देते हैं। चमत्कार का अत्यधिक प्रयोग बिहारी ने किया है। इसीलिये उनके चामत्कारिक विधान को देखकर पाठक आश्चर्यचकित होकर दाद देने के लिये बाध्य हो जाते हैं। लेकिन इसका दुष्परिणाम यह हुआ है कि उसकी रसोद्रेक क्षमता बहुत कुछ म्रियमाण हो गई है। मतिराम के रसराज में अकाव्योचित चमत्कारप्रियता नहीं दिखाई देती, किंतु दोहावली में बिहारी के प्रभाव से वे अछूते नहीं रह सके। यमक के प्रति देव का आग्रह तो है, पर वह उनकी रचना का प्रधान अलंकार नहीं। पद्माकर में सामान्यतः इस तरह के अलंकारों की

योजना कम ही हो पाई है। श्लेषमूलक चामत्कारिक अलंकार वे जरूर ले आए हैं पर चमत्कारमूलक अलंकारों की संख्या उनमें अधिक नहीं है।

पहले चमत्कारमूलक उन अलंकारों को देखिए जो केवल चमत्कारों की सर्जना करते हैं :

(१) अजौं तरयौना हीं रह्यौ, श्रुति सेवत इक रंग।
नाक बास बेसरि लह्यौ, बसि मुकतन के संग॥
—बिहारी

(२) फूली नागरि कमलिनी, हृदि गए मित्र मलिंद।
आयो मित्र बिदेस तें, भयो सु दिन आनंद॥
— मतिराम

(३) तारे खुले न घिरी बरुनी घन नैन भए दोउ सावन भादौं॥
— देव

बिहारी का श्लेष स्पष्ट रूप से चमत्कारविधायक है, पर इससे अर्थलालित्य का कोई संबंध स्थापित नहीं हो सका है। मतिराम का 'मित्र' भी चमत्कार के लिये ही ले आया गया है। यद्यपि देव के 'तारे' से चमत्कार की ही सृष्टि होती है, तथापि परिस्थितिनिर्माण में योग देने के कारण यह बहुत कुछ सार्थक हो गया है।

अब कुछ उन अलंकारों को लीजिए जो चमत्कार तथा रसानुभूति को समन्वित रूप में अभिव्यक्त करते हैं :

(१) दृग अरुझत, टूटत कुटुम, जुरत चतुर चित प्रीति।
परति गाँठि दुरजन हिए, दई नई यह रीति॥
(असंगति)

(२) तंत्रीनाद कवित्तरस, सरस राग-रति-रंग।
अनबूड़े बूड़े, तिरे जे बूड़े सब अंग॥
(विरोधाभास)

(३) बिगसत नव बल्ली कुसुम, निकसत परिमल पाय।
परसि प्रजारति बिरह हिय, बरसि रहे की बाय॥
(विषम)

(४) लोचन लोल बिसाल बिलोकनि, को न बिलोकि भयो बस माई।
वा मुख की मधुराई कहा कहौं, मीठी लगै अँखियान लुनाई॥
(विभावना)

(५) सेत सारी ही सौ सब सौहैं रँगी स्याम रंग ।
सेत सारी ही सौं स्याम रँगे लाल रंग मैं ।
(विषम) —मतिराम

(६) कातिक की राति पूनो इंदु परगास दूनो,
आसपास पावस अमावस लगी रहै ।
ग्रीषम की ऊषमा, मयूष मान कीनी मुख
देखे सनमुख मिसि सिसिर लगी रहै ।
बरसै जुन्हाई सुधा बसुधा सहसधार
कौमुदी न सूखे ज्यौं ज्यौं जामिनी जगी रहै ।
दोऊ पच्छ उज्जल बिराजें राजहंसी देव,
स्याम रँग रँगी जगमगी उमगी रहै ।
(विरोधाभास) —देव

बिहारी के चमत्कारमूलक अलंकारों में जो सफाई और बारीकी दिखाई देती है वह बेजोड़ है, पर वे सूक्तियाँ अधिक हैं रससिक्त काव्य कम । इसके विपरीत मतिराम और देव के वैषम्यमूलक अलंकारों में वैलक्षण्य के साथ साथ भावगांभीर्य का मणिकांचन संयोग हुआ है ।

(ऊ) **अतिशयमूलक अलंकार**—सभी शोभाकर अलंकारों की भाँति अतिशयमूलक अलंकार भी भावों को उद्दीप्त कर काव्यसौंदर्य की अभिवृद्धि करते हैं । न्यूनाधिक मात्रा में सब अलंकारों के मूल में अतिशयता तो होती ही है पर, जैसा कहा गया है, इसे उसी सीमा तक ग्रहण कर सकते हैं जिस सीमा तक वह काव्य को संवेद्य बनाती है । अलंकारों के मूल प्रयोजन को न समझने के कारण, दूर की कौड़ी ले आकर चमत्कृत कर देने की स्पृहा ने कवियों को ऊँची उड़ान भरने की छूट सी दे दी । केशव और बिहारी ने इसका खूब उपयोग किया है । बिहारी की कुछ उक्तियाँ देखिए :

(१) औंधाई सीसी, सुलखि, बिरह बरति बिललात ।
बिचहीं सूखि गुलाब गौ छींटौ छुई न गात ॥
(२) सीरे जतनन सिसिर ऋतु, सहि बिरहिनि-तन-ताप ।
बसिबो कौं ग्रीषम दिनन परयौ परोसिनि पाप ॥
—बिहारी

विरहताप की अतिशयता की जो व्यंजना उपर्युक्त दोहों में की गई है वह बाह्य और वृत्तात्मक है । एक तो यहाँ भावव्यंजना का अभाव है, दूसरे वस्तुव्यंजना को इस ढंग से उपस्थित किया गया है कि वह बहुत कुछ निष्प्रभ और प्रभावहीन

हो गई है। गुलाब के सूख जाने और शिशिर में ग्रीष्म का अनुभव करने की उक्तियाँ परंपराभुक्त और कृत्रिम हैं। जहाँ पर यह अतिशयता हेतु से परिपुष्ट है वहाँ विरह-वर्णन भावानुभूति को तीव्रतर बनाता है :

कहे जु बचन बियोगिनी, बिरह बिकल बिललाय।
किए न केहि अँसुवा सहित, सुवा सु बोल सुनाय ?

वियोगिनी के विरहालाप को सुए ने सुन लिया था। वह उसी को पढ़ रहा है। उसकी बोली सुनकर भला किसकी आँखों में आँसू न भर आए ? यहाँ सुआ का बोलना सत्य है, पर उसके हेतु की कल्पना कर ली गई है। इसमें विरहताप के परिमाण की व्यंजना न होकर हृदयस्थ भावानुभूति व्यंजित हुई है। किंतु इस तरह के विरहवर्णन को अपवाद ही समझना चाहिए।

इस प्रकार की परिमाणात्मक विरहव्यंजना मतिराम की दोहावली में भी मिलेगी पर उसमे ऐसे दोहो की संख्या कम है :

भू पर कमल युग, ऊपर कनक खंभ,
ज्वार की सी गति मध्य सूक्ष्म मन निदीवर।

लिखकर देव ने भी उस परंपरा का पालन किया है, यद्यपि उनके इस तरह के छंद बहुत कम हैं। प्रायः उन्होंने रूप या भाव की अनुभूति को तीव्रतर करने की दृष्टि से इसका प्रयोग किया है, जैसे :

लै रजनीपति बीच बिरामिनि दामिनि दीप समीप दिखावै।
जो निज न्यारी उज्यारी करै सब प्यारी के दंतन की दुति पावै॥

संक्षेप में रीतिकाव्य में प्रयुक्त अलंकारों का विवेचन करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि कुछ कवियों ने विशेष प्रसंगों में विशेष रूप से तथा कुछ ने साधारणतः परंपराभुक्त उपमानों का प्रयोग किया है जो सामान्यतः काव्योत्कर्ष विधायक नहीं है। नखशिख और विरहताप के वर्णन ऐसे ही प्रसंग हैं। पर अधिकांश प्रसंगों में अलंकार रूपचेतना या भावानुभूति को तीव्रतर बनाने के लिये ही ले आए गए हैं। प्रतिनिधि रीतिकाव्यों में बिहारी सतसई को छोड़कर शेष में चमत्कारप्रदर्शन की बहुलता नहीं मिलेगी।

जहाँ तक रूपचेतना और भावानुभूति का संबंध है प्रधानता पहले को दी गई है। नायक-नायिका-भेद के घेरे में यही स्वाभाविक भी था, क्योंकि प्रेम का मुख्य आधार शारीरिक सौंदर्य था न कि और किसी अन्य तरह का सौंदर्य। रसवादी होने के कारण देव ने अवश्य भावानुभूति को तीव्रतर बनाने के लिये अपेक्षाकृत अधिक अलंकारों का प्रयोग किया है। पर सामान्यतः रीतिकाव्यगत अलंकारों की मुख्य प्रवृत्ति रूपचेतना को प्रगाढ़ और तीव्रतर बनाना ही है।

१२. भाषा

आधुनिक काल के पूर्व का हिंदी साहित्य ब्रजभाषा और अवधी का साहित्य है। पर अवधी की परंपरा न तो उतनी दीर्घ है और न व्यापक। आश्चर्य है कि जिस भाषा में जायसी का 'पद्मावत' और तुलसीदास का 'रामचरितमानस' लिखा गया वह अपनी कोई लंबी परंपरा न बना सकी। विचार करने पर लगता है कि ब्रजभाषा की लोकप्रियता और व्याप्ति के आगे उसका विकसित होना संभव न था।

दूसरी बात जो ब्रजभाषा के पक्ष में जाती है वह है उसकी भौगोलिक स्थिति। यह मध्यदेश की भाषा है। केंद्रीय भाषा होने के कारण इस प्रदेश की भाषा को व्याप्ति का जितना अवसर मिल पाता था उतना और किसी को नहीं। अत्यंत प्राचीन काल से इस प्रदेश की भाषाएँ अपनी चौहद्दी तोड़कर बाहर फैलती रहीं और देश के एक बृहद् भूभाग के विचारविनिमय और साहित्यसर्जना के माध्यम के रूप में व्यवहृत होती रहीं। वैदिक संस्कृत, संस्कृत, पालि, शौरसेनी प्राकृत, शौरसेनी अपभ्रंश इसी हृदयदेश की भाषाएँ थीं जो अपने अविच्छिन्न रूप में आर्य सभ्यता और संस्कृति के उन्नयन और रक्षण में निरंतर संलग्न रहीं। ब्रजभाषा शौरसेनी अपभ्रंश से ही विकसित हुई है।

ब्रजभाषा की संपूर्ण परंपरा को विकास की तीन अवस्थाओं में बाँटा जा सकता है—प्रथम, द्वितीय और तृतीय। प्रथम अवस्था में सूरपूर्व की ब्रजभाषा, द्वितीय अवस्था में भक्तिकालीन ब्रजभाषा और तृतीय में रीतिकालीन ब्रजभाषा की गणना की जा सकती है। अपनी प्रथम अवस्था में ब्रजभाषा दर्पशौर्य की व्यंजना करती रही है। द्वितीय अवस्था इसके विस्तार और समृद्धि का काल है। भक्ति आंदोलन के माध्यम के रूप में यह बंगाल, महाराष्ट्र, गुजरात और पंजाब तक पहुँची। इस भाषा में केवल श्रीकृष्ण की बाँसुरी का ही जादू नहीं था बल्कि अपनी भी कुछ ऐसी विशेषताएँ थीं जिनके कारण यह शताब्दियों तक सहृदयों का कंठहार बनी रही।

ब्रजभाषा केवल भक्तों के निश्छल उद्गारों की ही अभिव्यक्ति नहीं करती रही है। भक्ति-काव्य-परंपरा से अलग इस भाषा में शुद्ध साहित्यिक परंपरा का नैरंतर्य भी कदाचित् किसी दिन सिद्ध हो जाय। कुछ दिन पूर्व सूरदास को कुछ विद्वानों ने ब्रजभाषा का पहला कवि मान लिया था। किंतु खोज करने के उपरांत यह प्रमाणित हो चुका है कि सूरपूर्व ब्रजभाषा में निरंतर काव्यग्रंथ लिखे जाते रहे हैं और १४ वीं शताब्दी में इसका रूप भी बहुत कुछ स्थिर हो गया था। सं० १५६८ में कृपाराम ने अपनी 'हिततरंगिणी' में लिखा है :

बरनत कवि सिंगार रस छंद बड़े बिस्तारि।
मैं बरन्यो दोहानि बिच याते सुघरि बिचारि॥

इस दोहे से स्पष्ट है कि उनके पूर्व भी कवियों ने छंदों में विस्तारपूर्वक शृंगार रस का वर्णन किया है। निश्चय ही उनका संकेत भाषा के कवियों के संबंध में है। पहली पंक्ति में 'छंद' और दूसरी पंक्ति में 'दोहानि' के प्रयोग से यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है। कृपाराम का कहना है कि जिस शृंगार रस का वर्णन और कवियों ने छंदों में विस्तारपूर्वक किया है उसे मैंने विचारपूर्वक, सँवार सँजोकर दोहा जैसे छोटे छंद में किया है। शृंगार रस से उनका तात्पर्य नायक-नायिका-भेद से ही है, इसमें संदेह नहीं। उसका भाषागत परिष्कार देखकर कुछ लोगों ने उसकी प्रामाणिकता पर संदेह प्रकट किया है। इसके संबंध मे डा० नगेंद्र का कहना है— 'वास्तव मे उसकी अतिशय स्वच्छता देखकर ही कुछ विद्वान् उसे अप्रामाणिक मानने लगे हैं···परंतु उसकी रचनातिथि इतने असंदिग्ध रूप में दी हुई है कि उसपर संदेह करना, जब तक कि कोई विशेष प्रमाण न मिल जाय, सरल नहीं है। यह कवि शास्त्रज्ञ कवियो की परंपरा मे होने के कारण भक्ति कविता से सर्वथा दूर था, यह तो निर्विवाद ही है, साथ ही उसकी भाषा से स्पष्ट है कि वह इस परंपरा का पहला कवि भी नहीं था। उससे पहले कुछ अन्य कवियो ने भी ब्रजभाषा का प्रयोग किया होगा।' कहने का तात्पर्य यह है कि भक्त कवियों के साथ साथ संभवतः शास्त्रज्ञ कवियो ने भी इस भाषा के विकास और समृद्धि में योग दिया है।

भक्तिकाल के अनंतर रीतिकाल में ब्रजभाषा अपनी समृद्धि के उच्चतम शिखर पर जा बिराजी। इस समय की भाषा पहले से अधिक मँज सँवरकर भावाभिव्यंजना के अधिक अनुकूल हो गई। इस संस्कार और परिष्कार का अंतर सूर तुलसी की पदावली और मतिराम, देव और पद्माकर को पदावली की तुलना से स्पष्ट किया जा सकता है। रीतिकालीन कवियों की पदावली के लोच और माधुर्य के आगे भक्त कवियो की पदावली थोड़ी बहुत अनगढ़ लगेगी।

अब यह प्रश्न उठता है कि क्या कारण है कि इतने दीर्घ काल तक देश के एक बड़े भाग में यह भाषा अपना एकछत्र साम्राज्य बनाए रही। अपनी किन आतरिक विशेषताओं के कारण इसका इस रूप में टिका रहना संभव हो सका? इसके साथ ही एक दूसरा सवाल भी पैदा होता है। क्या कारण है कि इतनी समृद्ध और उन्नत भाषा आधुनिक युग के अनुकूल नहीं बन सकी? वास्तव में दोनो प्रश्न एक दूसरे के पूरक हैं। पहले के उत्तर में उसकी विशेषताओ और दूसरे के उत्तर मे उसकी खामियों का उल्लेख करना आवश्यक होगा।

(१) विशेषताएँ—मधुरता ब्रजभाषा की प्रकृति है। भाषा की प्रकृति का बहुत कुछ संबंध उसे बोलनेवालों की प्रकृति से जोड़ा जा सकता है। बँगला और खड़ी बोली का अंतर उक्त कथन को स्पष्ट कर देगा। फिर रससिक्त, भक्तिपरक जिस पदावली को ब्रजभाषा ने रूप दिया उसने भी इसकी प्रकृति को ऋजु, मसृण और

मधुर बनाया। शुद्ध साहित्य के रूप में भी शृंगारिक कविताएँ ही इस भाषा में अधिक लिखी गई। शृंगारवर्णन के लिये कोमलकांत पदावली की आवश्यकता होती है। यह गुण तो ब्रजभाषा में यों ही प्रस्तुत था। इस आवश्यकता के कारण उसे और भी ढूँढ़ निकाला गया। इसके फलस्वरूप अनेक शब्दों का आगम और अनेक का लोप हो गया। जैसे, स्त्री के आदि में 'इ' और स्नान के आदि में 'अ' का आगम उद्धृत किया जा सकता है। कठोर वर्णों—श, ण आदि—के स्थान पर स, र आदि रखकर उच्चारण को कोमल बनाया गया। स्वरसंकोच, जो ब्रजभाषा की मुख्य ध्वन्यात्मक प्रकृति है, इसकी मिठास को बढ़ाने में सहायक सिद्ध हुआ—जैसे, दीठि ∠ दिट्ठ ∠ दृष्टि; पैठि ∠ पइट्ठि ∠ प्रविष्ट।

इस भाषा को मधुर और शृंगारोचित बनाने के लिये संयुक्त वर्णों का सरलीकरण किया गया। यहाँ पर श्रावण सावन, भाद्र भादौं, चंद्र चंद, शृंगार सिंगार, कृष्ण कान्ह बन गए। इस तरह संस्कृत के बहुत से तत्सम तद्भव के रूप में प्रयुक्त होकर ब्रजभाषा में एक विशेष प्रकार की लोच ले आए। अपने लचीलेपन के कारण एक एक शब्द के अनेक रूप बन गए। उदाहरणार्थ, प्रिय के लिये पिय, पिया, पीतम; कृष्ण के लिये कान्ह, कन्हैया; आँखों के लिये आँखिन, अँखियानि, अँखियन। ऐसे और बहुत से शब्द हैं। एक शब्द के विविध रूपों के कारण छंदों और तुकों के बंधन को बहुत कुछ बाधाविहीन बना लिया गया।

ब्रजभाषा में प्रयुक्त होनेवाले कारकचिह्नों के भी पर्याप्त पर्याय मिलते हैं। कर्ता की मुख्य विभक्ति 'ने' है जो सकर्मक भूतकालिक क्रिया में कर्ता के साथ लगती है। इसके अतिरिक्त कई रूपों में उसके साथ पै, कौं या कौ आदि अन्य विभक्तियाँ भी लग जाती हैं। कर्म कारक मे कौ, कौ, सों आदि, संप्रदान में को कौ आदि, अपादान में ते, तें, अधिकरण में 'मे' 'महँ' 'पै' आदि। विभक्तियों के इन विकल्पों ने भी भाषा को माधुर्य और सौष्ठव प्रदान किया है। इनके अतिरिक्त 'हि' विभक्ति अकेले ही अनेक विभक्तियों का काम चला देती है। इसीलिये इसको डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या ने एक सर्वनिष्ठ (ए सार्ट आव् मेडअप आव् आल वर्क) विभक्ति कहा है। इस सुविधा का क्रम यहीं नहीं टूटता। इसमें निर्विभक्तिक प्रयोग की भी खुली छूट है। अपनी इन्हीं निर्बंध सुविधाओं के कारण ब्रजभाषा के कवि इसको अधिकाधिक सुष्ठु, मधुर, व्यंजक और लचकदार बना सके।

ब्रजभाषा को संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश की समस्त भाव और शब्दसंपदा उत्तराधिकार में मिली। इस अत्यंत गौरवशाली और समृद्ध दाय को प्राप्त करना अपने आप में भी अत्यंत महत्वपूर्ण है। विकासशील और व्यापक काव्यभाषा होने के कारण इसने अन्य भाषाओं और बोलियों के शब्दों को ग्रहण कर अपने को और अधिक समृद्ध बनाया। राजस्थानी, बुंदेलखंडी, अवधी, पूर्वी, छत्तीसगढ़ी

आदि अनेक बोलियों के बहुत से कोमल तथा व्यंजक शब्दो के आ जाने से इसकी अभिव्यंजना शक्ति बढ़ गई। अपनी उदार प्रवृत्ति के कारण इसने अरबी फारसी जैसी विदेशी भाषाओं से भी शब्दचयन किया। इनमें से कुछ तो ब्रजभाषा के अंग हो गए पर कुछ की अपनी पृथक् सत्ता बनी रही। अपनी इस विशाल व्यापकता और सहज गंभीरता के कारण यह बहुत दिनों तक भक्तों, कवियों और सहृदयों मे समान रूप से आदृत होती रही।

(२) **मिली जुली भाषा**—मिली जुली भाषा का समर्थन करते हुए भिखारीदास ने 'काव्यनिर्णय' में लिखा है :

> भाषा ब्रजभाषा रुचिर, कहैं सुमति सब कोइ।
> मिलै संस्कृत पारस्यो, पै अति प्रगट जु होइ।
> ब्रज मागधी मिलै अमर, नाग जमन भाषानि।
> सहज पारसी हूँ मिलै, षट बिधि कबित बखानि॥

दास के मतानुसार ब्रजभाषा में ब्रज, मागधी (पूर्वी भाषा अवधी आदि), संस्कृत, नाग (अपभ्रंश), यवन (खड़ी बोली) और फारसी का संमिश्रण था। इस षड्विध भाषा को उन्होने तुलसी और गंग की रचनाओं में भी देखा था। बात यह थी कि ब्रजभाषा के काव्यप्रयोग की सीमा इतनी विस्तृत हो गई थी कि वह बहुत सी बोलियों को स्वच्छंदतापूर्वक ग्रहण करती गई। इसे इसका दोष नहीं माना जा सकता। कोई भी समृद्ध भाषा अपनी भौगोलिक सीमा में नहीं अँट सकती। उसे अपने घेरे को छोड़ना ही होगा। सत्रहवीं, अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दियों में इस क्षेत्र के बाहर भी—बुंदेलखंड, राजस्थान आदि मे—कवि इसी भाषा मे काव्यरचना करते थे। इसीलिये स्वाभाविक था कि तत्तत् बोलियों का समावेश उसमें हो जाता। ब्रजभाषा की इस समृद्धि और व्यापकता को देखते हुए ही दास ने कहा था कि ब्रजभाषा की जानकारी के लिये श्रेष्ठ कवियों की रचनाओ का अध्ययन भी करना चाहिए :

> सूर, केशव, बिहारी, कालीदास ब्रह्म,
> चिंतामणि, मतिराम, भूषण सु जानिए।
> लीलाधर, सेनापति, निपट, नेवाज निधि,
> नीलकंठ, मिश्र सुखदेव, देव मानिए।
> आलम, रहीम, रसखान, सुंदरादिक,
> अनेकन सुमति भए कहाँ लौं बखानिए।
> ब्रजभाषा हेत ब्रजबास ही न अनुमानौ,
> ऐसे ऐसे कबिन की बानी हूँ सों जानिए।

(३) व्यापक शब्दभांडार—उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि ब्रजभाषा में बहुत सी भाषाओं और बोलियों के शब्द मिश्रित थे। संस्कृत भाषा से निकट संबंध होने के कारण तथा संस्कृत के रीतिग्रंथों से सीधे प्रभावित होने से भी रीतिकाव्यों में संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग हुआ है। किंतु केशव को छोड़कर अन्य कवियों में इसकी बहुलता नहीं दिखाई पड़ती। बिहारी सतसई में 'कज्जल', 'अद्वैतता', 'द्वैज सुधादीधिति', सचिकन, सुगंध, निदाघ, जालरंध्र, श्रमस्वेद-कन-कलित, पावस-प्रथम-पयोद, कायव्यूह आदि अनेक तत्सम शब्दों का प्रयोग हुआ है। मतिराम में अपेक्षाकृत तत्सम शब्दों की कमी पाई जाती है, फिर भी कंत, सीमंत, पीयूष, अभिनव, परिकर, कंदर्प, अनंत, अनलज्वाल, ज्वलितज्वाल ऐसे शब्दों को उनमें ढूँढ़ा जा सकता है। देव ने तो चामीकर, ऊर्ध्व, शंबरारि, सरीसृप, आसीविष ऐसे क्लिष्ट शब्दों का भी प्रयोग किया है। आचार्य भिखारीदास अपने आचार्यत्व के अनुरूप अंतरवर्तिनि, आसमुद्र, कुचद्वय, क्षिप्र, क्षामोदरी (छामोरी), दोषाकर, परिधान, वक्रतुंड, विघ्नखंड, वेत्ता, व्रीडित, सुकृत आदि शब्दों से अपनी रचनाओं का शृंगार करते दीख पड़ते हैं। इस प्रकार इस काल की रचनाओं में संस्कृत की यह तत्सम शब्दावली सर्वत्र बिखरी हुई है। यहाँ पर उन शब्दों का उल्लेख नहीं किया गया है जो हैं तो तत्सम ही पर जिनकी वर्तनी ब्रजभाषा के अनुरूप बना ली गई है।

ब्रजभाषा की उत्पत्ति शौरसेनी अपभ्रंश से हुई है। इसलिये स्वाभाविक है कि उसमें प्राकृत अपभ्रंश के शब्द भी प्रयुक्त होते। मुद्ध, मेह, बिज्जु, कज्जल, दिच्छ दिशा, खग्ग, चक्क, गुज्जर, जूह, नाह, दिग्घ (दीर्घ), दिट्ठि आदि शब्दों का प्रयोग इस काल की भाषा में सामान्यतः हुआ है। ये शब्द ब्रजभाषा में ऐसे घुल मिल गए हैं कि उसकी शब्दावली के अनिवार्य अंग बन गए हैं। मुसलमानों के आगमन के साथ ही उनकी भाषा और संस्कृति भी इस देश में आई। हिंदी की प्रारंभिक अवस्था से ही उसमें अरबी और फारसी के शब्दों का प्रयोग होने लगा था। घुमक्कड़ी वृत्तिवाले कबीर जैसे साधुओं की बात जाने दीजिए, तुलसीदास जैसे भारतीय संस्कृति के पोषक ने भी अरबी फारसी के शब्दों का निःसंकोच प्रयोग किया। रीतिकाल में मुसलमानी सभ्यता और संस्कृति अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँच गई थी और हिंदू आचार विचार पर उनकी गहरी छाया पड़ी। रीतिकाल के कई कवियों ने समय समय पर मुसलमान राजाओं और रईसों का आश्रय ग्रहण किया। इसलिये इस काल की कविताओं में अरबी फारसी के शब्दों का अपेक्षाकृत अधिक प्रयोग हुआ। बिहारी, भूषण, रसलीन, ग्वाल आदि में इस तरह के शब्द काफी संख्या में पाए जाते हैं। इन शब्दों में कुछ तो ऐसे हैं जो बोलचाल की भाषा के अभिन्न अंग बन चुके थे और कुछ केवल साहित्य में ही प्रयुक्त होते थे। पहले प्रकार के शब्दों में कुबत, चश्मा, जोर, बेकाम, नेजा, शिकार, कबूल, निवाजिबौं, निसान, हद, हमाम (बिहारी); गुलाम, जोहारे, तिलास (तलाश), फिरादी (फरियादी),

बेगारी, बहरि, गिरद (गिर्द), कसीस (कशिश), कहरु (कहर), करामति (करामात (दास); अरज़, दस्ताने, तमक, आहिर, फबत, चिराग, कसाला, कलाम (पद्माकर) आदि का उल्लेख किया जा सकता है। दूसरे प्रकार के शब्दों में इजाफा, बदराह, ताफता, रोहाल, सेल, रकम, जोर, आमिर, मलिंग, छाहगीरु, सबी (शबीह) (बिहारी), महल, मखमल, किर्च, कज्जाक, सरीक (देव); महूम (मुहिम्म), गलीम (गनीम), सफजंग, गिलमें, गजक (पद्माकर) आदि की गणना की जायगी। पर सब मिलाकर अरबी फारसी के आमफहम शब्दों का अधिक प्रयोग हुआ है।

(४) बोलियों का संनिवेश—संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश तथा अरबी फारसी जैसी विदेशी भाषाओं के शब्दों के अतिरिक्त व्रजभाषा में बुंदेलखंडी, अवधी, पूर्वी के शब्द भी धड़ल्ले से मिश्रित होते गए। केशव, जो रीतिकाव्य के आद्याचार्य माने जाते हैं, बुंदेलखंडी से अप्रभावित नहीं रह सके। ओरछा दरबार से संबद्ध होने के कारण उनका उस अंचल की बोली से प्रभावित होना स्वाभाविक था। जिस 'स्यों' बुंदेलखंडी शब्द को बिहारी सतसई में खोजा गया है वह केशव द्वारा प्रयुक्त हो चुका था। बिहारी के संबंध में तो प्रसिद्ध ही है—'जन्म ग्वालियर जानिए खंड बुँदेले बाल।' लड़कपन के गहरे संस्कारों से बिहारी का अस्पृष्ट रह जाना ही अस्वाभाविक होता :

कौन भाँति रहिहैं बिरद अब देखबी मुरारि।
बीधे मोंसों आनि कै गीधे गीधहिं तारि॥

इस दोहे में 'देखबी' तो बुंदेलखंडी है ही, 'गीधे', 'बीधे' भी ठेठ बुंदेलखंडी हैं। 'बैरु' शब्द का प्रयोग भी अनेक कवियों ने किया है। अन्य कवियों की रचनाओं में आए हुए बुंदेलखंडी शब्दों के उदाहरण देखिए :

(१) लोग मिलैं, घर घैरु करैं, अब ही ते ये चेरे भए दुलही के।
—मतिराम

(२) बीर बरबी न धरा कुतुब के धुर की।
—भूषण

(३) सोवै सुक मोवै सुकसारिका जगावै जोवै,
रोवै न रुधिर बानि, मानि रहै झंझा सी।
—देव

(४) दास बर बली घैरहाइनि के डर हियो,
चलदल पात लौं है तोसों बहलात लौं।
—दास

(५) लागत बसंत के सु पाती लिखी प्रीतम को,
प्यारी परवीन है 'हमारी सुधि आनबी।'
कहै पद्माकर इहाँ को यों हवाल
बिरहानल की ज्वाल सो दावानल ते मानबी॥
ऊध को उसासन को पूरो परगास, सो तौ
त्रिपट उसास पौन हू ते पहिचानबी।
नैनन के ढंग सो अनंग पिचकारिन तें,
गातन के रंग पीरे पातन ते जानबी॥
—पद्माकर

कहना न होगा कि मोटे अक्षरों में छपे हुए सभी शब्द बुंदेलखंडी के हैं।

अवधी में भूतकालिक क्रियाओं के लघ्वंत रूप खूब चलते हैं; इसमें लिंग, वचन और पुरुषगत विकार की आशंका नहीं रहती। व्रजभाषा में भी इन प्रयोगों को देखा जा सकता है। अवधी और पूर्वी के अन्य बहुत से शब्द भी व्रजभाषा मे इस तरह प्रयुक्त हुए हैं कि उन्हें सरलतापूर्वक अलग करना कठिन हो जाता है। अवधी से प्रभावित व्रजभाषा के कुछ नमूने उद्धृत किए जाते हैं :

(१) माता पिता कवन कौनहि कर्म कीन ?
विद्या विनोद सिख, कौनहि अस्त्र दीन ?
—केशव

(२) किती न गोकुल कुलबधू, काहि न किहि सिख दीन।
कौने तजीं न कुल गली ह्वै मुरली सुर-लीन॥
पिय तिय सौं हँसिकै कह्यौ लखें दिठौना दीन।
चंदमुखी मुखचंद तैं, भलौ चंदसम कीन॥
—बिहारी

(३) जो बिहँसै मुख सुंदर तौ मतिराम बिहान को बारिज लाजै।
—मतिराम

(४) भालुकपि कटक अचंभा जकि ज्वै रह्यो।
—दास

(५) सावनी तीज सुहावनी को सजि सूहे दुकूल सबै सुख साधा।
—पद्माकर

किंतु व्याकरणिक अनियंत्रण का परिणाम यह हुआ कि कुछ कवियों ने शब्दों की मनमानी तोड़मरोड़ की। ऐसे कवियों में भूषण और देव का नाम खास तौर पर बदनाम है। भूषण ने व्रजभाषा के शब्दों के साथ साथ अरबी फारसी के शब्दों

को भी अपने ढंग पर तोड़ा मरोड़ा। सुष्ठु के लिये सुठार, आदिलशाह के लिये औदिलु, तनाव के लिये तनाय, बलगार के लिये बगार, पार्थ के लिये पथ्थ, बिदनूर के लिये बिधनोल, नगरों में के लिये नैरनि शब्द प्रयुक्त किए गए हैं जो भूषण के मनमानेपन के स्पष्ट उदाहरण हैं। तुक के आग्रह से देव की कविता में कंदुक का कंद बन जाता है, इच्छा का ईछी, अभिलाषिणी का अनिख्या, हिरण्य का हिरन, तुला का तुलही, उल्लसित हृदयवाली का हिये उलही, विदित का विद्वोत, द्वंद्व का दंदरा···इसी तरह यमक अनुप्रास के आग्रह से भी पूर्णेंदु का पुमनेंदु, व्यामोह का व्योह, जल्पना का लपना, पांडुर का पंडल, हेमंत का हैउँत बन गया है[1] :

(१) लपनै कहाँ लौं बालपने की बिकल बातैं—

(२) है उत देव बसंत सदा इत 'हैउँत' है हिय कंप महाबस।

इन समस्त बातों का परिणाम यह हुआ कि ब्रजभाषा कभी भी व्याकरण-संमत नहीं बन सकी। यह सही है कि कविता में सर्वत्र व्याकरण के नियमों का पालन नहीं हो पाता। तुकों का आग्रह, छंदगत वर्णों और मात्राओं की नियमितता के कारण कवि जगह जगह निरंकुश हो जाता है। पर ब्रजभाषा के कवियों की निरंकुशता अत्यधिक बढ गई थी। फलतः उनमें कारकचिह्नों की गड़बड़ी, लिंग संबंधी दोष, क्रियारूपों की अनेकरूपता, पदविन्यासगत शिथिलता का दिखाई पड़ना स्वाभाविक हो गया। कोई भी रीतिकवि इन सब दोषों से सर्वथा मुक्त नहीं है। फिर भी रीतिकवियों में बिहारी की भाषा को, अपने कतिपय दोषों के बावजूद भी, आदर्श कहा जा सकता है।

(४) **व्याकरण**—यह पहले ही कहा जा चुका है कि व्याकरणिक प्रतिबंधों के अभाव में ब्रजभाषा दोषपूर्ण बनी रही। अपने हिंदी साहित्य के इतिहास में आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने इस ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करते हुए लिखा है—'रीतिकाल में एक बड़े अभाव की पूर्ति हो जानी चाहिए थी, पर वह नहीं हुई। भाषा जिस समय सैकड़ों कवियों द्वारा परिमार्जित होकर प्रौढता को पहुँची उसी समय व्याकरण द्वारा उसकी व्यवस्था होनी चाहिए थी जिससे उस च्युतसंस्कृति दोष का निराकरण होता जो ब्रजभाषा काव्य में थोड़ा बहुत सर्वत्र पाया जाता है। और नहीं तो वाक्यदोषों का ही पूर्ण रूप से निरूपण होता जिससे भाषा में कुछ और सफाई आती। बहुत थोड़े कवि ऐसे मिलते हैं जिनकी वाक्यरचना सुव्यवस्थित पाई जाती है। भूषण अच्छे कवि थे। जिस रस को उन्होंने लिया उसका पूरा आवेश उनमें था, पर भाषा उनकी अनेक स्थलों पर सदोष है। यदि शब्दों के रूप स्थिर हो जाते और शुद्ध रूपों के प्रयोग पर

[1] डा० नगेंद्र : रीतिकाव्य की भूमिका तथा देव और उनकी कविता, उत्तरार्ध, पृ० २०८

जोर दिया जाता तो शब्दों को तोड़ मरोड़कर विकृत करने का साहस कवियों को न होता। इस प्रकार की कोई व्यवस्था नहीं हुई जिससे भाषा में बहुत कुछ गड़बड़ी बनी रही।''[1]

इस तरह की गड़बड़ी के मूल में कवियों का असामर्थ्य उतना काम नहीं कर रहा था जितना व्याकरणिक व्यवस्था का अभाव। जहाँ कहीं उन्होंने सचेत होकर भाषा का व्यवहार किया है वहाँ की पदावली प्रायः प्रसन्न और व्यवस्थित दिखाई पड़ती है। बिहारी ऐसे समर्थ कवि की तो बात ही जाने दीजिए, इस संबंध में अधिक बदनाम भूषण और देव में भी जगह जगह सुंदर वाक्यविन्यास की व्यवस्था मिलेगी। भूषण का एक प्रसिद्ध छंद लीजिए :

> इंद्र जिमि जंभ पर बाड़व ज्यौं अंभ पर,
> रावन सदंभ पर रघुकुलराज है।
> पौन बारिबाह पर, संभु रतिनाह पर,
> ज्यौं सहस्रबाहु पर राम द्विजराज है।
> दावा द्रुमदंड पर, चीता मृगझुंड पर,
> भूषण बितुंड पर जैसे मृगराज है।
> तेज तमअंस पर, कान्ह जिमि कंस पर,
> यौं म्लेच्छबंस पर सेर सिवराज है।

कवितागत अनिवार्य परिवर्तनों को छोड़कर उपर्युक्त छंद की पदावली और वाक्यविन्यास स्खलनहीन और स्वच्छ है। पद और वाक्यगत ऋजु विन्यास का एक उदाहरण 'देव' का देखिए :

> राधिका कान्ह को ध्यान धरै, तब कान्ह ह्वै राधिका के गुन गावै।
> त्यौं अँसुआ बरसै, बरसाने को पाती लिखै. लिखि राधे को ध्यावै॥
> राधे ह्वै जात घरीक मैं 'देव', सुप्रेम की पाती लै छाती लगावै।
> आपने आपु ही मैं अरुझै, सुरझै, बिरुझै, समुझै, समुझावै॥

प्रत्येक पद, और वाक्य में इतनी सफाई है कि कहीं पर किसी तरह की जटिलता या उलझन नहीं आती। संपूर्ण पदावली को बिना किसी उलट-फेर के गद्य में बदला जा सकता है।

पर यह स्वच्छता इस काल की भाषागत सामान्य विशेषता नहीं मानी जा सकती। प्रायः सभी कवियों में व्याकरणिक अव्यवस्था पाई जाती है।

[1] आचार्य रामचंद्र शुक्ल : हिंदी साहित्य का इतिहास, ना० प्र० सभा, काशी, २००६ वि०, पृ० २३७ – ३८

(अ) कारक—इसका उल्लेख किया जा चुका है कि एक एक कारक के अनेक विकल्प होने तथा निर्विभक्तिक प्रयोग की छूट के कारण व्रजभाषा की कविता में एक विशिष्ट लोच आ गई थी। 'ही' का प्रयोग तो सर्वनिष्ठ विभक्ति के रूप में किया ही जाता था। लेकिन इस प्रकार की छूट भाषा की स्थिरता और एकरूपता के लिये अत्यंत भयावह सिद्ध होती है।

कर्ता कारक की विभक्ति 'ने' का प्रयोग तो व्रजभाषा की कविता में अत्यंत विरल मिलेगा। यह ठीक है कि व्रजभाषा के काव्यप्रवाह मे यह उचित रीति से समाहित नहीं हो पाता, पर भूतकालिक सकर्मक क्रिया के साथ 'ने' का प्रयोग भाषा की शुद्धता की दृष्टि से अनिवार्य है। वार्ताओ मे इस तरह का प्रयोग मिलता भी है—'अब जो यह बात श्री गुसाईं जी ने कही।' मंडन के एक सवैए में 'ने' का प्रयोग दिखाई पड़ता है :

> अलि हौं तौ गई जमुना जल को सो कहा कहौं बीर बिपत्ति परी।
> घहराय कै कारी घटा उनई, इतनेई में गागर सीस धरी॥
> रपट्यो पग, घाट चढ्यो न गयो, कवि मंडन ह्वैकै बिहाल गिरी।
> चिर जीवहु नंद को बारो, अरी, गहि बाँह गरीब ने ठाढ़ी करी॥

पर व्रजभाषा कविता की सामान्य प्रवृत्ति 'ने' रहित प्रयोग की है। अब कुछ विभक्तियो के लोप के उदाहरण देखिए :

(१) चूनौ होइ न चतुर तिय, क्यों पट पोछ्यौ जाइ।
—बिहारी

(२) चढ़त अँटारी गुरु लोगन की लाज प्यारी,
रसना दसन दाबै रसना-झनक तैं।
—मतिराम

(३) जिन फन फूतकार उड़त पहार भारे,
कूरम कठिन जनु कमल बिदलिगो।
× × ×
खग्ग खगराज महराज सिवराज को,
अखिल-भुजंग-मुगलद्दल निगलिगो।
—भूषण

प्रथम उदाहरण में 'पट पोछ्यौ' में करण विभक्ति, द्वितीय मे 'अँटारी' तथा 'गुरु' के बीच अधिकरण और तृतीय में 'मुगलद्दल' में कर्म विभक्ति का लोप है। छंद के आग्रह से इन विभक्तियों का लोप क्षम्य माना जा सकता है। लेकिन इसे भाषागत त्रुटि तो कहा ही जायगा।

कारकचिह्नों के विकल्पों का उल्लेख किया जा चुका है। विभक्तिव्यत्यय के कारण भी कम गड़बड़ी नहीं हुई। ब्रजभाषा को यह अपभ्रंश की विरासत में मिला है। इस तरह का निर्देश हेम व्याकरण में मिलता है—'षष्ठी क्वचिद् द्वितीयादेः', 'द्वितीया तृतीययोः सप्तमी' आदि। रीतिकालीन कविताओं में भी इसके उदाहरण मिल जायँगे :

(१) जोरि करि जैहैं जब अपर नरेस पर
जरिहैं जराई ताके सुभट समाज पै।
— भूषण

(२) खुले भुजमूल प्रतिकूल बिधि बंक मैं
— देव

दोनों उदाहरणों में करण के स्थान पर अधिकरण का प्रयोग किया गया है।

(आ) क्रियारूप—ब्रजभाषा में कारकचिह्नों के विकल्पों की भाँति क्रियापदों के भी अनेक विकल्प मिलते हैं। भूतकाल में छंद के आवश्यकतानुसार 'करना' आदि के अनेक रूप बना लिए जाते हैं—कियो, कीनो, करयो, करियो, कीन, किय। इसी तरह और क्रियारूपों को भी समझना चाहिए :

(१) बदन-दुरावन क्यों बनै यह कियौ जिहिं दीन।
— बिहारी

(२) रावरे रूप भरयौ अँखियाँन, भरयौ सु भरयौ, उमड्यौ
सु ढरयौ परै। — देव

(३) मनु ससि सेखर की अकस किय सेखर सतचंद।
— बिहारी

'जाना', 'होना' के भूतकाल 'गयो', 'हुयो' का काम 'गो', 'भो' से भी लिया जाने लगा :

(१) एक घरी घन से तन सौं अँखियान घनो घनसार सो दैगो।
— मतिराम

(२) मोहि लखि सोवत बिथोरिगो सु बेनी बनी
तोरिगो हियो को हरा छोरिगो सुगैया को।
— पद्माकर

(३) हिय को हरष मरुधरनि को नीर भो री
जियरो मदन-तीरगन को तुनीर भो।
ए री बेगि करिकै मिलाप थिर थाप
न त आप अब चाहत अतन को तुनीर भो। — दास

भविष्यत् काल की सूचक मुख्य विभक्ति 'गो' है जो लिंग वचन के अनुसार 'गे' और 'गी' भी हो जाती है। इसके अतिरिक्त 'इहै' के रूप में भी भविष्यत् काल-सूचक विभक्ति आती है जिसका प्रयोग सूर और तुलसी के काव्यों में भी मिलता है। दोनों प्रयोग रीतिकवियों को विरासत में मिले है :

(१) सुख की विथैया वह प्यारी परदेसन तें,
फेर कब आवेगो री सखि ! घन लावेगो।
—सोमनाथ

(२) साँचे बुलाई बुलावन आई इहा कहि मोहि कहा करिहैं हरि।
—देव

ज्यों 'पद्माकर' धीर समीरनि जीव धनी कहु क्यों धरि जैहै।
—पद्माकर

पर देव ने जहाँ भविष्यत् कालसूचक दुहरी विभक्तियाँ लगा दी हैं वहाँ क्रियापद बहुत ही भोंड़ा हो गया है :

माधव को मिलिए बिना बब किते हौ मास
माधव बितैहौगी उमाधव के ध्यान कै।

'बितैहौगी' में हौ (यहाँ 'है' को भी 'हौं' कर दिया गया है) भविष्यत्-सूचक पहले ही से मौजूद है, उसके बाद 'गी' निरर्थक जोड़ा गया है।

खड़ी बोली में आज्ञा और विधि में आइए, कीजिए, दीजिए आदि रूप पाए जाते हैं। ब्रज में यह इसी रूप में सुरक्षित है। इनके दूसरे रूप कीजै, दीजै, पीजै भी मिलते हैं। इसमें पहला अपभ्रंश इज्जाइ का ईए और दूसरा उसी का ईजै हो गया है। एक ही कवि की रचनाओं में दोनों प्रयोग मिल जायँगे :

(१) बरज्यो न मानत हौ बार बार बरज्यो मैं,
कौन काम मेरे इत भौन मैं न आइए।

(२) ह्वै बनमाल हिए लगिए अरु ह्वै मुरली अधरा रस पीजै।
—मतिराम

तिङंत प्रत्यय लगाकर भी उपर्युक्त क्रियाएँ बनती हैं। इसका व्यवहार ब्रजभाषा में पहले से ही चला आ रहा था—

(१) रहिमन कहए मुखनि कौं, चहियत बही सभाव।
—रहीम

(२) कहा चतुराई ठानियत प्राणप्यारी तेरो
मान जानियत रूखे मुँह मुसकान सों।
—मतिराम

(३) क्यों करि झूठी मानिए, सखि सपने की बात।
जु हरि हरयो सोवत हियो, सो न पाइयत प्रात॥
—पद्माकर

'कीजै', 'दीजै' तथा 'इयत' प्रत्यय से संयुक्त क्रियाएँ भाववाच्य हैं। रीति-काव्यों में 'इयत' लगाकर अनेक जगह क्रियाएँ बनाई गई हैं। इस संपदा का सहारा प्रायः प्रत्येक कवि ने लिया है :

(१) बिरह तिहारे लाल ! बिकल भई है बाल
नींद, भूख, प्यास, सिगरी बिसारियतु है।
—मतिराम

(२) दीनता को डारि औ अधीनता बिडारि दीह
दारिद को मार तेरे द्वार आइयतु है।
—भूषण

(३) नीकी कै अनैसी पुनि जैसी होइ तैसी
तऊ यौवन की मूरि तें न दूरि भागियतु है।
—पद्माकर

पर देव तथा अन्य कवियों ने इसके कुछ चिंत्य प्रयोग किए हैं :

(१) शोभा सुनै जाकी कबि देव कहै कौन कौन
होत चित चौकनो चतुर चेरियत है।

(२) 'देव' सुर मंजु रस पुंज कुंज मंदिर मैं
सुंदरी सुनी सुचित चो पै चुनियती है।

(३) मोहिनी की मूरति सो मोही मन मोहिनी सु,
मोहि महामोह ज्योंह मो हिय मढ़ायत।

प्रथम उदाहरण में तुक के आग्रह से 'चोरियतु' का 'चेरियतु' कर दिया गया है। दूसरे में व्यर्थ में ही 'त' का 'ती' प्रयोग हुआ है। तीसरे में 'मढ़ायत' शब्द के कारण यह अर्थ निकालना होगा कि हृदय मोह से मढ़ाया जा रहा है, जो औचित्य-पूर्ण नहीं कहा जा सकता।

(ङ) वाक्यविन्यास—वाक्य की परिभाषा करते हुए विश्वनाथ ने लिखा है—'वाक्यं स्याद्योग्यताकाङ्क्षासत्तियुक्तः पदोच्चयः।' अर्थात् योग्यता, आकाङ्क्षा और आसत्ति से युक्त पदसमूह वाक्य कहा जाता है। पदार्थों के पारस्परिक संबंध का बाधाभाव योग्यता है। वाक्यार्थ के पूर्त्यर्थ जिज्ञासा का बना रहना आकाङ्क्षा है। और प्रकरण से संबद्ध पदार्थों के बीच व्यवधान न आने देना आसत्ति है। पर कविता में वाक्यगत इन विशेषताओं को प्राप्त करना साधारणतः कठिन ही है।

मात्रा, वर्ण, प्रवाह और तुकों के आग्रह से सभी व्यवस्थाओं का उचित निर्वाह नहीं हो पाता। उपर्युक्त व्यवस्था का पूर्ण पालन गद्य में ही देखा जा सकता है। पद्य में छंद की सुविधा के लिये गद्य का क्रम नहीं रखा जा सकता। पर ऐसा भी नहीं होना चाहिए कि क्रिया, कर्ता आदि में इतनी अधिक दूरी आ जाय कि अर्थबोध में कठिनाई उत्पन्न होने लगे। इसी को अन्वय दोष कहा गया है। इस प्रकार के दोषों के कुछ उदाहरण निम्नलिखित हैं :

(१) आज कछू औरै भए, छए नए ठिक ठैन।
चित के हित के चुगल ए नित के होहिं न नैन॥

—बिहारी

(२) काके कहैं लूटत सुने हो दधिदान मैं।

—देव

बिहारी के दोहे में 'भए' क्रिया से कर्ता 'नैन' दूर पड़ गया है। दूसरे उदाहरण का अन्वय होगा 'काके कहे दधि दान लूटत मैं सुने हो।'

वाक्य में न्यूनपदत्व दोष के कारण अर्थ के लिये काफी खींचतान करनी पड़ती है, साकाङ्क्षता आदि का निर्वाह नहीं हो पाता। इस तरह के दोष भूषण और देव में अधिक मिलते हैं :

दच्छिन के सब दुग्ग जिति दुग्ग सहाय बिलास।
सिव सेवक सिव गढ़पती कियौ रायगढ़ बास॥

—भूषण

'दुग्ग सहाय' का अर्थ दुर्ग को सहायक बना लेना किया जाता है, जो 'सहाय' शब्द से नहीं निकलता। सामान्यतः इसका मतलब होगा—दुर्ग है जिसका सहायक। इसमें 'बनाना' जोड़ना पड़ेगा।

अब देव का एक उदाहरण लीजिए—

अंत रुकै नहिं अंतर कै मिलि, अंतरु कै सु निरंतर धारै।
ऊपर बाहि न, ऊपर वा हित, ऊपर बाहिर को गति चारै।
बातन हारति, बात न हारति, हारति जीभ न बातन हारै।
देव रंगी सुरत्यो सुरत्यो मनु देवर की सुरत्यो न बिसारै।

इस पर डा० नगेंद्र की टिप्पणी है :

'अब इसका अर्थ कीजिए। पहले तो अंतिम पंक्ति से देवर शब्द लीजिए। देवर से अंतर करके भी अंत में नहीं रुकती अर्थात् उससे मिलती ही है। मिलकर जब पृथक् होती है तो उसे निरंतर हृदय में धारण करती है। ऊपर से (प्रकट रूप

में) उससे प्रेम नहीं करती, प्रकट रूप में तो वर अर्थात् पति से प्रेम करती है। इस प्रकार ऊपर बाहरवाली गति से अर्थात् प्रकट रूप में औचित्य का ध्यान रखते हुए चलती है'''इत्यादि। इस छंद मे न्यूनपदत्व और कष्टार्थत्व तो स्पष्ट ही है, कथितपदत्व भी पहली पंक्ति में मिलता है।'

वाक्य का दूसरा मुख्य दोष है अधिकपदत्व। इस दोष के अंतर्गत अनावश्यक रूप से ले आए गए पदों की गणना की जाती है :

> संका दै दसानन को डंका दै सुबंका बीर
> डंका दै बिजै को कपि कूदि परयो लंका में।
>
> —पद्माकर

इसमें एक 'डंका दै' अनावश्यक रूप से प्रयुक्त किया गया है। फिर भी अधिकपद दोष बिहारी, मतिराम और पद्माकर में ढूँढने पर ही मिलेगा। इस दोष का उत्तरदायित्व भूषण और देव पर अधिक है :

> (१) कातिक की बिमल पून्यौ राति की जुन्हाई जोति
> जगमग होति रूप ओप उपजति है।
>
> (२) बहबह्यो गंध, बहबह्यो है सुगंध
>
> —देव

पहले उदाहरण में 'राति' अधिक पद है और दूसरे में 'बहबह्यो है सुगंध' अनावश्यक पिष्टपेषण।

(ई) लिंग की गड़बड़ी—कोई भी भाषा अपनी माता तथा मातामही भाषा से बहुत कुछ ग्रहण करती हुई भी बहुत कुछ बदल जाती है। संस्कृत के बहुत से शब्दों ने हिंदी में आकर अपना लिंग बदल लिया। संस्कृत का नपुंसक लिंग तो हिंदी से उड़ा ही दिया गया। संस्कृत के आत्मा, अग्नि, वायु, अंजलि आदि पुल्लिंग शब्द हिंदी मे आकर स्त्रीलिंग बन गए। संस्कृत का 'तारा' स्त्रीलिंग है पर हिंदी मे 'नक्षत्र' के पर्याय के रूप में वह पुल्लिंग हो गया। स्त्री का पुरुष, पुरुष का स्त्री हो जाना (वह भी आज के वैज्ञानिक युग में) आश्चर्यजनक नहीं माना जा सकता। संस्कृत के अधिकाश नपुंसक हिंदी में पुंवर्ग में आ डटे, डटे ही नहीं वे पुल्लिंग हो भी गए। जल, वन, दुग्ध आदि संस्कृत के नपुंसक शब्द हैं जो हिंदी मे पुल्लिंग हो गए हैं। पर यह आश्चर्य का विषय नहीं है और इसके कारण कोई गड़बड़ी भी नहीं होती। गड़बड़ी तो तब आरंभ होती है जब एक ही वर्ग के कुछ शब्द पुंवर्ग में चले जाते हैं और कुछ स्त्रीवर्ग में। परमात्मा और आत्मा एक ही वर्ग के हैं किंतु पहला पुंवर्गीय माना गया तो दूसरा स्त्रीवर्गीय।

हिंदी में इस तरह की गड़बड़ी का एक मुख्य कारण यह है कि इसके भिन्न

भिन्न अंचलो की बोलियो में शब्दों के लिंगों में एकरूपता नहीं मिलेगी। रीतिकाव्यों के कवि भी, जैसा पहले दिखाया जा चुका है, बहुत सी बोलियों से प्रभावित थे। इसलिये उनके शब्दप्रयोग में लिंग का दोष आ जाना अस्वाभाविक नहीं माना जा सकता। पर है यह दोष ही, भाषागत अव्यवस्था ही।

कुछ उदाहरण देखिए :

(१) भूषन भनत पातसाहन त्यों बंधुअन,
बोलखा बचन यौं सलाह की इलाज के।
—भूषण

(२) उचकै कुच कंद कदंब कली सी। —देव

पहले उदाहरण में 'सलाह' के बाद 'के' और 'इलाज' के बाद 'की' होना चाहिए। दूसरे मे 'सी' की जगह 'से' व्याकरणसंमत है।

यह अव्यवस्था तो अपने आप ही अग्राह्य है, किंतु जब एक ही शब्द कभी स्त्रीलिग और कभी पुल्लिग मे व्यवहृत होने लगता है, और वह भी एक ही कवि द्वारा, तो अव्यवस्था अपनी सीमा तोड़ देती है :

(१) लपटी पुहुप पराग पर, सनी स्वेद मकरंद।
आवति नारि नवोढ लौं, सुखद वायु गतिमंद॥
(२) चुवत स्वेद मकरंदकन, तरु तरु तर बिरमाइ।
आवतु दच्छिन देस तें, थक्यो बटोही बाइ॥

पहले दोहे में 'वायु' स्त्रीलिग मे प्रयुक्त है, दूसरे मे पुल्लिग मे।

इसी तरह देव ने भी 'लंक' शब्द को कहीं पुल्लिग मे और कहीं स्त्रीलिंग में प्रयुक्त किया है :

(१) सु भयो छबि दूबरो लंक विचारो।
(२) लंक लचकि लचकि जात।

उपर्युक्त अव्यवस्थाओं का दुष्परिणाम जो होना था वही हुआ। गद्य के उदय के साथ साथ ब्रजभाषा अस्त हो गई। यहाँ पर भाषा की जिस शिथिलता, दोष और अस्थिरता का उल्लेख किया गया है उससे स्पष्ट है कि इस तरह की भाषा गद्य के लिये व्यावहारिक नहीं हो सकती थी। इसका मतलब यह नहीं है कि परिनिष्ठित ब्रजभाषा लिखनेवाले कवि थे ही नहीं। रसखान, घनआनंद की भाषा को सब लोगों ने परिनिष्ठित ब्रजभाषा माना है, बिहारी की भाषा अपनी त्रुटियों के बावजूद भी टकसाली ही कही जायगी। किंतु अधिकाश ने भाषा की शुद्धता की ओर प्रायः ध्यान नहीं दिया है।

षष्ठ अध्याय

रीतिबद्ध कवियों का वर्गीकरण

रीतिकाल मे निर्मित रीतिशास्त्रीय ग्रंथो पर विहंगम दृष्टिपात करने से स्पष्ट हो जाता है कि ये ग्रंथ दो प्रकार के हैं। एक वर्ग उन ग्रंथो का है जिनमे शास्त्रीय चर्चा भी की गई है तथा उसके उदाहरणस्वरूप मुक्तक पद्यो की रचना भी। दूसरे शब्दो में, इन ग्रंथो मे लक्षण तथा लक्ष्य दोनों रूपो को समुचित स्थान मिला है। उदाहरणार्थ, चिंतामणि का कविकुलकल्पतरु, मतिराम का रसराज, कुलपति का रसरहस्य, देव का शब्दरसायन और सुखसागरतरंग, श्रीपति का काव्यसरोज, सोमनाथ का रसपीयूषनिधि, भिखारीदास का काव्यनिर्णय, प्रतापसाहि का काव्यविलास आदि इसी कोटि के ग्रंथ हैं। दूसरा प्रकार उन ग्रंथो का है जिनमे लक्षणबद्ध रूप में शास्त्रीय चर्चा तो प्रस्तुत नहीं की गई—केवल कवित्वमय पद्यो को ही स्थान मिला है, पर उन पद्यो की रचना करते समय कवियो का ध्यान रीतिशास्त्रीय सिद्धातो पर अवश्य रहा होगा, इसमें संदेह नही है। इन ग्रंथो में शास्त्रीय सिद्धातनिरूपक लक्षण भले ही न हों, पर इनके पद्य किसी न किसी काव्याग के किसी न किसी रूप मे लक्ष्य अवश्य हैं। उदाहरणार्थ बिहारी सतसई, मतिराम सतसई, रसनिधि का रतनहजारा, रामसहाय की रामसतसई आदि ग्रंथ इसी कोटि के हैं। इनके अतिरिक्त रीतिकाल में रचे गए कतिपय नखशिख, षड्ऋतु, बारहमासा आदि भी इसी कोटि के अंतर्गत आते हैं। दूसरे शब्दो मे कह सकते हैं कि ये रीतिग्रंथ दो प्रकार के हैं—लक्षण-लक्ष्य-बद्ध तथा लक्ष्यबद्ध। इन दो प्रकारो के आधार पर रीति-कवियों को भी दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—शास्त्रकवि, तथा काव्य-कवि। चिंतामणि, तोष, जसवंतसिंह, मतिराम, भूषण, कुलपति, सुखदेव, देव, सूरति मिश्र, कुमारमणि, श्रीपति, सोमनाथ, गोविंद, रसलीन, भिखारीदास, दूलह, पद्माकर, बेनीप्रवीन, प्रतापसाहि आदि लक्षण-लक्ष्य-बद्ध ग्रंथो के निर्माता होने के कारण रीति-शास्त्र-कवि हैं, और बिहारी आदि लक्ष्यबद्ध ग्रंथों के निर्माता होने के कारण रीति-काव्य-कवि। वस्तुतः दूसरे वर्ग के विशुद्ध कवियों की संख्या प्रथम वर्ग के कवियो की अपेक्षा बहुत कम है। ऐसे अनेक कवि हैं जिन्होंने दोनो प्रकार की रचनाएँ की हैं। उदाहरणार्थ कुलपति ने रसरहस्य की भी रचना की है तथा नखशिख की भी। इसी प्रकार मतिराम ने ललितललाम, अलंकारपंचाशिका और रसराज के अतिरिक्त मतिराम सतसई का भी प्रणयन किया है। देव की भी दोनो

प्रकार की रचनाएँ उपलब्ध हैं। एक ओर शब्दरसायन, सुखसागरतरंग आदि ग्रंथ हैं तो दूसरी ओर देवशतक आदि।

निष्कर्ष यह कि रीतिकालीन संपूर्ण रीतिग्रंथों को हम दो व्यापक वर्गों में विभक्त कर सकते हैं—(१) लक्षण-लक्ष्य-बद्ध और (२) लक्ष्यबद्ध। इनके आधार पर इनके निर्माताओं के भी दो वर्ग हो जाते हैं—(१) शास्त्रकवि और (२) काव्यकवि। इनमें कतिपय कवि ऐसे हैं जो शास्त्रकवि भी हैं और काव्यकवि भी।

तौत, भट्ट नायक और अभिनवगुप्त के नाम उल्लेखनीय हैं। इनमें से अभिनवगुप्त की टीका अभिनवभारती उपलब्ध है। अन्य टीकाकारों का इसी टीका में उल्लेख मिलता है। उद्भट ने भामह के ग्रंथ की भी टीका प्रस्तुत की थी। दंडी के ग्रंथ के प्रसिद्ध टीकाकार तरुण वाचस्पति हैं। उद्भट के ग्रंथ के दो टीकाकार हैं—राजानक तिलक तथा प्रतिहारेंदुराज। वामन के ग्रंथ के प्रसिद्ध टीकाकार हैं गोपेंद्र त्रिपुर हरभूपाल। आनंदवर्धन के ग्रंथ के टीकाकारों में अभिनवगुप्त का नाम उल्लेख्य है। धनंजय के ग्रंथ के टीकाकार धनिक हैं और महिम भट्ट के रुय्यक। मम्मट के ग्रंथ के लगभग सत्तर टीकाकार बताए जाते हैं जिनमें से उद्भावक एवं प्रख्यात टीकाकार गोविंद ठक्कुर हैं। विश्वनाथ के ग्रंथ के प्रसिद्ध टीकाकार रामचरण तर्कवागीश और शालग्राम हैं तथा जगन्नाथ के नागेश भट्ट। इन टीकाकारों के गंभीर, प्रौढ़ एवं तर्कसमत व्याख्यान विवेचन ने काव्यशास्त्रीय समस्याओं को सुलझाने मे महत्वपूर्ण सहायता दी है। मम्मट से पूर्व और उनके पश्चात् अनेक आचार्यों ने संग्रहग्रंथों का भी निर्माण किया। मम्मट से पूर्ववर्ती आचार्यों में रुद्रट, भोज और अग्निपुराणकार के नाम उल्लेखनीय हैं एवं परवर्ती आचार्यों मे जयदेव तथा विश्वनाथ के अतिरिक्त हेमचंद्र, वाग्भट प्रथम, वाग्भट द्वितीय, विद्याधर, विद्यानाथ, केशव मिश्र और कवि कर्णपूर के। मम्मट के परवर्ती प्रायः सभी आचार्यों पर मम्मट का विशिष्ट प्रभाव है। इन सभी आचार्यों ने काव्य के सभी अंगों का निरूपण किया है। इनके अतिरिक्त भानु मिश्र ने दो ग्रंथों का निर्माण किया। इनमें से रसतरंगिणी रसविषयक ग्रंथ है और रसमंजरी नायक-नायिका-भेद-विषयक। अप्पय्य दीक्षित के तीन ग्रंथों मे से वृत्तिवार्तिक का वर्ण्य विषय शब्दशक्ति है और कुवलयानंद तथा चित्रमीमांसा का अलंकार।

संस्कृत के काव्याचार्यों ने काव्यशास्त्रीय सिद्धांतों के अतिरिक्त नाट्यशास्त्रीय सिद्धांतों का भी समय समय पर विवेचन किया। भरत के नाट्यशास्त्र की व्यापक, विस्तृत एवं बहुविध विषयसामग्री यह मानने को बाध्य करती है कि यह ग्रंथ नाट्य-विधान संबंधी अनेक ग्रंथों की सामग्री के आधार पर रचित है। इसके पश्चात् अनेक शताब्दियों से प्रचलित यह परंपरा समाप्त सी हो गई। इसका कारण यह प्रतीत होता है कि काव्यविधान के उत्तरोत्तर गंभीर निर्माण ने आचार्यों को उस दिशा से विमुख सा कर दिया। इनके तेरह चौदह सौ वर्ष उपरांत धनंजय, सागरनंदी, रामचंद्र गुणचंद्र, शारदातनय और शिंगभूपाल ने प्रमुखतः नाट्यशास्त्र के ग्रंथों का निर्माण कर इस काव्यांग का पुनरुद्धार किया। सर्वांगनिरूपक आचार्यों में अकेले विश्वनाथ ने ही धनंजय के ग्रंथ से प्रेरणा प्राप्त कर नाट्यविधान को भी अपने ग्रंथ में संमिलित किया है। हमारे विचार में नायक-नायिका-भेद का विषय काव्यशास्त्र की अपेक्षा नाट्यशास्त्र से ही अधिक संबद्ध है। यही कारण है कि उक्त सभी नाट्य-शास्त्रकारों ने इस प्रसंग का भी निरूपण आवश्यक समझा है। इनके अतिरिक्त

तृतीय खंड

आचार्य कवि

प्रथम अध्याय

लक्षणबद्ध काव्य की सामान्य विशेषताएँ

१. संस्कृत में रीतिशास्त्र (काव्यशास्त्र) की परंपरा

रीतिकालीन लक्षणबद्ध काव्य का विवेच्य विषय अधिकांशतः संस्कृत काव्यशास्त्रीय परंपरा पर आधृत होते हुए भी विषयवस्तु और प्रतिपादन शैली, दोनों दृष्टियों से उसके समान गंभीर एवं प्रौढ़ नहीं है। संस्कृत का काव्यशास्त्र क्रमशः विकसित सिद्धांतों का विश्वकोश है। २री–३री शती ई० पू० से लेकर १७वीं शती तक इसके सिद्धांतों में निरंतर कभी तीव्र और कभी मंद गति से विकास होता रहा। काव्यविधान की जो अवस्था रसवादी भरत के समय (२री–३री शती ई० पू०) में थी, वह अलंकार को काव्यसर्वस्व माननेवाले भामह और दंडी के समय (६ठी–७वीं शती ई०) में परिवर्तित हो गई। इनके अनुसार रस अलंकार का एक रूप बन गया। आगे चलकर ६वीं शती में एक साथ तीन प्रबल काव्याचार्यों का आविर्भाव हुआ। इनमें से वामन ने रीति का आविष्कार कर अलंकार और रस को गौण स्थान दिया। उद्भट ने अलंकारवाद का प्रबल समर्थन किया और आनंदवर्धन ने ध्वनि सिद्धांत का प्रतिष्ठापन कर काव्यशास्त्र को एक नई दिशा की ओर मोड़ दिया। इनके पश्चात् पूरे दो सौ वर्षों तक विभिन्न काव्यशास्त्री ध्वनि सिद्धांत का विरोध भी करते रहे। धनंजय (१०वीं शती) ने उसे तात्पर्य में अंतर्भूत किया, कुंतक (१०वीं–११वीं शती) ने वक्रोक्ति में और महिम भट्ट (११वीं शती) ने अपने गंभीर विवेचन द्वारा ध्वनिविरोधियों का समर्थ शैली में खंडन प्रस्तुत कर ध्वनि सिद्धांत की अकाट्य रूप से स्थापना की और इसके प्रति बद्धमूल आस्था को दृढ़ कर दिया। यह आस्था आगामी छह शताब्दियों तक निरंतर बनी रही। यहाँ तक कि अलंकार को काव्य का अनिवार्य अंग स्वीकृत करनेवाले जयदेव (१३वीं शती) ने अपने ग्रंथ में ध्वनि प्रकरण को स्थान दिया, और ध्वनि के स्थान पर रस को काव्य की आत्मा घोषित करनेवाले विश्वनाथ (१४वीं शती) ने केवल ध्वनि-प्रकरण का निरूपण ही नहीं किया, अपितु मम्मट की परंपरा के अनुसार ध्वनि के भेदों में रस का भी यथावत् अंतर्भाव किया। संस्कृत के अंतिम प्रकांड आचार्य जगन्नाथ (१७वीं शती) ने भी ध्वनि सिद्धांत का पूर्ण समर्थन किया।

उक्त मूल आचार्यों के अतिरिक्त टीकाकारों का भी इस दिशा में योगदान कुछ कम नहीं है। भरत के प्राचीन व्याख्याताओं में उद्भट, लोल्लट, शंकुक, भट्ट

प्रतापसाहि। लगभग २०० वर्षों के इस दीर्घ काल में शतशत रीतिग्रंथों का निर्माण हुआ।

जैसा हम संकेत कर चुके हैं, रीतिकालीन लक्षणबद्ध रीतिग्रंथ अपने शास्त्रीय विवेच्य विषय के लिये संस्कृत के काव्यशास्त्रों के ऋणी हैं। संस्कृत काव्यशास्त्र मे काव्यविधान, नाट्यविधान तथा कविशिक्षा इन तीनो विषयों का विवेचन होता रहा है, पर इधर हिंदी रीतिकालीन रीतिग्रंथो में अधिकांशतः काव्यविधान को ही स्थान दिया गया है, शेष दो विषयो को नहीं। नाट्यविधान से संबद्ध हिंदी का केवल एक ग्रंथ उपलब्ध है—नारायणकृत नारायणदीपिका। कविशिक्षा संबंधी उल्लेख भी केवल एक ही ग्रंथ—केशवप्रणीत कविप्रिया—में उपलब्ध हैं पर यह ग्रंथ रीति-पूर्व युग का है।

संस्कृत का काव्यशास्त्र समय समय पर रसवाद, अलंकारवाद, रीतिवाद, ध्वनिवाद तथा वक्रोक्तिवाद का समर्थन एवं खंडन मंडन प्रस्तुत करता रहा है। इधर हिंदी के रीतिकालीन आचार्य इन वादो के पचडे मे नहीं पड़े। इनमे से अधिकाश ने नायक-नायिका-भेद विषयक ग्रंथो का निर्माण किया है, कुछ ने अलकार ग्रंथों का और कुछ ने इन दोनों का। नायक-नायिका-भेद के लिये वे प्रायः भानु मिश्र के ऋणी हैं तथा अलंकारों के लिये प्रायः अप्पय्य दीक्षित के। संस्कृत के ये दोनो आचार्य वस्तुतः किसी भी उपर्युक्त वाद अथवा संप्रदाय से संबद्ध नहीं थे। अंततः इनके अनुकर्ता हिंदी के आचार्यों को भी किसी वाद अथवा संप्रदाय का समर्थक कहना युक्तियुक्त नहीं होगा। हिंदी के कुछेक आचार्यों ने विविधागनिरूपक ग्रंथो का भी निर्माण किया है जिनकी संख्या अपेक्षाकृत अत्यल्प है। इस क्षेत्र मे वे प्रायः मम्मट अथवा विश्वनाथ अथवा दोनों के ऋणी हैं। मम्मट ध्वनिवादी आचार्य थे और विश्वनाथ रसवादी। ये दोनों आचार्य काव्यशास्त्रीय अन्य वादों एवं संप्रदायो से पूर्णतया अवगत थे। उनसे अवगत रहकर इन्होने ध्वनिवाद अथवा रसवाद का निर्वाचन एवं समर्थन किया है। इधर हिंदी के आचार्य अलंकारवाद, रीतिवाद तथा वक्रोक्तिवाद से पूर्णतया अवगत नहीं थे—अतः इनके लिये पाँचो वादों में से किसी एक वाद के निर्वाचन का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। वस्तुतः मम्मट के उपरांत उनके ग्रंथ का इतना अधिक प्रभाव एव प्रचार हो गया था कि संस्कृत के आचार्य भी शताब्दियों तक ध्वनि को छोड़ अन्य वादों की ओर प्रायः प्रवृत्त नहीं हो सके। हेमचंद्र, वाग्भट प्रथम, वाग्भट द्वितीय, जयदेव, विद्याधर, विद्यानाथ, विश्वनाथ, जगन्नाथ—ये सभी प्रख्यात आचार्य ध्वनिवाद के समर्थक और अधिकाशतः मम्मट के अनुकारक रहे हैं। एक भी ऐसा आचार्य नहीं है जिसने अलंकारवादी भामह, दंडी और उद्भट का अनुकरण किया हो, अथवा जो रीतिवादी वामन अथवा वक्रोक्तिवादी कुंतक का अनुगामी रहा हो।

यहाँ तक कि जयदेव ने भी, जिन्हें अलंकारवादी समझा जाता है, उक्त तीनों अलंकारवादियों का अनुकरण नहीं किया। इस प्रकार मम्मट और फिर विश्वनाथ के अनुकरण की यह परंपरा संपूर्ण हिंदी रीतिकाल तक अक्षुण्ण बनी रही। इसी परंपरागत मार्ग का अवलंबन करते हुए विविध काव्यांगनिरूपकों मे से किसी ने मम्मट के समान ध्वनि का तथा किसी ने विश्वनाथ के समान रस का समर्थन किया। पर इस समर्थन का उत्तरदायित्व इस बात पर इतना नहीं है कि वे किसी एक सिद्धात-विशेष के प्रति विवेचनबुद्धि से उन्मुख हुए थे, अपितु इस बात पर अधिक है कि उन्होने मम्मट अथवा विश्वनाथ में से किसी एक के ग्रंथ का आधार लिया था। हिंदी के प्रख्यात आचार्यों में देव ने अलंकारो के लक्षणों के लिये दंडी के ग्रंथ से भी सहायता ली है पर इसका कारण भी अलंकारवाद का समर्थन नहीं है। एक कारण तो केशव का अनुकरण है और दूसरा कारण संग्रहप्रवृत्ति है। इन्होने अपने एक ग्रंथ मे अलंकारो के स्वरूप के लिये मम्मट और विश्वनाथ की सहायता ली है, तो दूसरे ग्रंथ में दंडी की।

निष्कर्ष यह है कि :

(१) नायक-नायिका-भेद-निरूपक आचार्यों को यदि हम रसवादी आचार्य मानें, तो इस कारण नहीं कि इन्होने विश्वनाथ के समान रस को काव्य की आत्मा मानते हुए रस की तुलना मे ध्वनि, वक्रोक्ति आदि को अपेक्षाकृत निम्न कोटि का काव्यांग स्वीकृत किया है, अपितु इसलिये मानेंगे कि इन्होंने भानु मिश्र के समान रस प्रकरण के एक व्यापक अंग नायक-नायिका-भेद का विस्तृत निरूपण प्रस्तुत किया है, जिससे प्रकारांतर से इनकी प्रवृत्ति 'रसवाद' की ओर प्रतीत होती है।

(२) ठीक यही स्थिति अलंकारनिरूपक आचार्यों की भी है। इन्हे यदि हम अलंकारवादी मानेंगे तो इस दृष्टि से नहीं कि ये भामह, दंडी एवं उद्भट के समान अन्य काव्यांगों का अंतर्भाव 'अलंकार' में करने के समर्थक हैं, अपितु इसलिये मानेंगे कि इन्होंने जयदेव एवं अप्पय्य दीक्षित के समान 'अलंकार' का विस्तृत निरूपण प्रस्तुत कर प्रकारांतर से अलंकारवाद की ओर अपनी प्रवृत्ति दिखाई है।

(३) इसी प्रकार विविधांगनिरूपक आचार्य ध्वनिवाद अथवा रसवाद से इसलिये संबद्ध समझे जाने चाहिए कि वे मम्मट अथवा विश्वनाथ के ग्रंथो के ऋणी हैं, न कि इसलिये कि वे पाँचों वादों के पूर्ण ज्ञाता होकर किसी एक वाद को सर्वोत्कृष्ट समझने के कारण उसके समर्थक हो गए हैं।

(२) संस्कृत के आचार्यों और हिंदी के रीतिकालीन आचार्यों की उद्देश्यभिन्नता—रीतिकालीन ग्रंथों के विवेच्य विषय के सामान्य अवलोकन के उपरांत स्वाभाविक प्रश्न उपस्थित होता है कि ये कवि लक्षणबद्ध साहित्यनिर्माण की

ओर आकृष्ट क्यों हुए ? क्या इसलिये कि ये हिंदी साहित्य से संबद्ध काव्यशास्त्र का निर्माण करना चाहते थे ? अथवा इसलिये कि ये संस्कृत काव्यशास्त्र का हिंदी में उल्था प्रस्तुत करना चाहते थे ? इन दो संभावनाओं में से द्वितीय संभावना अपेक्षाकृत अधिक सबल है। यदि इनका उद्देश्य हिंदी साहित्य संबंधी काव्यशास्त्र का निर्माण करना होता तो ये अपने ग्रंथो के उदाहरण पक्ष के लिये संस्कृत आचार्यों के समान अपने पूर्ववर्ती काव्यों से उद्धरण देते, न कि स्वरचित उदाहरण प्रस्तुत करते। हिंदी साहित्य का आदिकालीन तथा भक्तिकालीन साहित्य विषयसामग्री एवं प्रतिपादन शैली, दोनो दृष्टियों से बहुमुखी एवं व्यापक होने के कारण उक्त उद्देश्यपूर्ति के लिये किसी भी रूप में कम उपादेय अथवा समर्थ सिद्ध न होता। संस्कृत काव्यशास्त्र का निर्माण निस्संदेह संस्कृत साहित्य को लक्ष्य में रखकर हुआ था। शब्दशक्ति, ध्वनि, रस, नायक-नायिका-भेद, अलंकार, रीति और दोष की उत्तरोत्तर वर्धमान संख्या इस तथ्य का प्रमाण है कि लक्ष्यग्रंथो की आलोचना के आधार पर संस्कृत काव्यशास्त्री काव्यागो के प्रकारो मे वृद्धि करते चले गए। यदि कुंतक तथा जयदेव ने अलंकारो की संख्या को और मम्मट ने गुणों तथा अलंकारो की संख्या को सीमित किया, अथवा मम्मट ने अलंकारदोषों को नितात अस्वीकृत किया, तो उनका आशय इन सबका स्वसंमत काव्यागों में अंतर्भाव करना ही था, इन्हें लक्ष्यग्रंथो में अस्वीकृत करना उनको अभीष्ट नही था। संस्कृत के काव्यशास्त्रीय सिद्धात धीरे धीरे विकसित एवं खंडित मंडित होते होते आनंदवर्धन और तदुपरात मम्मट के समय तक प्रौढ तथा स्थिर रूप धारण कर चुके थे। पर इधर हिंदी के आचार्यों ने लक्ष्यग्रंथों को आधार बनाकर स्वतंत्र सिद्धांतो का निर्माण नहीं किया। यही कारण है कि संस्कृत के आचार्यों के समान इनके ग्रंथो मे सिद्धातों का क्रमिक विकास परिलक्षित नही होता। चिंतामणि के दो सौ वर्ष उपरात भी प्रतापसाहि द्वारा प्रतिपादित मूलभूत सिद्धातो मे कोई अंतर नहीं आया। यदि हिंदी के किसी आचार्य ने पूर्ववर्ती हिंदी आचार्यों के ग्रंथो का अवलोकन किया भी है, तो उनके सिद्धातो के परीक्षण, पोषण, समालोचन, विवेचन, परिवर्धन अथवा खंडन मंडन के उद्देश्य से नहीं, अपितु संस्कृत के ग्रंथो का आधार ग्रहण करने से बचने अथवा एकत्र वस्तुविषय को अपने रूप में ढालने के ही उद्देश्य से। उदाहरणार्थ, प्रतापसाहि कृत काव्यविलास अधिकांशतः कुलपति की सामग्री पर आधृत है, सोमनाथ ने अलंकारप्रकरण के लिये जसवंतसिंह के ग्रंथ से प्रायः सहायता ली है और भूषण ने मतिराम के ग्रंथ से।

निस्संदेह कुछ आचार्य ऐसे भी हैं, जिन्होंने हिंदी काव्य की विकासशील प्रवृत्तियो को भी ध्यान में रखा है। भिखारीदास ने 'तुक' का विवेचन हिंदी को ही लक्ष्य कर किया है। अपने काव्य-हेतु-प्रसंग में उन्होने हिंदीभाव के कवियों का नामोल्लेख किया है। साथ ही उनके दोषप्रकरण के उदाहरणों में भी हिंदी का

वातावरण है। देव और दास दोनों ने नवीन प्रकार की नायिकाओं तथा दूतियों का उल्लेख किया है जो हिंदी काव्य की संभवतः अपनी हैं। पर एक तो दो सौ वर्षों की इस रीतिपरंपरा में ऐसे आचार्य इने गिने ही हैं, दूसरे, इन आचार्यों की ये नवीनताएँ समस्त विषयसामग्री का शतांश भी नहीं हैं, तीसरे, यदि गवेषणा की जाय तो आश्चर्य नहीं कि इन आचार्यों की अधिकतर उद्भावनाएँ भी संस्कृत काव्यशास्त्रों मे ही उपलब्ध हो जायँ। उदाहरणार्थ, नायक-नायिका-भेद प्रसंगों में तोष, रसलीन, दास आदि ने उद्बुद्ध, उद्बोधिता आदि ऐसे भेदो का उल्लेख किया है जो भानु मिश्र के प्रख्यात ग्रंथ रसमंजरी में उपलब्ध नहीं हैं, पर इनका स्रोत सद्यःउपलब्ध अकबर शाह कृत शृंगारमंजरी में मिल जाता है। कहीं कहीं ये तथाकथित नवीनताएँ अपने मूल रूप से अथवा स्वाभाविक रूप से इतनी भिन्न हो गई हैं कि हम इन्हें मौलिक समझ लेते हैं। उदाहरणार्थ, केशव-संमत लगभग सभी नवीन दोष नामभेद के साथ मम्मट के दोषप्रसंग पर आधारित मालूम पड़ते हैं। उनका 'अंध' दोष मम्मट का 'प्रसिद्धि विरुद्ध' है। 'बधिर' के केशवप्रस्तुत उदाहरण में मम्मटसंमत 'असमर्थ' दोष की छाया है। 'पंगु' दोष परपरागत 'हतवृत्तता' है, आदि। इसी प्रकार भूषण का 'भाविक छवि' अलंकार कोई नया अलंकार नही है, संस्कृत काव्यशास्त्र के 'भाविक' का ही एक अन्य अथवा प्रवर्धित रूप है। देव का 'छल' नामक संचारी भाव विश्वनाथ के साहित्यदर्पण मे उपलब्ध नहीं है, पर भानु मिश्र की रसतरंगिणी मे मिल जाता है।

इस प्रकार कुल मिलाकर यह निष्कर्ष निकालने मे संकोच नही होना चाहिए कि हिंदी के आचार्यों का उद्देश्य हिंदी साहित्य संबंधी नवीन काव्यशास्त्र का निर्माण करना नही था। निस्संदेह ये आचार्य संस्कृत काव्यशास्त्र का हिंदी उल्था ही प्रस्तुत करना चाहते थे। इस प्रवृत्ति का प्रमुख उद्देश्य शृंगार-रस-परिपूर्ण अथवा स्तुतिपरक कवित्त सवैए लिखकर अपने आश्रयदाता राजाओं से सुखद आश्रय एवं पुरस्कार प्राप्त करना था और गौण उद्देश्य था उन सुकुमारबुद्धि आश्रयदाताओं, उनके कुमारों एवं पारिषदों को सरल रूप में काव्यशास्त्र संबंधी शिक्षा देना। बाह्य राजनीतिक वातावरण से उदासीन इन शासकों की दरबारी सभाओं का विभिन्न प्रकार के कलाविदों से परिपूर्ण रहना स्वाभाविक था। हिंदी के ये रीतिकालीन आचार्य उन कलाविदों में से ही थे। ये एक साथ ही कवि भी थे और शिक्षक भी। कवि होने के नाते इन्होंने शृंगार-रस-परिपूर्ण अथवा स्तुतिपरक रचनाओं का निर्माण किया और शिक्षक होने के नाते काव्य के विभिन्न अंगों का परंपरागत शास्त्रीय विवेचन प्रस्तुत करने का प्रयास किया। उनके रीति ग्रंथ इस दोहरे उद्देश्य को लक्ष्य में रखकर रचे गए हैं। इससे एक लाभ तो यह हुआ कि इन कवियों को शृंगार रस की धारा प्रवाहित करने के लिये उपकरणभूत बहुविध सामग्री अनायास मिल गई, और दूसरा लाभ यह कि विलासप्रिय एवं कामुक राजाओं एवं उनके

पारिषदों को शृंगाररस के चषकों के साथ साथ काव्यशास्त्र की सुबोध शिक्षा भी श्रवण श्रावण अथवा पठन पाठन के रूप में मिलती रही।

उधर संस्कृत के काव्यशास्त्री इन बंधनों एवं दरबारी वातावरण से नितांत विनिर्मुक्त विद्याव्यसनी आचार्य थे। इनमें से अधिकतर स्वयं कवि भी नहीं थे। डेढ़ दो हजार वर्षों की काव्यशास्त्रीय शृंखला में केवल दो चार आचार्यों—दंडी, जयदेव, विद्याधर, विद्यानाथ, जगन्नाथ और नरसिंह कवि—ने स्वनिर्मित उदाहरण प्रस्तुत किए हैं। इनमें दंडी, जयदेव और जगन्नाथ का उद्देश्य उदाहरणनिर्माण द्वारा किसी को प्रसन्न करके आश्रय एवं पुरस्कार प्राप्त करना नहीं था। शेष तीनों आचार्यों ने स्वनिर्मित उदाहरणों को अपने आश्रयदाताओं के स्तुतिगान का माध्यम अवश्य बनाया है, पर शृंगार रस के चषक पिलाना इनका लक्ष्य नहीं था। और फिर, ये तीनों आचार्य संस्कृत काव्यशास्त्र के महारथी भी नहीं समझे जाते। पर इधर हिंदी के अधिकांश काव्यशास्त्रियों का प्रमुख लक्ष्य शृंगार एवं स्तुतिपरक उदाहरणों का निर्माण करना है। इस सामान्य प्रवृत्ति के कतिपय अपवाद भी हैं। भूषण के उदाहरणों में शृंगार रस की मृदु एवं मादक तरंगों के स्थान पर वीर रस की उच्छल और उत्तेजक तरंगें हैं। पर काव्यनिर्माण के विभिन्न उद्देश्यों में से उनका एक उद्देश्य कदाचित् शिवाजी की स्तुति गाकर पुरस्कारप्राप्ति भी था। इस उद्देश्य के भी अपवाद उपलब्ध हैं। राजा जसवंतसिंह जैसे आश्रयदाताओं को न तो स्वरचित उदाहरणों द्वारा किसी को प्रसन्न करने की चिंता थी और न राजसभामंडप को हर्षध्वनि से गुंजित करने के लिये उदाहरण के रूप में कवित्त सवैया प्रस्तुत करने की। जयदेव के समान उन्होंने शास्त्रीय विवेचन और उदाहरण को एक ही छोटे से छंद (दोहा और सोरठा) में समाविष्ट करने का सफल प्रयास किया है। इस दृष्टि से उनका भाषाभूषण विशुद्ध काव्यशास्त्रीय ग्रंथ है। पर ऐसे ग्रंथ गिने चुने ही हैं। अधिकतर ग्रंथ उदाहरणनिर्माण की दृष्टि से ही लिखे गए हैं, और उनमें अनेकरूपता लाने के उद्देश्य से परंपरागत काव्यांगों का आश्रय लिया गया है। हाँ, शृंगार-रस-परिपूर्ण उदाहरणनिर्माण की प्रवृत्ति का परिणाम यह हुआ कि केवल उन्हीं काव्यांगों का निरूपण अधिकता से किया गया, जिनके निरूपण में आचार्यों को सरस उदाहरणनिर्माण के लिये पर्याप्त सामग्री एवं सुविधा मिल जाती थी। फलस्वरूप नायक-नायिका-भेद संबंधी जितने ग्रंथों का निर्माण हुआ, उतने अन्य काव्यांग संबंधी ग्रंथों का नहीं। ग्रंथसंख्या की दृष्टि से दूसरा स्थान अलंकार ग्रंथों का है और तीसरा स्थान विविधांगनिरूपक ग्रंथों का।

३. प्रतिपादन शैली

हिंदी रीतिकालीन आचार्यों की प्रतिपादन शैली पर प्रकाश डालने से पूर्व संस्कृत के आचार्यों की प्रतिपादन शैली पर सामान्य दृष्टिपात आवश्यक है। इन

आचार्यों की शैली को तीन प्रधान रूपों में विभक्त कर सकते हैं—पद्यात्मक शैली, वृत्ति शैली और कारिकावृत्ति शैली।

(क) पद्यात्मक शैली—संस्कृत के कुछ आचार्यों ने केवल पद्यात्मक शैली को अपनाया है। उदाहरणार्थ भरत, भामह, दंडी, उद्भट, वाग्भट प्रथम, जयदेव, अप्पय्य दीक्षित आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। इनमें से भरत ने कुछ स्थलों पर गद्य का भी आश्रय लिया है।

(ख) सूत्रवृत्ति शैली—वामन और रुय्यक के शास्त्रीय सिद्धांत सूत्रबद्ध हैं, और सूत्रों की वृत्ति गद्यात्मक है। उदाहरणों के लिये इन दोनों ने पद्य का आश्रय लिया है। इनसे मिलती जुलती शैली भानु मिश्र, जगन्नाथ, अकबर शाह आदि की है।

(ग) कारिकावृत्ति शैली—आनंदवर्धन, कुंतक, मम्मट, विश्वनाथ आदि ने कारिकावृत्ति शैली को अपनाया है। इनके प्रमुख शास्त्रीय सिद्धांत कारिकाबद्ध हैं। उनकी व्याख्यात्मक विवेचना गद्यबद्ध वृत्ति में है और उदाहरण पद्यात्मक हैं।

इधर हिंदी के अधिकतर आचार्यों ने सामान्यतः प्रथम शैली को अपनाया है। वाग्भट प्रथम की प्रतिपादन शैली के समान शास्त्रीय विवेचन के लिये इन्होंने दोहा और सोरठा जैसे छोटे छंदों का प्रयोग किया है और उदाहरण के लिये प्रायः कवित्त सवैया जैसे बड़े छंदों का। केशव, तोष, मतिराम, भूषण, देव, कुमारमणि भट्ट, भिखारीदास, दूलह, पद्माकर, बेनीप्रवीन आदि की प्रतिपादन शैली यही है। जसवंतसिंह की शैली इन आचार्यों से थोड़ी भिन्न है। इन्होंने जयदेव के समान शास्त्रीय विवेचन और उदाहरण को प्रायः एक ही दोहे में समाविष्ट करने का प्रयास किया है। सूत्रवृत्ति शैली में रचित हिंदी का कोई ग्रंथ उपलब्ध नहीं है। कारिकावृत्ति शैली में चिंतामणि, कुलपति, सोमनाथ, प्रतापसाहि के ग्रंथों को रख सकते हैं। पर वस्तुतः ये ग्रंथ संस्कृत आचार्यों की इस शैली के ठीक अनुरूप नहीं हैं। आनंदवर्धन, मम्मट आदि आचार्यों ने गद्यबद्ध वृत्ति को कारिकागत शास्त्रीय सिद्धांतों की व्याख्या का साधन बनाया है। इधर कुलपति आदि उक्त आचार्यों ने भी कहीं कहीं गद्यबद्ध वृत्ति का आश्रय इसी उद्देश्य से लिया है, पर इनका गद्यभाग एक तो संस्कृत ग्रंथों में प्रयुक्त गद्यभाग की तुलना में मात्रा की दृष्टि से शतांश भी नहीं है, और दूसरे, न तो यह परिष्कृत एवं पुष्ट है, और न इसमें गंभीर विवेचन का प्रयत्न ही किया गया है। 'शृंगारमंजरी' ग्रंथ निस्संदेह एक अपवाद है। पर एक तो यह हिंदी का मौलिक ग्रंथ न होकर संत अकबर शाह की आंध्र रचना 'शृंगार-मंजरी' का संस्कृत के माध्यम से चिंतामणिकृत हिंदी अनुवाद है, और दूसरे, इसके अनुवादक ने प्रायः सर्वत्र पद्यात्मक शैली का भी समावेश कर दिया है। कारिकावृत्ति शैली में लिखनेवाले संस्कृत आचार्यों का इन आचार्यों से एक भेद और भी है कि

उन आचार्यों के उदाहरण जहाँ उद्धृत हैं वहाँ इनके स्वनिर्मित हैं। इस शैली के कुछ उदाहरण लीजिए :

कुलपति—

अथ काव्य का कारण ॥

दो०—शब्द अर्थ जिनतें बनें नीकी भाँति कबित्त।
सुधि धावन समरथ्य तिन कारण कबि को चित्त ॥

टी०—वैसे चित्त का कारण कहीं शक्ति, कहीं वित्पत्ति, कहीं अभ्यास, कहीं तीनो जानिए विशेष भेद कहने के लिये कवित्त की शरीरसामग्री कहते हैं।

प्रतापसाहि—

अनुचितार्थ—याको नाम ही लक्षण है ॥ यथा—
सहे घाव अंगन अमित सुनि दुंदुभि घनघोर।
समरभूमि अविचल रहे ह्वै कर काठ कठोर ॥

टी०—इहा काठ पद ते कातरता अनुचितार्थ है सब के घाव सहे आप काहू को न नम्यो ताते सुमेर कह्यो चाहिए ॥

शृंगारमंजरी—

अथ प्रगलभा निरूपन

रसमंजरीकार पतिमात्रविषयकेलिकलापकोविदा प्रगल्भा, यह प्रगल्भा को लच्छन लिख्यौ है इहाँ संका। पतिमात्र यह पद जो दीन्हौ है तौ परकीया अरु सामान्या प्रगल्भा कैसे कहाइ हैं जो कोउ कहे कि वै प्रगल्भा नाहीं सो न कहि सकै काहे ते जो उनमें मुग्धात्व अरु मध्यात्व न कहि सकिए प्रगल्भात्व तो उनमें प्रगट देखियतु है तातें रसमंजरीकार को लच्छन स्वीया प्रगल्भा ही मैं नीको बनतु है साधारन प्रगल्भा मैं नीको नाहीं। आमोदकार मदन-विजित-लज्जा प्रगल्भा, यह प्रगलभा को लच्छन कियो है। सोई हमहूँ अंगीकृत कियो।

अथ प्रगल्भा लच्छन

मदन बिजित-लज्जा जु तिय, सु तौ प्रगल्भा जानि।
सकल प्रगल्भा भेद जे, तिन मैं प्रापित मानि ॥

निष्कर्ष यह है कि हिंदी के अधिकतर आचार्यों ने पद्यात्मक शैली को अपनाया है। जिन्होंने कारिकावृत्ति शैली को अपनाया है, वे उसके वृत्तिभाग में संस्कृताचार्यों के समान गंभीर, प्रौढ एवं खंडनमंडनात्मक विवेचन प्रस्तुत नहीं कर सके।

४. विषयसामग्री के चयन में सरल मार्ग का अवलंबन

जहाँ तक विषयसामग्री के निरूपण का प्रश्न है, इन्होंने संस्कृत ग्रंथों का कहीं सरल अनुवाद किया है, कहीं उसका भाव लेकर अपने सुबोध शब्दों में ढाल लिया है और कहीं वही का वही शब्द प्रयोग करते हुए इधर उधर हेरफेर कर उसे रूपांतरित मात्र कर दिया है। सामग्री के निर्वाचन में भी इन्होंने सरल मार्ग का अवलंबन किया है। नायक-नायिका-भेद तथा अलंकार के निरूपकों ने तो जान बूझकर सरल विषय का चयन कर दुरूह शास्त्रार्थ एवं जटिल समस्याओं से अवकाश पा लिया है। इधर विविधागनिरूपकों में भी यही प्रवृत्ति लक्षित होती है। गंभीर शास्त्रार्थों से दूर रहकर इन्होने अधिकाशतः स्थूल विषयसामग्री तक—काव्यागो तथा उनके स्थूल भेदोपभेदो के लक्षण एवं उदाहरणनिर्माण तक—ही अपने रीतिकर्म को सीमित रखा है। जहाँ इन्होने सूक्ष्म और जटिल समस्याओं पर प्रकाश डालने का प्रयास किया भी है, वहाँ प्रायः ये असफल रहे हैं। इस धारणा की पुष्टि के लिये कुछ उदाहरण लीजिए :

विश्वनाथ ने काव्यलक्षण प्रकरण मे मम्मट के लक्षण का खंडन किया है। इस प्रसंग को कुलपति और प्रतापसाहि के सिवा शायद किसी भी अन्य आचार्य ने अपने ग्रंथ में स्थान नही दिया। परंतु कुलपति मे भी यह प्रसंग एकागी और अपूर्ण रूप में, तथा प्रतापसाहि मे सर्वथा शास्त्रासम्मत और भ्रामक रूप में प्रस्तुत किया गया है।

शब्दशक्ति प्रकरण के अंतर्गत तात्पर्य वृत्ति के प्रसंग में अन्विताभिधानवादी और अभिहितान्वयवादी के मतो को समझाने का किसी आचार्य को साहस नहीं हुआ। कुलपति ने इस प्रसंग को अवश्य छेड़ा है, पर पाठक उसमें उलझकर रह जाता है। इसी प्रकार व्यंजनास्थापना जैसे गंभीर प्रसंग पर भी लेखनी चलाना इनकी सामर्थ्य से बाहर था। रस प्रकरण में भरतसूत्र के चारो व्याख्याताओं के मंतव्यों पर भी इन्होने प्रकाश नही डाला। प्रतापसाहि इस मार्ग की ओर अवश्य बढे, पर कुछ दूर तक जाकर वे वापस मुड़ आए। जहाँ तक गए हैं, उसे भी साफ नहीं कर सके। गुण प्रकरण में गुण और अलंकार के पारस्परिक अंतर पर कुछ एक आचार्यों ने थोड़ा बहुत प्रकाश डालने का प्रयास किया है, परंतु वे उद्भट के मत को भी यथेष्ट रूप में प्रकाशित नहीं कर सके। लगभग यही अवस्था अन्य काव्याग प्रसंगों की भी है। दोषप्रकरण के शास्त्रार्थ प्रसंगो का तो नितात त्याग ही कर दिया गया है, अपेक्षाकृत जटिल दोषों का स्वरूप भी निरूपित नहीं किया गया। कुछ आचार्यों ने प्राचीन शास्त्रीय प्रसंगो में इधर उधर नवीनता लाने का प्रयास किया है, पर उसमें वे प्रायः पूर्णतः सफल नहीं हुए हैं। उदाहरणार्थ दास ने अलंकारों को तथाकथित मूल अलंकारो के अंतर्गत वर्गीकृत किया है, पर यह

वर्गीकरण न वैज्ञानिक है और न संगत। इसी प्रकार कुलपति की शांत रस संबंधी नवीन धारणा भी पूर्णतः शास्त्रसंमत नहीं है।

देखा जाय तो रीतिकालीन विविधांगनिरूपक ग्रंथों में एक भी ऐसा ग्रंथ नहीं है जो काव्यप्रकाश अथवा साहित्यदर्पण का, जिनके आधार पर इनका निर्माण हुआ है, पूर्ण, शुद्ध और व्यवस्थित उल्था उपस्थित कर सके। एक ही क्यों, यदि सभी उपलब्ध ग्रंथों की सामग्री का संचयन करके देखा जाय, तो भी इन संस्कृत ग्रंथों की सामग्री व्यवस्थित रूप में हमारे संमुख उपस्थित नहीं होती। इनके नायक-नायिका-भेद प्रकरण निस्संदेह विशालकाय हैं। इन्होंने भानु मिश्र और उनकी रसमंजरी का नाम अमर कर दिया है। इनका उदाहरण पक्ष सरस, शास्त्रसंमत और जीवन के मार्मिक चित्रों का उद्घाटक है, पर ऐसे प्रसंगों का भी शास्त्रीय पक्ष दुर्बल है। ऐसा एक भी ग्रंथ उपलब्ध नहीं, जिसमें रसमंजरी के समान नायकनायिका के भेदोपभेदों के अव्याप्ति तथा अतिव्याप्ति दोषों से रहित लक्षण प्रस्तुत किए गए हों। यहाँ तक कि चिंतामणि ने *शृंगारमंजरी* के शास्त्रीय पक्ष का शब्दशः अनुवाद करने का प्रयास करते हुए भी उसे नितांत अस्पष्ट बना दिया है, जिसे मूल पाठ के बिना समझ सकना हमारे विचार में नितांत असंभव है।

इस प्रकार संस्कृत काव्यशास्त्र की तुलना में हिंदी का रीतिकालीन काव्यशास्त्र वर्ण्य विषय की दृष्टि से लगभग समान होता हुआ भी विषय की व्यापकता, शास्त्रीय विवेचना और प्रतिपादन शैली की दृष्टि से शिथिल है और इस शिथिलता का प्रधान कारण है उद्देश्य की भिन्नता। वहाँ लक्ष्यग्रंथों को ध्यान में रखकर लक्षण-निर्माण प्रमुख उद्देश्य रहा है और यहाँ लक्ष्यनिर्माण को ही प्रमुख उद्देश्य बनाकर पूर्वनिर्मित लक्षणों का आधार ग्रहण किया गया है।

हाँ, अपने प्रमुख उद्देश्य—उदाहरण (लक्ष्य) निर्माण—में ये आचार्य निस्संदेह अत्यंत सफल रहे हैं। इन्होंने सरस उदाहरणों का एक अक्षय कोश सा तैयार कर दिया है। काव्यसौंदर्य की दृष्टि से तो ये महत्वपूर्ण हैं ही, तत्कालीन सामाजिक, पारिवारिक एवं गार्हस्थ्य जीवन पर भी इनके द्वारा पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। पर साथ ही यह भी मानना पड़ेगा कि इन ग्रंथों में उदाहरणों की संख्या इतनी अधिक है कि इन्होंने अपना अनुपात खोकर शास्त्रीय विवेचन को आच्छादित सा कर दिया है। इस प्रकार ये ग्रंथ लक्षणग्रंथों की अपेक्षा लक्ष्यग्रंथ ही अधिक बन गए हैं, और इसी आधार पर कह सकते हैं कि रीतिकालीन रीतिग्रंथकार वस्तुतः कवि पहले थे और आचार्य बाद में। इधर इनके विपरीत संस्कृत के काव्यशास्त्र-निर्माता, विशेषतः वे जिनका इन्होंने आधार ग्रहण किया है, अपने ग्रंथों में केवल आचार्य थे, कवि नहीं थे।

५. शास्त्रीय विवेचन में असफलता के कारण

जैसा हम स्पष्ट कर चुके हैं रीतिकालीन आचार्य शास्त्रीय विवेचन को न तो पूर्णतः शुद्ध और व्यवस्थित रूप में रूपांतरित कर सके हैं और न हिंदी साहित्य को लक्ष्य में रखकर उन्होंने कोई महत्वपूर्ण स्थापनाएँ की हैं। उनकी इस विफलता का प्रथम और प्रधान कारण है—आचार्यत्व और कवित्व का एकीकरण तथा कवित्व द्वारा आचार्यत्व का आच्छादन। इसके अतिरिक्त कुछ अन्य गौण कारण भी हैं। ये आचार्य—विशेषतः एकांगनिरूपक आचार्य—काव्यशास्त्र के प्रकांड पंडित नहीं थे। विविधांगनिरूपक आचार्य अपेक्षाकृत अधिक निष्णात थे, पर उनमें भी संस्कृत के परंपरागत, शास्त्रीय, गंभीर विवेचन से पूर्णतया अवगत होने की न तो क्षमता थी, न दरबारी वातावरण में रहकर उन सिद्धांतों से अवगत होने के लिये उनके पास समय था। वस्तुतः उन्हें इसमें उलझने की आवश्यकता ही नहीं थी। फिर, संस्कृत का काव्यशास्त्र अत्यंत गंभीर, विशाल, एवं सूक्ष्मजटिल होने के साथ साथ इतना पूर्ण एवं संपन्न बन चुका था कि अब उसमें अन्य धारणाओं के समावेश के लिये अवकाश कम रह गया था। इनके अतिरिक्त एक बड़ी बाधा थी उपयुक्त गद्यशैली का अभाव। संस्कृत का गद्य गंभीर एवं प्रौढ विवेचन के लिये जितना सशक्त तथा समर्थ था, हिंदी का गद्य उतना ही शिथिल एवं अशक्त। गद्य के अभाव में एक छोटे से छंद दोहा अथवा सोरठा में किसी काव्यांग के शास्त्रीय विवेचन को समा देने की प्रचलित प्रक्रिया भी उनके अपूर्ण एवं अव्यवस्थित विवेचन के लिये अंशतः उत्तरदायी है। फिर भी ये सब गौण कारण ही हैं, मूल और प्रमुख कारण तो यही है कि उनका आचार्यकर्म उनके कविकर्म का आधार मात्र था, मुख्य उद्देश्य कविकर्म ही था।

द्वितीय अध्याय

रीतिकालीन रीतिशास्त्र के वर्ग

रीतिकाल के दो सौ वर्षों के दीर्घ काल में शतशत रीतिशास्त्रों (लक्षण-लक्ष्य-ग्रंथों) का निर्माण हुआ। विषयानुसार इन ग्रंथो को प्रमुखतः तीन वर्गों में विभक्त किया जा सकता है—रस विषयक ग्रंथ, अलंकार विषयक ग्रंथ, विविध काव्यांग-निरूपक ग्रंथ, तथा पिंगलनिरूपक ग्रंथ।

(१) रस विषयक ग्रंथ—रस विषयक प्रायः सभी ग्रंथ अधिकांशतः शृंगार रस की विविध सामग्री से परिपूर्ण हैं। इनमे से शृंगार रस के आलंबन के रूप मे नायक-नायिका-भेदो का विस्तृत निरूपण है और उद्दीपन विभाव के रूप में नखशिख, बारहमासा तथा षड्ऋतुओ का। कुछेक ग्रंथो मे शृंगारेतर रसों को भी स्थान मिला है, पर अत्यल्प मात्रा में और चलता सा। कुछ प्रख्यात एवं उपलब्ध ग्रंथो के नाम ये हैं—सुधानिधि (तोष), रसराज (मतिराम), रसविलास तथा सुखसागरतरंग (देव), रससाराश तथा शृंगारनिर्णय (भिखारीदास), रसप्रबोध (रसलीन), जगद्विनोद (पद्माकर), नवरसतरंग (बेनीप्रवीन), व्यंग्यार्थकौमुदी (प्रताप-साहि)। इन ग्रंथों का शास्त्रीय विवेचन अधिकाशतः भानु मिश्र प्रणीत रसमंजरी पर आधृत है।

(२) अलंकारग्रंथ—अलंकारग्रंथों का निर्माण रसग्रंथो की अपेक्षा बहुत कम हुआ है। उपलब्ध अलंकारग्रंथ निम्नलिखित हैं—भाषाभूषण (जसवंतसिंह), ललितललाम तथा अलंकारपंचाशिका (मतिराम), शिवराजभूषण (भूषण), भाषाभूषण (श्रीधर कवि), अलंकारचंद्रोदय (रसिक सुमति), रसिकमोहन (रघुनाथ), कर्णाभरण (गोविंद कवि), कविकुलकंठाभरण (दूलह), अलंकार-मणिमंजरी (ऋषिनाथ), अलंकारदर्पण (रामसिंह), पद्माभरण (पद्माकर), भारतभूषण (गिरिधरदास)। इनमें से अधिकतर ग्रंथों का शास्त्रीय निरूपण जयदेव-प्रणीत चंद्रालोक तथा अप्पय्य दीक्षित प्रणीत कुवलयानंद पर आधारित है।

(३) विविध काव्यागनिरूपक ग्रंथ—इन ग्रंथों की संख्या अत्यल्प है। केवल १५ आचार्यों के १५ ग्रंथ उपलब्ध हैं—कविकुलकल्पतरु (चिंतामणि), रसरहस्य (कुलपति), काव्यरसायन अथवा शब्दरसायन (देव), काव्यसिद्धांत (सुरति मिश्र), रसिकरसाल (कुमारमणि), काव्यसरोज (श्रीपति), रसपीयूषनिधि (सोमनाथ), काव्यनिर्णय (भिखारीदास), रूपविलास (रूपसाहि), कवितारस-

विनोद (जनराज), साहित्यसुधानिधि (जगतसिंह), काव्यरत्नाकर (रणवीरसिंह), काव्यविलास (प्रतापसाहि), दलेलप्रकाश (थान कवि), फतहप्रकाश (रतन कवि)। इनमें से अधिकतर ग्रंथ मम्मटकृत काव्यप्रकाश तथा विश्वनाथकृत साहित्यदर्पण की सहायता से निर्मित हुए हैं।

(४) पिंगलनिरूपक ग्रंथ—छंदमाल (केशवदास), पिंगल (चिंतामणि), छंदसार (मतिराम), वृत्तविचार (सुखदेव मिश्र), श्रीनाग पिंगलछंदविलास (माखन), पिंगलरूपदीप भाषा (जयकृष्ण भुजंग), छंदोर्णव (भिखारीदास), छंदसार (नारायणदास), वृत्तविचार (दशरथ), पिंगलप्रकाश (नंदकिशोर), लघुपिंगल (चेतन), वृत्ततरंगिणी (रामसहाय), छंदपयोनिधि (हरिदेव), छंदानंद पिंगल (अयोध्याप्रसाद वाजपेयी)।

तृतीय अध्याय

सर्वांग (विविधांग) निरूपक आचार्य

जैसा पीछे लिख आए हैं, रीतिकालीन रीतिबद्ध ग्रंथ वर्ण्य विषय की दृष्टि से चार प्रकार के हैं—सर्वांग (विविधांग) निरूपक, रसनिरूपक, अलंकारनिरूपक और पिंगलनिरूपक। इन ग्रंथों में से प्रौढ़ता की दृष्टि से सर्वांगनिरूपक ग्रंथ सर्वोच्च कोटि के रीतिग्रंथ हैं और इनके प्रणेता सर्वोच्च कोटि के रीतिआचार्य। इनके पश्चात् क्रमशः अलंकारनिरूपक और रसनिरूपक ग्रंथों और आचार्यों का स्थान है।

सर्वांगनिरूपक ग्रंथों एवं आचार्यों की प्रमुखता की पुष्टि में अनेक कारण दिए जा सकते हैं। सर्वप्रमुख कारण है उदाहरणनिर्माण की ओर इनकी अपेक्षाकृत कम प्रवृत्ति। स्पष्ट है कि सरस उदाहरणनिर्माण के लिये आचार्यों को रस, नायक-नायिका-भेद तथा अलंकार के निरूपण द्वारा जितनी सुविधा मिल जाती है उतनी काव्य के अन्य अंगों द्वारा सुलभ नहीं है। ध्वनि तथा गुणीभूतव्यंग्य के भेदोपभेदों में भी सरस उदाहरणनिर्माण की सामग्री जुटाने की क्षमता अवश्य निहित है, पर इनके शास्त्रीय प्रतिपादन के लिये परिपक्व ज्ञान और अनल्प धैर्य अपेक्षित है। अर्थ और यश के अभिलाषी रीतिकालीन सभी आचार्यों के लिये यह सब सुगम न था। इधर काव्य के शेष अंगों—काव्यस्वरूप, शब्दशक्ति, दोषगुण और रीति एवं वृत्ति में न तो उदाहरणों की सृष्टि के लिये पर्याप्त अवकाश है और न प्रतिपादन की दृष्टि से रस, नायक-नायिका-भेद नामक काव्यांगों की भाँति ये सरल हैं। इस आधार पर यह निष्कर्ष निकाल लेना असंगत नहीं है कि रस और अलंकार संबंधी ग्रंथ के प्रणेताओं की जितनी प्रवृत्ति उदाहरणनिर्माण की ओर थी, उतनी सर्वांग-निरूपक आचार्यों की नहीं थी। यह अलग प्रश्न है कि ये आचार्य भी उदाहरणों की सरसता और शास्त्रीयता की दृष्टि से उतने ही सफल हुए हों जितने एकांग-निरूपक आचार्य। इससे यह भी सिद्ध होता है कि उन आचार्यों के समान इनका लक्ष्य केवल सुगम काव्यांगों का चयन नहीं था। इसके अतिरिक्त कविशिक्षक पद के अधिकारी भी ये ही आचार्य हैं, क्योंकि काव्यशास्त्र की विभिन्न सामग्री का अपेक्षाकृत जितना पूर्ण और प्रौढ ज्ञान इन्हें प्राप्त था उतना एकांगनिरूपक आचार्यों को नहीं।

निष्कर्षतः निम्नोक्त आधारों पर सर्वांगनिरूपक आचार्यों को हम प्रमुख आचार्यपद से भूषित कर सकते हैं :

१—इन्होंने आचार्यकर्म को अधिक मनोनिवेश के साथ ग्रहण किया था।

२—लक्ष्यकाव्य के निर्माण की ओर इनका ध्यान कम था, लक्षणकाव्य की ओर अधिक।

३—केवल सुगम काव्यांगनिरूपण की ओर इनकी प्रवृत्ति नहीं थी।

४—इनका अध्ययन अपेक्षाकृत पूर्ण था, अतः कवि होने के साथ ये आचार्य कवि शिक्षक भी थे।

इसी प्रमुखता के आधार पर केशव और चिंतामणि जैसे सर्वांगनिरूपक आचार्यों में से किसी एक को रीतिकाल का प्रवर्तक मानने का प्रश्न उपस्थित होता है, अन्यथा रस एवं नायक-नायिका-भेद तथा अलंकारनिरूपक आचार्यों का अभाव न तो केशव से पूर्व रहा और न केशव और चिंतामणि के बीच। रीतिकाल के प्रवर्तन का श्रेय ऐसे किसी प्रमुख आचार्य को ही देने के उद्देश्य से केशव और चिंतामणि पर इतिहासकार विद्वानों की दृष्टि गई है। यह ठीक है कि परवर्ती दो ढाई सौ वर्षों में कम आचार्यों ने ही इनके अनुकरण पर सर्वांगनिरूपण प्रस्तुत किया है, पर किसी लेखक को प्रमुख एवं प्रवर्तक मानने का वास्तविक कारण अनुकर्ताओं की संख्या न होकर ज्ञानपरिधि का विस्तार एवं शास्त्रीय प्रौढ़ता ही होता है। इस दृष्टि से निस्संदेह ये ही आचार्य प्रमुख हैं। इस निष्कर्ष की पुष्टि संस्कृत के आचार्यों के साथ इन आचार्यों की तुलना करने पर और भी अधिक हो जाती है। जो प्रतिष्ठा और प्रमुखता मम्मट, विश्वनाथ आदि विविधांगनिरूपक आचार्यों को प्राप्त है, वह रुद्रभट्ट, भानु मिश्र, अप्पय्य दीक्षित आदि रस अथवा अलंकारनिरूपक आचार्यों को नहीं। इसलिये केशव, चिंतामणि आदि विविधांगनिरूपक आचार्य मतिराम, भूषण आदि रस अथवा अलंकारनिरूपक आचार्यों की अपेक्षा निस्संदेह श्रेष्ठ हैं। इसी दृष्टि से प्रस्तुत ग्रंथ में सर्वप्रथम इन्हीं आचार्यों का विवेचन किया जा रहा है। अद्यावधिक गवेषणा के आधार पर केवल निम्नोक्त सर्वांगनिरूपक आचार्यों के ग्रंथ उपलब्ध हो सके हैं, अतः हमें अभी इन्हीं पर संतोष करना होगा :

केशव, चिंतामणि, कुलपति, पदुमनदास, देव, सुरति मिश्र, कुमारमणि, श्रीपति, सोमनाथ, भिखारीदास, जनराज, जगतसिंह, रसिकगोविंद, प्रतापसाहि और ग्वाल।

१. केशवदास

केशवदास ने अपना परिचय स्वप्रणीत निम्नोक्त पाँच ग्रंथों में प्रस्तुत किया है—कविप्रिया, रसिकप्रिया, रामचंद्रिका, विज्ञानगीता और वीरसिंहचरित। इनमें से कविप्रिया ग्रंथ में यह परिचय अपेक्षाकृत अधिक विस्तृत है, शेष ग्रंथों में प्रायः उसी का पुनरावर्तन है तथा जो कुछ नूतन है भी वह उतना महत्वपूर्ण नहीं है। कविप्रिया के अनुसार इनका जन्म सनाढ्य ब्राह्मण कुल में हुआ था। इनके पिता

का नाम काशीनाथ था जिन्हें राजा मधुकरशाह से विशेष संमान प्राप्त था। ये तीन भाई थे, बड़े का नाम बलभद्र था और छोटे का नाम कल्यान। इनके कुल के दास भी भाषा में न बातें कर संस्कृत बोलते थे। ऐसे कुल में उत्पन्न होकर भी परिस्थितियों के कारण केशव को 'भाषा' में कविता करनी पड़ी। ओरछानरेश महाराज इंद्रजीतसिंह केशव को अपना गुरु मानते थे और उन्होंने इन्हें इक्कीस गाँव दान में दिए थे। महाराज इंद्रजीतसिंह के ही कारण उनके बड़े भाई रामशाह भी केशव को मंत्री और मित्र के समान मानते थे। रसिकप्रिया से ज्ञात होता है कि केशवदास जी बुंदेलखंड के ओरछा राज्यांतर्गत तुंगारराय के निकट बेतवा नदी के तट पर ओरछा नगर मे रहते थे। विज्ञानगीता के अनुसार राजा वीरसिंह ने केशव के माँगने पर इनके पुत्रों को वही वृत्ति और पदवी दी जो राजा वीरसिंह के पूर्वजों ने इनके पूर्वजों को दी थी। इस ग्रंथ से यह भी ज्ञात होता है कि इनसे रुष्ट होकर महाराज रामसिंह ने कुछ काल तक इनकी पैतृक वृत्ति का अपहरण कर लिया था।

केशवदास का जन्मसंवत् अनुमानतः १६१२ विक्रमी माना जाता है और मृत्युसंवत् अनुमानतः १६७४ विक्रमी।

निम्नलिखित ६ ग्रंथ केशव की प्रामाणिक रचनाएँ मानी जाती हैं: रसिकप्रिया, नखशिख, कविप्रिया, छंदमाला, रामचंद्रिका, वीरसिंहदेवचरित, रतनबावनी, विज्ञानगीता और जहाँगीरजसचंद्रिका[1]। इनमे से प्रथम चार ग्रंथ काव्यशास्त्र से संबद्ध हैं। रामचंद्रिका रामचरित से संबद्ध महाकाव्य है। रतनबावनी मे ओरछा नरेश मधुकर शाह के पुत्र रतनसेन की वीरता का वर्णन है। वीरसिंहदेवचरित में इंद्रजीतसिंह के अनुज वीरसिंह की वीरगाथा का गौरवगान है और जहाँगीरजसचंद्रिका में वीरसिंह के परम हितैषी सम्राट् जहाँगीर का यशोगान है। विज्ञानगीता में रूपक शैली पर आध्यात्मिक विषयो का निरूपण किया गया है। इन ग्रंथों के वर्ण्यविषय को देखकर कह सकते हैं कि केशव में हर शैली मे ग्रंथ-निर्माण की क्षमता थी। एक तो उन्होंने आदिकालीन ग्रंथो के समान वीरचरितात्मक काव्य का सर्जन किया, दूसरे, रामचंद्रिका जैसे भक्तिपरक प्रबंधकाव्य की रचना की, तीसरे, विज्ञानगीता के निर्माण द्वारा 'प्रबोधचंद्रोदय' नाटक की रूपक शैली को काव्य के रूप में ढाला, और चौथे, हिंदी की उस काव्यशास्त्रीय परंपरा को पुनर्जीवन

[1] इनके अतिरिक्त उनके नाम से अन्य आठ ग्रंथ भी संबद्ध किए जाते हैं: जैमुनि की कथा, हनुमानजन्मलीला, बालचरित्र, आनदलहरी, रसललित, कृष्णलीला, अमीघूँट और रामालंकृत मंजरी। इनमें से अंतिम ग्रंथ की स्थिति संदिग्ध है, शेष ग्रंथ अप्रामाणिक माने जाते हैं।

प्रदान किया, जो पुष्य, कृपाराम, मोहनलाल, रहीम, करणेश (करनेस) आदि कवियों अथवा आचार्यों की रचनाओं में पिछली कई शताब्दियों से मंद गति से बहती चली आ रही थी। इनमें से कविप्रिया ग्रंथ हिंदी साहित्य में अपने प्रकार का प्रथम प्रयास है। इसमें काव्य के विविधांगों का निरूपण प्रस्तुत हुआ है, जबकि पूर्ववर्ती आचार्यों के काव्यशास्त्र विषयक ग्रंथ एक अथवा दो काव्यांगों से संबद्ध थे। रसिकप्रिया ग्रंथ का प्रमुख वर्ण्य विषय शृंगार रस है, और नखशिख में कविनियमानुसार राधा के नख से शिख तक प्रत्येक अंग का वर्णन है। इसके दोहे मे प्रत्येक अंग के लिये कवि-परंपरा-सिद्ध उपमानों का उल्लेख है और उसके बाद कवित्तों में उन उपमानो की सहायता से अंगविशेष का वर्णन है। कविप्रिया के चौदहवें प्रकाश में उपमालंकार के अंतर्गत भी नख-शिख-वर्णन किया गया है, पर वह 'नखशिख' ग्रथ से भिन्न है।

देखा जाय तो उक्त चारो विषयो में से कवि की चित्तवृत्ति काव्यशास्त्र में ही अधिक रमी थी। उनकी ख्याति के आधारभूत ग्रंथ कविप्रिया और रसिकप्रिया ही हैं। रामचंद्रिका के निर्माण का भी प्रमुख उद्देश्य अलंकारो और छंदों के उदाहरण प्रस्तुत करना और गौण उद्देश्य रामचरितगायन प्रतीत होता है। इधर काव्यशास्त्रीय विविधांगो के निरूपण का सर्वप्रथम श्रेय भी इन्ही को प्राप्त है। यह अलग प्रश्न है कि अगले ५० वर्षों तक काव्यशास्त्र की परंपरा में प्रायः अवरोध ही बना रहा और आगे चलकर चिंतामणि से लेकर प्रतापसाहि तक पूरे दो सौ वर्षों तक जिन काव्यशास्त्रीय ग्रंथों का निर्माण पूरे वेग से हुआ वे केशव के आदर्श पर निर्मित नहीं हुए, फिर भी अनेक प्रमुख आचार्यों ने केशव के ग्रंथो से सहायता अवश्य ली है। इस प्रकार केशव प्रमुखतः आचार्य रूप में और गौणतः कवि रूप में हमारे संमुख उपस्थित होते हैं। इन्हीं दो दृष्टियो को लक्ष्य में रखकर हम केशव की उक्त चार कृतियो पर प्रकाश डालेंगे।

(१) आचार्यत्व—

रसिकप्रिया—रसिकप्रिया की रचना संवत् १६४८ में हुई[१]। यह ग्रंथ प्रमुखतः शृंगार रस से संबद्ध है। इसके १६ प्रकाशों में से प्रथम १३ प्रकाशो मे इसी रस का सांगोपांग निरूपण है। १४वें प्रकाश में शृंगारेतर रसों का वर्णन है। १५वें प्रकाश में कैशिकी आदि चार वृत्तियो का वर्णन है और अंतिम प्रकाश में 'अनरस' नाम से पाँच रसदोषों का निरूपण किया गया है। शृंगार रस के प्रकरण

[१] संवत सोरह सै बरस बीते अठतालीस।
कातिक सुदि तिथि सप्तमी बार बरन रजनीश॥ —र० प्रि०, ११

के अंतर्गत नायक-नायिका-भेद का निरूपण भी किया गया है जो अधिकांशतः भानु मिश्र की रसमंजरी तथा विश्वनाथ के साहित्यदर्पण पर समाधृत है। इनके अतिरिक्त इस विषय से संबद्ध जो अन्य प्रसंग इसमे वर्णित किए गए हैं, इस प्रकार हैं :

(क) नायक तथा नायिकाओं के प्रकाश्य तथा प्रच्छन्न उपभेद। इन दोनो भेदो का उल्लेख संस्कृत काव्यशास्त्रों में रुद्रटप्रणीत काव्यालंकार तथा भोजप्रणीत शृंगारप्रकाश में उपलब्ध हो जाता है, पर वे रसिकप्रिया से भिन्न प्रसंग मे निर्दिष्ट हुए हैं।

(ख) कामशास्त्र संबंधी चार प्रकार की नायिकाएँ—पद्मिनी, चित्रिणी, शंखिनी और हस्तिनी। संस्कृत के काव्यशास्त्रो में अकबर प्रणीत शृंगारमंजरी में ये भेद निरूपित हुए हैं। श्रीकृष्ण कवि ने अपने ग्रंथ मंदारमरंद चंपू मे इनका उल्लेख किया है। उधर कामशास्त्रीय ग्रंथों में हमें इनका उल्लेख कक्कोक (कोका पंडित) रचित रतिरहस्य, कल्याणमल्लरचित अनंगरंग, ज्योतिरीश्वररचित पंचसायक मे देखने को मिला है। हरिहररचित 'शृंगारदीपिका' मे भी इन भेदो का निरूपण है। केशव के उक्त निरूपण का आधार कौन सा ग्रंथ है, यह निश्चयपूर्वक कहना कठिन है। अनुमानतः रतिरहस्य और अनंगरंग दोनो रहे होगे।

(ग) मुग्धा नायिका के नवलवधू, नवलअनंगा तथा लज्जाप्राहरति उपभेदों का आधार शिंगभूपालकृत रसार्णव सुधाकर में निर्दिष्ट नववयसा, नवकामा तथा सव्रीडसुरतप्रयत्ना नामक उपभेदों को माना जा सकता है।

इन भेदोपभेदो के अतिरिक्त केशव ने एतत्संबंधी अन्य प्रसंगों का भी उल्लेख किया है—यथा, दंपति-चेष्टा-वर्णन, स्वयंदूतत्व, प्रथम मिलनस्थान, बाहर रति, अंतर रति, अगम्या वर्णन आदि। इनमें से प्रथम प्रसंग साहित्यदर्पण तथा कामसूत्र और अनंगरंग में मिल जाता है। 'स्वयंदूती' नामक दूती, बाहर रति, अंतर रति तथा अगम्या नारियों का उल्लेख भी प्रकारातर से कामसूत्र में उपलब्ध है। 'मिलनस्थान' का प्रसंग साहित्यदर्पण में प्राप्य तो है, पर केशव का प्रसंग इनसे भिन्न है। संभव है, इन्हें प्रेरणा यहीं से मिली हो।

उदाहरणो की दृष्टि से इस ग्रंथ की उल्लेखनीय विशेषता यह है कि ये सभी राधाकृष्ण को आलंबन मानकर निर्मित किए गए हैं, यहाँ तक कि शृंगारेतर रसों में भी यही युग्म आलंबन रूप में गृहीत है और प्रकारातर से इन रसों को शृंगार रस में अंतर्भूत करने का प्रयास किया गया है। ग्रंथारंभ में 'नवरस में ब्रजराज नित' लिखकर आचार्य ने ग्रंथ की मूलवर्तिनी विचारधारा का संकेत प्रारंभ में ही कर दिया है। इस प्रक्रिया से दो बातें सिद्ध हो सकती हैं। एक यह कि केशव ने रूपगोस्वामी आदि भक्त आचार्यों का अनुमोदन करते हुए राधाकृष्ण के प्रति अपनी आस्था

प्रकट की है, दूसरी यह कि इन्हें शृंगार रस को, जिसे इन्होंने सब रसों का नायक माना है[1] सर्वोपरि रस इसलिये भी मानना अभीष्ट है कि इसमें अन्य रस प्रकारांतर से अंतर्भूत हो जाते हैं। पर उनका यह प्रयास अशास्त्रीय तो है ही, साथ ही हास्यास्पद भी बन गया है। दो उदाहरण लीजिए :

श्रीकृष्ण का वीभत्स रस—

> टूटे टाटि घुनघुने घूम घूम सेन सने,
> झींगुर छगोड़ी साँप बिच्छिन की घात जू।
> कंटक कलित त्रिन वलित बिगंध जल,
> तिनके तल पत लता को ललचात जू।
> कुलटा कुचील गात अंध तम अधरात,
> कहि न सकत बात अति अकुलात जू।
> छेड़ी में घुसे कि घर ईंधन के घनश्याम,
> घर घर घरनीति जात न घिनात जू॥

बीभत्सपूर्ण छेड़ी (संकर गली) में राधा के मिलनेच्छुक कृष्ण के इस प्रसंग को केशव ने शृंगाररस की पृष्ठभूमि में बीभत्स रस के उदाहरण स्वरूप उपस्थित किया है। इसी प्रकार का एक अन्य उदाहरण लीजिए :

श्रीकृष्ण का सम (शांत) रस—

> खारिक खात न दारौ उदाखन,
> माखन हूँ सह मेटि इठाई।
> केशव ऊख मयूखहि दूखत,
> आइहौं तोपहँ छाड़ि जिठाई।
> तो रद नच्छद को रस रंचक,
> चाखि गए करिके हूँ ढिठाई।
> ता दिन ते उन राखी उठाय,
> समेत सुधा बसुधा की मिठाई॥

राधा के मधुर अधर रस को चखनेवाले कृष्ण ने संसार के सभी स्वादिष्ट भोज्य पदार्थों को तिलांजलि दे दी है। केशव ने इस प्रसंग को भी शृंगार रस की पृष्ठभूमि में शांतरस के उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत किया है।

[1] नवहू रस को भाव बहु, तिन के भिन्न बिचार।
सबको केशवदास हरि, नायक है शृंगार॥

कविप्रिया—कविप्रिया की रचना संवत् १६५८ में हुई[1]। इस ग्रंथ में भी १६ प्रभाव हैं। केशव ने प्रभावों की इतनी संख्या जान बूझकर रखी है, ताकि कवियों की यह 'प्रिया' षोडश-शृंगार-भूषिता' बने :

केशव सोरह भाव शुभ सुबरनमय सुकुमार।
कविप्रिया के जानिए ये सोरह शृंगार॥

ग्रंथनिर्माण का उद्देश्य कवि के शब्दों में है सुकुमारबुद्धि पाठकों के लिये काव्यशास्त्र जैसे जटिल विषय का सुगम रूप से अवबोध :

समुझैं बाला बालकहूँ, बर्णन पंथ अगाध।
कविप्रिया केशव करी, छमियो कवि अपराध॥

ग्रंथ के प्रथम दो प्रभावों में केशव ने अपने आश्रयदाता इंद्रजीतसिंह, अपनी प्रेयसी एवं शिष्या प्रवीणराय तथा अपने वंश का परिचय प्रस्तुत किया है। तीसरे प्रभाव में दोषप्रकरण है, चौथे प्रभाव में कविशिक्षा प्रसंग है, और शेष प्रभावों में अलंकारनिरूपण है।

कविशिक्षा के अंतर्गत तीन प्रकार के कवियों तथा तीन प्रकार की रीतियों का उल्लेख किया गया है। तीन प्रकार के कवि हैं—उत्तम, मध्यम और अधम। इनके जो लक्षण केशव ने प्रस्तुत किए हैं उनका स्रोत भर्तृहरि के प्रसिद्ध श्लोक "एके सत्पुरुषाः परार्थघटकाः" को माना जा सकता है। वस्तुतः ये लक्षण केवल कविसमाज पर घटित नहीं होते, संपूर्ण मानवसमाज पर घटित होते हैं। तीन प्रकार की कवि-रीतियाँ ये हैं—सत्य बात का वर्णन करना, झूठ को सत्य मानकर वर्णन करना और कविपरंपरागत वर्णन करना[2]। इस प्रसंग का स्रोत अमरकविकृत 'काव्यकल्पलता-वृत्ति' तथा केशव मिश्र कृत 'अलंकारशेखर' में प्राप्त है।

केशव ने कुल मिलाकर २३ दोषों का निरूपण किया है, १८ दोषों का कविप्रिया में और ५ दोषों का रसिकप्रिया में। कविप्रिया के प्रथम पाँच दोष नाम की दृष्टि से संभवतः केशव की मौलिक उपज हैं—अंध, बधिर, पंगु, नग्न और मृतक। वस्तुतः 'अंध' मम्मटसंमत प्रसिद्धिविरुद्ध है। 'बधिर' के केशवप्रस्तुत उदाहरण में मम्मटसंमत असमर्थ दोष की छाया है। 'पंगु' दोष परंपरागत हतवृत्तता है। अलं-

[1] प्रकट पचमी को भयो कविप्रिया अवतार।
सोरह सै अट्ठावनो फागुन सुदि बुधवार॥ —क० प्रि०, १।५

[2] साँची बात न बरनहीं, झूठी बरननि बानि।
एकनि बरनैं नियम कै, कविमत त्रिविध बखानि॥ —क० प्रि०, ४।४

कारविहीन रचना में केशव ने नग्नदोष माना है। यह दोष भामह आदि अलंकार-वादी आचार्यों को भले ही स्वीकृत हो, पर 'अनलंकृती पुनः क्वापि' माननेवाले मम्मट आदि परवर्ती आचार्य इसे स्वीकृत नहीं करेंगे। निरर्थक रचना को केशव ने 'मृतक' दोष माना है। पर इस दोष की सत्ता ही काव्य में संभव नहीं है। निरर्थक वाक्यावली को जब वैयाकरण 'भाषा' के नाम से अभिहित ही नहीं करता, तो चमत्कारप्रिय काव्यशास्त्री का उसे काव्य न मानना स्वतःसिद्ध है। कविप्रिया में वर्णित अन्य १३ दोषों में से अधिकाश का स्रोत दंडी का काव्यादर्श है, तथा शेष मम्मट-संमत दोनों के रूपांतर मात्र हैं। रसिकप्रिया में वर्णित पाँच अनरस (रसविरोधी) दोषों के नाम ये हैं—प्रत्यनीक, नीरस, विरस, दुःसंधान और पात्रादुष्ट। प्रत्यनीक मम्मट के प्रतिकूलविभादिग्रह दोष से मेल खाता है। विरस वस्तुतः उक्त दोष का प्रभाग मात्र है। नीरस तथा दुःसंधान दोष मम्मट के मत में रसाभास है, दोष नहीं, तथा पात्रादुष्ट को मम्मटसंमत अपुष्टार्थता नाम दिया जा सकता है।

कविप्रिया में केशव ने वर्ण्य विषय को तथा उसे भूषित करनेवाले साधनों को 'अलंकार' कहा है। प्रथम को उन्होंने 'साधारण' अलंकार नाम दिया है और द्वितीय को 'विशिष्ट' अलंकार। साधारण अलंकार के चार भेद हैं—वर्ण, वर्ण्य, भूश्री और राजश्री। इन तथाकथित अलंकारों की विषयसामग्री का स्रोत काव्यकल्पलतावृत्ति तथा अलंकारशेखर ग्रंथ हैं। पर इन संस्कृत ग्रंथों के प्रणेताओं ने इन प्रसंगों को 'अलंकार' नाम नहीं दिया। यह केशव की अपनी धारणा है, जो समुचित नहीं है। ये वर्णादि चारों वर्ण्य विषय हैं, अतः अलंकार्य हैं, स्वयं अलंकार नहीं हैं।

विशिष्ट अलंकारों के अंतर्गत इन्होंने स्वभावोक्ति, विभावना आदि चालीस अलंकारों का निरूपण किया है। इन्हें इन्होंने ८ प्रभावों में विभक्त किया है, पर इस वर्गीकरण का आधार वैज्ञानिक एवं तर्कसंगत नहीं है। इनमें से कुछ अलंकार दंडी के काव्यादर्श के आधार पर निरूपित हुए हैं, कुछ रुय्यक के अलंकारसर्वस्व के आधार पर। पर वे इन्हें पूर्णतः निर्भ्रांत रूप में निरूपित नहीं कर पाए। कहीं इनके लक्षण, कहीं उदाहरण और कहीं दोनों भ्रामक, अपूर्ण अथवा शिथिल हैं।

अलंकार के संबंध में केशव की निम्नलिखित धारणाएँ उल्लेखनीय हैं :

(१) उनके निम्नोक्त कथन से प्रतीत होता है कि उन्हें वामन[1] के अनुसार काव्यशास्त्रीय सभी उपादेय अंगों को अलंकार नाम देना अभीष्ट है :

अलंकार कबितान के सुनि सुनि बिबिध बिचार।
कविप्रिया केशव करी, कविता को सिंगार॥

[1] सौंदर्यमलंकारः। का० सू० वृ० १।१।२

यही कारण है कि भामह, दंडी एवं उद्भट के समान इन्होंने नवरस का निरूपण रसवत् अलंकार के अंतर्गत करके प्रकारांतर से रस (अलंकार्य) को भी अलंकार मान लिया है :

> **रसमय होय सु जानिए, रसवत केशवदास ।**
> **नवरस को संक्षेप ही, समुझो करत प्रकाश ॥**

(२) उन्होंने अलंकार को कविता का अनिवार्य तत्व स्वीकार करते हुए सर्वगुणसंपन्न अलंकाररहित कविता को भी उसी प्रकार शोभाहीन माना है, जिस प्रकार सर्वगुणसंपन्न आभूषणरहित नारी :

> **जदपि सुजाति सुलक्षणी सुबरन सरस सुवृत्त ।**
> **भूषण बिनु न बिराजई कविता बनिता मित्त ॥**

उनकी यह धारणा भामह के इस कथन का रूपांतर है :

> **न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनितामुखम् ॥**

इन दोनों धारणाओं के आधार पर केशव को अलंकारवादी आचार्य कहा जाता है। पर इतना होते हुए भी केशव का रस के प्रति समादर भाव भी कुछ कम नहीं है :

> **ज्यों बिन डीठ न भोगिए, लोचन लोल विशाल ।**
> **त्यों ही केशव सकल कवि, बिन वाणी न रसाल ॥**

इसके अतिरिक्त रसों का, विशेषतः शृंगार रस का, सांगोपांग निरूपण करनेवाले तथा रसविरोधी दोषों का उल्लेख करनेवाले केशव को हमारे विचार में भामह, दंडी आदि के समान कोरा अलंकारवादी मानना युक्तिसंगत नहीं है। यहाँ एक शंका का उपस्थित होना स्वाभाविक है कि उन्होंने मम्मट और विश्वनाथ जैसे प्रख्यात परवर्ती विविधांगनिरूपक काव्यशास्त्रियों का आदर्श ग्रहण न कर पूर्ववर्ती दंडी का आदर्श क्यों ग्रहण कर लिया। इस शंका का समाधान दो तीन विकल्पों में संभव है। शायद उनके हाथ केवल दंडी का ही ग्रंथ लगा हो, अथवा इन्होंने केवल इसी का अध्ययन और मनन किया हो अथवा उन्हें यही ग्रंथ अपेक्षाकृत अधिक सरल प्रतीत हुआ हो। कारण जो भी हो, इसमें संदेह नहीं कि शताब्दियों पश्चात् उन्होंने काव्यशास्त्रीय इतिहास के पुनरावर्तन में सर्वप्रथम महत्वपूर्ण सहयोग दिया है। संस्कृत काव्यशास्त्र में जिस प्रकार भामह, दंडी, उद्भट आदि अलंकारवादियों के पश्चात् आनंदवर्धन आदि रस-ध्वनि-वादियों का आगमन हुआ, उसी प्रकार हिंदी के काव्यशास्त्र में भी अलंकारवादी केशव के पश्चात् रस-ध्वनि-वादियों का आगमन हुआ है।

केशव का छंद संबंधी ग्रंथ है—'छंदमाला'। इस ग्रंथ का उल्लेख प्राचीन इतिहास ग्रंथों मे नहीं मिलता। इस पुस्तक का प्रथम प्रकाशन हिंदुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद से प्रकाशित 'केशव ग्रंथावली' के द्वितीय भाग मे हुआ है। पुस्तक प्रामाणिक है। श्री वर्धमान जैन ग्रंथालय में इस ग्रंथ का एक हस्तलेख उपलब्ध है जिसका लिपिकाल सं० १८३६ है। इस पुस्तक में उदाहरण रामचंद्रिका से ही गृहीत हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि इन्होने रामचंद्रिका मे विविध छंदों का प्रयोग इस प्रकार किया था मानो ये छंदशास्त्र का उदाहरणग्रंथ लिख रहे हों और फिर लक्षणों के अभाव की पूर्ति करके इन्होंने छंद का यह एक नया ग्रंथ ही रच डाला। ग्रंथकार का उद्देश्य छंदशास्त्र का विवेचन नहीं है, छंद का उपयोग करनेवाले उदीयमान कवियो या छात्रों के उपयोग के लिये लघु पुस्तिका का निर्माण करना है :

> भाषाकवि समुझैं सबै सिगरे छंद सुभाइ।
> छंदन की माला करी सोभन केसवराइ॥

यह ग्रंथ दो भागो में विभक्त है। प्रथम भाग में ७७ वर्णिक वृत्तों का निरूपण है, और द्वितीय भाग में २६ मात्रिक छंदो का। वर्णिक छंदो मे से अंतिम एक छंद दंडक है, शेष ७६ वृत्त साधारण हैं। मात्रिक छंदो के अंतर्गत गाथा, दोहा और षट्पद के अनेक भेदो का उल्लेख भी केशव ने कर दिया है। कुल मिलाकर यह ग्रंथ साधारण कोटि का है, फिर भी हिंदी का प्रथम छंदग्रंथ होने के कारण इसका ऐतिहासिक महत्व अवश्य है।

(२) **कवित्व**—रीतिकाल के अंतर्गत आचार्यत्व की दृष्टि से ही नहीं कवित्व की दृष्टि से भी केशव का अत्यत गौरवपूर्ण स्थान है। मध्यकालीन साहित्य के अंतर्गत वे ही अभी तक ऐसे प्रथम कवि देखने मे आए हैं जिन्होने व्रजभाषा के अंतर्गत मुक्तक काव्य के साथ प्रबंध काव्य की रचना का भी सूत्रपात किया। इस प्रकार वर्गीकरण की दृष्टि से उनके काव्य को दो भागो में रखा जा सकता है—(१) प्रबंध और (२) मुक्तक। प्रबंध काव्यो मे उनकी 'रामचंद्रिका' अत्यंत प्रसिद्ध है। इसके अंतर्गत मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् राम की जीवनगाथा का महाकाव्य की शैली पर वर्णन है। परंतु आज विद्वान् इसके महाकाव्यत्व को संदेह की दृष्टि से देखते हैं। बात यह है कि इस विशद ग्रंथ में न तो वह कथाक्रम है जो महाकाव्य के लिये अपेक्षित है, और न समुचित प्रवाह का ही इसमे सम्यक् निर्वाह किया गया है—प्रसंगो को भी कवि ने अपनी रुचि के अनुसार विस्तार और संकोच प्रदान किया है। दूसरी ओर चरित्रचित्रण और भाषाशैली की दृष्टि से भी यह ग्रंथ अपने आप में अव्यवस्थित ही है। किंतु फिर भी इसके महत्व को उपेक्षित नहीं किया जा सकता। स्थान स्थान पर छंदपरिवर्तन भले ही इसके प्रवाह में व्याघात उत्पन्न कर देता हो, पर शैली की दृष्टि से तो यह नया प्रयोग है ही। इसी प्रकार विषयवस्तु मे वर्णन का

अनुपात न होना भी इसी बात का द्योतक है कि इस ग्रंथ का रचयिता जीवन के सरस प्रसंगों को ही अधिक मनोयोग के साथ ग्रहण करना उचित समझता रहा है। इधर राजकीय वर्णनों और संवादों की दृष्टि से यह काव्य अपने आपमें इतना अनूठा है कि इस सीमा तक हिंदी साहित्य का कोई भी कवि नहीं पहुँच पाता। ऐसी दशा में यह कहना असंगत प्रतीत नहीं होता कि रामचंद्रिका केशव का ऐसा असाधारण महाकाव्य है जिसमें परंपरापालन के स्थान पर वैशिष्ट्य के समावेश का ध्यान अधिक रखा गया है।

रामचंद्रिका के अतिरिक्त विज्ञानगीता, वीरसिंह देवचरित, जहाँगीर-जस-चंद्रिका और रतनबावनी, इन चार प्रबंध काव्यों की रचना भी इन्होंने की है, किंतु इनमें प्रथम का महत्व जहाँ तत्वचिंतन तक ही सीमित है वहाँ शेष तीन ऐतिहासिक सामग्री के लिये अच्छे साधन सिद्ध हो सकते हैं। कवित्व की दृष्टि से इनमें रतनबावनी को ही थोड़ा आदर दिया जा सकता है जिसमें वीररस का उत्कृष्ट रूप दृष्टिगोचर होता है।

मुक्तक काव्यों में केशव के रसिकप्रिया, कविप्रिया और नखशिख ये तीन ग्रंथ आते हैं। इनका वर्ण्य विषय मुख्यतः शृंगार ही है, यद्यपि रसिकप्रिया के अंतर्गत इतर रसों का भी संक्षिप्त वर्णन मिल जाता है। परंतु यहाँ यह कह देना असंगत न होगा कि इनका रचयिता रसिक होता हुआ भी रस का समुचित परिपाक करने में पूर्ण रीति से समर्थ नहीं हो पाया। इसका मुख्य कारण यह है कि उसने रसपरिपाक को अनुभावों के वर्णन तक ही सीमित माना है—संचारियों का वर्णन खोजने पर ही उसकी कविता में मिलता है। दूसरी ओर इस व्यक्ति ने प्रतिभा होने पर भी उसका समुचित उपयोग नहीं किया। किसी भी विषय को रसात्मक बनाने के लिये कल्पना के उचित प्रयोग को और उसके फलस्वरूप जिस भव्य चित्रयोजना की आवश्यकता होती है उसको, वह प्रायः उपेक्षित ही कर गया है। इसीलिये रचनाओं में वह रमणीयता नहीं आ पाई जो अपनी स्वाभाविकता द्वारा सहृदय को आह्लादित कर देती है। इसका कारण वस्तुतः यही मानना चाहिए कि इस प्रकार के वर्णनों में उसका मन नहीं रमा—बुद्धि के सहारे ही सब कुछ किया गया, क्योंकि दूसरी ओर राजसी ठाटबाट के वर्णनों में उसका काव्य अत्यंत निखरता हुआ प्रस्तुत होता है।

अभिव्यंजना की दृष्टि से केशव का समग्र साहित्य शिथिल ही कहा जायगा। उसमें न तो भावों के अनुकूल गुण और रीति का ही उपयोग किया गया है और न शब्दों का ही यथार्थ प्रयोग हुआ है। साधारणतः काव्यरचना की दृष्टि से ही नहीं, कहीं कहीं व्याकरण की दृष्टि से भी वे अत्यंत शिथिल हो गए हैं। वस्तुओं के रूप, रंग, आकार आदि को स्पष्ट करने के लिये जिन उपमानों की अपेक्षा होती

है, उनको प्रस्तुत करने पर भी विषयों को अस्पष्ट अथवा हास्यास्पद बना दिया गया है। कोई कोई उपमान तो ऐसा है जिसे देखकर आश्चर्य होता है कि केशव जैसा आचार्य यह क्या कर बैठा! इसके अतिरिक्त छंदों में अनगढ़पन है जिससे लगता है मानो केशव से ही इनका आरंभ हुआ है—उनमें न संगीत है और न लय ही। न्यूनपदत्व और अधिकपदत्व दोषों से इनमें और भी भोंड़ापन आ गया है। भावों की मौलिकता की भी इनमें न्यूनता ही है। इनकी अधिकांश विदग्ध उक्तियाँ संस्कृत की उक्तियों का ब्रजभाषा में रूपांतर हैं। परंतु इतना होते हुए भी यह तो मानना ही पड़ेगा कि भाषा को अर्थवहन करने की शक्ति और गांभीर्य प्रदान करनेवाले ब्रजभाषा कवियों में वे ही प्रथम व्यक्ति हैं। उदाहरण के लिये कुछ छंद दिए जाते हैं। देखिए .

(१) केशोदास लाख लाख भाँतिन के अभिलाष,
वारि दे री बावरी न बारि हिए होरी सी।
राधा हरि के री प्रीति सबते अधिक जानि,
रति रतिनाह हू में देखो रति थोरी सी।
तिन हूँ में भेद न भवानि हूँ पै पारयो जाइ
भारती की भारती है कहिबै को भारी सी।
एकै गति एक मति एकै प्राण एकै मन
देखिबे को देह द्वै हैं नैनन की जोरी सी।

(२) भूषण सकल घनसार ही के घनश्याम कुसुम कलित केसरहि छबि छाई सी।
मोतिन की लरी शिर कंठ कंठमाल हार और रूप जोति जात हेरत हेराई सी।
चंदन चढ़ाए चारु सुंदर शरीर सब राखी शुभ्र शोभा सब बसन बसाई सी।
शारदा सी देखियतु देखौ जाइ केशौराय ठाढ़ी वह कुँवरि जुन्हाई में अन्हाई सी॥

(३) काछे सितासित काछनी 'केशव' पातुर ज्यों पुतरीन बिचारो।
कोटि कटाक्ष नचै गति भेद नचावत नायक नैह निहारो।
बाजत है मृदु हास मृदंग सो दीपति दीपति को उजियारो।
देखत हौं हरि देखि तुम्हें यह होतु है आँखिन बीच अखारो॥

(४) आये ते आवैगी आँखिन आगे ही डोलिहै मानहु मोल लई है।
सोवै न सोवत देय न यो तब सौं इनमें उब लाख दई है।
मेरिए भूल कहा कहौं 'केशव' सौति कहूँ ते सहेली भई है।
स्वारथ ही हितु है सबके परदेश गए हरि नींद गई है॥

(५) रे कपि कौन तू? अक्ष को घातक दूत बली रघुनंदन जू को।
को रघुनंदन रे? त्रिशिरा-खर-दूषण-दूषण भूषण भू को॥
सागर कैसे तरयो? जस गोपद, काज कहा? सिय चोरहि देखो।
कैसे बँधायो? जु सुंदरि तेरी छुई दृग सोवत पातक लेखो॥

(३) भाषाशैली—केशव की कृतियों की भाषा प्रमुखतया ब्रजभाषा है। बुंदेलखंड का निवासी होने के कारण इनकी भाषा में बुंदेलखंडी मुहावरों और पदों का भी प्राचुर्य मिलता है। केशव संस्कृत के उद्‌भट विद्वान् थे, अतः संस्कृत की छाप भी उनकी भाषा पर स्पष्ट है। अरबी और फारसी के शब्द भी उनकी कृतियों में मिलते हैं, पर केशव ने उन्हें ब्रज की प्रकृति के अनुरूप ढाल लिया है। काव्य को अलंकृत करने की अतिशय प्रवृत्ति ने उनकी भाषा को पांडित्य से बोझिल कर दिया है। अनुप्रास के लिये बहुधा उन्हें अपने शब्दों को विकृत भी करना पड़ा है। अलंकारिता की धुन में व्यर्थ का शब्दजाल बुनने की प्रवृत्ति भी इनमें लक्षित होती है, जिसके परिणामस्वरूप इनकी कविता दुर्बोध और क्लिष्ट हो गई है। आलोचकों ने तो इन्हें 'कठिन काव्य का प्रेत' तक कह डाला है। रामचंद्रिका का भाषाविधान च्युतसंस्कृति, अक्रमता, न्यूनपदता, अधिकपदता आदि दोषों से दूषित है। वस्तुतः केशव की भाषा और केशव का वाग्जाल उसके कवित्व के नहीं, अपितु पांडित्य के ही परिचायक हैं।

इस प्रकार आचार्यत्व, कवित्व और भाषाशैली के आधार पर यद्यपि केशव सफल आचार्य अथवा कवि नहीं कहे जा सकते, फिर भी अपनी कतिपय विशिष्टताओं के कारण इन्हें जनश्रुति सूर और तुलसी के उपरांत तृतीय स्थान देती आई है :

सूर सूर तुलसी ससी उडुगन केशवदास।

तथा दास आदि रीतिकालीन आचार्यों ने इनकी गणना प्राचीन आचार्यों के साथ बड़े संमानपूर्वक की है। देव, रामजी उपाध्याय 'गंगापुत्र' ने इनके अलंकारप्रकरण से, पदुमनदास और शिवप्रसाद कवीश्वर ने इनके कविशिक्षाप्रकरण से, देव, सोमनाथ, जानकीप्रसाद ने इनके नायक-नायिका-भेद प्रकरण से तथा रामजी उपाध्याय 'गंगापुत्र' ने इनके दोषप्रकरण से कुछ प्रसंग ग्रहण किए हैं। यह आधारग्रहण केशव की महानता का सूचक है। इस अनुकरण का प्रमुख कारण है केशव का हिंदी के आचार्यकर्म में सर्वप्रथम अग्रसर होना, दूसरे शब्दों मे, हिंदी काव्यसरणि को भक्तिपथ से रीतिपथ की ओर मोड़ देना, भले ही वे स्वयं इस नूतन पथ के पूर्णतः सफल यात्री न हो सके हों।

२. चिंतामणि

चिंतामणि तिकवाँपुर (कानपुर) के निवासी रत्नाकर त्रिपाठी के पुत्र थे। भूषण, मतिराम और जटाशंकर, ये तीनों इनके भाई कहे जाते हैं। इनका जन्मकाल संवत् १६६६ के लगभग माना जाता है। ये बहुत दिनों तक नागपुर में सूर्यवंशी भोंसला राजा मकरंदशाह के यहाँ रहे और उन्हीं के आज्ञानुसार इन्होंने अपने ग्रंथ 'पिंगल' की रचना की थी :

सूरजबंशी भोसला लसत साह मकरंद।
महाराज दिगपाल जिमि, भाल समुद सुभ चंद॥
चिंतामणि कवि को हुकुम कियो साहि मकरंद।
करौ लच्छि लच्छन सहित भाषा पिंगल छंद॥

बाबू रुद्रसाहि सोलंकी[1], बादशाह शाहजहाँ[2] और जैनदी अहमद ने इनको बहुत दान दिया था। इनके बनाए पाँच ग्रंथों का उल्लेख मिलता है—काव्यविवेक, कविकुलकल्पतरु, काव्यप्रकाश, रसमंजरी, पिंगल और रामायण। इनमें से प्रथम पाँच ग्रंथों का उल्लेख टाकुर शिवसिंह ने किया है और अंतिम ग्रंथ का संकेत काशी नागरीप्रचारिणी की प्रथम त्रैवार्षिक रिपोर्ट में किया गया है। इनके अतिरिक्त राज पुस्तकालय, दतिया मे शृंगारमंजरी नामक एक अन्य ग्रंथ भी उपलब्ध हुआ है जिसके आरंभिक छंदों में चिंतामणि का नाम आया है। पर यह ग्रंथ मूलतः संत अकबर शाह द्वारा आंध्र भाषा में प्रणीत है। फिर इस ग्रंथ का संस्कृत में अनुवाद हुआ। संभवतः संस्कृत अनुवाद से चिंतामणि ने उसकी हिंदी छाया प्रस्तुत की। चिंतामणि के उक्त छः मौलिक ग्रंथों में से केवल दो ग्रंथ उपलब्ध हैं—कविकुल-कल्पतरु और पिंगल। इनमे से प्रथम ग्रंथ सर्वांगनिरूपक है और द्वितीय ग्रंथ पिंगलशास्त्र से संबद्ध है।

कविकुलकल्पतरु ग्रंथ का रचनाकाल आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने संवत् १७०७ वि० माना है, पर इस धारणा की पुष्टि में उन्होने कोई प्रमाण उपस्थित नहीं किया। इधर चिंतामणि के ग्रंथ में भी इस संबंध में कोई निर्देश नहीं है। इस ग्रंथ में एक स्थान पर शृंगारमंजरी ग्रंथ का उल्लेख हुआ है[3]। डा० वी० एस० राघवन ने इस ग्रंथ के मूल रचयिता संत अकबर शाह का जन्मकाल सन् १६४६ ई० अर्थात् सं० १७०३ माना है और मृत्युकाल सन् १६७२–७५ अर्थात् सं० १७२६–३२ के बीच। इस आधार पर मूल शृंगारमंजरी ग्रंथ का निर्माणकाल संवत् १७२० के आसपास मानना चाहिए। चिंतामणिकृत शृंगारमंजरी की हिंदी छाया का निर्माण-काल सं० १७२२ वि० के आसपास और कविकुलकल्पतरु का निर्माणकाल सं०

[1] साहेब सुलंकी सिरताज बाबू रुद्रसाह तासो रन रचत बचत खलकत है। —क० क० त० (शि० सि० स०, पृष्ठ ८६ से उद्धृत)

[2] कैंब्रिज हिस्ट्री आफ् इंडिया (वोलजले हेग), जिल्द ४, मुगल पीरियड, पृ० २२१

[3] प्रोषितभर्तृका को लक्षण। शृंगारमजरी यथा—

× × ×

बड़े साहब अपने ग्रंथ माह। निर्नय कीन्हो कवि बुद्धि नाह।

—क० क० त० ५।२।१८६

१७२५ के आसपास। शाहजहाँ का शासनकाल सं० १६८४-१७१५ है। अतः उनसे पुरस्कारप्राप्ति के समय तक चिंतामणि के इस ग्रंथ का निर्माण नहीं हुआ होगा। यदि शुक्ल जी के अनुसार इनका जन्मसंवत् १६६६ के लगभग माना जाय, तो इस ग्रंथ के निर्माण के समय इनकी आयु लगभग ६० वर्ष रही होगी। पर हमारे विचार में कविकुलकल्पतरु जैसे शास्त्रीय तथा शृंगार रसपूर्ण उदाहरणों से युक्त ग्रंथ के निर्माण के समय ग्रंथकार की आयु ३०-३५ वर्ष होनी चाहिए, इस दृष्टि से इनका जन्मसंवत् १६६०-६५ मानना चाहिए। शिवसिंह सेंगर ने इनका जन्मसंवत् १७२६ माना है, पर यह समय यथार्थ नहीं प्रतीत होता, क्योंकि संवत् १७२३ मे तो शाहजहाँ की मृत्यु हो चुकी थी।

कविकुलकल्पतरु ग्रंथ मे कुल आठ प्रकरण हैं और ११३३ पद्य। ग्रंथ के पहले प्रकरण में काव्यभेद, काव्यलक्षण, काव्यस्वरूप, रूपक की चर्चा के उपरात गुणनिरूपण को स्थान मिला है। दूसरे और तीसरे प्रकरणों मे शब्दालंकार का निरूपण है। शब्दालंकार प्रकरण मे मम्मट के अनुकरण पर अनुप्रासालंकार के अंतर्गत 'रीतिप्रसंग' की भी चर्चा की गई है। चौथे प्रकरण मे दोषनिरूपण है। पाँचवें प्रकरण के तीन भाग हैं। प्रथम भाग का नाम 'शब्दार्थनिरूपण' है। द्वितीय भाग से लेकर ग्रंथ की समाप्ति पर्यंत ध्वनिनिरूपण है। ध्वनि के एक भेद 'असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य' के अंतर्गत ही 'रस' का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया गया है और शृंगाररस के आलंबन विभाव के अंतर्गत नायक-नायिका-भेद का। इस प्रकार 'गुणीभूत व्यंग्य' को छोड़कर शेष सभी काव्यागो को इस ग्रंथ में स्थान मिला है। काव्यस्वरूप, शब्दशक्ति, ध्वनि, गुण और दोषप्रकरणों के लिये ये मम्मट के ऋणी हैं। इनके रस और अलंकार प्रकरण अधिकाशतः विद्यानाथ प्रणीत प्रतापरुद्रयशोभूषण पर आधृत हैं पर साथ ही मम्मट और विश्वनाथ के ग्रंथो के अतिरिक्त रस प्रकरण में धनंजय के और अलंकार प्रकरण में अप्पय्य दीक्षित के ग्रंथ से भी सहायता ली गई है। इनके नायक-नायिका-भेद प्रकरण मे निरूपणपद्धति तो विश्वनाथ की है, पर अधिकाश विषयसामग्री भानु मिश्र से ली गई है।

इस ग्रंथ में काव्यशास्त्रीय सिद्धांतो का प्रतिपादन दोहा सोरठा छंदों में किया गया है और उदाहरणों को अधिकाशतः कवित्त सवैया में प्रस्तुत किया गया है। कुछ स्थलों पर गद्य का भी आश्रय लिया गया है, पर ऐसे स्थल संपूर्ण ग्रंथ में दो चार ही हैं। इनमें भी इन्होंने स्वनिर्मित लक्षणोदाहरणों का समन्वय मात्र दिखाया है—मम्मट, विश्वनाथ आदि संस्कृत के आचार्यों के समान शास्त्रीय विवेचन नहीं प्रस्तुत किया।

विषयप्रतिपादन की दृष्टि से इस ग्रंथ में चिंतामणि की उल्लेखनीय विशेषता यह है कि ये संस्कृत ग्रंथों को सामने रख लेते हैं और उनमें से अधिकाधिक

सामग्री का संकलन प्रस्तुत करते हुए प्रायः उसे शाब्दिक अनुवाद के रूप में प्रस्तुत कर देते हैं। उदाहरणार्थ, यमक अलंकार का स्वरूप द्रष्टव्य है :

क० क० त०—अरथ होत अन्यारथक बरनन को जहँ होइ।
फेर श्रवन को अनम कहि बरनत यों सब कोई ॥ ३।२१

का० प्र०—अर्थे सत्यर्थभिन्नानां वर्णानां सा पुनः श्रुतिः।
यमकम् ... ... ॥ ९।८३

कहीं कहीं यह अनुवाद अत्यधिक शाब्दिक हो जाने के कारण दुरूह भी हो गया है, पर ऐसे स्थल अधिक नहीं हैं। शब्दशक्ति तथा गुणप्रकरण को छोड़कर शेष ग्रंथभाग में इनकी शैली गंभीर, विषयानुकूल एवं व्यवस्थित होने के कारण विषय को स्पष्ट कर देने में पूर्ण सशक्त है। वस्तुतः शब्दशक्ति प्रकरण में चिंतामणि की आत्मा रमी नहीं है। यही कारण है कि रुचिजन्य श्रम के अभाव में यह प्रकरण अपूर्ण भी है और अस्पष्ट भी। गुणप्रकरण में इनकी शैली व्यासप्रधान एवं विस्तृत हो गई है। इस शैलीपरिवर्तन का एक संभव कारण यह है कि यह प्रकरण अधिकतर मम्मट के गद्य भाग का ही हिंदी पद्यबद्ध रूपांतर है। उनके गद्य को ब्रजभाषा पद्य का सुसंबद्ध रूप दे पाना संभव था भी नहीं। कारण जो भी हो, पर केवल इन्हीं दो प्रकरणों को छोड़कर इनका शेष ग्रंथभाग गंभीर, व्यवस्थित एवं सुसंबद्ध शैली में प्रतिपादित हुआ है। शास्त्रीय सामग्री के निर्वहण की दृष्टि से भी चिंतामणि का प्रयास अत्यंत स्तुत्य है। इनके समग्र ग्रंथ में कुछ ही प्रसंग ऐसे हैं जो खटकते हैं। उदाहरणार्थ, इनके शब्दशक्ति तथा दोषप्रकरण शास्त्रीय दृष्टि से शिथिल भी हैं और अपूर्ण भी। नायक-नायिका-भेद प्रकरण मे धीरा और अधीरा नायिकाओं के कोपजन्य व्यवहार का शास्त्रीय स्वरूप स्पष्ट नहीं हुआ है। प्रोषितपतिका के तीन रूप भी शास्त्रसंमत नहीं हैं। पर इन्हीं दो चार स्थलों को छोड़कर इनका संपूर्ण ग्रथ विशुद्ध रूप में प्रतिपादित हुआ है। गंभीर प्रसंगों के विवेचन की ओर भी इनकी प्रवृत्ति है। उदाहरणार्थ, गुणप्रकरण मे वामनसंमत गुणों का मम्मटसंमत तीन गुणों में समावेश इन्होंने सफलतापूर्वक दिखाया है। कुछ एक स्थलों पर इन्होने मूल ग्रंथकार से असहमति भी प्रकट की है। मम्मटसंमत काव्यलक्षण को अपनाते हुए भी अलंकार की अनिवार्यता का प्रश्न न उठाकर इन्होने प्रकारांतर से उसके महत्व को कम नहीं किया। विश्वनाथ के समान हाव, भाव आदि सत्वज अलंकारों को स्वतंत्र न मानकर इन्हें अनुभाव का ही अंग माना है। मद तथा मरण नामक संचारी भावों को इन्होने अपेक्षाकृत पुष्ट एवं स्वस्थ रूप दिया है। इसी प्रकार उदारता गुण में अर्थचारुता और अर्थव्यक्ति गुण में अलंक्रियता के समावेश द्वारा इन्होंने इन गुणों का रूप और भी अधिक निखार दिया है।

इस प्रकार अपने ढंग से प्रथम हिंदी आचार्य का यह समग्र प्रयास अत्यंत

महत्वपूर्ण है। यह ठीक है कि इनके ग्रंथ से भावी आचार्यों ने सामग्री नहीं ली, पर विविधागनिरूपण से संबद्ध जो मार्ग इन्होंने दिखाया, उसी का अनुकरण आगे के प्रमुख आचार्यों ने भी किया। चाहे हम इसे एक संयोग कह लें, पर इसमें संदेह नहीं कि मम्मट के आदर्श को लेकर चलनेवाले सर्वप्रथम आचार्य ये ही हैं। यहाँ यह भी स्पष्ट कर दिया जाय कि नायक-नायिका-भेद अथवा अलंकार ग्रंथो के रीतिकालीन निर्माताओं ने इनके आदर्श का अनुकरण नही किया। नायक-नायिका-भेद प्रकरण में इन्होने जिस ग्रंथ-रसमंजरी—का प्रधानतः आश्रय लिया, उसी का आश्रय कृपाराम आदि सभी पूर्ववर्ती आचार्य पहले ही ले चुके थे। इसी प्रकार इनके परवर्ती अलंकारनिरूपक अधिकाश आचार्यों ने इनके समान मम्मट अथवा विद्यानाथ का आदर्श न लेकर अप्पय्य दीक्षित का ही आदर्श लिया, जिसे उपलब्ध ग्रंथो के अनुसार सर्वप्रथम जसवंतसिंह ने अपनाया था। इस प्रकार यद्यपि सभी आचार्य इनके स्वीकृत आदर्श पर नही चले, पर विविधाग निरूपक आचार्यों का इन्ही के स्वीकृत आदर्श पर चलना इनके लिये कम गौरव की बात नही है।

चिंतामणि कृत छंदग्रंथ का नाम पिंगल है, जैसा कि पुस्तक के आरंभ और अंत के इन दोनो उद्धरणों से स्पष्ट है :

> अथ चिंतामणि पिंगल लिख्यते।
> इति श्री चिंतामनि कवि कृत पिंगल संपूर्ण ॥

आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने इस ग्रंथ का नाम 'छंदविचार' भी लिखा है, जो निम्नोक्त दोहे के आधार पर निर्धारित जान पड़ता है :

> तातै चिंतामनि करत नीकौ छंदविचार।
> पिंगल कौ मत देखिकै निज मति के अनुसार ॥

पर वस्तुतः यहाँ 'छदविचार' शब्द ग्रंथनाम का वाचक नहीं है, अपितु प्रसंग के विषय का निर्देशक है। इस पुस्तक की एक हस्तलिखित प्रति राज पुस्तकालय, दतिया मे प्राप्त हे और तीन प्रतियाँ नागरीप्रचारिणीसभा, काशी के पुस्तकालग में प्राप्त हैं। सभा की प्रतियों में से दो तो अपूर्ण हैं और एक पूर्ण है[1]। पुस्तक के प्रत्येक पृष्ठ पर भी 'पिंगल' नाम ही मिलता है। पुस्तक प्रामाणिक प्रतीत होती है। विभिन्न प्रतियो मे पाठ समान मिलते हैं।

ग्रंथ के आरंभ मे छंदनियमो पर साधारण सा प्रकाश डाला गया है।

[1] लिपिकार कुम्हेर (भरतपुर राज्यनिवासी) मोहनलाल मिश्र, लिपिकाल संवत १८१०

शुक्र अमावस शुभ की अभ्र अद्य गजमिन्दु।
इन मिलि सवत होत है आकी (?) बुद्धिबिलन्दु ॥

इसका आधारग्रंथ प्राकृत पिंगल है, अतः इसी के अनुरूप छंदों के लक्षण प्रस्तुत किए गए हैं, तथा छंदों का क्रम भी इसी ग्रंथ के क्रम के समान है। इसके अतिरिक्त कतिपय नूतन छंदो का उल्लेख भी इस ग्रंथ में है। छंदनियमो के उपरांत 'वरनमेरु और मात्रामेरु' का निरूपण है और इसके उपरात वरनपताका, मात्रापताका, वरन-मर्कटी, मात्रामर्कटी, गाथा, गाहा, विग्गाहा, संघनी और अश्वमेधा का। इसके पश्चात् दोहाप्रकरण प्रारंभ हो जाता है जिसमे दोहा के अनेक भेद निर्दिष्ट हुए हैं। इसके बाद रोला, गंधान, चौपैया, घत्ता, घत्तानंद, पद्धरि, अरिल्ल, पादाकुलक, चौबोला छंदों के लक्षणोदाहरण प्रस्तुत हुए हैं और फिर छप्पय प्रकरण के अंतर्गत इसके अजय, विजय आदि अनेक भेदो का उल्लेख है और अंत मे पद्मावली, कुंडलिया, अमृतध्वनि, द्विपदी और झूलना के लक्षणोदाहरण प्रस्तुत करने के बाद ग्रंथ की समाप्ति हो जाती है।

कुल मिलाकर यह ग्रंथ साधारण कोटि का है। सरल ब्रजभाषा में जैसे तैसे लक्षण उपस्थित किए गए हैं। उदाहरणों मे भी कवित्व साधारण है। भाषा के लालित्य या चमत्कार का समावेश नहीं है। इस ग्रंथ का फिर भी अपना स्थान है। केशवदास जी की 'छदमाला' इससे पूर्व लिखी गई थी, पर वह शास्त्रीय दृष्टि से अपूर्ण पुस्तक थी, उसमे छंदशास्त्र के प्रारंभिक प्रकरण लघु, गुरु, गण, प्रस्तार, मर्कटी आदि का कोई उल्लेख न था। चिंतामणि के पिंगल में छंद संबंधी सभी विचार मिलते हैं। साथ ही इस ग्रंथ मे कुछ नए छंद भी हैं, पर इन्हें निश्चित रूप से चिंतामणि की मौलिक उद्‌भावना नही कही जा सकती। कदाचित् इन्होंने तत्कालीन कवियो या प्राचीन कवियों से ही इन्हे लिया है।

(१) **कवित्व**—चिंतामणि यद्यपि आचार्य ही हैं, तथापि कविकर्म की दृष्टि से भी ये रीतिकाल के अंतर्गत अत्यंत गौरवपूर्ण स्थान रखते हैं। ये सिद्धाततः रसवादी थे, इसीलिये इनकी कविता मे रस, विशेषतः शृंगार रस, का सम्यक् परिपाक देखने को मिलता है—केशव के समान रस की दुहाई देकर भी कविता को नीरस नहीं रहने दिया गया है। परंतु इस संबंध मे यह कह देना असंगत न होगा कि इनका काव्य देव आदि परवर्ती कवियो के समान नहीं है—न तो इनमें देव का सा आवेग ही आ पाया है और न वैसी चित्रमयता ही। कल्पना की ऊँची उड़ान भी ये नहीं भर पाए। केवल मतिराम के समान सीधी सादी शब्दावली में अपनी सच्ची अनुभूति को व्यक्त कर गए हैं। यही कारण है कि इनके काव्य में बिहारी की सी नक्काशी के स्थान पर ऐसी स्वाभाविकता देखने को मिलती है, जिससे इनकी रचनाओं को मतिराम के समकक्ष कहने में संकोच नहीं होता।

भाषाशैली की दृष्टि से भी इनकी रचनाएँ अत्यंत परिष्कृत कही जा सकती हैं। पूर्वी प्रदेश के निवासी होते हुए भी इन्होने ब्रजभाषा का अत्यंत स्वच्छ प्रयोग

किया है। केशव के पश्चात् संभवतः ये ही प्रथम व्यक्ति हैं जिन्होंने भाषा को नियमानुसार व्यवहृत किया है। इतर शब्दावली का भी सही प्रयोग इनके काव्य में मिलता है। भावात्मक शब्द ही नहीं, ध्वन्यात्मक शब्दों का भी उत्कृष्ट रूप इनकी रचनाओं में सामान्य है—पदावली मे मतिराम की कविता का सा लालित्य और अनुप्रासयोजना है। केशव के समान अलंकारों के पीछे हाथ धोकर ये नहीं पडे। छंदयोजना भी अपने आपमें सुंदर कही जा सकती है—कवित्त और सवैयों में यदि स्वर और लय की अधिक संगति नहीं आ पाई तो कम से कम उनपर अनगढपन का आरोप तो नहीं लगाया जा सकता। कुल मिलाकर चिंतामणि का काव्य उपादेय है। उदाहरण के लिये कुछ छंद दिए जाते हैं। देखिए :

(१) केसरि बारहि बार उतारत केसरि अंग लगावनि लागी।
आई है नैननि चंचलता दृग अंचल आप छिपावनि लागी॥
दूलह के अवलोकन को वा अटानि झरोखन आवनि लागी।
घोस द्वो तीनक ते बतिया मनभावन की मन भावन लागी॥

(२) अवलोकनि में पलकैं न लगें पलको अवलोकि बिना ललकै।
पति के परिपूरन प्रेम पगी मन और सुभाव लगै न लकै॥
तिय की बिहँसौंही बिलोकनि में 'मनि' आनंद आँखिन यों झलकै।
रसवंत कवित्तन को रसु ज्यों अखरान के ऊपर ह्वै छलकै॥

(३) ओढ़े नील सारी घन घटा कारी 'चिंतामनि'
कंचुकी किनारी चारु चपला सुहाई है।
इंद्रवधू जुगुनू जवाहिर की जगी जोति
बग मुकतान माल कैसी छवि छाई है॥
लाल पीत सेत बर बादर बसन तन
बोलत सु भृंगी धुनि नूपुर बजाई है।
देखिबे को मोहन नवल नटनागर को
बरषा नवेली अलबेली बनि आई है॥

(४) को महा मूढ़ छबीली के अंगन जाय पर्‌यो ज्यौं ससारौ बहीर मैं।
ठानै अठान अधीन जो आपते ताहि को आनि सके पुनि तीर मैं॥
जोबन पूर बिलासन रंग उठै मन मोद उमंग समीर मैं।
सैल उरोज तै कूदि पर्‌यो मनु जाइ प्रभानहि भौंर गंभीर मैं॥

इस प्रकार आचार्यत्व और कवित्व दोनो दृष्टियों से चिंतामणि अपना महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। अपने प्रकार के प्रथम आचार्य होने के नाते वे रीति-कलीन प्रवर्तक माने जाते हैं। प्रथम आचार्य होते हुए भी शास्त्रीय प्रसंगों को

अधिकांशतः स्वच्छ रूप में प्रस्तुत करने के कारण वे निस्संदेह एक सफल आचार्य हैं। इधर कवित्व की दृष्टि से भी ये सफल कवि हैं। अपनी अनुभूतियों को सीधी सादी शब्दावली में अभिव्यक्त कर देना एक विशिष्ट गुण है—इस नाते रीतिकालीन आचार्यों में जो संमान मतिराम को प्राप्त है, वही चिंतामणि को भी प्राप्त है और यह संमान किसी भी रूप मे कुछ कम गौरवपूर्ण नहीं है।

३. कुलपति मिश्र

कुलपति मिश्र आगरा के निवासी माथुर चौवे परशुराम मिश्र के पुत्र थे[१]। प्रसिद्ध कवि बिहारी इनके मामा कहे जाते हैं। ये जयपुर के कूर्मवंशीय महाराज जयसिंह के पुत्र महाराज रामसिंह के दरबार में रहते थे[२]। इनके बनाए पाँच ग्रंथ उपलब्ध हैं—द्रोणपर्व, मुक्तितरंगिणी, नखशिख, संग्रामसार और रसरहस्य। इनमें से अंतिम ग्रंथ काव्यशास्त्रीय है। इन्होंने इस ग्रंथ की रचना अपने आश्रयदाता रामसिंह के आज्ञानुसार उनके विजयमहल में की। इस ग्रंथ के अंत में ग्रंथ का रचनाकाल संवत् १७२७ कार्तिक बदी एकादशी दिया हुआ है :

संवत सत्रह सौ बरस अरु बीते सत्ताईस।
कातिक बदि एकादशी, बार बरनि बागीस॥

इस ग्रंथ में आठ वृत्तांत हैं और ६५२ पद्य। शास्त्रीय सिद्धांतों को दोहा सोरठा में प्रतिपादित किया गया है और उदाहरणों को कवित्त सवैया में। ग्रंथ में यत्रतत्र गद्य का भी आश्रय लिया गया है जिसमें अधिकाशतः लक्षण और उदाहरण का समन्वय प्रदर्शित किया गया है और कहीं कहीं शास्त्रीय विषय का स्पष्टीकरण भी। कहने को कुलपति की इस निरूपण शैली को काव्यप्रकाश शैली कह सकते हैं, पर यह उसके ठीक अनुरूप नहीं है। पहला कारण यह है कि इस ग्रंथ का गद्यभाग काव्यप्रकाश के गद्य की तुलना में मात्रा की दृष्टि से शताश भी नहीं है तथा विवेचन शक्ति की दृष्टि से नितात शिथिल एवं अपरिपक्व है। दूसरा कारण यह है कि इस गद्य में काव्यप्रकाशानुरूप गंभीर तर्क वितर्क को स्थान नहीं मिला। तीसरा कारण यह है

[१] बसत आगरे आगरे गुनियन की जहँ रास।
बिप्र मथुरिया मिश्र है हरि चरनन के दास॥
अभुवं मिश्र तिन बश में परसराम जिमि राम।
तिनके सुत कुलपति कियो, रसरहस्य सुखधाम॥
—रसरहस्य, ८ २०८, २०९

[२] राजाधिराज जयसिंह सुव जित्त कियउ सब जगत बसि।
अभिराम काम सम लसत महि, रामसिंह कूरम बलसि॥
—वही, १।५

कि मम्मट का कारिकाबद्ध शास्त्रीय विवेचन तो अपना है और उदाहरण अधिकतर उद्धृत हैं, पर इधर कुलपति के सभी उदाहरण स्वनिर्मित हैं।

इस ग्रंथ के पहले वृत्तात के प्रारंभिक पद्यो मे कृष्ण की वंदना है, अगले १३ पद्यो में राज्यवर्णन और सभावर्णन है। इसके बाद ३ पद्यों मे ग्रंथकार ने ग्रंथ का साधारण सा परिचय दिया है। १६वें पद्य से लेकर ४२वे पद्य तक काव्य-लक्षण, काव्यप्रयोजन, काव्यकारण, काव्य-पुरुष-रूपक तथा काव्यभेदों की चर्चा है। दूसरे वृत्तात का नाम 'शब्दार्थनिर्णय' है। इसके ४८ पद्यो में शब्दशक्ति का विवेचन किया गया है। तीसरे और चौथे वृत्तातो में क्रमशः ध्वनि और गुणीभूत-व्यंग्य का निरूपण है। इनकी पद्यसंख्या क्रमशः १२६ और २२ है। ध्वनिप्रकरण के अंतर्गत 'रसादि' का भी विस्तृत निरूपण है। पाँचवें और छठे वृत्तातो मे गुण और दोष का निरूपण है। ये क्रमशः १४१ और २३ पद्यो मे समाप्त हुए हैं। अंतिम दो वृत्तातो मे क्रमशः शब्दालंकारों और अर्थालंकारो पर विस्तृत प्रकाश डाला गया है। अनुप्रास अलंकार के अंतर्गत रीतियों की भी चर्चा है। इन वृत्तातो की पद्यसंख्या क्रमशः ४४ और १२१ है। इस प्रकार नायक-नायिका-भेद को छोड़कर इस ग्रंथ में शेष सभी काव्यागो को स्थान मिला है। नायक-नायिका-भेद प्रसग को इस ग्रंथ में समिलित न करने का एक कारण तो मम्मट के काव्यप्रकाश का अनुकरण है, और दूसरा संभव कारण यह कि कुलपति ने 'नखशिख' नामक एक अन्य ग्रंथ का भी निर्माण किया है, जो मूलतः नायक-नायिका-भेद का ही ग्रंथ है।

रसरहस्य ग्रंथ के निर्माण मे कुलपति ने मूलतः काव्यप्रकाश का आधार ग्रहण किया है। इसके अतिरिक्त अलंकारप्रकरण में इन्होने साहित्यदर्पण से तथा रसप्रकरण में साहित्यदर्पण और कुछ स्थलो में केशवप्रणीत रसिकप्रिया से भी सामग्री ली है। हिंदी के अनेक आचार्यों के समान कुलपति ने भी संस्कृत के उक्त ग्रंथों को सामने रखकर इस ग्रंथ का निर्माण किया है, पर इन्होंने उलथा मात्र प्रस्तुत न करके शास्त्रीय सामग्री को सुबोध एवं सरल अनुवाद के रूप मे ढाल दिया है। पर वर्ण्य विषय को सुबोध बनाने के उद्देश्य से इन्होंने उसे गंभीरता से वंचित नहीं होने दिया।

हिंदी रीतिकालीन आचार्यों में जिनकी प्रवृत्ति काव्यशास्त्र के गंभीर प्रसंगों के विवेचन की ओर रही है उनमें कुलपति का नाम भी उल्लेखनीय है। इन्होने मम्मट तथा विश्वनाथ के काव्यलक्षणों पर आक्षेप प्रस्तुत किए हैं, शब्दशक्ति प्रकरण मे तात्पर्यार्थ वृत्ति की चर्चा की है, तथा रसनिष्पत्ति प्रसंग में अभिनवगुप्त के मत का उल्लेख किया है। निस्संदेह ये सभी स्थल न तो पूर्ण एवं सर्वाशतः मान्य हैं और न व्यवस्थित रूप में प्रतिपादित ही हुए हैं। फिर भी इन गंभीर स्थलों का उल्लेख कुलपति के गंभीर आचार्यत्व का सूचक अवश्य है। इस ग्रंथ में इन्होंने कतिपय

मौलिक धारणाएँ उपस्थित करने का भी प्रयास किया है। उदाहरणार्थ, इन्होंने काव्य का स्वतंत्र लक्षण प्रस्तुत किया है :

दो०—जग तैं अद्भुत सुख सदन शब्दरु अर्थ कवित्त।
ये लच्छन मैंने कियो समुझि ग्रंथ बहु चित्त॥ —र० र०, १।१०

टी०—जग से अद्भुत सुख लोकोत्तर चमत्कार यह लक्षण काव्य का कहा है।

अर्थात् काव्य उस शब्दार्थ को कहते हैं जो लोकोत्तर चमत्कार से युक्त हो। निस्संदेह इस लक्षण पर एक ओर भामह और रुद्रट के काव्यलक्षण 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्' तथा 'ननु शब्दार्थौ काव्यम्' की छाया है और दूसरी ओर विश्वनाथ के रस-विषयक कथन 'लोकोत्तरचमत्कारप्राणः' की छाया लेकर इन्होंने इसे 'जग तैं अद्भुत सुखसदन' के रूप में अनूदित किया है। इस प्रकार यह लक्षण नितात नवीन न होता हुआ भी निर्दोष तथा संमान्य अवश्य है। कुलपति के ग्रंथ मे दूसरी मौलिक धारणा है विश्वनाथ के काव्यलक्षण 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' पर यह आक्षेप कि यदि अंगीभूत रस को काव्य की आत्मा स्वीकृत किया जायगा, तो रसवद् आदि अलंकारों से संबद्ध स्थल, जहाँ रस अंग बन जाता है, काव्य से बहिष्कृत हो जायेंगे। इन्होने विश्वनाथ के काव्यलक्षण पर एक अन्य आक्षेप भी किया है कि रस को ही काव्य मानने पर (संलक्ष्यक्रम व्यंग्य के दो भेदों) वस्तुध्वनि और अलंकारध्वनि को, जहाँ रस के बिना भी काव्य में चमत्कार रहता है, 'काव्य' नाम से अभिहित नहीं किया जायगा[1], पर उनका यह आक्षेप नूतन न होकर जगन्नाथ के आक्षेप पर ही आधृत है[2]। कुलपति की तीसरी मौलिक धारणा है काव्यप्रयोजनों में काव्य द्वारा जगत् के 'राम' अथवा 'राग' के वश में होने का उल्लेख :

जस संपति आनंद अति दुरित न औरै खोइ।
होत कवित में चतुरई, जगत राम बस होइ[3]॥ —रसरहस्य, १।३२

[1] पुनि रसही जु कवित्त सौं कहै न लच्छन होइ।
के प्रधान कै अग है रसहू द्वै विधि जोय॥
जो प्रधान रसहो जहाँ कहौं कवित्त हौं सोइ।
अलंकार अरु वस्तु जहँ मुख्य सु कवित न होइ॥
जहाँ अग रस है तहाँ, अलकार है आय।
कछुक बातहू में लखै सो वह रस न कहाय॥ —रसरहस्य, १।२८–३०

[2] यत्तु रसवदेव काव्यम्, इति साहित्यदर्पणे निर्णीतम्, तन्न वस्त्वलकारप्रधानानां काव्यानामकाव्यत्वापत्तेः। —रसगगाधर, पृ० ६, १म आ०

[3] दतिया राज पुस्तकालय में प्राप्त प्रति के अनुसार अंतिम चरण का पाठ इस प्रकार है. 'जगत राग बस होइ।'

और इनकी चौथी मौलिक धारणा है नाटक में शांत रस को स्थान न देने के संबंध में यह नवीन कारण कि 'नाटक बहुविषयी है और काव्य एकविषयी है', 'निर्वेद वासनावंत' अर्थात् विरक्त पुरुष इस भय से (शांत-रस-प्रधान भी) नाटक नहीं देखता कि कहीं कोई विषय उसके लिये विकारोत्पादक न हो, अतः काव्य में तो शांत रस को स्थान मिलना चाहिए, पर नाटक में नहीं[1]। संस्कृत आचार्यों में धनंजय की भी यही धारणा थी कि शांत रस नाटक का विषय नहीं है[2]। उनके टीकाकार धनिक ने इस संबंध में जो विवेचन प्रस्तुत किया है[3], कुलपति उससे नितांत अप्रभावित हैं। उन्होंने उपर्युक्त जो कारण प्रस्तुत किया है वह मौलिक है, यह प्रश्न अलग है कि वह पूर्णतः मान्य नहीं है।

इनके ग्रंथ में कुछ दोष भी हैं। उदाहरणार्थ शब्दशक्ति प्रकरण के अंतर्गत वाचक शब्द, व्यंजना शक्ति और तात्पर्यार्थ वृत्ति का स्वरूप स्पष्ट नहीं हुआ है। रस प्रकरण में भाव का स्वरूप अस्पष्ट है तथा उसके चार भेद—विभाव, अनुभाव, संचारिभाव और स्थायिभाव कुछ सीमा तक असंगत हैं। उद्दीपन विभाव का स्वरूप भी भ्रांत है। दोष प्रकरण में रस-दोष-प्रसंग अपूर्ण है। 'अनंगाभिधान' नामक दोष का लक्षण एवं उदाहरण नितांत भ्रामक है। गुण प्रकरण भी पर्याप्त मात्रा में अपूर्ण है। पर केवल इन्हीं दोषों की गणना की जा सकती है। इनका शेष सभी निरूपण शास्त्रसंमत, विशुद्ध, व्यवस्थित तथा गंभीर एवं सुबोध शैली में प्रतिपादित हुआ है।

(१) **कवित्व—**आचार्य कुलपति ने यद्यपि 'काव्यप्रकाश' के आधार पर रसध्वनि की स्थापना की है, तथापि इनके काव्य में उसका सम्यक् निर्वाह बहुत कम दृष्टिगत होता है। इस दिशा में प्रयत्न तो इन्होंने पर्याप्त किया है पर अनुभूति की सचाई का समावेश न हो पाने से इनका काव्य प्रायः रसत्व को प्राप्त नहीं हो पाया। इसका मुख्य कारण यह भी है कि यह व्यक्ति आचार्य पहले था कवि बाद में—आचार्यकर्म को अत्यंत मनोयोग के साथ ग्रहण करने के कारण कवित्व पर अपना ध्यान अधिक केंद्रित नहीं कर सका। इसीलिये 'रसरहस्य' के कवित्त और सवैयों में

[1] यह (शांत) रस काव्य में ही होता है, नाटक में नहीं होता। सो इसके न होने का कारण कहते हैं। निर्वेद वासनावंत सहृदय को नाट्य देखने की इच्छा नहीं होती, इस डर से कि नृत्य में बहुतेरे विषय हैं, कदाचित किसी से विकार उपजे और काव्य तो एक विषय ही है, इससे इसके श्रवण करने में कुछ खटक नहीं, इस कारण कवित्त में इसको कही। —रसरहस्य, ३।९२ वृत्ति।

[2] शममपि केचित्प्राहुः पुष्टिर्नाट्येषु नैतस्य। —दशरूपक, ४।३५

[3] दशरूपक, ४।३५, ४५ (वृत्ति भाग)

कल्पनावैभव और उसके फलस्वरूप चित्रयोजना को स्थान नहीं मिल पाया। फिर भी, इतना तो निश्चित ही है कि रसपारिपाक की दृष्टि से उनका काव्य किसी प्रकार से हीन नहीं कहा जा सकता—यद्यपि तत्कालीन कवियों की तुलना में इसके उत्कर्ष को स्वीकार करने में संकोच होता है। दूसरी ओर भाषा यद्यपि व्याकरण की दृष्टि से स्वच्छ है, तथापि उसमें वह लोच लचक नहीं आ पाई जो सत्काव्य के लिये अनिवार्य है—शैली मे अभिव्यक्ति की निश्छलता का सर्वथा अभाव है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि आचार्यकर्म की दृष्टि से कुलपति मिश्र का चाहे अपने युग के कवियों में प्रथम स्थान हो पर काव्यक्षेत्र में इनका स्थान द्वितीय श्रेणी का ही है। उदाहरण के लिये इनके कुछ अत्यंत उत्कृष्ट छंद देते हैं :

(१) लोचन लजौहैं सौंहैं होत न सलोन हू सो,
बातन में कीजत अनूप सुरभंग की।
मन-मन आनंदमगन है बिहँसति,
याही तें सहेली न सुहाति कोऊ संग की।
डगमगी डगै पल झपकि झपकि लगै,
कहे देत गति तन झलक अनंग की।
आली औरे आभा आज भई है बदन पर,
जगर-मगर जोति होति अंग-अंग की॥

(२) मेरी चित चाह तें मिटो है उरदाह पिय,
आए हरबरैं पायँ धारे भय मन के।
सीतल समीर लागैं कंपित हैं गात यातें,
बातें तुतरात हौ रखैया निज पन के।
देखें छबि आज भूलि गए दुख साज कोटि,
कोटि जुग वारि डारौं ऊपर या छन के।
पूष की निसा में लाल आए मोसों प्यार करि,
करौं हौं बयारि सूखें स्वेद कन तन के॥

(३) देह धरी परकासहि कौं जग माँझ है तोसी तुही सब लायक।
दौरे थके अँग स्वेद भयो समझी सखी ह्वाँ न मिले सुखदायक।
मोही सौं प्यार जनायो भली बिधि जानी जु जानी हितूनिको नायक।
साँच की मूरति सील की सूरति मंद किए जिन काम के सायक।

(४) मेरे युद्ध उद्ध करि आयुध सकै न कोइ,
मानस की कहा गति दानव न देव की।
अर्जुन की गर्जें कहा सनमुख हमारे रहै,
कछू हू न जानै गति बानम के भेव की।

कुटिल बिलोकनि तें होत लोक खंड-खंड,
जाको कछु प्रगट धराधर की टेव की।
भीषम हौं आयौ रन भीषम मचाई आसु,
जग्ग बल पैअहिं छुड़ाऊँ बासुदेव की ॥

इस ग्रंथ में कुलपति ने एक उदाहरण रेखता भाषा मे भी प्रस्तुत किया है। इसमें रेखता भाषा, हिंदी छंद और रीतिकालीन वातावरण, इन तीनो का एक साथ समन्वय दर्शनीय है :

हूँ वे मुश्ताक तेरी सूरत का नूर देख,
दिल भरि पूरि रहै कहने जबाब सों।
मिहर का तालिब फकीर है मिहरबान,
चातक ज्यों जीवता है स्वाति वारा आब सों।
तू तौ अयानी यह खूबी का खजाना तिसे,
खोलि क्यों न दीजे सेर कीजिए सबाब सों।
देर की न ताब जान होत है कबाब बोल,
छाती का आब बोलो मुख महताब सों ॥

४. पदुमनदास

पदुमनदास का एक ही ग्रंथ उपलब्ध है 'काव्यमंजरी'। इस ग्रंथ के साक्ष्य के अनुसार बादमनगर के शासक तथा रामसिंह के पुत्र दलेलसिंह के यहाँ कवि ने इसका निर्माण संवत् १७४१ मे किया :

एकर्गल चालीस शत सत्रह सम्वत् जान।
दरसी ऋतुपति पंचमी कविमंजरी प्रमान ॥
बादमनगर महीपमणि सिंह दलेल प्रवीन।
परम भागवत संत हित संतत हरिरस लीन ॥
तिन्हके पिता पुनीत नृप रामसिंह बल भीम।
टरी न तिन्हकी बचन इमि जिमि अजातरिपु सीम ॥

ग्रंथकार ने अनेक स्थलो पर नृप दलेलसिंह की स्तुति की है तथा ग्रंथ के प्रत्येक अध्याय के समाप्तिसूचक वाक्य से विदित होता है कि नृप दलेलसिंह ने इस ग्रंथ को प्रकाशित कराया था। उदाहरणार्थ :

इति श्री पदुमनदास विरचिताया श्री दलेलसिंह प्रतापार्क प्रकाशित काव्यमंजर्य्याम् प्रथमकलिका प्रकाशः ॥

इस ग्रंथ में १४ कलिकाएँ (अध्याय) हैं। सिद्धांतनिरूपण दोहों में है

तथा उदाहरण प्रायः कवित्तों में। स्वयं कवि के कथनानुसार इस ग्रंथ के कुल पद्यों की संख्या ७१६ है :

पदुमन भणित सोहावने, काव्यमंजरी माहिं।
कवित दोहरनि सात सौ, सोरह अधिक सोहाहिं॥

ग्रंथ के प्रथम अध्याय मे अधिकाशतः कविशिक्षा संबंधी सामग्री संगृहीत है। सर्वप्रथम कवि का लक्षण प्रस्तुत किया गया है :

ज्ञान ब्याकरण कोष में छद ग्रंथ को ज्ञान।
अलंकार रस रीति में निपुन सुकवि तेहि मान॥

पुनः काव्य के प्रसिद्ध तीन हेतुओ की चर्चा है। फिर उत्तम, मध्यम और अधम इन तीन प्रकार के कवियों का उल्लेख और अंत मे तीन प्रकार के कवि-संप्रदायों का निरूपण है :

संप्रदाय तिन्ह कबिन की तीनि भाँति बुध जान।
असत निबंधन त्याग सत तृतिय नियम परिमाण॥

'असत निबंध' से आचार्य का तात्पर्य है मिथ्या को सत्य रूप में वर्णित करना :

मिथ्या है तेहि साधु कै कविकुल करहिं बखान।
असत निबंधन ताहि कहि संप्रदाय कवि जान॥

'सत्यत्याग' अथवा 'सत्यअनिबन्ध' कहते हैं सत्य का वर्णन जान बूझकर न करना :

साँचो है तिहि कहहिं नहिं सत अनिबंध बखान।

और 'नियमपरिमाण' अथवा 'कवि-नियम-निबंध' के अंतर्गत शेष सभी कविसमय आ जाते हैं। उदाहरणार्थ, मलय पर्वत पर चंदन की प्राप्ति, वर्षा में मयूर का उल्लास, विभिन्न पदार्थों, देवताओं अथवा भावों के छिन्न भिन्न वर्णन आदि।

ग्रंथ के दूसरे अध्याय का नाम प्रत्यंगवर्णन है। इसमे नायिका का नख-शिख सोदाहरण रूप में निरूपित है। तीसरे अध्याय मे पुरुष के चरण, वक्ष, भुजा, स्कंध, वाणी, पीठ और नेत्र का सोदाहरण निरूपण है। चौथे अध्याय का नाम 'वर्णाकरत्न सामान्यालंकार वर्णन' है। संभवतः सामान्यालंकार नाम इन्होंने केशव के ग्रन्थ 'कविप्रिया' से लिया है। इस अध्याय में राजा, राणी, नगर, देश, ग्राम, घोटक, गज, प्रयाण, आखेटक, संग्राम, सूर्योदय, चंद्रोदय, नदी, सरोवर, सिंधु, गिरि, तरु, तथा ग्रीष्म, वर्षा, शरद, हेमंत और शिशिर ऋतुओं का सोदाहरण वर्णन है। पाँचवें अध्याय का नाम भी 'वर्णाकरत्न' है। इसमें अंधकार, वयःसंधि, अभिसार, ब्याह, स्वयंवर, सुरापान, संभोग, जलकेलि, विरह और उद्यान का वर्णन किया गया

है। छठे अध्याय में संख्यावर्णन है। इसमें एक से सोलह तक संख्याओं तथा बत्तीस संख्यावाले पदार्थों की सूची प्रस्तुत की गई है। सातवें अध्याय में सीधे, कुटिल, त्रिकोण, मंडल, स्थूल, पातर (पतला), कुरूप, सुंदर, कोमल, कठोर, कटु, मधुर, शीतल, तप्त, मंदगति, चंचल, निश्चल, सदागति, साँचझूठ, दुखद और सुखद पदार्थों की सूची उदाहरणसहित प्रस्तुत की गई है।

काव्यशास्त्रीय प्रकरण का आरंभ सातवें अध्याय से होता है। सर्वप्रथम वैदर्भी, गौडी और मागधी रीतियों की सामान्य चर्चा है। इसके पश्चात् 'उक्तिप्रसंग' के अंतर्गत लोकोक्ति, छेकोक्ति, अर्भकोक्ति और उन्मत्तोक्ति के लक्षण तथा उदाहरण प्रस्तुत किए गए हैं। पुनः ८ पदगत, १२ वाक्यगत और ८ अर्थगत दोषों की मम्मटानुसार चर्चा है, यहाँ तक कि जुगुप्साव्यंजक अश्लील का मम्मटप्रस्तुत उदाहरण दे दिया गया है। इस प्रसंग में उन्होंने कतिपय उपमादोषों का भी उल्लेख किया है। दोषत्याग के संबंध में इनकी धारणा दंडी के अनुरूप है :

काव्यमंजरी—

ते दूषण लघु जानि जमि, देहु कबित्त निकासु।
ऐसे सुंदर देह में कुंठ छींट ते नासु॥

काव्यादर्श—

तदल्पमपि नोपेक्ष्यं काव्यं दुष्टं कथंचन।
स्याद् वपुः सुंदरमपि श्वित्रेणैकेन दुर्भगम्॥

नवें अध्याय में काव्यगुणों का निरूपण है। गुण तीन प्रकार के हैं—शब्दगत, अर्थगत और वैशेषिक। संक्षिप्त, उदात्त, प्रसाद, उक्ति और समाधि ये पाँच शब्दगुण हैं। संस्कृताचार्यों में इनकी चर्चा केशव मिश्र ने की है[1]। अर्थगुण चार हैं—भाविकत्व, पर्यायोक्ति, सुधर्मिता और सुशब्दता। इनकी चर्चा भी केशव मिश्र ने की है[2]। वैशेषिक गुणों की स्थिति उन काव्यप्रसंगों में मानी जाती है, जहाँ कोई काव्यदोष दोपरूप में स्वीकृत नहीं किया जाता :

जे जे दोष प्रथम कहै, तिन्ह में एकक ठाम।
दोष न मानहिं बिबुध तहिं, वैशेषिक गुण नाम॥

[1] संक्षिप्तत्वमुदात्तत्व प्रसादोक्तिसमाधय.।
अत्रैवान्यसमावेशात्पञ्च शब्दगुणा स्मृता.॥ —अ० शे० ३।१।२

[2] भाविकत्व सुशब्दत्व पर्यायोक्ति. सुधर्मिता।
चत्वारोऽर्थे गुणाः प्रोक्ताः परे त्वत्रैव सगता॥ —अ० शे० ३।२।१

इस अर्थ में वैशेषिक शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग भोजराज ने किया है।

दसवें और ग्यारहवें अध्याय में क्रमशः शब्दालंकार तथा अर्थालंकार का निरूपण है। इन प्रकरणों मे कोई उल्लेखनीय विशेषता नहीं है। बारहवें अध्याय मे विभाव, अनुभाव और संचारी भावो का निरूपण है। इस प्रकरण में उल्लेखनीय विशेषता यह है कि वितर्क नामक संचारी भाव के चार रूपो की चर्चा की गई है—संशय, विचार, अनध्यवसाय और विप्रतिपत्ति।

ग्रंथ के अंतिम दो अध्यायो में रसप्रकरण का निरूपण है। तेरहवें अध्याय में शृंगार रस के आलंबन विभाव के अंतर्गत नायक-नायिका-भेद प्रसंग की संक्षिप्त चर्चा है। नायिकाभेदों मे मध्या नायिका के इन नवीन उपभेदों का भी उल्लेख हुआ है—सावहित्था, सादरा और सुरतोदासा। चौदहवें अध्याय मे विप्रलंभ शृंगार तथा अन्य आठ रसो का निरूपण है। अंत में नृप दलेलसिंह के गुणकथन तथा ग्रंथ को विष्णु के चरणों में अर्पण करने के उपरात उसकी समाप्ति हो जाती है।

इस ग्रंथ की प्रमुख विशेषता है कविशिक्षा का सविस्तर निरूपण। हिंदी आचार्यो मे सर्वप्रथम यह प्रयास केशव ने किया था। इस दिशा में दूसरा प्रयास संभवतः इन्हीं का है। केशव के संमुख इस संबंध में केशव मिश्र, अमरचंद्र आदि संस्कृताचार्यों का आदर्श था। इधर पदुमनदास ने संभवतः केशव की 'कविप्रिया' से भी सहायता ली है। पर इनका यह प्रकरण कविप्रिया के इस प्रकरण की अपेक्षा कहीं अधिक स्वच्छ, व्यवस्थित एवं सशक्त है। निदर्शन के लिये संग्रामवर्णन का प्रसंग देखिए :

> युद्ध धर्म बल बरणिए बंबा तोप अघात।
> धूरि धूम शोणित नदी, सर मंडप मिघात॥
> भग पताका चमर रथ, करि कर धधुया किष्टि।
> सूरि नारि सुरम्ह बरै, सुर सुमनस की बिष्टि॥
> भूमि भयानक भूतमय योगिनि गण को गान।
> काक कंक जंबुक शिवा, लोथनि में लपटान॥
> उठि उठि गिरहि कबंध रण तुमुल रोर चहुँ ओर।
> बरणहु पदुमन ब्रिमि छरे, मागध नंद किशोर॥

यथा कवित्त—

> छाइ बाण मंडप कलस गज शशिन्हको,
> बाँधे हेत कंचन दिया से बरत है।
> चारो ओर चंगुलनि गीध लए उडत अति,
> मानो तह तोरण को बंधन करत है।

तुपक अवाजै तोप बाजत कबंध नाचे,
योगिनि हु गीत गाए आनँद भरत हैं।
यदुपति जरासिंधु समर में ब्याह बिधि,
अछरी अनेक सुर बरम्ही बरत है॥

पर इस ग्रंथ का काव्यशास्त्रीय भाग सामान्य कोटि का है। रीति प्रकरण अत्यंत संक्षिप्त है। गुण प्रकरण मे उन गुणों का उल्लेख है जो न परंपरासंमत हैं और न माधुर्य आदि तीन गुणों के समान रस के साथ साक्षात् संबद्ध हैं। इनके उक्ति प्रसंग मे से लोकोक्ति और छेकोक्ति को अलंकार प्रकरण में स्थान मिलना चाहिए था। अर्भकोक्ति तथा उन्मत्तोक्ति कोई काव्यांग अथवा उसका उपभेद नहीं हैं, अतः इनका उल्लेख काव्यशास्त्रीय ग्रंथों में नहीं होना चाहिए। इस ग्रंथ के अन्य प्रकरण साधारण कोटि के हैं।

(१) **कवित्व**—काव्यमंजरी का अधिकाश भाग लक्षणपरक ही है, इसके उदाहरण संबंधी छंद अधिक नहीं हैं। ऐसी दशा में उनके काव्य के संबंध मे किसी प्रकार का अंतिम निर्णय तो नहीं दिया जा सकता, केवल इतना कर सकते हैं कि इस ग्रंथ में उपलब्ध गिने चुने छंदों के आधार पर ही उनके काव्य का मूल्याकन किया जाय। इस दृष्टि से सूत्र रूप में यह कहा जा सकता है कि ये केशव की परंपरा के कवि हैं। यह ठीक है कि इनकी रचनाओं मे केशव की विषयवस्तु की सी व्यापकता और भाषा मे उनका जैसा अनगढपन नहीं, पर अलंकार सामग्री और अभिव्यंजना शैली लगभग वैसी ही है—प्रायः किसी भी वस्तु के रूप को स्पष्ट करने के लिये वही परंपरागत उपमानों अथवा कविसमयों का चयन मात्र कर दिया गया है। इसका परिणाम प्रायः यह हुआ है कि यह व्यक्ति कहीं पर भी अपने भावचित्रों में कल्पना को उचित स्थान नही दे पाया और यदि कहीं उसने देने का प्रयत्न भी किया है तो वह अपने आपमे केशव जैसा ही स्थूल हो गया है। षट्ऋतु, गज, वाजि आदि का वर्णन यद्यपि संक्षिप्त है तथापि कवित्व की दृष्टि से अवश्य ही उत्कृष्ट कहा जा सकता है—शृंगारिक रचनाओ में कवि अपने समकालीनों के समान भावात्मकता नहीं ला पाया। उदाहरण के लिये कतिपय छंद देखिए :

(१) नूतन दँतारे भारे भूधर से कारे तन,
घुघुवत कपोल मद मोतिया के माथ में।
मंद गति चपल चलत काम काँध ते,
महाउत न उतरत अंकुस ले हाथ में॥
डोलत अधारी डारे अकरे जंजीर पद,
संतत समीप गजद्वार भोज साथ में।

अरिदल दारक सिंगार निज दल के,
उदार दल साहि ताहि दीन्हें बैजनाथ में ॥

(२) मदन भुवार फौजदार ऋतुपति जाके,
बना फहरात नव पल्लव लुहू लुहू ।
दक्षिण पवन दूत दिशि-दिशि आवत है,
गावत है मधुकर करखा मुहू मुहू ॥
भनै 'पदुमन' सुमनस के समूह बाण,
बिछुरै जो दंपति तौ बधत दुहू दुहू ।
कोकिला कसाई ताको बिरहिन कुहिवे को,
बोलत न पूछै ऋतुराज सो कुहू कुहू ॥

(३) कपटी कुटिल मित्र पुत्र न गहाने बात,
बादी बकवादी वाम दास चित्त चोरी में ।
थोरी बोन प्रापति किया आश प्रभू पाश,
ऋण याचन ते त्रास नित खास पर बोरी में ॥
दारिद दुरित दुखदाई घने घेरे पाश,
तौहू न तजत सुख आस मति थोरी में ।
'पदमुन' प्रभु भगवंत में न भाव आए,
बासर गवाए परवार के अगोरी में ॥

(४) कोउ कहै कुच कंचन कुंभ सुधारस ते भरिए रखि सोऊ ।
श्रीफल शंभु सुमेरु सरोज मनोज के गेंद कहै कवि कोऊ ॥
मो मन में उपमा यह आवत विश्व सबै वश याहि के होऊ ।
जीति जगत्रय औंधि धरी कि मनो मनमत्थ के दुंदुभि दोऊ ॥

५. देव

(१) **जीवनवृत्त**—देव कवि का पूरा नाम देवदत्त था, 'देव' इनका उपनाम था। अपने भावविलास ग्रंथ के रचनाकाल का उल्लेख करते हुए इन्होंने लिखा है कि संवत् १७४६ में मेरी आयु १६ वर्ष की थी :

शुभ सत्रह से छियालिस, चढ़त सोरहीं वर्ष ।
कढ़ी देव मुख देवता, भावविलास सहर्ष ॥

अतः इनका जन्म संवत् १७३०–३१ मानना चाहिए। इसी ग्रंथ में इन्होंने अपने को इटावा (उत्तर प्रदेश) का निवासी तथा द्योसरिया ब्राह्मण लिखा है :

द्यौसरिया कवि देव को नगर इटायो बास ।
जोबन नवल सुभाव रस कीन्हौ भावविलास ॥

धौसरिया अथवा दुसरिहा कान्यकुब्ज ब्राह्मणों की अल्ल होती है। देव के प्रपौत्र भोगीलाल के पास उपलब्ध वंशवृक्ष से भी देव काश्यपगोत्रीय कान्यकुब्ज ब्राह्मण सिद्ध होते हैं :

काश्यपगोत्र द्विवेदि कुल कान्यकुब्ज कमनीय।
देवदत्त कवि जगत में भए देव रमनीय॥

देव के वंशजों से प्राप्य वंशवृक्ष से इनके पिता का नाम बिहारीलाल दुबे ज्ञात होता है। मौलिक रूप से प्राप्त एक छंद से भी इस तथ्य की पुष्टि होती है :

दुबे बिहारीलाल भए निज कुल मह दीपक।
तिनके भे कवि देव कविन मँह अनुपम रोचक॥

देव को अपने जीवननिर्वाह के लिये अनेक आश्रयदाताओं के पास भटकना पड़ा था। अंतःसाक्ष्य के अनुसार इनके कतिपय आश्रयदाताओं के नाम ये हैं— (१) आजमशाह, जिन्हें इन्होंने अपने दो ग्रंथ भावविलास और अष्टयाम भेंट किए थे। (२) चर्खी—(ददरी)पति राजा सीताराम के भतीजे सेठ भवानीदत्त वैश्य। इनके नाम पर देव ने भवानीविलास ग्रंथ का निर्माण किया था। (३) फफूँद रियासत के राजा कुशलसिंह। कुशलविलास ग्रंथ की रचना इनके नाम पर की गई। (४) राजा अथवा सेठ भोगीलाल, जिन्हें देव ने निम्नलिखित श्रद्धाजलि भेंट की है :

भोगीलाल भूप लख पाखर लिवैया जिन,
लाखनि खरचि खरचि आखर खरीदे हैं।

(५) इटावा के समीपवर्ती डयौंड़िया खेरा के राजा (जमींदार) उद्योतसिंह। इन्हें देव ने अपना 'प्रेमचंद्रिका' ग्रंथ समर्पित किया था। (६) दिल्ली के रईस पातीराम के पुत्र सुजानमणि, जिनके लिये 'सुजानविनोद' की रचना की गई थी। (७) पिहानी के अधिपति अकबर अली खाँ, जिन्हें देव ने 'सुखसागरतरंग' समर्पित किया है।

देव की मृत्यु अनुमानतः संवत् १८२४–२५ में मानी जाती है। इस समय इनकी आयु ६४–६५ वर्ष हुई थी।

(२) ग्रंथ—जैसा ऊपर कहा गया है, देव के उपलब्ध ग्रंथों की संख्या १८ है। इनकी सूची इस प्रकार है :

क्र० सं०	ग्रंथ		निर्माणकाल
१	भावविलास		संवत् १७४६
२	अष्टयाम	अनुमानतः	,, ,,
३	भवानीविलास	,,	,, १७५०-५५
४	प्रेमतरंग	,,	,, १७६०

५	कुशलविलास	अनुमानतः	संवत् १७६०
६	जातिविलास	,,	,, १७८०
७	देवचरित्र	,,	,, १७८० के बाद
८	रसविलास	,,	,, १७८३
९	प्रेमचंद्रिका	,,	,, १७९०
१०	सुजानविनोद या रसानंदलहरी	,,	,, १७९० के उपरांत
११	शब्दरसायन या काव्यरसायन	,,	,, १८००
१२	सुखसागरतरंग	,,	,, १८२४
१३	रागरत्नाकर	,,	,, अज्ञात
१४	जगद्दर्शन पचीसी	वैराग्यशतक	अंतिम दिनों
१५	आत्मदर्शनपचीसी	अथवा	की
१६	तत्वदर्शनपचीसी	देवशतक	रचना
१७	प्रेमपचीसी		
१८	देवमायाप्रपंच (नाटक)		अज्ञात

इन ग्रंथों को वर्ण्य विषय के आधार पर दो भागों में विभक्त किया जा सकता है—काव्यशास्त्रीय ग्रंथ तथा अन्य ग्रंथ। प्रेमचंद्रिका, रागरत्नाकर, देवशतक के चारो भाग, देवचरित्र और देवमायाप्रपंच को छोड़कर शेष ग्रंथ काव्यशास्त्र से संबद्ध हैं। इन ग्रंथों का परिचय इस प्रकार है :

(अ) प्रेमचंद्रिका—इसका वर्ण्य विषय प्रेम है। देव ने इसमें सशक्त शब्दों मे विषय का तिरस्कार करते हुए प्रेम का माहात्म्य प्रतिष्ठित किया है। इस पुस्तक में चार प्रकाश हैं। पहले में साधारण प्रेम का वर्णन है, जिसके अंतर्गत प्रेमरस, प्रेमस्वरूप, प्रेममाहात्म्य तथा प्रेम और विषय का अंतर स्पष्ट रूप में व्यक्त किया गया है। दूसरे प्रकाश में प्रेम के पाँच भेद किए गए हैं—सानुराग शृंगार, सौहार्द, भक्ति, वात्सल्य और कार्पण्य। तीसरे प्रकाश में मध्या और प्रौढ़ा का प्रेम वर्णित है। चौथे प्रकाश मे प्रेम के शेष चार भेदों का—क्रमशः गोपियों के सौहार्द, गोपियों की भक्ति, यशोदा के वात्सल्य और राजा नृग के कार्पण्य आदि के व्याज से—वर्णन है।

(आ) रागरत्नाकर—संगीत से संबद्ध लक्षणग्रंथ है। इसमें दो अध्याय हैं। पहले अध्याय में छः रागों का उनकी भार्याओं सहित सांगोपांग वर्णन है और दूसरे में तेरह उपरागों का उल्लेख मात्र है। रागों और उनकी भार्याओं का वर्णन रीतिनिरूपण और काव्य दोनों दृष्टियों से अत्यंत रोचक है।

(इ) देवशतक—जैसा ऊपर कह आए हैं, इसमें चार पृथक् पचीसियाँ हैं—जगद्दर्शनपचीसी, आत्मदर्शनपचीसी, तत्वदर्शनपचीसी और प्रेमपचीसी। प्रथम

तीन पचीसियों का प्रधान विषय वैराग्य है। इनमें जीवन और जगत् की असारता, उसमें लिप्त रहने के लिये जीवन एवं मानव मन की निर्भय भर्त्सना, जीव के भ्रम का वर्णन और ब्रह्मतत्व का निरूपण है। प्रेमपचीसी मे प्रेमतत्व का वर्णन है। परमात्मा केवल प्रीति मे मिलता है। जीवन मे प्रेम ही सार है। प्रेम के बल पर ही गोपियो ने उद्धव के निर्गुण ज्ञान को मिथ्या सिद्ध कर दिया था।

देवशतक अत्यंत प्रौढ रचना है। इसमें कवि ने दार्शनिक भावनाओ को पूर्ण अनुभूति के साथ अभिव्यक्त किया है। अतएव वे कोरा दर्शन न रहकर काव्य बन गई हैं। उसके आत्मग्लानि के उद्‌गारों मे उतनी ही तन्मयता है जितनी भक्त कवियो मे मिलती है। देव की वृद्धावस्था की रचना होने के कारण इसमें भाषा और भाव दोनो की परिपक्वता है।

(ई) **देवचरित**—यह ग्रंथ कृष्ण के आद्योपात जीवन से संबद्ध एक खंडकाव्य है। इसमे श्रीकृष्ण-जन्म, बकी और तृणावर्त का वध, माखनचोरी, वृंदावन-प्रयाण, बकासुरवध, कालियदमन, गोवर्धनलीला, अक्रूरागमन, कुब्जाउद्धार, कंसवध, रुक्मिणीस्वयंवर, सत्यभामावरण, भौमासुर के बंधन से सोलह सहस्र रानियों का उद्धार तथा उनका पत्नीरूप में ग्रहण, महाभारत मे पाडवो की सहायता आदि अनेक छोटे बडे प्रसंगों का अत्यंत संक्षिप्त तथा खंडित वर्णन है। यह ग्रंथ खंडकाव्य की दृष्टि से अधिक सफल नहीं है, परंतु इतना संकेत अवश्य करता है कि कवि मे कथानिर्वाह की प्रतिभा निस्संदेह थी।

(उ) **देवमायाप्रपंच**—यह ग्रंथ प्रबोधचंद्रोदय की शैली पर लिखित पद्यबद्ध नाट्य रूपक है। कथानक के पात्र प्रतीकात्मक हैं—परपुरुष, माया (मन), प्रकृति (बुद्धि), जनश्रुति, तर्क आदि। कथानक का उद्देश्य अधर्म पर धर्म की विजय दिखाना है।

(ऊ) **काव्यशास्त्रीय ग्रंथ**—देव के काव्यशास्त्रीय ग्रंथो में शब्दरसायन विविधागनिरूपक ग्रंथ है, भावविलास मे शृंगार रस तथा अलंकारों का निरूपण है, भवानीविलास, प्रेमतरंग, कुशलविलास, जातिविलास, रसविलास, सुजानविनोद और सुखसागरतरंग शृंगार रस और विशेषत: इसके नायक-नायिका-भेद प्रसंग से संबद्ध ग्रंथ हैं तथा अष्टयाम में नायक नायिका के आठो पहर के विविध विलास का वर्णन है। एक कवि द्वारा एक ही विषय से संबंद्ध अनेक ग्रंथो के प्रणयन का परिणाम यह हुआ है कि शृंगार रस तथा नायक-नायिका-भेद संबंधी अनेक प्रसंगों का कई बार पुनरावर्तन हो गया है, यहाँ तक कि भावविलास में जिन ३९ अलंकारों का निरूपण है, उन सबकी पुनरावृत्ति शब्दरसायन में कर दी गई है। इसके अतरिक्त उदाहरणों की भी इधर उधर पुनरावृत्ति अथवा उनमें परिवर्तन परिवर्द्धन करके नवीन ग्रंथ की

सृष्टि कर दी गई है। इस दृष्टि से सुखसागरतरंग का नाम विशेषतः उल्लेखनीय है। यह कवि के अंतिम दिनों का बृहद् काव्यग्रंथ है, पर कुछ एक नवीन पद्यों को छोड़कर शेष इधर उधर से संग्रहीत हैं। यदि देव के सभी ग्रंथ—५२ अथवा ७२ ग्रंथ—उपलब्ध हो जायँ तो यह प्रवृत्ति और भी अधिक बृहदाकार धारण करके हमारे संमुख आ जाय। जीविकावृत्ति की तलाश में इधर से उधर भटकनेवाले बेचारे देव के पास 'घटत बढ़त' के अतिरिक्त भला और उपाय ही क्या था?

जैसा ऊपर निर्दिष्ट कर आए हैं, शब्दरसायन में विविध काव्यांगों का निरूपण है। ये काव्यांग हैं—काव्यस्वरूप, पदार्थनिर्णय (शब्दशक्ति), नौ रस, नायक-नायिका-भेद, दस रीति (गुण), चार वृत्ति, अलंकार तथा पिंगल। इसके अतिरिक्त भावविलास में भी अलंकार को स्थान मिला है। इस प्रकार इन ग्रंथों में लगभग सभी काव्यांगों का निरूपण हो गया है जिसका आधार संस्कृत के प्रख्यात ग्रंथों—काव्यप्रकाश, साहित्यदर्पण तथा रसतरंगिणी और रसमंजरी—से ग्रहण किया गया है। कुछ एक नवीन प्रसंग भी इधर उधर लक्षित हो जाते हैं। इनमें से कुछ मान्य हैं और कुछ अमान्य।

(३) **काव्यस्वरूप**—काव्यस्वरूप प्रसंग के अंतर्गत देव ने काव्यपुरुष की चर्चा करते हुए अपने ग्रंथ शब्दरसायन में एक स्थान पर छंद (शब्दरचना) को काव्य का तन, रस को जीव तथा अलंकार को शोभावर्धक धर्म कहा है:

अलंकार भूषण सुरस जीव छंद तन भाख।

पर इसी ग्रंथ में उन्होंने उपर्युक्त परंपरासंमत धारणा से हटकर शब्द को जीव, अर्थ को मन तथा रसमय सौंदर्य को काव्य का शरीर माना है। छंद और गति ये दोनों (पग के सदृश) उसे संचारित और प्रवाहित करते हैं तथा अलंकार से उसमें गंभीरता आती है:

सब्द जीव तिहि अरथ मन रसमय सुजस सरीर।
चलत वहै जुग छंद गति अलंकार गंभीर॥

देव की दूसरी धारणा परंपराविरुद्ध तो है, पर नितांत अशुद्ध नहीं है। इन दोनों धारणाओं में अपने अपने दृष्टिकोण का प्रतिपादन है—पहली में काव्य का आंतरिक पक्ष उभारा गया है और दूसरी में बाह्य पक्ष।

(आ) शब्दशक्ति—शब्दशक्ति प्रकरण के अंतर्गत भी देव ने कुछ एक नवीन धारणाएँ प्रस्तुत की हैं, पर वे अधिकतर भ्रांत और असंगत हैं। उदाहरणार्थ—तात्पर्य शक्ति के संबंध में देव के निम्नलिखित विभिन्न उल्लेखों में से अभिहितान्वय-

वादी संमत तात्पर्य शक्ति के वास्तविक स्वरूप[1] पर किसी भी रूप में प्रकाश नहीं पड़ता। ऐसा प्रतीत होता है कि तात्पर्य से उनका अभिप्राय या तो व्यंग्यार्थ से है या वाच्यादि तीनों अर्थों से :

(क) सुर पलटत ही शब्द ज्यों वाचक व्यंजक होत।
तातपर्ज के अर्थ हूँ तीन्यो करत उदोत॥

—श० र०, पृष्ठ २

(ख) तातपर्ज चौथो अरथ तिहूँ शब्द के बीच।

—वही, पृ० १

(ग) सकल भेद के लक्षना और व्यंजना भेद।
तातपर्ज प्रकटत तहाँ, दुख के सुख सुख खेद॥

—वही, पृ० १२

लक्षणा के मम्मटसंमत गौणी नामक भेद को देव ने 'मिलित' नाम दिया है :

द्विविध प्रयोजन लक्षना सुद्ध मिलित पहिचानि।

—वही, पृ० ४

पर यह नाम हमारे विचार में गौणी के यथार्थ स्वरूप-सादृश्य-संबंध का किसी भी रूप में द्योतक नहीं है।

जाति, क्रिया, गुन और यद्रच्या को इन्होंने अभिधा के मूल भेद कहा है[2]। पर वस्तुतः वे अभिधा के मूल भेद न होकर संकेतित (वाच्य) अर्थ के ही विभिन्न रूप हैं[3]। इन चारो के देवसंमत उदाहरणों में गुण को छोड़कर शेष प्रकारों के उदाहरण प्राप्त हैं :

[1] अभिहितान्वयवादियों के मत में अभिधा शक्ति के द्वारा वाक्य के भिन्न भिन्न पदों के ही संकेतित अर्थ का ज्ञान होता है, पदों के अन्वित अर्थ अर्थात् वाक्यार्थ का ज्ञान नहीं होता, इस अर्थ के लिये तात्पर्य वृत्ति माननी पड़ती है। ऐसा माननेवाले मीमांसक कुमारिल भट्ट के मतानुयायी होने के कारण 'भट्ट' मीमांसक कहाते हैं। ये अभिहिता-न्वयवादी भी कहाते हैं, क्योंकि इनके मत में अभिधा से अभिहित (प्रोक्त) अर्थों का आपस में एक अन्य तात्पर्य नामक वृत्ति के द्वारा अन्वय (संबंध) स्थापित करना पड़ता है :
अभिहितानां स्वस्ववृत्त्या पदैरुपस्थापितानामर्थानामन्वय इति वादित अभिहितान्वयवादिनः।

—का० प्र० (बा० बो०), पृ० २६

[2] शब्दरसायन, पृष्ठ २१

[3] काव्यप्रकाश, २.८

जाति अहीरी क्रिया पकरि हर गुन सुकुल सुबानि ।
चोर पत्रक्या चहुँ विधि अभिधा मूल बखानि ॥

—वही, पृ० ११

इस प्रकार देव ने लक्षणा और व्यंजना के भी चार चार मूल भेदों का उल्लेख किया है :

लक्षणा—कारजकारण, सदृशता, वैपरीत्य, आक्षेप ।

व्यंजना—वचन, क्रिया, स्वर, चेष्टा[1] ।

पर इनमें उक्त शक्तियों का संपूर्ण क्षेत्र समाविष्ट नहीं हो सकता । लक्षणा के ये भेद क्रमशः शुद्धा, गौणी, विपरीत लक्षणा और उपादान लक्षणाओं से संबद्ध हैं । पर लक्षणा का विषय कहीं अधिक विस्तृत है । व्यंजना के उक्त भेदों में स्वर और चेष्टा आर्थी व्यंजना से संबद्ध हैं । क्रिया को भी चेष्टा का रूपांतर मानते हुए इसी व्यंजना से संबद्ध कहा जा सकता है । वचन भेद अस्पष्ट है । यदि यह 'वाच्य' का पर्याय है; तो यह भी आर्थी व्यंजना से संबद्ध है । पर व्यंजना का भी विशाल क्षेत्र इन तथाकथित मूल भेदों पर न तो आधृत है और न इन्हीं तक सीमित । इन्हें 'मूल भेद' जैसे गौरवास्पद नाम से भूषित करना भी भ्रांतिजनक है ।

देव ने अभिधादि शक्तियों के परस्पर-संबंध-जन्य १२ प्रकार के अर्थों का उल्लेख किया है । पर इनमें से कुछ शास्त्रसंमत हैं और कुछ शास्त्रासंमत :

शास्त्रसंमत—(१–३) अभिधा, अभिधा में लक्षणा, अभिधा में व्यंजना
(४–५) लक्षणा, लक्षणा में व्यंजना
(६–७) व्यंजना, व्यंजना मे व्यंजना

शास्त्रासंमत—(१) अभिधा में अभिधा
(२–३) लक्षणा में अभिधा और लक्षणा में लक्षणा
(४–५) व्यंजना में अभिधा और व्यंजना में लक्षणा

(आ) रस—ऊपर निर्दिष्ट कर आए हैं कि रस प्रकरण इनके सभी काव्य-शास्त्रीय ग्रंथों में निरूपित हुआ है । निरूपण का आधार विश्वनाथ तथा भानु मिश्र के ग्रंथ हैं । उल्लेखनीय विशिष्टताओं का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है :

देव ने भाव के दो भेद माने हैं—कायिक और मानसिक । स्तंभ, स्वेद आदि (सात्विक) भाव कायिक हैं, तथा निर्वेद आदि (संचारिभाव) मानसिक । इस वर्गीकरण का आधार भानु मिश्र की रसतरंगिणी है । छल को जोड़कर इन्होंने

[1] शब्दरसायन, पृष्ठ ११, १५

संचारिभावों की संख्या ३४ मानी है। यह संचारिभाव भी रसतरंगिणी से लिया गया है। रस दो प्रकार का है—लौकिक और अलौकिक। लौकिक रस के शृंगार आदि नौ भेद हैं तथा अलौकिक रस के स्वापनिक, मानोरथ तथा औपनायका—ये तीन भेद। इन भेदों का स्रोत भी रसतरंगिणी है। देव ने शृंगार रस को सर्वाधिक महत्व दिया है—रसों की संख्या नौ मानना समुचित नहीं है। वस्तुतः रस एक ही है—वह है शृंगार :

भूलि कहत नव रस सुकवि सकल मूल सिंगार।

देव की यह धारणा भोजराज पर आश्रित है। शृंगार रस के महत्वसूचक निम्नलिखित कथन पर भी भोज की छाया स्पष्ट झलकती है :

भाव सहित सिंगार में नव रस झलक अजस्त्र।
ज्यों कंकन मनि कनक को ताही में नव रत्न॥[1]

रसों के पारस्परिक संबंध के विषय मे देव ने दो रूपों का उल्लेख किया है—

(क) नौ रसो में तीन रस मुख्य हैं—शृंगार, वीर और शात। इनमे भी शृंगार ही मुख्य है, शेष दोनों इनके आश्रित हैं। फिर, इन्हीं तीनों पर शेष छः रस आश्रित हैं—शृंगार के आश्रित हास्य तथा भय हैं, वीर के आश्रित रौद्र तथा करुण हैं और शात के आश्रित अद्भुत तथा वीभत्स। देव की यह धारणा पूर्णतः वैज्ञानिक न होने के कारण संमान्य नहीं है।

(ख) मूल रस चार हैं—शृंगार, वीर, रौद्र और वीभत्स। शेष चार रस—हास्य, अद्भुत, करुण और भयानक—क्रमशः इन्हीं के आश्रित हैं। इस कथन का आधार भरतप्रणीत नाट्यशास्त्र है।

देव ने शृंगार के दो रूप गिनाए हैं प्रच्छन्न और प्रकाश। संस्कृत आचार्यों में सर्वप्रथम रुद्रट ने इस ओर संकेत किया था और फिर भोज ने। हिंदी आचार्यों में देव से पूर्व केशव ने इन भेदों के अनेक उदाहरण प्रस्तुत किए हैं। इन्होंने हास्य रस के तीन भेद माने हैं—उत्तम, मध्यम और अधम। इन भेदों का आधार स्मित, विहसित आदि प्रचलित छः भेद ही हैं। देव ने करुण के पाँच भेद गिनाए हैं—करुण, अर्धकरुण, महाकरुण, लघुकरुण और सुखकरुण। वीभत्स के दो रूप—

[1] तुलनार्थ—रत्यादयोऽर्धशतमेकविवर्जिता हि
भावा. पृथग्विधविभावभुवो भवन्ति।
शृंगारतत्त्वमभित. परिवारयान्तः
सप्तार्चिषं धुतिचया इव वर्धयन्ति॥ —शृं० प्र०, पृ० ४६६

जुगुप्साजन्य तथा ग्लानिजन्य और शांत के दो भेद—भक्तिमूलक तथा शुद्धभक्ति-मूलक। शांत के तीन उपभेद हैं—प्रेमभक्ति, शुद्धभक्ति और शुद्धप्रेम।

(इ) नायक-नायिका-भेद—नायक-नायिका-भेद की दृष्टि से देव अपेक्षाकृत अधिक विस्तारप्रिय आचार्य थे। रीतिकालीन अन्य कवियों एवं आचार्यों ने जहाँ नायिकाभेद का वर्णन कर्म, काल, गुण, वयःक्रम, दशा और जाति के आधार पर किया है, वहाँ देव ने इनके अतिरिक्त देश, प्रकृति और सत्व के आधार को भी ग्रहण किया है। उदाहरणार्थ, देशगत भेद—मध्यदेशवधू, मगधवधू, कोशलवधू, पाटल-वधू, उत्कलवधू आदि। इनका विस्तार और भी आगे चला है और जाति अर्थात् वर्णव्यवसाय तथा वास की दृष्टि से भी भेदों को बढाया गया है। उदाहरणार्थ :

नागरी—देवलदेवी, पूजनहारी, द्वारपालिका।
राजनगर—जौहरिन, छीपिन, पटवाइन, सुनारिन, गंधिन, तेलिन, तमोलिन आदि।
ग्रामीण—अहीरिन, काछिन, कलारिन, कहारी, नुनेरी।
पथिकतिय—बनजारिन, जोगिन, नटनी, कुचेरनी।

इसी प्रकार देव ने वात, पित्त और कफ—इन तीन प्रकार की प्रकृतियों, सुर, किन्नर, यक्ष, नरपिशाच, नागर, खर और कपि—इन तत्वों के आधार पर भी नायिकाभेदों की ओर संकेत किया है। पर स्पष्ट है कि इस भेदविस्तार से काव्य-चमत्कार में कुछ वृद्धि नहीं होती अपितु इनका बोझिल व्यापार इसे आक्रांत कर विकृत कर देता है। इनके अतिरिक्त इन नायिकाओं की स्थिति न तो किसी सुरुचि-पूर्ण पाठक का मनोरंजन कर सकती है और न काव्यशास्त्रीय परंपरागत नायकों के साथ इनका गठबंधन शोभनीय लगता है।

देव ने शब्दरसायन में अन्य दोषों के अतिरिक्त निम्नलिखित रसदोष भी गिनाए हैं—सरस, निरस, उदास, संमुख, विमुख, स्वनिष्ठ और परनिष्ठ। संस्कृत काव्यशास्त्रों मे इन्हीं नामों के दोषों का उल्लेख हमें कहीं नहीं मिला। देव ने केशव के अनरस दोषों से प्रेरणा प्राप्त कर इन दोषों की कल्पना की है अथवा स्वतंत्र रूप से, निश्चयपूर्वक कुछ कह सकना कठिन है। शब्दरसायन मे वामनसंमत गुणों का निरूपण करते हुए इन्होंने गुण को 'गुण' नाम से अभिहित न कर 'रीति' नाम से अभिहित किया है तथा अनुप्रास और यमक को भी तथाकथित 'रीति' के अंतर्गत निरूपित किया है।

(ई) अलंकारप्रकरण—भावविलास और शब्दरसायन, इन दोनों ग्रंथों में से प्रथम ग्रंथ में ३९ अलंकारों का निरूपण है जो दंडी और भामह के ग्रंथो में उपलब्ध है। द्वितीय ग्रंथ में उक्त अलंकारों के अतिरिक्त ४५ अन्य अलंकारों का प्रतिपादन है जो भामह और अप्पय्य दीक्षित के बीच विभिन्न आचार्यों द्वारा

प्रचलित और प्रतिपादित हुए हैं। इन अलंकारों के लिये देव ने किसी एक ग्रंथ विशेष को अपना आधार नहीं बनाया।

उपर्युक्त सिंहावलोकन से स्पष्ट है कि देव का आचार्यत्व उच्च कोटि का एवं पूर्णतः शास्त्रसंमत नहीं है। पर कवित्व की दृष्टि से रीतिकालीन आचार्यों में इनका विशिष्ट स्थान है।

(उ) पिंगल—देव ने अपनी काव्य की परिभाषा में रस, भाव और अलंकार के साथ छंद का भी उल्लेख किया है, इसलिये सापेक्षिक महत्व के अनुसार शब्द-रसायन के अंतिम भाग में उन्होंने उसका भी वर्णन कर दिया है। छंद को उन्होंने कविताकामिनी की गति माना है। इस प्रसंग में कवि ने लघु, गुरु, गण, देवता, फल आदि का परिपाटीभुक्त वर्णन करने के उपरात, फिर केवल उन वर्णिक एवं मात्रिक छंदों का विवरण दिया है जो हिंदी में प्रचलित हैं। वर्णवृत्त के तीन भेद माने हैं—(१) गद्य, जिसमें कोई संख्या नहीं होती, (२) पद्य, जिसमें एक गण अर्थात् तीन वर्णों से लेकर २६ वर्णं तक होते हैं (नाड़ी से लेकर सवैया तक अनेक प्रकार के छंद इसके अंतर्गत आ जाते हैं), और (३) दंडक, जिसमे २७ से ३३ वर्ण तक होते हैं। मात्रिक छंदों में दोहा से लेकर चौपैया, अमृतध्वनि आदि तक का वर्णन है।

पिंगल वास्तव में विवेचन का विषय न होकर वर्णन का ही विषय है, अतएव मुख्यतया इसकी वर्णनशैली में ही थोड़ी बहुत नवीनता लाई जा सकती है। इस प्रसंग में देव के दो तीन प्रयत्न उल्लेखनीय हैं—(१) छंद का लक्षण और उदाहरण उसी छंद में दिया गया है। यह शैली संस्कृत के पिंगल ग्रंथों में भी ग्रहण की गई है—उदाहरण के लिये वृत्तरत्नाकर या छंदोमंजरी में। बाद में हिंदी में भी छंदप्रभाकर आदि में इसका प्रयोग मिलता है। (२) सवैया के विभिन्न भेदों के लक्षण भगण द्वारा किए गए हैं। यह एक नई सूझ अवश्य है परंतु इससे विद्यार्थी की कठिनाई बढ़ जाती है, उसको कोई विशेष लाभ नहीं होता। दूसरे, अकेला भगण विभिन्न सवैयों की गति का पूर्णतः द्योतन करने में भी असमर्थ रहता है। (३) सवैया और घनाक्षरी के कुछ नवीन भेद भी दिए हैं—सवैया : मंजरी, ललित, सुधा, अलसा। ये चार भेद सवैया के साधारण भेदों के अतिरिक्त हैं, और देव ने इनको 'नवीन' मत के अनुसार माना है। घनाक्षरी में ३१-३२ वर्णों की घनाक्षरियों के अतिरिक्त देव ने ३३ वर्णं की घनाक्षरी भी मानी है जो आज 'देव घनाक्षरी' के नाम से प्रसिद्ध है। ये उद्‌भावनाएँ वास्तव में महत्वपूर्ण हैं, परंतु इनसे देव के आचार्य रूप की अपेक्षा उनके कलाकार रूप पर ही अधिक प्रकाश पड़ता है। अंत में, देव ने मेरु, पतका, मर्कटी, नष्ट और उद्दिष्ट को केवल कौतुक का विषय मानते हुए उनको त्याज्य बताया है।

(४) **कवित्व**—देव के काव्य का मुख्य विषय शृंगार है। इसके अतिरिक्त भी उन्होंने यद्यपि तत्वचिंतन संबंधी रचनाएँ की हैं, पर उनके रीतिकाव्य के साथ इनका कोई संबंध नहीं। ये मूलतः उनके शृंगारी जीवन की प्रतिक्रिया के रूप में ही प्रस्फुटित हुई हैं। इसी कारण इनमें निर्वेद तथा तत्वचिंतन अधिक है, सूर और तुलसी की सी अपने उपास्य के प्रति भक्तिभावना नहीं है। शृंगारिक रचनाओं में देव के रागपक्ष का सबसे अधिक निखरा हुआ रूप दृष्टिगत होता है। उन्होंने सिद्धांत रूप से रस की स्थापना जिस विश्वास के साथ की है, उसका सही निर्वाह उतने ही मनोयोग के साथ उनके काव्य में देखने को मिलता है। किसी भी छंद को उठाकर परीक्षा कर लीजिए, उसमें प्रेम का आवेग इतना अधिक मिलेगा कि सहज ही उनकी रसचेतना की गंभीरता का आभास मिल जायगा।

देव की रचनाओं में कल्पनावैभव भी कम नहीं है। इस संबंध में यह कहना अनुचित न होगा कि उनके समस्त शृंगारी काव्य की रसार्द्रता में कल्पना की ऊँची उड़ान का पर्याप्त योग रहा है जिसे मूर्त रूप प्रदान करने के लिये उन्होंने साधारणतः ऐसे चित्रों की योजना की है जिनमें प्रत्येक रेखा अपना विशेष महत्व तो रखती ही है, साथ में रंगवैभव और प्रसाधनसामग्री ने उसमें और भी सौंदर्यसृष्टि की है। क्या स्थिर और क्या गतिशील, किसी भी चित्र को उठा लीजिए, सबमें कवि की भावना का आवेश अपने आप ही उभरता सा दिखाई देगा, और यही कारण है कि सहृदय को उनकी अनुभूति के धरातल तक पहुँचने में देर नहीं लगती। यद्यपि इन चित्रों मे कहीं कहीं क्लिष्टता आ गई है, तथापि इसका कारण कवि का दृष्टिदोष न मानकर उसकी भावना का आवेग ही मानना चाहिए।

चित्रों को सजीव बनाने तथा भावसामग्री की निश्छल अभिव्यक्ति करने में भी देव ने अत्यंत सतर्कता से काम लिया है। विषयवस्तु के अनुरूप ही उन्होंने शब्दों का चयन किया है—भावावेग की अभिव्यक्ति के समय वे प्रायः भावात्मक शब्दावली का प्रयोग करते हैं जिससे सहृदय को उसकी अनुभूति अनायास ही हो जाती है। इसमे संदेह नहीं कि व्याकरण की दृष्टि से उनकी भाषा अपेक्षाकृत सदोष है, उसमें शब्दों की तोड़मरोड़ और व्याकरण रूपों की अव्यवस्था है, पर ऐसा उन्हें अपनी रचनाओं की सौंदर्यवृद्धि के लिये ही करना पड़ा है—पुनरुक्ति, अनुप्रास आदि भाषाप्रसाधनों की योजना तथा छंद में लय के आग्रह को वे उपेक्षित नहीं कर सके। फिर भी, काव्यगुणों को देखते हुए उनके ये दोष उपेक्षणीय हैं। कतिपय छंद दिए जाते हैं, बात स्पष्ट हो जायगी :

(१) ऐसो जो हौं जानतो कि जैहै तू विषै के संग,
ए रे मन मेरे हाथ पाँय तेरे तोरतो।

आजु लौं हौं कत नरनाहन की नाहीं सुनि,
नेह सों निहारि हारि बदन निहारतो।
चलन न देतो 'देव' चंचल अचल करि,
चाबुक चितावनीनि मारि मुँह मोरतो।
भारो प्रेम पाथर नगारो दै गरे सौं बाँधि,
राधावर बिरद के बारिधि में बोरतो॥

(२) पीतरंग सारी गोरे अंग मिलि गई 'देव',
श्रीफल-उरोज-आभा आभासै अधिक सी।
छूटी अलकनि छलकनि जलबूँदन की,
बिना बेंदी बंदन बदन सोभा बिकसी।
तजि तजि कुंज पुंज ऊपर मधुप गुंज गुंजरत,
मंजु रव बोले बाल पिकसी।
नीवी उकसाइ नेकु नयन हँसाय हँसि,
ससिमुखी सकुचि सरोवर तें निकसी॥

(३) रीझि रीझि रहसि रहसि हँसि हँसि उठै,
साँसैं भरि आँसू भरि कहत दई दई।
चौंकि चौंकि चकि चकि औचकि उचकि 'देव',
जकि जकि बकि बकि परत बई बई।
दुहुन को रूप गुन दोऊ बरनत फिरैं,
घर न थिरात रीति नेह की नई नई।
मोहि मोहि मोहन को मन भयो राधामय,
राधामन मोहि मोहि मोहन मई मई॥

(४) 'देव' मैं सीस बसायौ सनेह कै भाल मृगम्मद बिंदु कै भाख्यो।
कंचुकी में चुपर्यो करि चोवा लगाय लियो उर सों अभिलाख्यो॥
कै मखतूल गुहे गहने रस मूरतिवंत सिंगार कै चाख्यो।
साँवरे लाल को साँवरो रूप मैं नैननि को कजरा करि राख्यो॥

६. सूरति मिश्र[1]

आचार्य सूरति मिश्र के संबंध में किसी भी प्रकार की सामग्री उपलब्ध नहीं है। इनके विषय में केवल इतना ही पता चला है कि ये आगरानिवासी कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे और इन्होंने निम्नलिखित ग्रंथ लिखे : १—अलंकारमाला, २—रस-

[1] यह विवरण 'हिंदी साहित्य का इतिहास' (आ० शुक्ल) के आधार पर है।

माला, ३—सरस रस, ४—रस ग्राहक-चंद्रिका, ५—नखशिख, ६—काव्यसिद्धात, ७—रसरत्नाकर, ८—अमरचंद्रिका (बिहारी सतसई की टीका), ९—कविप्रिया की टीका, १०—रसिकप्रिया की टीका और ११—वैताल पंचविंशति का व्रजभाषा अनुवाद।

इनके अलंकारमाला का रचनाकाल सं० १७६६ वि० और अमरचंद्रिका का सं० १७९४ वि० है। अतएव कहा जा सकता है कि ये विक्रम की १८वीं शताब्दी के अंतिम चरण के बाद तक विद्यमान रहे। इनके इन ग्रंथों में से संप्रति एक भी उपलब्ध नहीं है। केवल एक छंद आचार्य शुक्ल ने अपने हिंदी साहित्य के इतिहास में उधृत किया है जिसके आधार पर किसी भी प्रकार का निर्णय देना हमारे लिये कठिन है। आचार्यत्व के संबंध मे भी यही स्थिति है। अतएव उस सरस छंद को उधृत करते हैं जिससे उनके कवित्व के संबंध में अनुमान मात्र लगाया जा सकता है :

तेरे ये कपोल बाल अति ही रसाल,
मन जिनकी सदाई उपमा विचारियत है।
कोऊ न समान जाहि कीजै उपमान,
अरु बापुरे मधूकन की देह जारियत है॥
नेकु दरपन समता की चाह करी कहूँ,
भए अपराधी ऐसो चित्त धारियत है।
'सूरति' सो याही तें जगत बीच आजहूँ लौं,
उनके बदन पर छार डारियत है॥

७. कुमारमणि शास्त्री

कुमारमणि शास्त्री के पिता का नाम हरिवल्लभ शास्त्री था। ये वत्सगोत्री तैलंग ब्राह्मण थे। इनके एक वंशज कंठमणि शास्त्री के कथनानुसार इनके पूर्वपुरुष १४वीं–१५वीं शताब्दी के बीच दक्षिण भारत से उत्तर भारत के अंतर्गत मध्य प्रांत में आ बसे थे।[1] ये एक विद्वान् परिवार के थे। पिता प्रख्यात पौराणिक, धर्मशास्त्रज्ञ तथा हिंदी भाषा के प्रसिद्ध कवि थे और सप्तशतीकार गोवर्धनाचार्य के छोटे भाई बलभद्र जी की छठी पीढ़ी में उत्पन्न हुए थे। इनके भ्राता वासुदेव तथा मातुल जनार्दन ने भी संस्कृत भाषा में आर्यासप्तशतियों की रचना की थी। ये स्वयं हिंदी और संस्कृत दोनों भाषाओं के विद्वान् थे। पौराणिक वृत्ति तो इनकी वंशपरंपरागत थी ही, साथ ही ये काव्यशास्त्र से भी अवगत थे। रसिकरसाल ग्रंथ इस कथन

[1] रसिकरसाल, श्री विद्याविभाग, काँकरोली से प्रकाशित (भूमिका भाग), पृष्ठ ४

का प्रमाण है। रसिकरंजन (संस्कृत ग्रंथ) में इन्होंने अपने गुरु पं० पुरुषोत्तम की वंदना की है और रसिकरसाल (हिंदी ग्रंथ) में पं० जयगोविंद की।[१] संभवतः ये दोनों विद्वान् इनके क्रमशः संस्कृत और हिंदी के साहित्यगुरु रहे होंगे।

कुमारमणि का जन्म संवत् १७२०–२५ के बीच मानना चाहिए, क्योंकि इनके ग्रंथों—रसिकरंजन और रसिकरसाल—का रचनाकाल क्रमशः संवत् १७६५ और १७७६ है :

(क) कथिता 'कुमार' कविना प्रथिता रसिकानुरंजने प्रथिता।
सप्तशती शरषण्मुख मुखसिंधुविधिश्रिते (१७६५) राधे॥
—रसिकरंजन

(ख) रससागर रवितुरग बिधु (१७७६) संवत मधुर बसंत।
बिकस्यौ 'रसिकरसाल' लखि हुलसत सुहृद बसंत॥
—रसिकरसाल

ये दोनों ग्रंथ इनकी प्रौढ़ावस्था के सूचक हैं। रसिकरंजन के निर्माण के समय उनकी आयु ४० वर्ष के आसपास रही होगी। यदि रसिकरंजन ग्रंथ का संकलन इन्होंने २५–३० वर्ष की आयु में कर लिया हो, तो इनका जन्म संवत् १७३५-४० में मानना चाहिए।

'शिवसिंहसरोज' के आधार पर 'मिश्रबंधुविनोद' के प्रथम संस्करण में कुमारमणि को दासकाल (सं० १७६१–१८१०) के अंतर्गत रखा गया था, पर उक्त कंठमणि शास्त्री के संशोधन उपस्थित करने पर दूसरे संस्करण में उसका सुधार कर लिया गया था।

कुमारमणि ने रसिकरसाल में कई बार रामनरेंद्र की स्तुति की है। संभवतः यह इनके किसी आश्रयदाता का नाम होगा :

(क) राम नरपाल को निहारि रन ख्याल खग्ग,
खुले बिकराल दिगपाल कसकात हैं।
(ख) राम नरिंद की सेन सजै, अरि नारि अलंकनि संकसी केती।
(ग) राम नरेश के संगर चाकहिं चीरिनि मैं रहै धीरज काको ?
(घ) रामनरिंद ! तिहारे पयान, धुकै धरनी धर धारन हारे।—इत्यादि

[१] (क) मण्डनतनूजमनुजं जयगोविन्दस्य, वन्द्यगुणवृन्दम्।
श्रीमन्तं पुरुषोत्तममिव गुरुपुरुषोत्तमं वंदे॥
(ख) सुरगुरुसम मंडनतनय बुध जयगोविन्द ध्याइ।
कवितरीति गुरुपद परसि अरु पुरुषोत्तम पाइ॥

यह 'राम' नामक नरपाल कौन थे, इस संबंध में निश्चयपूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता। कंठमणि शास्त्री का अनुमान है कि ये दतिया के कोई राजा होंगे। दतिया राज्य के आश्रय की पुष्टि इससे और भी अधिक होती है कि संप्रति भी कवि कुमारमणि के वंशज, इस लेखक (कंठमणि शास्त्री) के पितृचरण पूज्य बालकृष्ण शास्त्री जी को भी दतिया से संमान प्राप्त है। कुमारमणि के पूर्वपुरुषों को सागर जिले में धर्मसी, केनरा आदि ग्राम जयसिंहदेव राजा द्वारा प्रदान किए गए थे जिनमे से प्रथम ग्राम अब भी उनके वंशजों के पास माफी के रूप में है। सागर जिला और बुंदेलखंड ये दोनो परस्पर संयुक्त हैं, अतः स्थायी निवासस्थान सागर जिले का गढपहरा ग्राम होने पर भी कवि कुमारमणि का आवागमन बुंदेलखंड मे चालू रहा होगा, और इसी कारण उन्हें वहाँ की रियासतों में राज्यसंमान समय समय पर प्राप्त होता होगा[1]। कंठमणि शास्त्री के पितृव्य श्रीकृष्ण शास्त्री के कथनानुसार कुमारमणि को झारखंड में कुछ भूमि प्राप्त हुई थी जो आगे चलकर वंशजो की उपेक्षा तथा राज्यक्रांति के कारण हस्तांतरित हो गई[2]।

कुमारमणिरचित दो ग्रंथ उपलब्ध हैं—रसिकरंजन और रसिकरसाल। रसिकरंजन सूक्तिसंग्रह है। इसमे संस्कृत की कतिपय आर्यासप्तशतियों का संकलन प्रस्तुत किया गया है। इनमें से एक सप्तशती इनकी अपनी है, एक इनके भाई वासुदेव की है और एक किसी मधुसूदन कवि की है। इनके अतिरिक्त निम्नलिखित कवियों तथा उनकी कतिपय सूक्तियों का संग्रह इसमें प्रस्तुत किया गया है— गोवर्धनाचार्य, चिंतामणि दीक्षित, जनार्दन, जयगोविंद वाजपेयी, बालकृष्ण भट्ट, वाणभट्ट और लीलावतीकार। कंठमणि के अनुसार ये सभी कवि आंध्र हैं।

कुमारमणिरचित दूसरा ग्रंथ रसिकरसाल है। इसका विषय काव्यशास्त्र है। इसमें दस उल्लास हैं। इस ग्रंथ की अधिकांश शास्त्रीय सामग्री काव्यप्रकाश पर समाधृत है। कवि स्वयं इस आधार की स्वीकृति ग्रंथारंभ में ही कर देता है:

काव्यप्रकाश विचार कछु रचि भाषा में हाल।
पंडित सुकवि 'कुमारमनि' कीन्हौ 'रसिकरसाल' ॥

प्रथम उल्लास का नाम 'त्रिविध काव्यनिरूपण' है। इसमें मम्मट के अनुसार काव्य के तीन भेदों—ध्वनि, अगुरुव्यंग (गुणीभूत व्यंग) और चित्र के अतिरिक्त काव्यप्रयोजन एवं काव्यहेतु की चर्चा की गई है। पर इनका काव्यलक्षण मम्मट पर आधृत न होकर अधिकांशतः जगन्नाथ और अंशतः विश्वनाथ के काव्यलक्षण की छाया पर निर्मित है :

[1] रसिकरसाल, भूमिका भाग, पृ० १३
[2] वही, पृ० ११

उपजत अद्‌भुत वाक्य जो शब्द अर्थ रमनीय ।
सोई कहियतु कवित है, सुकवि कर्म कमनीय ॥

ग्रंथ के दूसरे उल्लास का नाम 'चतुर्विध व्यंगकथन' है। उल्लास के आरंभ में लेखक ने 'व्यंग्य' अर्थात् ध्वनिकाव्य के पाँच प्रमुख भेद गिनाए हैं। अभिधामूला ध्वनि के तीन भेद—वस्तुगत, अलंकारगत और रसगत, तथा लक्षणा-मूला ध्वनि के दो—अर्थातरसंक्रमित वाच्य और अत्यंततिरस्कृत वाच्य। इनमें से रसध्वनि को छोड़कर शेष चार ध्वनिभेदों का सामान्य निरूपण किया गया है, इसीलिये इस उल्लास का नाम 'चतुर्विध व्यंगकथन' है। इसके अतिरिक्त इसी उल्लास में उन्होंने वृत्ति (शब्दशक्ति) के भेदोपभेदों की चर्चा भी कर दी है और इसका कारण उनके शब्दों में यह है कि 'अर्थव्यंग जानिबो को वृत्तिविचार कहियतु है।' पर उनका यह कथन अशास्त्रीय एवं असंगत है। शब्दशक्ति प्रकरण को स्वतंत्र उल्लास में निरूपित करना समुचित था, ध्वनिकाव्य प्रकरण के एक प्रमाण रूप में नहीं। इस उल्लास में उन्होंने रसव्यंग के दो भेद गिनाए हैं—अलक्ष्यक्रम और लक्ष्यक्रम। पर ये दोनों भेद अभिधामूला व्यंजना के हैं। इनमें से प्रथम भेद रसध्वनि का पर्याय है और द्वितीय भेद के उक्त दो उपभेद हैं—वस्तुध्वनि और अलंकारध्वनि।

ग्रंथ के तृतीय उल्लास का नाम 'रस-व्यंग-निरूपण' है और चतुर्थ का नाम 'स्थायिभाव, संचारिभाव, अनुभाव निरूपण'। वस्तुतः इन उल्लासों का विषयक्रम विपरीत होना चाहिए था। स्थायिभाव आदि रसाभिव्यक्ति के साधन हैं और रसाभिव्यक्ति साध्य है। अतः साधनों से प्रथम परिचित कराना अधिक वांछनीय है। इन दोनों उल्लासों की विषयसामग्री में एकाध स्थल को छोड़कर विशेष नवीनता परिलक्षित नहीं होती। एक स्थान पर कुमारमणि ने रस को दो वर्गों में विभक्त किया है: लौकिक और अलौकिक। लौकिक रस से उनका तात्पर्य है सासारिक विषयोपभोगजन्य आनंदप्राप्ति और अलौकिक रस को वे काव्य, नृत्य आदि (ललित कला) का पर्याय मान रहे हैं :

लौकिक तथा अलौकिक है आनहु रस ठौर ।
लौकिक लोकप्रसिद्ध त्यों, कवित नृत्य में और ॥
शृंगारादिक लोकगत कवित नृत्य में ल्याइ ।
होत अलौकिक हैं सबै रस आनन्द बढ़ाइ ॥
सकल लोकरस के सिरै आनंद लोक विलच्छ ।
रसै एक अनुभवत हैं पंडित सहृदय दच्छ ॥

काव्य (शृंगारादि रसों) को अलौकिक मानना तो निस्संदेह शास्त्रसंगत है, पर लौकिक विषयानंद को 'रस' जैसे पारिभाषिक शब्द का भेद स्वीकार करना

अशास्त्रीय है। इसके अतिरिक्त सभी लौकिक अनुभूतियाँ आनंदप्रद नहीं मानी जा सकतीं। लोक में शोक, भय, घृणा और क्रोध के प्रसंग कदापि आनंदजनक नहीं हो सकते।

ग्रंथ के पंचम उल्लास का नाम 'आलंबनोद्दीपनविभाव व्यंगकथन' है। अन्य रीतिकालीन ग्रंथो के समान आलंबन विभाव के अंतर्गत यहाँ भी नायक-नायिका-भेद प्रसंग का निरूपण किया गया है। इस प्रसंग में कतिपय नूतन नायिकाओं का भी उल्लेख हुआ है। उदाहरणार्थ, मध्या के ये भेद—उन्नतयौवना, उन्नतकामा और लघुलज्जा, तथा प्रौढ़ा के ये भेद—अधिककामा, सकलतारुण्या, रतिमोहिनी और विविधभावा। इन्होंने सामान्य नायिका के भी तीन भेदों का उल्लेख किया है—स्वाधीना, जनन्याधीना और नियमिता। इन भेदों का मूल स्रोत अकबर शाह कृत शृंगारमंजरी है।

ग्रंथ के छठे उल्लास का नाम 'मध्यम काव्यविचार' है। इसमें गुणीभूत व्यंग्य के मम्मटसंमत आठ भेदों की चर्चा है। ग्रंथ के सातवें और आठवें उल्लासों मे क्रमशः शब्दालंकारो और अर्थालंकारो का निरूपण है। अनुप्रास अलंकार के अंतर्गत रीतिप्रसंग की भी चर्चा है। सातवें उल्लास मे काव्यप्रकाश तथा साहित्यदर्पण की सहायता ली गई है तथा आठवें उल्लास में कुवलयानंद की। नवें उल्लास मे काव्य के तीन गुणों का निरूपण है और दसवें उल्लास में सोलह दोषों का। दोष प्रकरण की उल्लेखनीय विशेषता यह है कि इसमें निम्नलिखित हिंदी कवियो की रचनाओ को उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत किया गया है—जगदीश, केशवदास, बेनी, गंग, सविता, ब्रह्म, मुरलीधर, काशीराम, गदाधर, मतिराम, केसवराय और मनिकंठ। संस्कृत आचार्यों में तो यह परिपाटी प्रचलित थी, पर हिंदी आचार्यों में श्रीपति और कुमार-मणि जैसे इने गिने आचार्यों ने ही यह स्तुत्य प्रयास किया है।

कुमारमणि के शास्त्रीय विवेचन की प्रमुख विशेषता यह है कि इसकी भाषा स्पष्ट और ऋजु है। विविधागनिरूपक आचार्यों मे चिंतामणि और कुलपति के पश्चात् हमारे विचार में शास्त्रीय विवेचन की शुद्धता की दृष्टि से इन्हीं का स्थान है। इनके परवर्ती आचार्यों में सोमनाथ का विवेचन अपेक्षाकृत सरल अवश्य है, पर इनके समान सरल होते हुए भी प्रौढ़ नहीं है। दास की मौलिक धारणाएँ उनकी निजी विशिष्टता है। कुमारमणि ने कोई उल्लेखनीय नवीन धारणा प्रस्तुत नहीं की, पर दास के विवेचन में जो भाषाशैथिल्य है उसका एक अंश भी कुमार-मणि के ग्रंथ में परिलक्षित नहीं होता।

(१) **कवित्व**—काव्यरचना के अंतर्गत कुमारमणि अपने युग के कवियों में अत्यंत सजग हैं। सामान्यतः रीतिकालीन कवि अपनी रचनाओं में अपनी रीति-विषयक मान्यताओं का सम्यक् निर्वाह नहीं कर पाए, पर कुमारमणि का प्रत्येक छंद

अपनी ध्वनिपरकता द्वारा यह स्वतः सिद्ध कर देता है कि ध्वनिकाव्य की उत्तमता संबंधी अपनी मान्यता के प्रति यह व्यक्ति कितना ईमानदार है? परंतु इसका अर्थ यह नहीं कि रसदृष्टि से यह काव्य ओछा है। इस दृष्टि से भी इसका उत्कर्ष उतना ही अतर्क्य है—मजमून ऐसे क्लिष्ट नहीं जो रसास्वादन में बाधक होते हों।

कल्पना के क्षेत्र में अवश्य ही यह व्यक्ति ऊँची उड़ान नहीं भर सका। इसका मुख्य कारण यह है कि आचार्यकर्म को मनोयोगपूर्वक ग्रहण करने के कारण उसने किसी ऐसी रचना को उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत नहीं किया जो किसी प्रकार से संदिग्ध कही जाय। सामान्यतः वे ही छंद लक्षणों की पुष्टि में दिए गए हैं जो संस्कृत अथवा हिंदी के काव्यशास्त्र के ग्रंथों में अत्यंत प्रसिद्ध रहे हैं। और यही कारण है कि रसिकरसाल की अधिकाश उक्तियाँ ऐसी हैं जो पूर्ववर्ती संस्कृत और हिंदी कवियो एवं काव्यशास्त्रकारो की उक्तियो का रचयिता की अपनी शब्दावली मे रूपातर मात्र हैं। किंतु फिर भी जहाँ कहीं इसे अपनी मौलिक रचना करने का अवसर प्राप्त हुआ है, वहाँ निश्चय ही इसका काव्य मतिराम और पद्माकर की परंपरा में रखा जा सकता है। सवैयों पर मतिराम की तरल शैली का प्रभाव स्पष्टतः लक्षित होता है और कवित्तो की गंभीर शैली में वे पद्माकर का पथप्रदर्शन करते हुए दृष्टिगत होते हैं[1]। इसमें संदेह नहीं कि मतिराम की सी स्वरसाधना का निर्वाह

[1] कंठमणि ने कतिपय उदाहरणों द्वारा यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि कुछेक स्थलों में पद्माकर ने कुमारमणि का समाश्रय ग्रहण किया है। उदाहरण लीजिए :

रसिकरसाल—

दोऊ ढिग है बाल इक, आँखिन नाँखि गुलाल।
अक माल दूजी लई चूमि कपोलनि लाल॥

जगद्विनोद—

मूँदे तहाँ एक अलबेली के अनोखे दृग,
सुदृग मिचावनी के ख्यालनि हितै हितै।
नौछुक नवाइ ग्रीवा धन्य धन्य दूसरी को,
औचक अचूक मुख चूमत चितै चितै॥

रसिक रसाल—

खौर को राग छुट्यौ कुच को त्रिटि गौ
अधरा रस देख्यौ प्रकासहि।
अंजन गौ दृग कजन तै तनु,
कपत तेरो रमव हुलासहि।
नैकु हितू जन को हित चीन्हौ न,
कीन्हौ भरी! मन मेरो निरासहि।

इनके काव्य में नहीं हो पाया, पर मतिराम इनके आदर्श कवि रहे हैं, यह किसी भी प्रकार अस्वीकार नहीं किया जा सकता। इधर पद्माकरी शैली का आरंभ करके भी ये उनके समान स्थूल नहीं रहे, ध्वनि ने इनके काव्य को सर्वत्र अपनी मर्यादा में रखा है। भाषाशैली की दृष्टि से निश्चय ही कुमारमणि को आदर्श कहा जा सकता है। व्याकरण और शब्दयोजना, दोनों की स्वच्छता उनके काव्य मे वैसी ही है जैसी घनानंद, मतिराम आदि ब्रजभाषा के प्रसिद्ध कवियों में देखने को मिलती है। उदाहरण के लिये कुछ छंद देखिए :

(१) **कीन्ही भलाई भली हमसौं, सु कहा कहिए जग में जस लीजौ।**
जाहिर है घर बाहिर रीति प्रतीति यहै पर स्वारथ छीजौ।
काज सुधारत ही सबको निसि बासर ऐसे सदा सुख कीजौ।
हौं जगदीश सौं माँगौं असीस सु कोटि बरीसक लौं तुम जीजौ॥

बावरी ! बावरी न्हान गई कै,
वहाँ न गई उहि पीव के पासहि॥

जगद्विनोद—

घाइ गई केसरि कपोल कुच गोलन की,
पीक लीक अधर अमोलनि लगाई है।
कहै 'पद्माकर' त्यौं नैनहू निरजन में,
तजत न कंप देह पुलकनि छाई है।
बाद मति ठानै झूठबादिनि भई री अब,
दूतिपनो छोडि धूतपन में सुहाई है।
आई तोहि पीर न पराई महापापिन तू,
पापी लौं गई न कहूँ बापी न्हाइ आई है॥

रसिकरसाल—

रूप सौं विचित्र कान्ह मित्र को बिलोकि चित्र,
चित्रित भई तू चित्र पूतरी सुभाई है।

जगद्विनोद—

मोहन मित्र को चित्र लिखै,
भई चित्र ही सी तो चित्रित कहा है।

रसिकरसाल—

फूल बहार के भार भरी,
इक डार है 'नंदकुमार' नवाई।

जगद्विनोद—

निज निज मन के चुनि सबै फूल लेहु इक बार।
यहि कहि कान्ह कदंब की हरषि हिलाई डार॥

(२) कागद में पाटी में 'कुमार' भौन भीतिन में,
चतुर चितेरिन सौं लिखति लिखाई है ।
आरसी निहारि निज मूरति को अनुहारि,
लिखिबी बिचारि चित्त रीझति रिझाई है ।
जकी सी छकी सी अनमिष डीठ ह्वै रही सी,
बोलति न डोलति थकी सी मोह छाई है ।
रूप सौं विचित्र कान्ह मित्र को बिलोकि चित्र,
चित्रिनि भई तू चित्र पूतरी सुभाई है ।

(३) गौने के द्यौस सलौने सुभाइ सों, बैठे हैं चौक दुओ रसभीने ।
ओरि कह्यौ पट छोर सखीनि 'कुमार' ! जुरैं हित नेह नवीने ॥
यों सुनिकै मुसक्याइ, लजाइ, पिया मिस ही पिय त्यौं दृग दीने ।
यौं पिय को हियरो सियरो, लखि चंचल लोचन अंचल कीनै ॥

(४) जोबन रसाल, अलबेली सी नवेली बाल,
केली के सदन हेम बेली सी सुहाति है ।
लागी प्रीति नई या 'कुमार' निरसंक भई,
प्रेम रस रंग भई अंग अरसाति है ॥
सद रद अंकनि कपोलनि, मयंकमुखी,
उघरत आँचर, अचानक रिसाति है ।
खीझि सतराति, हँसि रीझि अरसाति,
परजंक मैं लजाति, पिय अंक में न जाति है ॥

८. श्रीपति

सूरति मिश्र के समान ही आचार्य श्रीपति के जीवनवृत्त के संबंध में भी विशेष प्रामाणिक सामग्री उपलब्ध नहीं । इनके संबंध में केवल इतना ही ज्ञातव्य है कि ये कालपी के रहनेवाले कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे और इन्होने इन सात ग्रंथो की रचना की थी : १—कविकल्पद्रुम, २—रससागर, ३—अनुप्रासविनोद, ४—विक्रमविलास, ५—सरोजकलिका, ६—अलंकारगंगा और ७—काव्यसरोज[१] । इनमें 'काव्यसरोज' का रचनाकाल संवत् १७७७ वि० है । यह ग्रंथ डा० भगीरथ मिश्र को पं० कृष्णबिहारी मिश्र के पुस्तकालय में देखने को मिला था,[२] किंतु अब प्रयत्न करने पर भी हमारी दृष्टि में नहीं आ सका है । शेष ग्रंथों का पता भी इस ग्रंथ से चलता है ।

[१] हिंदी साहित्य का इतिहास (आचार्य शुक्ल), पृ० २७१-७२ (अठवाँ संस्करण) ।
[२] हिंदी काव्यशास्त्र का इतिहास (प्रथम संस्करण), पृ० ११६

ऐसी दशा में कोई उपलब्ध सामग्री न होने के कारण इनके कतिपय विकीर्ण छंदों के आधार पर ही संतोष किया जा सकता है।

जो हो, आचार्य श्रीपति का अपने युग में अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान रहा है। इसका परिचय इसी बात से मिल जाता है कि दास जैसे प्रौढ़ आचार्यों ने इनके विवेचन के कतिपय स्थलों को अपने काव्यनिर्णय में ज्यों का त्यों ग्रहण कर लिया है[1]। इन्होंने काव्यशास्त्र के दशांग का अत्यंत पांडित्य के साथ विवेचन किया है तथा अपने पूर्ववर्ती कवियों तक के उद्धरण देने में संकोच नहीं किया[2]। इससे यह कहा जा सकता है कि इस व्यक्ति ने आचार्यकर्म को अत्यंत मनोयोगपूर्वक ही ग्रहण नहीं किया, प्रत्युत इसमें आलोचक की प्रतिभा और निर्णय देने का साहस था।

काव्यरचना की दृष्टि से आचार्य श्रीपति का महत्व कम नहीं है। ये रसवादी थे और रस का अपनी रचनाओं में भली प्रकार निर्वाह किया है। इनके जितने भी छंद उपलब्ध हैं उन सबमें रस की प्रधानता पहले दिखाई देती है उसके बाद अन्य किसी काव्यांग की। अनुप्रास इनकी रचनाओं में प्रायः मिलता है, पर उससे इनके काव्य की श्रीवृद्धि ही हुई है और वह रसानुकूल होकर ही आया है। इनके काव्य की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि विषयवस्तु को अत्यंत सरल और सीधे सादे ढंग से प्रस्तुत कर दिया गया है। इसमें कल्पनावैभव का अभाव कहा जा सकता है पर चित्रों की स्वाभाविकता ऐसी है, विशेषतः पावसवर्णन में, कि मन सहज ही इनमें रम जाता है। भाषा भी अनुभूति के अनुरूप ही चलती है। उदाहरण के लिये कतिपय छंद देते हैं। देखिए :

(१) कैसे रतिरानी के सिधारे कवि 'श्रीपति' जू,
जैसे कलधौत के सरोरुह सवारे हैं।
कैसे कलधौत के सरोरुह सवारे कहि,
जैसे रूप नट के बटा से छबि ढारे हैं।
कैसे रूप नट के बटा से छबि ढारे कहु,
जैसे काम भूपति के उलटे नगारे हैं।
कैसे काम भूपति के उलटे नगारे कहु,
जैसे प्राणप्यारी ऊँचे उरज तिहारे हैं॥

(२) कंत बिन आवत सदन ना सजनि,
मोपै बिरह प्रबल मेममंत कोप्यौ बाढ़ के।

[1] आचार्य शुक्ल का वही इतिहास, पृ० २७२।
[2] डा० भगीरथ मिश्र का वही इतिहास।

'श्रीपति' कलोलैं बोले कोकिल अमोलैं
    खोल मौन गाँठ तोपे गौन राखे आड़ आड़ के।
हहरि हहरि हिय, कहरि कहरि करि,
    थहरि थहरि दिन बीते जिय गाड़ के।
लहरि लहरि बिज्जु फहरि फहरि आवै,
    घहरि घहरि उठें बादर असाढ़ के॥

(३) धूम से धुँधारे कहूँ काजर से कारे
    ये मिपट बिकरारे, मोहि लागत सघन के।
'श्रीपति' सुहावन, सलिल बरसावन
    सरीर में लगावन, बियोगिनि तियन के।
दरजि दरजि हिय, लरजि लरजि करि
    अरजि अरजि परें दूत ये मदन के।
बरजि बरजि अति तरजि तरजि मोपै,
    गरजि गरजि उठैं बादर गगन के॥

(४) घाँघरे की घुमड़ि, उमड़ि चारु चूनरी की
    पाँयन मलूक मखमल बरजोरे की।
भृकुटी बिकट छुटी अलकैं कपोलन पै,
    बड़ी बड़ी आँखिन में छबि लाल डोरे की।
तरवन तरल जड़ाऊ लखीले ओर,
    स्वेदकन ललित बलित मुख मोरे की।
भूलत न भामिनी की गावन गुमान भरी,
    सावन में 'श्रीपति' मचावन हिंडोरे की॥

६. सोमनाथ

सोमनाथ का दूसरा नाम शशिनाथ भी है[1]। ये माथुर ब्राह्मण नीलकंठ मिश्र के पुत्र थे और भरतपुर नरेश बदनसिंह के कनिष्ठ पुत्र प्रतापसिंह के यहाँ रहते थे। इनके पाँच ग्रंथ उपलब्ध हैं—रसपीयूषनिधि, शृंगारविलास, कृष्णलीलावती, पंचाध्यायी, सुजानविलास और माधवविनोद। इनमें से प्रथम दो ग्रंथ काव्यशास्त्र से संबद्ध हैं और अभी तक अप्रकाशित हैं।

[1] हूजे सहाइ शशिनाथ को जय जय सिंधुर मुख जननि।
—शृं० वि० १

सोमनाथ ने रसपीयूषनिधि का प्रणयन अपने आश्रयदाता प्रतापसिंह के लिये किया था, जैसा ग्रंथ की हर तरंग के समाप्तिसूचक शब्दों से प्रकट होता है : 'इति श्रीमन् महाराजकुमार श्री प्रतापसिंह हेत कवि सोमनाथ विरचित रसपीयूषनिधि प्रथमस्तरंग' आदि। ग्रंथ का रचनाकाल संवत् १७९४ है[1]।

इस ग्रंथ में २२ तरंगें हैं और ११२७ पद्य। कहीं कहीं गद्य का भी आश्रय लिया गया है, जिसमें शास्त्रीय विवेचन प्रस्तुत न करके अधिकतर लक्षण उदाहरण का समन्वय ही प्रस्तुत किया गया है। ग्रंथ की पहली तरंग के प्रथम ७ पद्यों में गणेश, राम, महादेव और कृष्ण की वंदना के बाद अगले १७ पद्यों में राजकुल, ब्रज, नगर और सभा का वर्णन है। दूसरी तरंग में ११ पद्य हैं, जिनमें आचार्य ने अपना परिचय दिया है। तीसरी से पाँचवीं तरंग तक छंदःशास्त्र पर प्रकाश डाला गया है जो कुल १८५ पद्यों में समाप्त हुआ है। छठी तरग के प्रथम १२ पद्यों में काव्य-लक्षण, काव्यप्रयोजन, काव्यकारण, काव्य के शरीर की सामग्री तथा काव्यभेद की संक्षिप्त सी चर्चा है। अगले ४३ पद्यों में शब्दशक्ति का निरूपण है। सातवीं से अठारहवीं तरंग तक कुल ४२७ पद्यों मे ध्वनि का वर्णन है। ध्वनि के एक भेद के रूप मे ही रस आदि का विस्तृत निरूपण हुआ है और शृंगार रस के आलंबन विभाव के रूप में नायक-नायिका-भेद का। उन्नीसवीं तरंग में १६ पद्य हैं। इनमे गुणीभूतव्यंग्य की चर्चा है। बीसवीं तरंग में दोष का निरूपण है और इक्कीसवीं तरंग में गुण और शब्दालंकार का। ये निरूपण क्रमशः ४७, १६ और ४० पद्यों में समाप्त हुए हैं। अंतिम तरंग मे अर्थालंकार का ३०३ पद्यों में विस्तृत निरूपण किया गया है।

सोमनाथ का दूसरा काव्यशास्त्रीय ग्रंथ शृंगारविलास है। इसमें छह पूर्ण उल्लास हैं। सातवें उल्लास में कुल चार पद्य हैं। आगे का ग्रंथभाग खंडित है। ग्रंथ में कुल २१ पत्र अर्थात् ४२ पृष्ठ हैं और २१६ पद्य। वस्तुतः शृंगारविलास कोई स्वतंत्र ग्रंथ नहीं है। रसपीयूषनिधि में प्रतिपादित शृंगाररस और नायिका-भेद की ही सामग्री को नाममात्र के परिवर्तन के साथ प्रस्तुत कर ग्रंथ को स्वतंत्र नाम दे दिया गया है। अनुमान है कि केवल एक पत्र जीर्ण होकर ग्रंथ से विलग हो चुका है जिसमें रसपीयूषनिधि के अनुसार नायिकाभेद की अंतिम सामग्री उत्तमा, मध्यमा, अधमा, तथा दिव्या, अदिव्या और दिव्यादिव्या नायिकाएँ निरूपित होगी।

रसपीयूषनिधि के निर्माण मे सोमनाथ ने संस्कृत एवं हिंदी के विभिन्न काव्य-

[1] सत्रह सौ चौरानवों संवत जेठ सु मास।
कृष्ण पक्ष दसमी भृगौ भयो ग्रंथ परकास॥
—र० पी० नि०, २२।१०२

शास्त्रीय ग्रंथों का आधार ग्रहण किया है। उनका रसप्रकरण प्रमुखतः भानु मिश्र प्रणीत रसतरंगिणी पर आधृत है। कुछ स्थलों में मम्मट और विश्वनाथ की सामग्री भी गृहीत हुई है। अलंकार प्रकरण में शब्दालंकारों के लिये कुलपति के रसरहस्य का आश्रय लिया गया है और अर्थालंकारों के लिये जसवंतसिंह का। नायक-नायिका-भेद प्रकरण में भानु मिश्र की रसमंजरी का आधार लिया गया है और शेष प्रकरणों में अधिकांशतः मम्मट के काव्यप्रकाश का।

सोमनाथ के ग्रंथनिर्माण का उद्देश्य सुकुमारबुद्धि पाठकों के लिये काव्यशास्त्रीय सामग्री प्रस्तुत करना है, जैसा उनके वर्ण्य-विषय-निर्वाचन तथा निरूपण शैली से स्पष्ट है। काव्यशास्त्रीय विषयों का निर्वाचन करते समय इनका प्रमुख उद्देश्य रहा है सरल मार्ग का अवलंबन। यही कारण है कि विषयसामग्री को वे अत्यंत संक्षिप्त और कहीं कहीं अपूर्ण रूप में भी प्रस्तुत करते चले गए हैं। उदाहरणार्थ अपने काव्य-हेतु-प्रसंग में इन्होंने मम्मटसंमत अभ्यास का तो उल्लेख किया है, पर शक्ति और व्युत्पत्ति का नहीं। शब्दशक्ति प्रकरण में आर्थी व्यंजना के दस वैशिष्ट्यों में से इन्होंने केवल चार पर ही प्रकाश डाला है। रस प्रकरण में भरतसूत्र की विभिन्न व्याख्याओं में से केवल अभिनवगुप्त के सिद्धांत की चर्चा की गई है और वह भी अत्यंत संक्षिप्त रूप में। दोष प्रकरण मे इन्होंने मूलतः मम्मट का आधार ग्रहण करते हुए भी उनके अनुसार लगभग ६० दोषों की चर्चा न कर केवल १६ दोषों की चर्चा की है तथा दोष-परिहार-प्रसंग में केवल एक दोष का उल्लेख कर इस प्रसंग का नमूना सा प्रस्तुत कर दिया है। इसी प्रकार गुण प्रकरण में इन्होंने न वामनसंमत गुणों की चर्चा की है और न वर्णादि की प्रतिकूलता के अवसरानुसार औचित्य पर प्रकाश डाला है। मम्मटसंमत तीनों गुणों का स्वरूप भी अत्यंत संक्षिप्त रूप में प्रतिपादित किया गया है।

फिर भी इस ग्रंथ की निजी विशिष्टताएँ हैं। संपूर्ण ग्रंथ का लक्षण भाग अत्यंत सरल भाषा में प्रतिपादित हुआ है। कुछ एक उदाहरण लीजिए :

छप्पयलक्षण—

> ग्यारह तेरह कल प्रथम चारि चरण रचि संत।
> पंद्रह तेरह चरण द्वै छप्पय कह गुणवंत॥

काव्यप्रयोजन—

> कीरति वित्त विनोद अरु अति मंगल को देति।
> करै भलो उपदेस नित वह कवित्त चित चेति॥

लक्षणा—

> मुख्यारथ को छोड़िकै पुनि तिहिं के ढिग और।
> कहै सु अर्थ सु लक्षणा वृत्ति कहत कवि और॥

रतिलक्षण—

इष्ट मिलन की चाह जो रति समुझौ सो मित्त ।
दरसन तें कै श्रवन तें कै सुमिरन तें नित्त ॥

स्वकीया नायिका—

निज पति ही सौं प्रीति अति तन मन बचन बनाय ।
ताहि स्वकीया नाइका कहत सकल कविराय ॥

कर्णकटु दोष—

सुनि कानन करुवो लगै ताहि कर्णकटु जानि ।

वक्रोक्ति अलंकार—

शब्द कछू औरै कहै कढ़ै और ही अर्थ ।
ताही को वक्रोक्ति कहि बरणत सुकवि समर्थ ॥

विभावना प्रथम—

बिना हेतु जहँ कारन सिद्ध । सो विभावना जानि प्रसिद्ध ।

इस ग्रंथ की दूसरी विशिष्टता ध्वनि प्रकरण में (जिसमें रस तथा नायक-नायिका-भेद प्रसंग भी संमिलित हैं) अवेक्षणीय है। प्रस्तुत प्रकरण को सोमनाथ ने छोटे छोटे १२ भागों (तरंगों) में विभक्त कर काव्यशास्त्र के इस दीर्घकाय विषय को हृदयगम कराने का सफल प्रयास किया है।

रसपीयूषनिधि की छठी तरंग छंदःशास्त्र से संबद्ध है। सर्वप्रथम छंदरीति के ज्ञान की महिमा वर्णित है :

छंद रीति समझै नहीं बिन पिंगल के ज्ञान ।
पिंगलमत तातें प्रथम रचियतु सहित सयान ॥

फिर मंगलाचरण के उपरात 'गुरु-लघु-विचार' प्रस्तुत किया गया है। इसके बाद मात्राप्रस्तार, वर्णप्रस्तार, गण-देवता-फल, गणों के मित्र, शत्रु, दास, उदासीन आदि की चर्चा है। फिर दो से लेकर बत्तीस मात्राओं तक के छंदों का निरूपण है। तदुपरात कुंडलिया, अमृतध्वनि और छप्पय नामक मात्रिक छंदों को स्थान मिला है। इसके बाद वर्णिक छंदों का प्रसंग प्रारंभ हो जाता है जिनमें एक से लेकर बत्तीस वर्णों तक के कतिपय छंदों का निरूपण है। अंत में दंडक का लक्षण और उदाहरण प्रस्तुत किया गया है।

सोमनाथ का यह प्रसंग भी अन्य प्रसंगों के समान साधारण कोटि का तथा साधारण मति के छात्रों के हित के लिये लिखा जान पड़ता है।

कवित्व—रीतिकालीन कवियों में सोमनाथ का स्थान अत्यंत महत्वपूर्ण है। कवित्व की दृष्टि से इनको सहज ही मतिराम और देव की परंपरा में रखा

जा सकता है। ध्वनि-रस-वाद की इन्होंने जिस मनोयोग के साथ स्थापना की है, अपने काव्य में भी उसी सहृदयता और लगन के साथ इसका, विशेषतः ध्वनि-समन्वित शृंगार रस का, परिपाक कर दिखाया है। यह सत्य है कि इनकी अनुभूति में यद्यपि देव का सा आवेग नहीं, फिर भी मतिराम की सी स्वच्छता पर्याप्त है। यही कारण है कि सहृदय को इनका प्रत्येक शृंगारिक छंद अपनी ओर बरबस ही खींच लेता है। दूसरी ओर राजप्रशस्ति संबंधी छंद भी इन्होंने लिखे हैं। इनमें एक ओर जहाँ मतिराम का सा विशुद्ध उत्साह है वहाँ दूसरी ओर भूषण की सी भावना की तीव्रता भी स्पष्टतः दृष्टिगत होती है।

कल्पनावैभव भी इनकी रचनाओं में कम नहीं है। इस दृष्टि से इन्हें रीतिकाल के किसी भी कवि के समकक्ष रखा जा सकता है। इनके किसी भी रूप अथवा अनुभावचित्र को उठाकर देख लीजिए, प्रत्येक रेखा स्पष्ट होती हुई दृष्टि मे आएगी—रूपचित्रों में सजीवता लाने के लिये कहीं कहीं रंगों का भी उपयोग करने में इन्होंने संकोच नहीं किया। कहने की आवश्यकता नहीं कि इसके लिये इन्हें साधारणतः देव के समान ही भावात्मक शब्दावली का प्रयोग करना पड़ा है। इसके अतिरिक्त इनकी सफलता का सबसे बड़ा एक रहस्य यह भी है कि अपने समकालीनों के समान अलंकारों का सहारा न लेकर इन्होंने विषयवस्तु की सीधे सादे शब्दो में सहज अभिव्यंजना ही की है। इसीलिये इनकी रचनाओं में चमत्कार का प्राधान्य न होकर अनुभूति की सरल अभिव्यक्ति है—मतिराम की भावाभिव्यक्ति की सी तरलता है। इस प्रकार यह कहना अनुचित नहीं कि ये सामान्य रूप से देव और मतिराम की परंपरा में आते हैं। किंतु फिर भी यह स्वीकार करना पडेगा कि भाषा की संगीतात्मकता की दृष्टि से ये उक्त दोनों कवियों से कुछ हेठे हैं। इनके सवैए तो किसी सीमा तक उनकी कविता के निकट कहे भी जा सकते हैं, पर कवित्तों मे इतनी अनगढता लक्षित होती है कि कतिपय स्थलो पर भाव का सौंदर्य भी नष्ट हो गया है। वैसे कुल मिलाकर इनके काव्य का उत्कर्ष अतर्क्य है। उदाहरणार्थ कुछ छंद देखिए :

(१) रवि भूषन आइ अलीन के संग तें, सासु के पास बिराजि गई।
मुखचंद मऊखनि सों 'ससिनाथ', सबै घर में छबि छाजि गई।
इनकौ पति ऐहै सवार सखी कह्यौ, यों सुनि कै हिय लाजि गई।
सुख पाइकै, नार नवाइ लिया, मुसक्याइ के भौन में भाजि गई॥

(२) उज्जल सरद-चंद-चंद्रिका अनंद दुति,
त्रिबिध समीर की झकोर आनि फहरैं।
मुकता अमिंद मकरंद के से बिंदु चारु,
बदनारबिंद की छबीली छटा छहरैं।

साजि रंग रंगनि के सुंदर सिंगार प्यारी,
गई केलिधाम दूजी जामनी की पहरैं।
पेखि परजंक नंदनंद बिन 'सोमनाथ',
लागी अंग उठनि भुजंग की सी लहरैं॥

(३) हरि तौ मनुहार मनाइ गए जिनपै जियरा रति वारति है।
'ससिनाथ' मनोज की ज्वालनि सौं अब कुंदन सौ तन जारति है।
उठि लोटति सेज पै चंद्रमुखी पछिताइ के पौरि निहारति है।
न कहै मुख तैं दुख अंतर कौ अँसुआनि सौं आँखि पखारति है॥

(४) सोहति कसूँभी सारी सुंदर सुगंध सनी,
जगमगै देह दुति कुंदन कै रंग सी।
सील सुघराई की सी सींव अरविंदमुखी,
नैनन की गति गूढ़ तरल तुरंग सी।
छुटती चहूँघा मनि भूषन मयूष चारु,
'सोमनाथ' लागै बानी उपमा बिरंग सी।
राजै रतिमंदिर अनंग अंगना सी आजु
बाढ़ै अंग अंगनि मैं जोबन तरंग सी॥

(५) प्रबल प्रताप दावानल सो बिराजै वीर,
अरिन के पारे रोरि धमकि निसाने की।
ठट्ट मरहट्टा के निबट्ट दारे बानिनि सौं,
पेस करु लेता है प्रचंड सिलगाने की॥
'सोमनाथ' कहैं सिंह सूरजकुमार जाको,
क्रोध त्रिपुरारि को सौं लाज बर बाने की।
चढ़िकै तुरंग जंग रंग करि सैलनि सौं,
तोरि डारी तीखी तरवार तुरकाने की॥

१०. भिखारीदास

(१) **जीवन**—भिखारीदास जाति के कायस्थ थे और प्रतापगढ (अवध) के पास ट्योंगा नामक ग्राम के निवासी थे। पिता का नाम कृपालदास था। थे संवत् १७६१ से संवत् १८०७ तक प्रतापगढ़ के अधिपति श्री पृथ्वीसिंह के भाई हिंदूपतिसिंह के आश्रय में थे।

(२) **ग्रंथ तथा वर्ण्य विषय**—दास के सात ग्रंथ उपलब्ध हैं—रससारांश, काव्यनिर्णय, शृंगारनिर्णय, छंदोर्णवपिंगल, शब्द-नाम-प्रकाश (शब्दकोश), विष्णु-पुराण भाषा और शतरंजशतिका। इनमें से प्रथम तीन ग्रंथ काव्यशास्त्रीय हैं, चौथा

ग्रंथ छंदःशास्त्र से संबद्ध है—अंतिम तीन ग्रंथों का विषय उनके नाम से ही स्पष्ट है। रससारांश और शृंगारनिर्णय मूलतः रस तथा नायक-नायिका-भेद विषयक ग्रंथ हैं और काव्यनिर्णय विविधांगनिरूपक ग्रंथ है।

भिखारीदास ने 'रससारांश' ग्रंथ की रचना अरवर (प्रतापगढ़) में संवत् १७९१ में की थी :

> **सत्रह सै इक्यानवे नभ शुदि छठि बुधवार।**
> **अरवर देश प्रतापगढ़, भयो ग्रंथ अवतार॥**

ग्रंथनिर्माण का उद्देश्य है जिज्ञासु रसिक जनों को रस का स्थूल परिचय देना :

> **चाहत जानि जु थोर ही, रस कवित्त को वंश।**
> **तिन रसिकन के हेत यह, कीन्हो रस सारांश॥**

ग्रंथकार ने स्वयं इस ग्रंथ का संक्षिप्त संस्करण भी प्रस्तुत किया था। दोनों संस्करणों में प्रधान अंतर यह है कि मूल संस्करण में लक्षण (सिद्धांतनिरूपण) और उदाहरण दोनों हैं, पर संक्षिप्त संस्करण में केवल लक्षण। संक्षिप्त संस्करण का नाम 'तेरिज रससारांश' है। इनमें क्रमशः ५८६ और १५८ पद्य हैं।

रससारांश के प्रथम चार दोहों में मंगलाचरण प्रसंग है। पाँचवें दोहे में ग्रंथ का उक्त उद्देश्य बताया गया है। छठे और सातवें दोहे में रसिक की प्रशंसा और उसकी परिभाषा है। नवें दोहे से वास्तविक ग्रंथ का आरंभ होता है। प्रथम चार दोहों में नव रसों के नाम तथा विभाव, अनुभाव और स्थायी भाव का साधारण सा परिचय है। चौदहवें पद्य से नायक-नायिका-भेद आरंभ हो जाता है जो २८०वें पद्य पर समाप्त होता है। इसके बाद सयोग शृंगार के निरूपण के अंतर्गत नायिका के हावभावादि सात्विक अलंकारों की चर्चा है और फिर स्तंभ, स्वेद आदि सात्विक भावों की। वियोग शृंगार के निरूपण के अनंतर शृंगार रस संबंधी सभी सामग्री की एक लंबी सूची सी प्रस्तुत की गई है जो २२ दोहों में समाप्त हुई है। इस सामग्री-संचयन को आचार्य ने 'शृंगार-नियम-कथन' का नाम दिया है। इस प्रकार शृंगार रस के विस्तृत निरूपण के उपरांत ३० पदों में हास्य आदि शेष आठ रसों की संक्षिप्त सी चर्चा की गई है और अगले ६३ पद्यों में ३३ संचारी भावों के लक्षणोदाहरण प्रस्तुत किए गए हैं। इसके बाद १४ पद्यों में भाव, रसाभास आदि का निरूपण हुआ है और अंत में चार रस वृत्तियाँ और पाँच रसदोषों के निरूपण के उपरांत ग्रंथ की समाप्ति हो जाती है।

दास के अन्य ग्रंथ शृंगारनिर्णय का निर्माण भी उपर्युक्त आश्रयदाता हिंदूपतिसिंह के नाम पर ही किया गया था। ग्रंथ का रचनाकाल संवत् १८०७ है :

श्री हिंदूपति रीझि हित, समुझि ग्रंथ प्राचीन।
दास कियो श्रृंगार को निर्णय सुबो प्रवीन॥
संवत् विक्रम भूप को ठ्ठारह सै सात।
माधव सुदि तेरस गुरौ अरवर थल विख्यात॥

इस ग्रंथ में कुल ३२८ पद्य हैं। पहले पद्य में गणेश, पार्वती और महादेव की वंदना है और दूसरे पद्य में विष्णु का माहात्म्य प्रदर्शित है। अगले दो दोहों में ग्रंथसमर्पण तथा ग्रंथ-निर्माण-काल का उल्लेख है। अगले एक दोहे में (गुरुसदृश) सुकवियों की वंदना की गई है। छठे दोहे से वास्तविक ग्रंथ का आरंभ होता है। छठे और सातवे दोहों में आचार्य ने शृंगारनिर्णय ग्रंथ की विषयसूची सी प्रस्तुत कर प्रकारांतर से रससारांश और शृंगारनिर्णय ग्रंथ के वर्ण्य विषय में विभाजक रेखा सी खीच दी है :

जिहि कहियत श्रृंगार रस ताको जुगुल विभाव।
आलंबन इक दूसरो उद्दीपन कवि राव॥
बरनत नायक नायिका, आलंबन के जाल।
उद्दीपन सखि दूतिका, सुख समयो सुख साज।

स्पष्टतः आचार्य को इस ग्रंथ में रससारांश के समान न रसनिष्पत्ति आदि गंभीर प्रसंगों पर प्रकाश डालना है, न शृंगारेतर अन्य रसों की चर्चा करनी है, न भाव, रसाभास, भावाभास, आदि का उल्लेख करना है और न रसवृत्तियों तथा रसदोषों को स्थान देना है। ग्रंथनिर्माण का उद्देश्य केवल शृंगार रस की ही विस्तृत विषयसामग्री प्रस्तुत करना है।

भिखारीदास की ख्याति का प्रधान कारण इनका 'काव्यनिर्णय' नामक ग्रंथ है। इस ग्रंथ का निर्माण हिंदूपतिसिंह के नाम पर संवत् १८०३ में हुआ। रस-सारांश के समान इस ग्रंथ का भी 'तेरिज' संस्करण दास ने प्रस्तुत किया था। मूल संस्करण में लक्षण और उदाहरण दोनों हैं, पर तेरिज संस्करण में केवल लक्षण हैं।

इस ग्रंथ के मूल संस्करण में २५ उल्लास हैं और कुल १२१० पद्य। पहले उल्लास में मंगलाचरण, आश्रयदाता नृप की स्तुति, ग्रंथ-रचना-काल, अपने से पूर्ववर्ती संस्कृत तथा हिंदी के काव्यशास्त्रियों का नामोल्लेख तथा उनके प्रति आभार-प्रकाशन और काव्यनिर्णय के महत्वप्रदर्शन के उपरांत १०वें पद्य से वास्तविक ग्रंथ का आरंभ होता है। १०वें पद्य से १३वे पद्य तक काव्यप्रयोजन, काव्यकारण और काव्य के विभिन्न अंगों का उल्लेख है। अगले चार पद्यों मे आचार्य ने भाषा पर अपने विचार प्रकट किए हैं और उल्लास के अंतिम अर्थात् १८वें पद्य में काव्यांग ज्ञान का महत्व निर्दिष्ट किया गया है।

दूसरे उल्लास में शब्दशक्ति का निरूपण है। तीसरे उल्लास का नाम 'अलंकारमूल वर्णन' है। 'अलंकारमूल' से दास का तात्पर्य है वे अलंकार जिन-पर अन्य अलंकार आधृत हैं। चौथे उल्लास में रस, भाव आदि का वर्णन है और पाँचवें उल्लास में रसवत् आदि सात अलंकारों का। छठे और सातवें उल्लासों में क्रमशः ध्वनि और गुणीभूत व्यंग्य का निरूपण है। आठवें से इक्कीसवें उल्लास तक अलंकारों का विस्तृत विवेचन है। इसी के अंतर्गत गुण प्रकरण का भी उल्लेख हुआ है। बाईसवें उल्लास का नाम 'तुक वर्णन' है। अंतिम तीन उल्लासों में दोष प्रकरण को स्थान मिला है, और इसके बाद राम नाम का महिमा ग्रान ग्रंथ समाप्ति का सूचक है।

(अ) आधार—काव्यनिर्णय ग्रंथ के निर्माण में दास ने मम्मट, विश्वनाथ, अप्पय्य दीक्षित और जयदेव के ग्रंथों से सहायता ली है और उधर रससारांश तथा शृंगारनिर्णय के निर्माण में भानु मिश्र एवं रुद्र भट्ट के ग्रंथो के अतिरिक्त कुछ स्थलों पर चिंतामणि और केशव के ग्रंथों से भी सहायता ली गई प्रतीत होती है। उदाहरणार्थ हाव, हेला आदि सत्वज अलंकारो (बाह्य चेष्टाओ) को अनुभाव के अंतर्गत स्वीकृत करने का सर्वप्रथम संकेत चिंतामणि ने किया था। दास को भी यही मान्य है। कैशिकी आदि चार रसवृत्तियो के प्रसंग मे वे केशव से प्रभावित जान पड़ते हैं।

इनका नायक-नायिका-भेद प्रकरण मूलतः भानु मिश्र की रसमंजरी पर आधारित है पर इन्होने कुछ अन्य भेदो की भी गणना की है जिनकी सूची इस प्रकार है : (१) लक्षितापरकीया के दो भेद—सुरतिलक्षिता और हेतुलक्षिता। (२) परकीया के तीन भेद—कामवती, अनुरागिनी और प्रेमासक्ता तथा अन्य दो भेद—उद्बुद्धा और उद्बोधिता। उद्बोधिता के तीन भेद—असाध्या, दुःखसाध्या और साध्या। असाध्या के पाँच भेद—गुरुजनभीता, दूतीवर्जिता, धर्मसभीता, अधिकातरा और खलवेष्टिता। (ग) प्रोषितभर्तृका के चार भेद—प्रवत्स्यत्पतिका, प्रोषितपतिका, आगच्छत्पतिका और आगतपतिका। (घ) खंडिता के चार भेद—मानवती, धीरा, अधीरा और धीराधीरा। (ङ) नायिका के पद्मिनी आदि चार कामशास्त्रीय भेद। (च) दूती के कुछ अन्य भेद—स्वयंदूती और बानदूती तथा इसकी नाइन, नटी, सोनारिन, चितेरिन आदि जातियाँ। ये सभी भेदोपभेद तोष, रसलीन, कुमारमणि और देव के ग्रंथो में भी निरूपित हुए हैं। पर यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि इन हिंदी के आचार्यों ने किन किन भेदों के लिये किसी एक अथवा अनेक संस्कृत ग्रंथों से सहायता ली है, अथवा इनमें से कौन किसका ऋणी है। संभावना यही है कि इनमे अधिकतर भेद किसी न किसी रूप में संस्कृत ग्रंथों में उल्लिखित रहे होंगे। उदाहरणार्थ—उद्बुद्धा और उद्बोधिता भेदों तथा

पद्मिनी आदि भेदों का उल्लेख संत अकबर शाह प्रणीत शृंगारमंजरी में उपलब्ध है और आगतपतिका का उल्लेख श्रीधरदास संकलित संस्कृत पद्यकोश सदुक्तिकर्णामृत में उपलब्ध है।

(आ) ग्रंथपरीक्षण—काव्यनिर्णय ग्रंथ का अधिकतर भाग अलंकार प्रकरण को समर्पित हुआ है। इसमें अलंकारो का निरूपण दो बार हुआ है—प्रथम बार 'अलंकार मूल' नाम से चंद्रालोक की शैली में संक्षिप्त रूप से और द्वितीय बार 'अलंकार' नाम से विस्तृत रूप में 'विस्तृत निरूपण' मे इन्होंने ६१ अर्थालंकारों को १२ 'मूल' अलंकारो के आधार पर १२ उल्लासों में वर्गीकृत किया है, पर उनका यह वर्गीकरण पूर्णतः वैज्ञानिक एवं शास्त्रसंमत न होने के कारण सर्वांशतः मान्य नहीं है। उदाहरणार्थ, दास ने उपमावर्ग का आधार उपमान और उपमेय की समुचित विकृति अर्थात् विभिन्नरूपता को माना है :

उपमान और उपमेय को, है विकार समुझो सु चित।

पर यह आधार इस वर्ग मे परिगणित पूर्णोपमा, लुप्तोपमा, अनन्वय, उपमेयोपमा, प्रतीप और मालोपमा अलंकारो पर जितना सुघटित होता है, उतना दृष्टांत, अर्थातरन्यास, विकस्वर, निदर्शन, तुल्ययोगिता और प्रतिवस्तूपमा पर नहीं होता। 'व्यतिरेक वर्ग' मे व्यतिरेक, रूपक और परिणाम तो उपमान उपमेय से संबद्ध हैं, पर इस वर्ग मे उल्लेख अलंकार की गणना खटकती है। इस प्रकार 'अन्योक्ति वर्ग' में आक्षेप और पर्यायोक्ति अलंकारों को, 'सूक्ष्म वर्ग' मे परिकर और परिकरांकुर को, 'यथासंख्या वर्ग' में दीपक को किसी आधार पर संमिलित नहीं किया जा सकता।

दास के काव्यनिर्णय की निजी विशिष्टता यह है कि इसमें कुछ मौलिक उद्भावनाओं को भी प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है, यद्यपि वे पूर्णतः मान्य नहीं हैं। उदाहरणार्थ सर्वप्रथम दास की वर्गीकरणप्रियता उल्लेख्य है। इन्होने वामनसंमत दस गुणो को चार वर्गों मे विभक्त किया है—अक्षरगुण, वाक्यगुण, अर्थगुण और दोषाभाव गुण। नायिका के स्वाधीनपतिका आदि आठ भेदो को दो वर्गों में विभक्त किया है। ये वर्गीकरण दास की मौलिकता के उत्कृष्ट निदर्शन हैं। इनमें से वर्णों का वर्गीकरण तो सर्वांशतः मान्य है और शेष दो आंशिक रूप में मान्य हैं। इन्होंने शृंगार रस के सम तथा मिश्रित, सामान्य तथा संयोग और नायकजन्य शृंगार तथा नायिकाजन्य शृंगार, ये नूतन भेद भी प्रस्तुत किए हैं। सामान्यतः ये सभी मान्य हैं।

दास के विवेचन की एक अन्य उल्लेखनीय विशेषता यह है कि अपने काव्यशास्त्रीय ग्रंथों का निर्माण करते समय इनके संमुख हिंदी भाषा का आदर्श है। उनके काव्यप्रयोजन प्रसंग की रचना हिंदी भाषा को लक्ष्य में रखकर की गई है :

एक लहैं तप पुंजन के फल ज्यों तुलसी अरु सूर गोसाईं ।
एक लहैं बहु संपति केशव भूषन ज्यों बरबीर बड़ाई ॥
एकन्ह को जस ही सो प्रयोजन है रसखानि रहीम की नाईं ।
दास कवित्तन्ह की चरचा बुधिवन्तन को सुख दै सब ठाईं ॥

इनके दोष प्रकरण में भी अधिकतर उदाहरण हिंदी भाषा एवं साहित्य का 'सदोष' रूप प्रस्तुत करते हैं। 'तुक' नामक काव्यांग भी हिंदी कविता की निजी विशिष्टता है। दास हिंदी भाषा के लिये कितने जागरूक हैं, इसका प्रमाण यह है कि इन्होंने सर्वप्रथम ब्रजभाषा के व्यापक स्वरूप की ओर संकेत किया है :

ब्रजभाषा हेतु ब्रजवास ही न अनुमानो ।
ऐसे ऐसे कविन्ह की बानी हू के जानिये ॥

इससे स्पष्ट है कि उन दिनों ब्रजभाषा ब्रजमंडल से बाहर के क्षेत्रों की भी साहित्यिक भाषा बन चुकी थी।

निस्संदेह उक्त सभी निरूपण, विवेचन एवं धारणाएँ तथा मान्यताएँ पाठक के हृदय में आचार्य दास के प्रति श्रद्धा उत्पन्न करती हैं, पर इनके ग्रंथों में उपलब्ध सदोष एवं अपूर्ण प्रसंग तथा कतिपय अमान्य स्थापनाएँ उस श्रद्धा की क्षति भी करती हैं। उदाहरणार्थ, इनके विविधांगनिरूपक ग्रंथ में काव्यलक्षण जैसे महत्वपूर्ण विषय की चर्चा नहीं की गई। शब्दशक्ति प्रकरण में संकेतग्रह, उपादान लक्षणा तथा अभिधामूला शाब्दी व्यंजना के प्रसंग शिथिल हैं। गूढ़ और अगूढ़ व्यंग्यों को भी यथोचित स्थान नहीं मिला। इनके ध्वनि प्रकरण में परंपरा का उल्लंघन है, विषयसामग्री अपूर्ण है तथा कतिपय स्थलों पर भाषाशैथिल्य के कारण शास्त्रीय सिद्धांतों का अपरिपक्व विवेचन भी मिलता है। इस प्रकरण में इन्होंने 'स्वयंलक्षित व्यंग्य' नामक एक नवीन ध्वनिभेद का भी उल्लेख किया है, पर न इसका स्वरूप स्पष्ट हो पाया है और न इसके उपभेदों का। इसी प्रकार गुणीभूतव्यंग्य प्रकरण भी अधिकांशतः अव्यवस्थित है। रस प्रकरण में करुण और करुण विप्रलंभ का अंतर स्पष्ट नहीं हो सका। नायक-नायिका-भेद प्रकरण में रक्षिताओं की स्वकीया वर्ग में गणना तथा इसके 'अनूढा' नामक भेद की स्वीकृति भी विवादास्पद हो सकती है। गुण प्रकरण में इनका 'पुनरुक्ति प्रकाश' नामक गुण भी हमारे विचार में गुणत्व का अधिकारी नहीं है।

इनके अतिरिक्त कतिपय अन्य विवेचन भी शिथिल हैं। काव्यनिर्णय में 'अपरांग' नामक एक उल्लास के अंतर्गत रसवत् आदि सात अलंकारों का स्वतंत्र रूप से निरूपण किया गया है। वस्तुतः अपरांग कोई स्वतंत्र काव्यांग न होकर गुणीभूत व्यंग्य का ही एक भेद है। दास ने गुण नामक काव्यांग का पृथक् निरूपण

न करके उसे अलंकार का ही एक प्रकार मान लिया है, पर गुण जैसे महत्वपूर्ण एवं स्वतंत्र काव्यांग को इस प्रकार गौण बना देना समुचित नहीं है।

इस प्रकार एक ओर मौलिक उद्भावनाओं तथा दूसरी ओर सदोष एवं अपूर्ण प्रसंगो से पूर्ण इनके तीनों ग्रंथ एक विचित्र प्रकार का भाव पाठक के हृदय में अंकित कर देते हैं। इतना सब होते हुए भी विविधागनिरूपक ग्रंथो में केशव की कविप्रिया के बाद दास का काव्यनिर्णय ही ख्यातिलब्ध पाठ्य ग्रंथ रहा है। इसका प्रधान कारण दास की मौलिक उद्भावनाएँ ही हो सकती हैं।

दास का छंदार्णव छंद संबंधी विस्तृत ग्रंथ है। इसमें १५ तरंगें हैं। पहली तरंग में मंगलाचरण के अतिरिक्त छंदशास्त्र संबंधी सामान्य परिचय है। दूसरी तरंग में गुरु-लघु-विचार तथा मात्रिक एवं वर्णिक गणों का निरूपण है। तीसरी और चौथी तरंगो में क्रमशः मात्रिक और वर्णिक प्रस्तारों का विवेचन है। पाँचवीं तरंग में २ से लेकर ३२ मात्राओवाले सम छंद प्रस्तुत किए गए हैं। छठी तरंग मे मात्रिक मुक्तक छंदो का निरूपण है। मुक्तक छंद से दास का तात्पर्य है वे छंद जिनमे एक दो मात्राएँ घट अथवा बढ जायँ। सातवीं तरंग में मात्रिक अर्धसम छंदों को स्थान मिला है। आठवीं तरंग में प्राकृत भाषा में प्रयुक्त छंदो का निरूपण है। नवीं तरंग में मात्रिक दंडक अर्थात् ३२ से अधिक मात्राओवाले छंदो का वर्णन है। दसवीं तरंग में १ से १६ वर्णवाले वर्णिक छंदों का वर्णन है। ग्यारहवीं तरंग में २१ से २६ वर्णवाले वर्णिक छंदो का। इन छंदों को दास ने 'वर्णसवैया' नाम दिया है। बारहवीं तरंग मे संस्कृत के प्रसिद्ध छंदों का निरूपण है, तेरहवीं तरंग मे अर्धसम तथा विषम छंदों तथा चौदहवीं तरंग मे वर्णिक मुक्त छंदों को स्थान मिला है। अंतिम तरंग में वर्णिक दंडको अर्थात् २६ से अधिक वर्णोंवाले छंदों का निरूपण है।

दास का यह ग्रंथ हिंदी के छंदशास्त्रीय ग्रंथों में अपना विशिष्ट महत्व रखता है। इस ग्रंथ से पूर्व हिंदी में छंद संबंधी इतना विशद एवं विस्तृत निरूपण प्रस्तुत नहीं हुआ था। इसके अतिरिक्त दास की वर्गीकरणप्रियता इस ग्रंथ में भी उल्लेखनीय है। उदाहरणार्थ सुगीतिका, रूपमाला, गीता, शुभगीता, लीलावती आदि जिन मात्रिक छंदों का क्रम विशेष गणों पर आधारित है, उन्हें एक अलग अध्याय (छठी तरंग) में रखा गया है। इसी प्रकार प्राकृत तथा संस्कृत के छंदों को अलग अलग तरंगों में स्थान मिला है तथा वर्णिक और मात्रिक दंडकों को अलग अलग तरंगों में। हाँ, एक स्थल पर यह वर्गीकरण पद्धति अवैज्ञानिक भी हो गई है—दोहा, उल्लाला, ध्रुवानंद, घत्ता आदि दो दलोंवाले छंदों, पद्मावती, दुर्मिल, त्रिभंगी, जलहरण, मनहरा आदि चार दलोंवाले छंदो तथा छप्पय, कुंडलिया, अमृतध्वनि, हुल्लास आदि मिश्र वर्ग के छंदों को एक ही तरंग (सातवीं तरंग) में स्थान देना अवश्य खटकता है।

इस प्रकरण में कतिपय नवीनताएँ उपलब्ध होती हैं। वर्णिक छंदों में सवैया के १४ प्रकार इनसे पूर्ववर्ती किसी छंदशास्त्र में उल्लिखित नहीं हैं। पंकावली, हढ़पट, बला, कंद, मोटन आदि कतिपय छंद नवीन से हैं, इनकी चर्चा संस्कृत के प्राचीन छंदग्रंथों में भी नहीं मिलती। संभवतः ऐसे छंदों का मूलाधार तत्कालीन जनगीत हो सकते हैं। इनके अतिरिक्त इन्होंने संस्कृत के कुछ एक अप्रचलित वृत्तों को भी अपने ग्रंथ में स्थान दिया है, जैसे—तिर्ना, धरा, शंखनारी, जोहा, रुक्मवती, वातोर्मी आदि। इन छंदों के लिये दास ने छंदशास्त्र के प्राचीन ग्रंथों का आधार लिया होगा। इधर इस ग्रंथ का उदाहरण भाग भी नितात मनमोहक एवं कवित्वपूर्ण है।

(३) कवित्व—आचार्यकर्म के समान ही कविकर्म की दृष्टि से भी रीतिकाल के अंतर्गत भिखारीदास का अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान है। इनका मुख्य विषय शृंगार ही है, यद्यपि नीति आदि संबंधी फुटकर रचनाएँ भी इनके ग्रंथों में देखने को उपलब्ध हो जाती हैं। काव्यप्रकाश के आधार पर इन्होने रसध्वनि सिद्धात की स्थापना की है। इसी कारण इनके काव्य में एक ओर रस और दूसरी ओर ध्वनि का समुचित निर्वाह दृष्टिगत होता है। सबसे बड़ी विशेषता यह है कि ध्वनि के होने पर भी इनके काव्य में किसी प्रकार की क्लिष्टता नहीं आ पाई जबकि रसपरिपाक होने से सर्वत्र अनुभूति की सफाई स्पष्ट होती जाती है। कल्पनावैभव और अनुभूति की गहराई का धरातल यद्यपि इनके काव्य मे देव का सा नहीं है, किंतु फिर भी इसकी अनुरंजकता मे किसी प्रकार का संदेह नहीं किया जा सकता। इधर कल्पना की ऊँची उड़ान न कर पाने पर भी उनके चित्र अपने आपमें अत्यंत आकर्षक हैं। यही कारण है कि इनकी कविता का कुल प्रभाव मर्मिक होता है।

दास की भाषा व्याकरण और अभिव्यंजना, दोनो दृष्टियों से परिमार्जित है। व्याकरण रूपों की उसमे वह गड़बड़ी न मिलेगी जो देव आदि पूर्ववर्ती कवियों में विद्यमान है—सर्वत्र एकरूपता है। शब्दावली भी उन्होंने साधारणतः संस्कृत से ही ग्रहण की है, पर अभिव्यंजना को स्पष्ट और मार्मिक बनाने के लिये अरबी फारसी के शब्दों का प्रयोग करने मे भी संकोच नहीं किया गया है। कहना न होगा कि शब्दचयन प्रायः ऐसा हुआ है जो सही भाव की अभिव्यक्ति करता है—एक ओर उसमें व्यंग्य प्रधान रहता है और दूसरी ओर भाव को रसकोटि तक पहुँचाता है। ऐसी दशा में यह कहना असंगत प्रतीत नहीं होता कि भाव और भाषा दोनों दृष्टियों से यह व्यक्ति ब्रजभाषा के कवियों में अत्यंत सफल है। नमूने के लिये कुछ छंद देखिए :

(१) कंज के संपुट हैं पै खरे हिय में गड़ि जात ज्यों कुंत की कोर हैं।
मेरु हैं पै हरि हाथ में आवत चक्रवती पै बड़ेई कठोर हैं।

भावती तेरे उरोजनि में गुन 'दास' लख्यौ सब औरई और हैं।
संभु हैं पै उपजावैं मनोज सुवृत्त हैं पै परचित्त के चोर हैं ॥

(२) भावी भूत वर्तमान मानवी न होइ ऐसी,
देवी दानवीन हूँ सो न्यारो एक औरई।
या बिधि की बनिता जो बिधना बनायो चहै,
'दास' तौ समुझिए प्रकासी निज बौरई।
कैसे लिखे चित्र को चितेरो चकि जात लखि,
दिन द्वैक बीते दुति औरै और दौरई।
आज भोर औरई पहर होत औरई है,
दुपहर औरई रजनि होत औरई ॥

(३) बार अँध्यारनि में भटक्यो सु निकार्यौ मैं मीठि सुबुद्धिन सो घिरि।
बूड़त आनन पानिप नीर पटीर की आड़ सों तीर लग्यौ तिरि।
मो मन बावरो यों ही हुत्यों अधरा मधु पान कै मूढ़ छक्यों फिरि।
'दास' भनै अब कैसे कढ़ै निज चाह सों ठोढ़ी की गाढ़ पर्‌यो गिरि।

(४) जेहि मोहिबे काज सिंगार सज्यो तेहि देखत मोह में आइ गई।
न चितौनि चलाइ सकी उनहीं की चितौनि के भाय अघाय गई।
वृषभान लली की दसा यह 'दास' जू देत ठगौरी ठगाय गई।
बरसाने गई दधि बेचन को तहँ आपुहि आपु बिकाय गई ॥

(५) फूलन के सँग फूलिहै रोम परागन के सँग लाज उड़ाइहै।
पल्लव पुंज के संग अली हियरो अनुराग के रंग रँगाइहै।
आयो बसंत न कंत हितू अब बीर बदौंगी जो धीर धराइहै।
साथ तरून के पातन के तरुनीन को कोप निपात है जाइहै ॥

११. जनराज

जनराज साधारणतः अल्पपरिचित कवि ही हैं; उनका केवल एक ग्रंथ उपलब्ध है—कविता-रस-विनोद[१]। ग्रंथ के अंतिम अर्थात् २४वें विनोद के अंत में कवि के स्ववर्णित परिचय से ज्ञात होता है कि इनका वास्तविक नाम डेडराज था, पिता का नाम था दयाराम और पितामह का हीरानंद। ये सिंहलगोत्रीय अग्रवाल वैश्य थे। पूर्वज गठवारे नामक ग्राम के निवासी थे परंतु पिता जयपुर में आ बसे

[१] का० ना० प्र० सभा (याज्ञिक संग्रहालय) से प्राप्य हस्तलिखित ग्रंथ। क्रमसंख्या १७२५, पत्रसंख्या ३०५ अर्थात् ६१० पृष्ठ। लिपिकाल मार्गशीर्ष कृष्णा १२, संवत् १६०६।

थे। इनके गुरु का नाम श्री आचार्य (श्रिय आचारिज) था जिनसे इन्होंने काव्य-शिक्षा भी प्राप्त की थी। इधर अजमेर निवासी कृष्ण कवि ने भी कविकर्म में इनकी सहायता की थी। श्री आचार्य ने इनका नाम डेडराज से जनराज रखा था। तत्कालीन जयपुर नरेश पृथ्वीसिंह ने इस ग्रंथ की रचना पर इन्हें पुरस्कृत किया था। ग्रंथ का रचनाकाल संवत् १८३३ है[1]। इस ग्रंथ में २४ विनोद और २०२५ पद्य हैं। इतने विशाल ग्रंथ मे भी कोई नवीन धारणा नहीं प्रस्तुत की गई। प्रथम चार विनोदो में पिंगलशास्त्र का निरूपण है। पाँचवें विनोद का नाम 'व्यंग-भेद-वर्णन' है। इसमें काव्यस्वरूप, काव्यभेद और शब्दशक्ति के भेदोपभेदों का निरूपण अधिकतर काव्यप्रकाश और साहित्यदर्पण के आधार पर अत्यंत साधारण रूप में प्रस्तुत किया गया है। छठे, सातवें और आठवें विनोदो का नाम क्रमशः उत्तम काव्य, मध्यम काव्य और अधम काव्य वर्णन है। इनमें क्रमशः ध्वनि, गुणीभूत व्यंग्य और अलंकारो के भेदोपभेद वर्णित हैं। ध्वनि और गुणीभूत व्यंग्य के निरूपण का आधार साहित्यदर्पण और काव्यप्रकाश में से कोई भी हो सकता है, अलंकार-निरूपण कुवलयानंद पर आधारित है। नवे विनोद में गुण और दोष प्रकरणों का निरूपण है। इनका आधार भी साहित्यदर्पण है। दसवें विनोद से लेकर बीसवें

[1] अब मैं अपनौ कुल कहौं उपज्यौ तिनमैं आँनि।
अग्गरवाले बैस है सिंगल गोत बखानि॥ २४।२५
गठवारे इक ग्राम के बासी आदि सुजान।
हीरानंद तिनके भए कृपाराम सुषदाँन॥ २४।२६
दयाराम तिनकें सुवन आए जैपुर ग्राम।
तिनकै हौं मतिमंद मो डेडराज मो नाँम॥ २४।२७
गलतौ धाम प्रसिद्ध जग सब तीरथ सिरताज।
गवाक रिषि तिनमैं भए सकल रिषिन के राज॥ २४।२८
प्रगटे तिनकें बंस मैं श्रिय आचारिज नाँम।
तिन मो दिप्या दई इष्ट धर्म के काँम॥ २४।३०
पुनि मोसों कीनी कृपा काव्य हि लगे बखांनि।
तिनके पाइ प्रसाद तै रचन लग्यो कवितान॥ २०।३१
बिनौं भोग के कवित्त मैं केते दिए बनाय।
श्री आचारिज देषिकै रीझि रहे मन लाय॥ २४।३९
तब उन मो सों यों कही भोग कवित्त मै देह।
नाम धर्यौ जनराज तब श्रीमुष तै करि नेह॥ २४।४०
पृथीसिंह तब रीझिकै दीनी कृपा इनाँम।
तब मै नृप कै नग्र मैं बस्यो महा सुखधाम॥ २४।२४
अठारहि से तीतस भये सुभ संवत जेष्ट सुमास बषानौ।
सेत सुपछि तिथ दसमी अरु वार महावर भौम सु जानौ॥ २४।४४

विनोद तक भाव, शृंगार रस, नायक-नायिका-भेद, सखी, दूत, दूती, नायकसखा, नखशिख आदि का सांगोपांग वर्णन है। निरूपण का आधार भानु मिश्र कृत रसमंजरी और रसतरंगिणी के अतिरिक्त पूर्ववर्ती हिंदी रीतिग्रंथ भी हैं। यह प्रकरण वस्तुतः सामग्रीसंचयन की दृष्टि से ही महत्वपूर्ण है। नूतनता और मौलिकता की दृष्टि से नहीं। इक्कीसवें विनोद में शृंगारेतर रसों का सांगोपाग वर्णन है। बाईसवें विनोद में प्रहेलिका और यमक अलंकारो का निरूपण है, तथा तेईसवें विनोद में चित्र अलंकार का। अंतिम विनोद में कवि ने जयपुर नगर, जयपुरनरेश तथा स्ववंश का परिचय प्रस्तुत करने के उपरात ग्रंथ की समाप्ति की है।

(१) **कवित्व**—कवित्व की दृष्टि से भी जनराज का अपना विशेष महत्व है। रीतिकाल के अंतर्गत मतिराम का अनुकरण करनेवाले कवि अत्यंत विरल हैं किंतु जनराज को इनमें अग्रगण्य कहना अनुचित न होगा। इस व्यक्ति ने अपनी कविता में सामान्यतः भावचित्र ही अधिक प्रस्तुत किए हैं, स्थूल चित्र अत्यंत विरल हैं। इसीलिये मतिराम के काव्य की सी मानसिक आनंद की सृष्टि करनेवाली हलकी तरंगें इसके काव्य की अपनी विशेषता है। यद्यपि इस व्यक्ति ने काव्य में रसध्वनि की स्थापना की है, तथापि उसका काव्य रस की दृष्टि से ही अधिक खरा दृष्टिगत होता है, ध्वनि का अभाव तो नहीं है, पर इसका दर्शन अत्यल्प होता है। कल्पना-वैभव और व्युत्पन्नता भी अपेक्षाकृत इसमें कम ही है।

भाषाशैली की दृष्टि से यह व्यक्ति आदर्श नहीं कहा जा सकता। रीतिकाल के परवर्ती कवियो में ब्रजभाषा का अत्यंत निखरा हुआ रूप मिलता है, पर ज्ञात नहीं, यह व्यक्ति किस कारण से पिछड़ा हुआ है। व्याकरण रूपों में ही इसने गड़बड़ी नहीं की है, शब्दों की तोड़मरोड़ भी इतनी है कि भूषण और देव का स्मरण हो आता है। इधर अभिव्यंजना भी अपने आपमें दुर्बल सी प्रतीत होती है। शब्दों का प्रयोग यद्यपि इसने ठीक किया है, तथापि उनमें वह भावात्मकता नहीं जो भावप्रधान काव्य के लिये अपेक्षित होती है। फिर भी, चूँकि इसने अपनी निश्छल अभिव्यक्ति की है, इस कारण अलंकारो की भरमार से इसका काव्य शिथिल नहीं बन गया। अलबत्ता शब्दालंकारों का प्रयोग उसने प्रचुर मात्रा में किया है, जिससे उसकी छंदयोजना में इतना निखार आ गया है कि संगीत और लय की दृष्टि से सहज ही मतिराम की कोटि का स्पर्श कर लेता है। उदाहरण के लिये कुछ छंद देते हैं, देखिए :

(१) कुंजन ते इक द्यौस चली घर आत भली वृषभान दुलारी।
काँटो लग्यो इक पाय मैं आय परी विधिहाल सखीन की लारी॥
आय गए 'जनराज' तहाँ अब काढ़त वे ब्रजचंद बिहारी॥
पीर गई तन भूलि तिया पिय के मिलिबे तै बढ्यो सुख भारी॥

(२) भोर हि प्रात लखे मव नागरि दौरिकै लाल जहे समुहाई ॥
अंग मैं देखि मलखित आन के लोचन कौल गही अरुनाई ॥
ज्यौं मनुहारि करी मनमोहन त्यौं 'जनराज' कछू मुसकाई ॥
जा बिधि केलि रची नँदनंदन ता बिधि केलि करी मनभाई ॥

(३) आवत अथौंन भट्ट नागर उजागर सो,
कुंज तें निकसि कै अमंद छवि छै गयो ।
लटकीली चाल 'जनराज' लै मराल की सी,
नूपुर की झमक रसपुंज बरसै गयो ॥
मंद मुसकाय कै बजाय बैन सैनन मैं,
रूप की तरंग मैं अनेक रंग रै गयो ।
लाज तन तोर कै मरोरि बंक मोहन को,
नैन कोर मोरिकै चुराय चित्त लै गयो ॥

(४) नागरी नवेली अलबेली तू रसाल बाल,
एहो ब्रजरानी आज काहे तै रिसानी है ।
तब तै बिसारे 'जनराज' कुंज भौनन मैं,
तब तैं बिकल कुंज भौन नाँ सुहानी है ॥
सोच मैं सुमित्त मति कल ना परत कहूँ,
कछु ना सुहात उर बिथा सरसानी है ।
यातै रिस छाँड़ि चलि प्रीतम पै बेगि प्यारी,
खोलि उर अंतर की गाँस जे गड़ानी है ।

१२. जगतसिंह

जगतसिंह की दो कृतियाँ उपलब्ध हैं—साहित्यसुधानिधि और चित्रमीमांसा[1]। साहित्यसुधानिधि के अंत में इन्होंने नायक-नायिका-भेद से संबद्ध स्वरचित रसमृगांक ग्रंथ का भी उल्लेख किया है :

[1] का० ना० प्र० सभा (आर्यभाषा पुस्तकालय) में इन दोनों ग्रंथों की हस्तलिखित प्रतियाँ सुरक्षित हैं। साहित्यसुधानिधि की क्रमसंख्या ६५ है और पृ० संख्या ६३–१६२ है। ग्रंथ के अंत में जो सन् और संवत् दिए हुए हैं, वे इसके लिपिकाल के निर्देशक प्रतीत होते हैं, पर इनमें सन् अशुद्ध प्रतीत होते हैं—

समाप्त मिति असाढ़ सुदि ७ सन् १२५७ साल समत १६०७ मुकाम बलिराम पुर बसि। उक्त पुस्तकालय में चित्रमीमांसा की दो प्रतियाँ सुरक्षित हैं, जिनकी क्रमसंख्या २८५ और २८७ है। प्रथम प्रति अत्यंत खंडित अवस्था में है और दूसरी अपूर्ण है। दोनों की पृ० संख्या क्रमशः १६ और ५ है।

नायकादि संचारी सात्विक हाव ।
रसमृगांक तें आनो सब कविराव ॥

चित्रमीमांसा में भी इन्होंने रसमृगांक का उल्लेख किया है । इसके अतिरिक्त साहित्यसुधानिधि में इन्होंने अपने किसी पिंगलग्रंथ की ओर भी संकेत किया है :

दग्धाक्षर दूषन छंद क रीति ।
मेरे छंद ग्रंथ तें मीत ॥

यह आचार्य गोडा नामक ग्राम के निवासी थे, जो सरयू नदी की उत्तर दिशा पर स्थित था :

श्री सरयू के उत्तर गोंडा नाम । त्यहिपुर बसत कबिन गन आठौ जाम ।
तिन मँह येक अल्प कवि अति अतिमंद । जगतसिंह सो बरनत बरवै छंद ॥

ग्रंथ की प्रत्येक तरंग के अंत में कवि ने अपने पिता का नाम महाराजकुमार दिग्विजयसिंह लिखा है, जो विस्येन (?) वंश से संबद्ध थे[1] ।

साहित्यसुधानिधि की रचना संवत् १८६२ में हुई थी :

दग रस वसु ससि संवत अनु गुरवार ।
शुक्ल पंचमी भादौं रच्यो उदार ॥

इस ग्रंथ का प्रमुख आधार चंद्रालोक है, पर लेखक के कथनानुसार कतिपय अन्य प्रख्यात ग्रंथों से भी सहायता ली गई है :

चंद्रालोक आदि है भाषा कीन ।
कहि साहित्य सुधानिधि बरवै बीन ॥
× × ×
भरत भोज अरु मम्मट श्री जैदेव ।
विश्वनाथ गोविंद भट्ट दीक्षित भेव ।
भानुदत्त आदिक मत करि अनुमान ।
दियो प्रकट करि भाषा कवित विधान ॥

इसमें १० तरंगें हैं और ६३६ बरवै छंद :

कहे छ सै छत्तिस पुनि बरवै बीन ।
दस तरंग करि आनो ग्रंथ नवीन ॥

[1] इति श्रीमन्महाराजकुमारविस्येनवंसावतंसदिग्विजैसिंहात्मज जगतसिंहकविकृतौ श्री साहित्यसुधानिधौ काव्यस्वरूप निरूपणो नाम प्रथमस्तरंगः ।

पहली तरंग में काव्यप्रयोजन, काव्यहेतु और काव्यभेद पर मम्मट के आधार पर सामान्य प्रकाश डाला गया है। दूसरी तरंग का नाम शब्द-स्वरूप-निरूपण है, जो पूर्णतः चंद्रालोक का रूपातर मात्र है। उदाहरणार्थ एक प्रसंग लीजिए :

साहित्यसुधानिधि—

> होति विभक्ति आहि सो ग्रंथनि माह।
> सब्द ताहि को आखो पंडित नाह।
> तामैं तीनि भेद कहि सबै प्रमूढ़।
> रूढ़ एक अरु यौगिक यौगिक रूढ़॥

चंद्रालोक—

> विभक्त्युत्पत्तये योग्यः शास्त्रीयः शब्द इष्यते।
> रूढयौगिकतन्मिश्रैः प्रभेदैः स पुनस्त्रिधा॥

चंद्रालोककार ने वृत्ति के तीन प्रकार बताए हैं—गंभीरा, कुटिला और सरला। उनका इनसे अभिप्राय क्रमशः व्यंजना, लक्षणा और अभिधा नामक शब्द-शक्तियों से है। गंभीरा (व्यंजना) के निरूपण के अनंतर इन्होंने गुणीभूतव्यंग्य का भी निरूपण किया है। इधर जगतसिंह ने भी इन्हीं चारों काव्यांगों का निरूपण तीसरी, चौथी और पाँचवीं तरंगों में प्रायः चंद्रालोक के आधार पर प्रस्तुत किया है। तुलनार्थ एक स्थल लीजिए :

साहित्यसुधानिधि—

> वक्त्रसियुक्त प्रथम है दूजो और।
> कहि स्वांकुरित नाम जे कवि सिरमौर॥

चंद्रालोक—

> वक्तृन्यूनं बोधयितुं व्यंग्य वक्तुरभीप्सितम्।
> स्वांकुरितमतद्रूपं स्वयमुल्लसितं गिरः॥

छठी तरंग मे शब्दालंकारों तथा अर्थालंकारों का निरूपण है। यह प्रकरण भी चंद्रालोक तथा कुवलयानंद के आधार पर रचा गया है। इसमें 'संग्रामोद्दाम हुंकरा' नामक एक नूतन अलंकार का भी समावेश हुआ है :

> मल्ल प्रति मल्लत्व कहि जहँ अस होइ।
> संग्रामोद्दाम हुंकृति आखो सोइ॥

यथा—

> भानु प्रभा अस ह्वै है मिटवै भानु।
> गई निसा तब आखो सब मतिमानु।

पर यह उदाहरण उत्प्रेक्षा अलंकार का ही है, जगतसिंह द्वारा प्रस्तुत संग्रामोद्दाम हुंकार का नहीं है। वस्तुतः यह कोई अलंकार न होकर वीर अथवा रौद्र रस का उद्दीपन विभाव ही है।

सातवीं तरंग में माधुर्य, ओज और प्रसाद नामक तीन गुणों का संक्षिप्त स्वरूप प्रस्तुत किया गया है जो मम्मटकृत काव्यप्रकाश पर आधारित है। मम्मट के ही समान इन्होंने वामनसंमत दस गुणों का उक्त तीनों गुणों में समावेश करने का भी संकेत किया है :

तातें तीनि मुख्य है कल्पित और।
याही मैं सब जानो कवि सिरमौर॥

इतना सब होते हुए भी न जाने क्यों जगतसिंह ने अपने इस प्रकरण को भोजकृत कंठाभरण (सरस्वतीकंठाभरण) पर आधृत माना है :

कहि प्रसाद मधुर अनु जानौ ओज।
लिषे सु कंठाभ्रन में श्री नृप भोज॥

यदि 'कंठाभ्रन' से इनका तात्पर्य भोजप्रणीत सरस्वतीकंठाभरण से है, तो उनका यह कथन अशुद्ध है, क्योंकि उसमें २४ गुणों की गणना एवं स्वीकृति की गई है, न कि केवल उक्त तीन गुणों की।

आठवीं तरंग का नाम 'नौ रस निरूपन' है। इस तरंग के प्रारंभ में भावों की संख्या पाँच मानी गई है—स्थायी, संचारी, विभाव, अनुभाव और सात्विक। इसके उपरात नौ स्थायिभावों तथा नौ रसों का साधारण परिचय मात्र प्रस्तुत किया गया है। शृंगार रस के अंतर्गत नायक-नायिका-भेद की चर्चा नहीं की गई।

नवीं तरंग में पांचाली, लाटी, गौडी और वैदर्भी रीतियों का प्रसंग अत्यंत संक्षेप में—केवल ७ पद्यों में—प्रस्तुत किया गया है।

दसवीं तरंग में दोषनिरूपण है। जगतसिंह के शब्दों में दोष का लक्षण है :

सब्द अर्थ सुंदरता जो हरि लेत।
ताहि दोष करि जानौ सुकवि सचेत॥

दोष का यह स्वरूप अशुद्ध न होते हुए भी वस्तुपरक है, भावपरक नहीं है। वस्तुतः दोष का स्वरूप रसापकर्षकत्व पर निर्भर है। उदाहरणार्थ, श्रुतिकटु दोष शब्द-सौंदर्य-विघातक होता हुआ भी रौद्र तथा वीर रस का विघातक नहीं है, पर यही दोष शृंगार, करुण आदि रसों का विघातक है। जगतसिंह का उक्त कथन जयदेव के निम्नलिखित कथन का संक्षिप्त रूपांतर है :

स्यात्चेतो विशता येन सक्षता रमणीयता।
शब्देऽर्थे च कृतोन्मेषं दोषमुद्घोषयन्ति तम्॥

इस प्रकरण में इन्होंने सौ दोषों का निरूपण किया है और इन्हीं के अंतर्गत अन्य दोषों की भी स्वीकृति की है :

ये सत दोष मुख्य हैं इन्हीं के अंतरभूत में और दोष जानियो ।

जगतसिंह का यह प्रकरण अधिकांशतः चंद्रालोक पर आधृत है, दोषों की वही क्रमव्यवस्था है और वही निरूपण शैली। चंद्रालोक मे कतिपय नूतन दोषों का भी निरूपण है जो काव्यप्रकाश, साहित्यदर्पण आदि प्रख्यात ग्रंथों में उपलब्ध नहीं हैं। उनके नाम हैं—शिथिल, अन्यसंगति, विकृत और विरुद्धान्योन्यसंगति। इनमें से विकृत को छोड़कर शेष सभी जगतसिंह के ग्रंथ में वर्णित हैं। विकृत का संबंध संस्कृत व्याकरण के सूत्रों के साथ है, अतः हिंदी के आचार्य जगतसिंह ने संभवतः जान बूझकर इस दोष का उल्लेख नहीं किया। जैसा कह आए हैं, इन दोषो में से शिथिल दोष मम्मट स्वीकृत नहीं है। जयदेव ने इसका उदाहरण तो दिया है, पर इसका लक्षण प्रस्तुत नहीं किया, किंतु इधर जगतसिंह ने न जाने क्यों इसे मम्मट के नाम से उद्धृत कर दिया है :

उठत विलंब करि पद जहँ सिथिलो होइ ।
मबट मतो लिख्यौ इमि कवि कहि सोइ ॥ १०-२१

इस कथन से इन्हें वस्तुतः क्या अभिप्रेत है, यह निश्चयपूर्वक कह सकना कठिन है, क्योंकि एक तो इन्होंने इसका उदाहरण प्रस्तुत नहीं किया, दूसरे यह जयदेवप्रस्तुत उदाहरण पर घटित नहीं होता।

जगतसिंह ने कुछ अन्य दोषो का भी निरूपण किया है जो चंद्रालोक में उपलब्ध नहीं है। इनमें से कतिपय काव्यप्रकाश से लिए गए हैं। अंध, बधिर, नगन (नग्न), प्रयत्यनीक, निरस, विरस, दुसहधान, पात्रदुष्ट, विरथ (व्यर्थ), देशविरोध और न्याय-आगम-विरोध केशव की कविप्रिया और रसिकप्रिया से गृहीत हैं। तुकभंग और विस्मा (वीप्सा) तत्कालीन हिंदी काव्यशास्त्रों में उपलब्ध हैं। वायसपंक्तिमराल, कास्थूलक्तस और अञ्जअक्षो नामक दोष इनके ग्रंथ मे संभवतः प्रथम बार निरूपित हुए हैं। अरबी, फारसी आदि यवन भाषाओं के मिश्रण को इन्होंने 'वायस पाँति मराल' कहा है :

मिलत जामिनि भाषा भाषा मध्य ।
वायस पाँति मरालिक दूषन सध्य ॥

कास्थूलक्तस दोष का लक्षण इस प्रकार है :

प्रथम ओज गुन बरनत पुनि परसाद ।
कास्थूलक्तस दूषन रहि तस बाद ॥

इस दोष का शुद्ध नाम क्या है, यह कहना भी कठिन है। जगतसिंह के शब्दों में अन्नअक्षो (संभवतः अन्वाक्ष) का लक्षण है :

कामहि नैन आपने ससि कहि पीत ।
अन्नअक्ष दूषन सो जानो मीत ॥

जयदेव ने दोषप्रसंग के अंत में दोषांकुशों की भी चर्चा की है, पर जगतसिंह ने इस काव्यतत्व का खंडन प्रस्तुत करते हुए कहा है :

'औ काहू ने दोषाकुस कियो है। दोष कहिकै फिरि दोष मिटाइ डार्यो है। सो अजोग कियो है। जो कहिकै मिटावना हो तो दोष काहे को लिष्यौ। ताते दोषाकुस मिथ्या है। दोष सत्य है। दोष विचारि कवित्त करिए याहि प्राचीन मत जानियो।'

जगतसिंह की यह धारणा काव्यशास्त्रीय दृष्टि से भ्रांत है। किसी भी दोष का काव्यविघातक तत्व उसके रसापकर्ष पर निर्भर है। यही कारण है कि आचार्यों ने दोष को सर्वत्र हेय स्वीकार न करते हुए इसकी अन्य तीन गतियां भी मानी हैं। जयदेव के शब्दो मे :

दोषेगुणत्वं तनुते दोषत्वं वा निरस्यति ।
भवन्तमथवा दोषं नयत्यत्याज्ञतामासौ ॥ च० आ० २।४१

दोष प्रकरण के उपरात प्रस्तुत ग्रंथ की महिमा, स्वप्रणीत अन्य ग्रंथों का नामनिर्देश तथा इस ग्रंथ के निर्माण-काल-निर्देश आदि के साथ इस ग्रंथ की समाप्ति हो जाती है।

समग्र रूप में यह ग्रंथ साधारण कोटि का है। इसकी केवल एक ही विशेषता है कि जसवंतसिंह प्रणीत भाषाभूषण आदि ग्रंथों के समान इसमे चंद्रालोक के आधार पर प्रमुखतः अलंकारनिरूपण ही न करके अन्य काव्यागों का भी विवेचन किया गया है। दोष प्रकरण में कुछ एक नवीनताओं का उल्लेख हम यथास्थान कर आए हैं, पर वे या तो सामान्य कोटि की हैं या भ्रमपूर्ण।

(१) कवित्व—कवित्व के स्तर की दृष्टि से जगतसिंह का स्थान अपेक्षाकृत हीन है। आचार्यकर्म में संक्षिप्तता की ओर प्रवृत्ति रखने के कारण उन्होंने कवित्त और सवैया जैसे छंदों की रचना नहीं की जहाँ कवित्वप्रदर्शन के लिये कवि को पर्याप्त अवसर मिल जाता है। यों तो छोटे छंदो मे भी कवि अपनी प्रतिभा का प्रदर्शन कर सकता है और बरवै छंद तो इनसे पूर्व तुलसी और रहीम जैसे कवियों का कंठहार भी रहा है, पर जगतसिंह इस छंद का ब्रजभाषा में सही प्रयोग करने पर भी अपनी उक्तियों में सौंदर्यसृष्टि इसलिये नहीं कर पाए कि संस्कृत कवियों की अधिकांश उक्तियों का इन्हें अनुवाद करना पड़ा। संख्या की दृष्टि से भी ये छंद

लक्षणपरक छंदों से कहीं कम हैं इनमें भी किसी एक विषय को नहीं उठाया गया—कहीं नीतिपरक वाक्य हैं तो दूसरे स्थान पर अन्य विषयों से संबंध रखनेवाली उक्तियाँ। ध्वनि को उत्तम काव्य स्वीकार करने पर भी तत्संबंधी कतिपय छंदों को छोड़ किसी में भी व्यंग्य परिलक्षित नहीं होता। वैसे, इतना अवश्य है कि इनकी भाषा व्याकरण और छंद के सर्वथा अनुकूल चलती है। उदाहरण के लिये इनके कुछ बरवै देते हैं :

(१) सासु एक सो आँधरि पिय परदेस।
बिन कपाट घर लागत रैनि अँदेस॥

(२) नीच भवनता लक्ष्मी उचितै जानु।
अजआ होहि न देखौ कहि मति मानु॥

(३) राम देखि रावन रन भो आनंद।
दाहिन भुजा फरक्कत मुख दुति चंद॥

(४) ते पुरुष थोरे जे हरि रस लीन।
ते बहु निरत रहैं जे रति मतिहीन॥

११. रसिक गोविंद

रसिक गोविंद हिंदी के उन अभागे कवियों में से हैं जिन्होंने अपने कृतित्व द्वारा रीतिकालीन साहित्य को कवित्व और आचार्यत्व दोनों की दृष्टि से समृद्ध तो किया पर कालांतर में जिनके ग्रंथ लुप्तप्राय हो गए—सम्यक् प्रकाश में न आ सके। यही कारण है कि आज इनके जीवनवृत्त के संबंध में पर्याप्त सामग्री उपलब्ध नहीं है। केवल इतना ही ज्ञात होता है कि ये जयपुर के मूल निवासी थे और निंबार्क संप्रदाय के महात्मा हरिव्यास की गद्दी की शिष्यपरंपरा में थे। इनके पिता का नाम शालिग्राम, मा का गुमानी, चाचा का मोतीराम और बडे भाई का बालमुकुंद था। ये नटाणी जाति के थे। शुक्ल जी ने इनका रचनाकाल सं० १८५० से १८९० तक माना है। अब तक इनके ये ९ ग्रंथ विद्वानों के देखने में आए हैं[१] :

१—रामायणसूचनिका (रचनाकाल सं० १८५८), २—रसिक गोविंद आनंदघन (रचनाकाल सं० १८५८), ३—लछिमनचंद्रिका (रचनाकाल सं० १८८६), ४—अष्टदेशभाषा, ५—पिंगल, ६—समयप्रबंध, ७—कलियुगरासो, ८—रसिक गोविंद (रचनाकाल १८९०) और ९—युगलरसमाधुरी।

१ रसिक गोविंद का जीवनवृत्त और ग्रंथ संबंधी यह विवरण 'हिंदी साहित्य का इतिहास' (आ० शुक्ल) के आधार पर दिया जा रहा है।

इनमें रामायणसूचनिका केवल ३३ दोहों तक सीमित है और इसमें रामायण की कथा का वर्णन है। अष्टदेशभाषा में ब्रज, खड़ी बोली, पंजाबी, पूरबी आदि आठ बोलियों में जहाँ राधाकृष्ण की लीला कही गई है, वहाँ समयप्रबंध के ८५ पद्यों में उनकी ऋतुचर्या और कलियुगरासो के १६ कवित्तों में कलिकाल की बुराइयों का वर्णन है। युगलरसमाधुरी के अंतर्गत रोला छंद में राधा-कृष्ण-विहार और वृंदावन का सरस वर्णन किया गया है। शेष ग्रंथों में से रसिक गोविंद आनंद-घन के अंतर्गत काव्य के दशांग का विस्तृत वर्णन और विवेचन प्रस्तुत किया गया है जबकि लछिमनचंद्रिका में इसके लक्षणों का चयन मात्र किया गया है। रसिक गोविद में चंद्रालोक अथवा भाषाभूषण की शैली के आधार पर अलंकार के लक्षण उदाहरण प्रस्तुत किए गए हैं। इस प्रकार संक्षेप में कहा जा सकता है कि सभी ग्रंथो की तुलना में रसिक गोविंद का रसिक गोविंद आनंदघन ही ऐसा ग्रंथ है जो आचार्यत्व और कवित्व की दृष्टि से उनके महत्व की स्थापना के लिये पर्याप्त है। इस ग्रंथ की एक प्रति अब से कुछ पहले नागरीप्रचारिणी सभा, काशी के आर्यभाषा पुस्तकालय में विद्यमान थी, पर अब उसका क्या हुआ, कुछ ज्ञात नहीं। वैसे, ऐसा सुना जाता है कि जयपुर के पुस्तकालय में इसकी एक और प्रति अब भी है, पर हमारे देखने में नहीं आई। ऐसी दशा में आचार्य शुक्ल[1] और डा० भगीरथ मिश्र[2] ने अपने ग्रंथों के अंतर्गत इसके संबंध में जो विवरण दिया है, उसी पर संतोष करना पडेगा। इन विद्वानों के अनुसार इस ग्रंथ के अंतर्गत अलंकार, गुण, दोष, रस तथा नायक नायिकाओं का अत्यंत मनोयोगपूर्वक वर्णन किया गया है। इसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि रचयिता ने यथास्थान संस्कृत के प्रसिद्ध आचार्यों—भरत, अभिनवगुप्त, मम्मट, विश्वनाथ आदि—के मतों का उल्लेख करते हुए अपना मत व्यक्त किया है। अतः कहा जा सकता है कि यह व्यक्ति आलोचक की प्रतिभा ही नहीं रखता था, प्रत्युत इसमें संस्कृत के काव्यशास्त्र-कारों के समक्ष अपना निर्णय देने का साहस भी था। दूसरे, इस ग्रंथ में सभी उदाहरण रचयिता के अपने नहीं है। जहाँ अपने छंद नहीं बन पडे वहाँ उसने अपने पूर्ववर्ती कवियों की सरस रचनाओं को प्रस्तुत कर दिया है—कहीं कहीं संस्कृत के श्लोकों का भी अनुवाद दे दिया है। अतएव कह सकते हैं कि रसिक गोविंद का यह ग्रंथ मूलतः आचार्यत्व को दृष्टि में रखकर ही लिखा गया है और इसलिये इसका इस युग के साहित्य में विशेष महत्व है। नमूने के लिये यहाँ इनका निरूपण-परक गद्य तथा कतिपय सरस छंद प्रस्तुत है[3] :

[1] हिंदी साहित्य का इतिहास (आठवाँ संस्करण), पृष्ठ ३२०

[2] हिंदी काव्यशास्त्र का इतिहास (प्रथमावृत्ति), पृ० १७२

[3] हिंदी साहित्य का इतिहास, पृ० ३१६–३२१

"अन्य ज्ञान रहित जो आनंद सो रस। प्रश्न—अन्य ज्ञान रहित आनंद तो निद्राहू है। उत्तर—निद्रा जड़ है, यह चेतन। भरत आचार्य सूत्रकर्ता को मत—विभाव, अनुभाव, संचारी भाव के जोग में रस की सिद्धि। अथ काव्यप्रकाश को मत—कारण कारज सहायक है जो लोक में इनहीं को नाट्य में, काव्य में, विभाव संज्ञा है। अथ टीकाकर्ता को मत तथा साहित्यदर्पण को मत—सत्व, विशुद्ध, अखंड, स्वप्रकाश, आनंद, चित् अन्य ज्ञान नहिं संग, ब्रह्मास्वाद सहोदर रस।

(१) आलस सों मंद मंद धरा पै धरति पाय
भीतर तें बाहिर न आवै चित चाय के।
रोकति दृगनि छिन छिन प्रति लाज साज
बहुत हँसी की दीनी बानि बिसराय के॥
बोलति बचन मृदु मधुर बनाय उर
अंतर के भाव की गँभीरता जताय कै।
बात सखी सुंदर गोविंद की कहात तिन्हैं
सुंदरि बिलोकै बंक भृकुटी नचाय कै।

(२) मुकलित पल्लव फूल सुगंध परागहि फगरत।
गुग मुख निरखि विपिन जनु राई लोन उतारत॥
फूल फलन के भार डार झुकि यों छबि छाजै।
मनु पसारि दइ भुजा देन फल पथिकन काजै॥
मधु मकरंद पराग लुब्ध अलि मुदित मंत मन।
बिरद पढ़ै ऋतुराज नृपन के मनु बंदीजन॥

१४. प्रतापसाहि

(१) जीवनवृत्त—प्रतापसाहि बुंदेलखंड निवासी रतनेस बंदीजन के पुत्र थे। इनके आश्रयदाता चरखारी (बुंदेलखंड) के महाराज विक्रमसाहि थे। शिवसिंह सरोज के अनुसार ये कवि महाराज छत्रसाल परनापुरंदर के यहाँ भी रहे। इनका रचनाकाल सं० १८८० से १६०० तक माना जाता है।

(२) रचनाएँ—इनके द्वारा रचित ये ग्रंथ कहे जाते हैं—जयसिंहप्रकाश, शृंगारमंजरी, व्यंग्यार्थकौमुदी, शृंगारशिरोमणि, अलंकारचिंतामणि, काव्यविनोद और जुगलनखशिख। अपने काव्यविलास ग्रंथ में इन्होंने रसचंद्रिका ग्रंथ का भी उल्लेख किया है। इनमें से जयसिंहप्रकाश को छोड़कर शेष सभी काव्यशास्त्रीय ग्रंथ प्रतीत होते हैं। परंतु उपलब्ध केवल दो ही ग्रंथ हैं—काव्यविलास और व्यंग्यार्थ-कौमुदी। इनके अतिरिक्त इन्होंने भाषाभूषण (जसवंतसिंहकृत), रसराज (मति-

रामकृत), नखशिख (बलभद्रकृत) और सतसई (संभवतः बिहारीकृत), इन ग्रंथों की टीकाएँ भी लिखी थीं।

व्यंग्यार्थकौमुदी की रचना संवत् १८८२ में हुई[1]। इस ग्रंथ के दो भाग हैं— मूल भाग और वृत्ति भाग। मूल भाग में १३० पद्य हैं। पहले १४ पद्यों में गणेश-वंदना के उपरांत शक्ति, अभिधा, लक्षणा, व्यंजना और अलंकार के स्वरूप का संक्षिप्त निर्देश है और व्यंग्यार्थ का महत्व बताया गया है। अंतिम पाँच पद्यों में ग्रंथनिर्माण के प्रयोजन तथा काल का उल्लेख है। वास्तविक ग्रंथ का आरंभ १५वें पद्य से होता है।

शेष १११ पद्यों में इन्होंने अधिकतर भानु मिश्र के नायक-नायिका-भेदों को लक्ष्य में रखकर उन्हीं के क्रमानुसार उदाहरण प्रस्तुत किए हैं। वृत्ति भाग में प्रत्येक उदाहरण से संबद्ध नायकभेद अथवा नायिकाभेद, शब्दशक्ति और अलंकार के भेदो का गद्य मे निर्देश कर इनके सामान्य परिचयात्मक पद्यबद्ध लक्षण भी प्रस्तुत कर दिए हैं। इस प्रकार वृत्ति भाग से समन्वित यह एक लक्षणग्रंथ है और इसके बिना मूलतः लक्ष्यग्रंथ। निस्संदेह यह अपने प्रकार का विचित्र प्रयोग है। संभव है, ऐसे ग्रंथ उस युग में और भी लिखे गए हों। लगभग इसी आदर्श पर लिखित राव गुलाबसिंह प्रणीत 'बृहद्व्यंग्यार्थ कौमुदी' नामक एक प्रकाशित ग्रंथ और देखने में आया है। दोनो में अंतर यह है कि प्रतापसाहि ने टीका भाग में गद्य और पद्य दोनों का आश्रय लिया है और राव गुलाबसिंह ने केवल पद्य का। प्रतापसाहि का अपने ढंग का यह निराला ग्रंथ एक साथ तीन उद्देश्यों की पूर्ति करता है—इसका संबंध एक साथ नायक-नायिका-भेद, अलंकार और ध्वनि तीनों से है। फिर भी मूलतः इसका प्रतिपाद्य नायक-नायिका-भेद ही है, न कि ध्वनि तथा व्यंग्यार्थ, जैसा कि हिंदी साहित्य के लगभग सभी इतिहासकारो ने लिखा है।

इस ग्रंथ में भानु मिश्र संमत नायिकाभेदो के अतिरिक्त कतिपय अन्य भेद भी वर्णित हैं : (क) अवस्था के अनुसार नायिका के दो भेद—प्रवसत्पतिका तथा आगतपतिका। (ख) गणिका के तीन उपभेद—स्वतंत्रा, जनन्याधीना और नियमिता। (ग) वासकसज्जा के दो उपभेद—ऋतुकालस्नानोपरांत वासकसज्जा तथा प्रवासी पति की प्रतीक्षा में वासकसज्जा। इन भेदों में से प्रवसत्पतिका का उल्लेख रसमंजरी की 'सुरभि' टीका में उपलब्ध है। अतः प्रतापसाहि ने यह भेद संभवतः किसी टीका से लिया होगा। आगतपतिका का सर्वप्रथम उल्लेख हिंदी आचार्य रसलीन ने अपने ग्रंथ रसप्रबोध में किया है। संभवतः प्रताप-

[1] संवत ससि वसु वसु रु द्वै गनि असाढ को मास।
किय व्यंग्यारथकौमुदी सुकवि प्रताप प्रकास॥ —व्यं० कौ०, १२५।

साहि इस भेद के लिये साक्षात् अथवा परंपरा संबंध से इनके ऋणी हैं। गणिका के उक्त तीनों भेद हिंदी आचार्य कुमारमणि ने अपने ग्रंथ रसिकरसाल में प्रस्तुत किए हैं। उधर ये भेद संत अकबर शाह की शृंगारमंजरी में भी निर्दिष्ट हैं। प्रतापसाहि ने किसका आधार ग्रहण किया है, यह निश्चयपूर्वक कहना कठिन है। वासकसज्जा का प्रथम भेद संभवतः हिंदी आचार्यों का अपना है। दूसरे भेद को प्रतापसाहि ने आगतपतिका नाम भी दिया है। इस भेद का उल्लेख श्रीधरदास संकलित सदुक्तिकर्णामृत नामक संस्कृत ग्रंथ में उपलब्ध है।

प्रतापसाहि का दूसरा उपलब्ध काव्यशास्त्रीय ग्रंथ काव्यविलास है। इसकी रचना संवत् १८८६ में हुई थी[1]। यह विविध काव्यागनिरूपक ग्रंथ है। इसमें छः प्रकाश हैं और ४११ पद्य। विषय के स्पष्टीकरण के लिये तिलक (वृत्ति) रूप में गद्य का भी प्रयोग किया गया है। ग्रंथ के पहले प्रकाश का आरंभ गणेशवदना से होता है। इसके उपरात काव्यलक्षण, काव्यप्रयोजन, काव्यकारण और काव्यभेदों पर संक्षिप्त प्रकाश डाला गया है। दूसरे प्रकाश में शब्दशक्ति का निरूपण है और तीसरे चौथे प्रकाशो में क्रमशः ध्वनि और गुणीभूतव्यंग्य का। रसादि का निरूपण ध्वनि के ही एक भेद के रूप में ध्वनिप्रकरण में किया गया है। अंतिम दो प्रकाशो में क्रमशः गुण और दोष का निरूपण है। इस ग्रंथ में न तो नायक-नायिका-भेद को स्थान मिला है और न अलंकारों को।

शास्त्रीय दृष्टि से यह ग्रंथ सामान्य कोटि का है। आरंभ में ही काव्यलक्षण प्रसंग के अंतर्गत भीषण भ्रातियो को देखकर ग्रंथकार के प्रति अश्रद्धा उत्पन्न हो जाती है। उदाहरणार्थ :

अथ साहित्यदर्पणमत काव्यलक्षण—

> रसयुत व्यंग्य प्रधान जहू, शब्द अर्थ शुचि होइ।
> उक्ति युक्ति भूषण सहित काव्य कहावै सोइ॥

अथ रसगंगाधर मत काव्यलक्षण—

> अलंकार अरु गुण सहित दोषरहित पुनि तुल्य।
> उक्ति रीति गुद के सहित रस युत वचन प्रतुल्य॥

संस्कृत काव्यशास्त्र का एक साधारण पाठक भी जानता है कि विश्वनाथ और जगन्नाथ द्वारा प्रस्तुत काव्यलक्षण ये नहीं हैं जिनका रूपांतर प्रतापसाहि ने उक्त रूप में उपस्थित किया है। वस्तुतः इन दोनों काव्यलक्षणों में मम्मटोत्तरवर्ती वाग्भट

[1] संवत शशि वसु वसु बहुरि ऊपर षट पहिचानि।
साबन मास त्रयोदशी सोमवार उर आनि॥

आदि आचार्यों के काव्यलक्षण की छाया है, जिन्होंने शब्द, अर्थ, गुण, अलंकार, रीति और रस नामक काव्यांगों को काव्यलक्षण में स्थान देकर समन्वयवाद की शरण ली है।

काव्यविलास के आगामी प्रकरणों में भी कतिपय स्थल चिंत्य हैं, पर वे इतने भ्रामक नहीं हैं। उदाहरणार्थ, शब्दशक्ति प्रकरण में संकेतग्रह प्रसंग भ्रमपूर्ण है। लक्षणामूला व्यंजना के भेद अशास्त्रीय हैं। लक्षणा के भेदोपभेदों की गणना शिथिल है। दोषप्रकरण में च्युतसंस्कृति, संदिग्ध, विरुद्धमतिकृत, अपुष्ट आदि दोषों के लक्षण अथवा उदाहरण अशुद्ध हैं। इसी प्रकार इनका गुण प्रकरण भी नितात शिथिल एवं अव्यवस्थित है। इसके अतिरिक्त इस ग्रंथ में मौलिकता नाम मात्र के लिये भी नहीं है। यों तो इस ग्रंथ के अधिकतर निरूपण शास्त्रसंमत ही हैं, पर पद्य एवं गद्य भाषा की असमर्थता विषय के स्पष्टीकरण में नितात बाधक सिद्ध हुई है। ग्रंथ के अधिकांश भाग में किसी संस्कृत के आचार्य का आधार न ग्रहण कर कुलपति का आधार ले लेना लेखक में आत्मविश्वास के अभाव का सूचक है। पर इतना अवश्य कहा जा सकता है कि काव्यशास्त्रीय विषय से ये अवगत थे, क्योंकि इनके अधिकाश उदाहरण शास्त्रसंमत एवं विशुद्ध हैं।

(३) कवित्व—रीतिकालीन कवियों में प्रतापसाहि का अपना विशिष्ट स्थान है। इसका मुख्य कारण यह है कि इन्होंने जिस व्यंग्य को काव्य का जीव कहा है उसे अत्यंत ईमानदारी के साथ अपनी कविता में निरूपित भी कर दिखाया है। यों तो इस युग में अनेक आचार्यों ने व्यंग्य को काव्य का जीव माना है, पर इनके समान वे इसको व्यावहारिक नहीं बना पाए। इन्होंने इसे व्यंग्य की दृष्टि से ही उत्कृष्ट नहीं बनाया, रसपरिपाक भी इसमें इतनी स्वच्छता से हुआ है कि रस की दृष्टि से भी इसके उत्कर्ष को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। इसमें संदेह नहीं कि व्यंजना की क्लिष्टता के कारण रसास्वाद में व्याघात उत्पन्न होता है, पर एक बार व्यंग्यार्थ स्पष्ट हो जाने पर वह द्विगुणित हो जाता है, यह निश्चित है। इधर अनुभूति की तीव्रता भी यद्यपि इनके काव्य में नहीं, तथापि इसमें कल्पना का उत्कृष्ट रूप और अभिव्यंजना की निश्छलता किसी भी प्रकार छिपी नहीं रहती। भाषा भी व्याकरण, भावसामग्री तथा व्यंग्यार्थ के अनुरूप ही चलती है, उसमें किसी भी प्रकार की शिथिलता दृष्टिगत नहीं होती। कुल मिलाकर इनके काव्य की विशेषताओं के आधार पर यदि यह कहा जाय कि रीतिकालीन काव्य का चरमोत्कर्ष इनके बाद समाप्त हो जाता है तो असंगत न होगा। उदाहरण के लिये चार छंद देते हैं, देखिए :

(१) सीख सिखाई न मानति है बर ही बस संग सखीन के आवै।
खेलत खेल नए जल मैं बिन काम वृथा कत जाम बितावै।
छोड़ के साथ सहेलिन को रहिकै कहि कौन सवादहि पावै।
कौन परी यह बानि अरी नित नीर भरी गगरी ढरकावै॥

(२) ननद जिठानी अनखानी रहैं आठौ जाम,
बरबस बातन बनाय आय भरतीं ।
रचि रचि बचन अलीक बहु आँखिन के,
करि करि अनख पिया के कान भरतीं ।
कहैं 'परताप' कैसे बसिए निकसिए क्यों,
मौन गहि रहिए तऊ न नेक टरतीं ।
निज निज मंदिर में साँझ ते सवेरे दीप,
मेरे केलिमंदिर में दीपकौ न धरतीं ।

(३) अंग अंग भूषन बिभूषन बिरचि,
जोति जोबन जवाहिर की जाहिर जगाई तैं ।
चहचहे चोवा चारु चंदन अरगजा औ,
अंगराग हेत कल केसर मँगाई तैं ।
कहै 'परताप' दुति देह की दुरंग होत,
सुरँग कुसुंभी ऐसी चूनरि रँगाई तैं ।
रीझिवारी एरी सुनि सुंदरि सुजान बारी,
आज क्यों न बेंदी मृगमद की लगाई तैं ॥

(४) आई रितु पावस 'प्रताप' घनघोर भारी,
सघन हरी री बन मंडन बढ़ाए री ।
कोकिल कपोत सुक चातक चकोर मोर,
ठौर ठौर कुंजन में पंछी सब छाए री ।
जमुना के कूल औ कदंबन की डारन पै,
चारों ओर घोर सोर मोरन मचाए री ।
एरी मेरी बीर ! अब कैसे कै मैं धरौं धीर,
आए घन स्याम, घनस्याम नहिं आए री ।

१५. ग्वाल

(१) जीवनवृत्त—रीतिकाल के अंतिम चरण के कवियों में ग्वाल का अपना विशेष स्थान है । परंतु इस युग के अन्य कवियों के समान ही इनके जीवन-वृत्त के संबंध में भी प्रामाणिक और प्रचुर सामग्री उपलब्ध नहीं है । श्री प्रभुदयाल मीतल ने ग्वाल के समकालीन कवि श्री नवनीत चतुर्वेदी और रामपुर दरबार के अमीर अहमद मीनाई की पुस्तक 'इंतखाबे यादगार' के साक्ष्य पर 'ब्रजभारती' (वर्ष ६, संख्या ४) में इनके जीवनवृत्त पर जो तथ्य प्रस्तुत किए हैं, उन्हीं पर

संतोष करना पड़ता है।[1] श्री मीतल जी का कथन है कि हिंदी में ग्वाल नामधारी दो कवि हुए हैं—एक विक्रम की १८वीं शताब्दी में, जिनके छंद कालिदास के हजारा में देखने को मिलते हैं और दूसरे विक्रम की १९वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में, जो प्रसिद्ध और हमारे आलोच्य हैं। मीतल जी इनका जन्मसंवत् १८४८ मानते हैं। उनके अनुसार ये जाति के ब्रह्मभट्ट (बंदीजन) थे तथा इनका आरंभिक जीवन वृंदावन में और बाद का मथुरा में व्यतीत हुआ। इनके पिता का नाम सेवाराम माना जाता है, यद्यपि रसिकानंद में मुरलीधर राव भी देखने को मिलता है। इनके संबंध में यह प्रसिद्ध है कि गुरु ने रुष्ट होकर इन्हें पाठशाला से निकाल दिया था, पर बाद में किसी तपस्वी के आशीर्वाद से ये काशी आदि स्थानों में विद्याध्ययन करके अच्छे कवि बने। इनका अधिकाश जीवन राजाश्रयों मे व्यतीत हुआ। महाराज नाभा और महाराज रणजीतसिंह के ये विशेष रूप से कृपापात्र रहे। रामपुर दरबार से भी इनका अच्छा संबंध रहा और यहीं पर संवत् १९२५ के आसपास इनका स्वर्गवास हुआ।

(२) **ग्रंथपरिचय**—अपने जीवनकाल में इन्होंने कितने ग्रंथ लिखे, यह कहना कठिन है, पर विद्वान् अब तक इन ९ ग्रंथों का इनके साथ संबंध जोड़ते रहे हैं[2]—रसिकानंद (अलंकारग्रंथ), रसरंग (रचनाकाल सं० १९०४), कृष्ण जू को नखशिख (रचनाकाल सं० १८८४), दूषणदर्पण (रचनाकाल सं० १८९१), हम्मीरहठ (रचनाकाल १८८१), गोपीपच्चीसी, राधा-माधव-मिलन, राधाअष्टक और अलंकार-भ्रम-भंजन। दुर्भाग्य से आज इनमे से कोई भी ग्रंथ उपलब्ध नहीं है। अलंकार-भ्रम-भंजन का प्रकाशन सेठ कन्हैयालाल पोद्दार ने 'व्रजभारती' में कराना आरंभ किया था, पर केवल ७१ छंद ही छप सके। रसरंग पर श्री मीतल जी का केवल एक परिचयात्मक लेख ही उपलब्ध है। ऐसी दशा में इतनी सामग्री और कतिपय प्रकीर्ण छंदों के आधार पर ही इनका मूल्यांकन किया जा सकता है।

अस्तु, आचार्यत्व की दृष्टि से रसरंग और अलंकार-भ्रम-भंजन का ही विशेष महत्व है। इनमें रसरंग[3] रसविवेचन संबंधी विशालकाय ग्रंथ है। इसमें आठ अध्याय हैं जिन्हें 'उमंग' कहा गया है। प्रथम उमंग में स्थायी भावों,

[1] ग्वाल के जीवनवृत्त की समस्त सामग्री मीतल जी के उक्त लेख के आधार पर ही दी गई है।

[2] इन ग्रंथों में अलंकार-भ्रम-भंजन को छोड़कर सबका उल्लेख आचार्य शुक्ल के इतिहास के आधार पर किया गया है।

[3] रसरंग संबंधी यह विवरण 'व्रजभारती' में प्रकाशित श्री प्रभुदयाल मीतल के लेख के आधार पर दिया गया है।

अनुभावों, सात्विक भावों और संचारी भावों का विस्तृत विवेचन है। द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ अध्यायों में नायिकाभेद तथा पंचम में सखी और दूती का वर्णन है। षष्ठ में शृंगार से इतर रसों का संक्षिप्त वर्णन है। कहना न होगा कि मौलिक उद्भावना की दृष्टि से यह ग्रंथ अपने आपमें नगण्य ही है—अपने पूर्ववर्ती रीति-विवेचकों के समान इनका आधार भी मूलतः भानुदत्त की रसमंजरी और रसतरंगिणी ही कही जा सकती हैं। इस ग्रंथ की विशेषता केवल यह है कि रचयिता ने विषय को स्वच्छता के साथ प्रस्तुत किया है—प्रत्येक संदेहास्पद स्थल को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। उदाहरण के लिये, किसी भाव विशेष को कैसे जाना जाय कि यह स्थायी है अथवा संचारी, इसे स्पष्ट करते हुए वे अत्यंत विश्वास के साथ कहते हैं :

जिहिं रस कौ जो थिति कह्यौ तिहिं रस मैं थिति जान।
वही भाव पर रस विषै संचारी पहिचान॥

जहाँ तक अलंकार-भ्रम-भंजन का प्रश्न है, इसके नाम से ही स्पष्ट है कि यह अलंकारविवेचन संबंधी ग्रंथ है। इसका कलेवर कितना है तथा इसके अंतर्गत किन किन अलंकारों का निरूपण है, यह ठीक ठीक नहीं कहा जा सकता, कारण, इसके प्रकाशित अंश में केवल चार शब्दालंकारों—अनुप्रास, यमक, चित्र और पुनरुक्तवदाभास तथा पाँच अर्थालंकारों—उपमा, प्रतीप, रूपक, परिणाम और उल्लेख का वर्णन ही देखने को मिलता है। किंतु फिर भी यह जिस उठान से आरंभ किया गया है उसके आधार पर सहज ही कहा जा सकता है कि यह रसरंग के समान ही पूर्णकाय रहा होगा। इसके अंतर्गत ग्वाल ने सबसे पहले भगवान् कृष्ण की वंदना के व्याज से अलंकार की वंदना की है। इसके पश्चात् वे अलंकार की महिमा का बखान करते हैं जो किसी संस्कृत के आचार्य से गृहीत तो नहीं कही जा सकती, पर है अत्यंत प्रसिद्ध ही, देखिए :

कविता भूषन कहत है अलंकार बहु जान।
अलम् भाषियत पूर्न को पूरि रह्यौ अधरान॥ २॥
हेमादिक भूषनन को प्रहन उतारन होत।
ये भूषन तन मन दिपत होत न जुदौ उदोत॥ ३॥

अलंकार की महिमा के अनंतर उन्होंने अलंकार का लक्षण दिया है। यह अप्पय्य दीक्षित के कुवलयानंद की वैद्यनाथ सूरि कृत 'अलंकारचंद्रिका' नामक टीका से प्रभावित तो कही जा सकती है, किंतु पूर्णतः उद्धृत नहीं; कारण, वैद्यनाथ जहाँ अलंकार को रस से रहित (भिन्न), व्यंग्य से पृथक् मानते हैं, वहाँ ग्वाल ने इसे व्यंग्य से भिन्न कहा है। देखिए :

रस आदिक तें व्यंग्य तें होय भिन्नता जाहि ।
सब्दारथ तें भिन्न है सब्दारथ के माहिं ॥ ४ ॥
होइ विषय संबंध करि चमत्कार को कर्म ।
ताही सों सब कहत हैं अलंकार इम मर्म ॥ ५ ॥

—अलंकार-भ्रम-भंजन

'अलंकारत्वं च रसादिभिन्नव्यंग्यभिन्नत्वे सति शब्दार्थान्तरनिष्ठाया विषयिता-संबंधावच्छिन्ना चमत्कृतिजनकतावच्छेदकता तदवच्छेदकत्वम्' ।

—वैद्यनाथसूरिकृत अलंकारचंद्रिका

ग्वाल के लक्षण में इस पार्थक्य का कारण मौलिकता दर्शाने का उनका प्रयत्न कहा जा सकता है। इसके साथ यह भी संभव है कि वे वैद्यनाथ सूरि की उक्त व्याख्या को ही न समझ पाए हों।

जो हो, अलंकार का लक्षण देने के पश्चात् ग्वाल ने सर्वप्रथम उपमान, उपमेय आदि उन सभी शब्दों को समझाया है जिनका अलंकारशास्त्र में प्रयोग होता है और फिर अलंकारों का निरूपण किया है। शब्दालंकारों को उन्होंने पहले उठाया है। इनमें उन्होंने वक्रोक्ति को तो ग्रहण ही नहीं किया और अनुप्रास के केवल तीन भेद—छेक, वृत्ति और लाट—ही दिए हैं। संभवतः यह संकेत उन्होंने मम्मट के 'काव्यप्रकाश' से ग्रहण किया है, क्योंकि वहाँ मोटे रूप से यही तीन भेद कहे गए हैं, यद्यपि उपभेदों को मिलाकर यह पाँच प्रकार का बताया गया है। वक्रोक्ति का वर्णन चंद्रालोककार ने अर्थालंकारों में किया है। हो सकता है, इन्होंने भी इसका वर्णन इसी वर्ग के अंतर्गत किया हो। अर्थालंकारों में उपमा के जिन भेदों का वर्णन उन्होंने किया है वे काव्यप्रकाश, साहित्यदर्पण, चंद्रालोक और कुवलयानंद के आधार पर ही हैं। रूपक के भेदोपभेद उन्होंने कुवलयानंद से ग्रहण किए हैं, पर संक्षिप्त रूप से ही। परिणाम अलंकार का लक्षण देने के पूर्व उन्होंने चंद्रालोक के तत्संबंधी लक्षण का खंडन किया है और फिर कुवलयानंद के लक्षण का अनुवाद स्थापना सहित प्रस्तुत किया है।

इस प्रकार ग्वाल के अलंकारविवेचन के संबंध में यह कहना असंगत नहीं कि यह अपने आपमें रीतिकाल के अधिकांश कवियों के समान संस्कृताचार्यों का अंधानुकरण न होकर विषय का सही निरूपण है। उनकी विवेचनशैली की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि यथास्थान संस्कृताचार्यों का मत देकर उसे तर्क की कसौटी पर कसते हैं और अपने मत की स्थापना करते हैं। दूसरे शब्दों में, यह कहा जा सकता है कि उनमें संस्कृत के आचार्यों की आलोचना करने का साहस और प्रतिभा दोनों थी। इनकी विवेचनशैली की दूसरी विशेषता यह है कि इन्होंने लक्षण और उदाहरण यद्यपि कुवलयानंद और चंद्रालोक की शैली पर ही दिए हैं, तथापि यदि

विषय इन्हें स्पष्ट होता हुआ दिखाई नहीं दिया तो ब्रजभाषा गद्य में उसकी व्याख्या भी कर दी है। यह इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि इस व्यक्ति ने आचार्यकर्म को अत्यंत मनोयोग के साथ ग्रहण किया है। इसी कारण यह कहने में संकोच नहीं होता कि आचार्यत्वनिरूपण की दृष्टि से ये चिंतामणि, कुलपति आदि की परंपरा के कवि हैं, यद्यपि इन्होंने न तो उनके समान काव्य के दशांग का निरूपण ही किया है और न उनकी सी शैली को ग्रहण किया है। यहाँ उनकी अलंकार-निरूपण-शैली को स्पष्ट करने के लिये अलंकार-भ्रम-भंजन का एक अंश देते हैं, देखिए :

अथ परिनाम, चंद्रालोके

द्वै को करै अभेद जहँ सो परिनाम कहीय।
पिय रहस्य पूछ्यौ सुतिय मीनहिं उत्तर दीय ॥ ६५ ॥
रूपक में अति व्यापती या लच्छन की बात।
कह्यौ कुवलयानंद में कहौं सु सों विख्यात ॥ ६६ ॥

कुवलयानंदे

परिनाम सुहित क्रिया के बिसयी बिसय सुहोय।
नैन सरोज प्रसन्न ते लखत तिया त जोय ॥ ६७ ॥

वार्ता

बिसयी को अर्थ आरोप्यमान अर्थात् उपमान—

तर्क

तौ लच्छन ते लच्छ यह निरुध रह्यौ सिरमौर।
उपमेय सु उपमान ह्वै क्रिया करी इहि ठौर ॥ ६८ ॥
उपमेय सु उपमान ह्वै क्रिया करै इमि चाँहि।
कमल तिया के नैन ह्वै तकत प्रसन्न दिखाँहि ॥ ६९ ॥
लिख्यौ उहाँ सु प्रगाँज सो समाज यस धार।
हारद ह्याँ कमलाच्छ हैं लच्छन के अनुसार ॥ ७० ॥

वार्ता

कुवलयानंद की टीका अलंकारचंद्रिका में समासाख्य लिखौ है।

(३) कवित्व—जहाँ तक कवित्व का प्रश्न है, ग्वाल का महत्व अपेक्षाकृत कम है। यह सत्य है कि इनकी भाषा में ओज और चमत्कार है—संस्कृत, अरबी, फारसी, पंजाबी आदि की शब्दावली का प्रयोग करने में इन्होंने तनिक भी संकोच नहीं किया, किंतु फिर भी कल्पनावैभव और चित्रयोजना का वैसा उत्कृष्ट रूप इनकी रचनाओं में उपलब्ध नहीं होता जैसा देव, पद्माकर आदि रससिद्ध कवियों के ग्रंथों में

मिलता है। परवर्ती होने के नाते इनके काव्य में इन कवियों की अपेक्षा उत्कर्ष होना चाहिए था। परंतु इसका अर्थ यह नहीं कि इनका समस्त काव्य हीन कोटि का है। रस का परिपाक इनमें सम्यक् रूप से हुआ है, इनकी अभिव्यंजना भी कम प्रभावशाली नहीं। षट्ऋतु वर्णन तो इन्होंने इतने मनोयोग के साथ किया है कि उस सीमा तक सेनापति के सिवाय व्रजभाषा साहित्य का कोई भी कवि नहीं पहुँच सका। संक्षेप में, यद्यपि ग्वाल का काव्य भाव और अभिव्यक्ति की दृष्टि से उपादेय है, तथापि रीतिकाल के पूर्ववर्ती उत्कृष्ट कवियों का सा प्रतिभाजन्य वैशिष्ट्य कम और एक प्रकार का सस्तापन होने के कारण इनको प्रथम श्रेणी के कवियों में स्थान नहीं दिया जा सकता। उदाहरण के लिये इनके कतिपय सरस छंद उद्धृत करते हैं, देखिए :

(१) ग्रीषम की गजब धुकी है धूप धाम धाम,
गरमी झुकी है जाम जाम अति तापनी ।
भीजें खस बीजन झूलैं हूँ न सुखात स्वेद,
गात न सुहात बात दावा सी डरापिनी ॥
'ग्वाल' कवि कहैं कोरे कुंभन तें कूपन तें,
लै लै जलधार बार बार मुख थापनी ।
जब पियो तब पियो अब पियो फेर अब,
पीवत हू पीवत बुझै न प्यास पापनी ॥

(२) झूम झूम चलत चहूँधा घन घूम घूम,
लूम लूम झवै झवै भूम धाम से दिखात हैं ।
तूल के से पहल पहल पर उठे आवैं,
महल महल पर सहल सुहात हैं ॥
'ग्वाल' कवि भनत परम तम सम केत,
छम छम छम डारे बूँदें दिन रात हैं ।
गरज गए हैं एक गरजन लागे देखो,
गरजत आवैं एक गरजत जात हैं ॥

(३) व्याकुल वियोगिन बितावै दुरे बासरन,
बिरह बली की आति दुखिया करी भई ।
ऐसे मैं अली ने कहे बचन नवीने भीने,
लागि चली सीने स्याम आवन घरी भई ॥
'ग्वाल' कवि त्यों ही उठि अंक-लगी प्रीतम के,
बदन मयंक जोति जाहिर खरी भई ।
मानो जरी जेठ की झलाकन तें बेलि झेलि,
बरसा बिना ही बरसा हरी भई ॥

(४) सरकि सरकि प्रेम पारी परजंक पर,
धरकि धरकि हिय हौल सो भभरि जात।
ढरकि ढरकि दृग अंचल छुटन देह,
तरकि तरकि बंद कंचुकी के करि जात॥
'ग्वाल' कवि अरकि अरकि पिय वामैं सक,
थरकि थरकि अंग पारे लौं बिथरि जात।
सरकि सरकि आय सेज पै सरोजमैनी
फरकि फरकि केलिफंद ते उछरि जात॥

चतुर्थ अध्याय

रसनिरूपक आचार्य

(१) उपक्रम

मध्यकाल के रीति या शृंगारयुगीन साहित्य के अंतर्गत रस और नायिकाभेद से संबंधित विषयों पर ग्रंथो की रचना प्रचुर मात्रा में हुई। रसों का निरूपण करनेवाले ग्रंथों में प्रधान वर्णन रसराज शृंगार का किया गया और शृंगारवर्णन करनेवाले ग्रंथों का भी मुख्य विषय रहा नायक-नायिका-भेद-वर्णन। इस प्रकार समस्त रसों अथवा शृंगार रस का अकेले वर्णन करनेवाले ग्रंथो में भी अधिकतर नायिकाभेद का प्रसंग समाविष्ट हो जाता था। परंतु, इनके अतिरिक्त, नायिकाभेद का निरूपण करनेवाले स्वतंत्र ग्रंथ भी लिखे गए। रस संबंधी ग्रंथों मे भी अधिक बल शृंगार और नायिका-भेद-निरूपण पर ही दिया गया। रस का काव्यसिद्धात के रूप मे विवेचन बहुत ही अल्पांश में प्राप्त होता है। शृंगार और नायिका-भेद-वर्णन की परंपरा का ग्रहण सीधे संस्कृत साहित्य से किया गया। प्राकृत और अपभ्रंश साहित्य इस दिशा मे अधिक प्रेरक नहीं रहा। परंतु, एक बात ध्यान देने की यह है कि जहाँ संस्कृत के अधिकाश ग्रंथो में विषयविवेचन प्रमुख है, वहाँ हिंदी के इन ग्रंथों में लक्षणों के अनुरूप उदाहरण-काव्य-रचना की भावना प्रधान है।

रस और नायिकाभेद के प्रसंग में संस्कृत ग्रंथो का आधार लेकर ही रचना की गई। इस दिशा में प्रमुखतया जिन ग्रंथों का आधार ग्रहण किया गया है वे ये हैं : भरतमुनि का नाट्यशास्त्र, वात्स्यायन का कामसूत्र, रुद्रभट्ट का शृंगारतिलक, भोज के सरस्वतीकंठाभरण और शृंगारप्रकाश, धनंजय का दशरूपक, मम्मट का काव्यप्रकाश, भानुदत्त की रसतरंगिणी और रसमंजरी, विश्वनाथ का साहित्यदर्पण आदि। अधिकाशतया इनमें से एक या अनेक ग्रंथों के आधार पर लक्षण देकर स्वरचित व्रजभाषा में उदाहरण लिखने की विशेषता से ये ग्रंथ संपन्न हैं। रस के विवेचन में तो कोई विशेष मौलिकता या नवीनता नहीं दिखलाई पड़ती, परंतु नायिकाभेद के भीतर भेदप्रभेदों में अनेक लेखकों ने नए नाम रखने का प्रयत्न किया है जो भेदों का अधिक सूक्ष्म निरूपण कहा जा सकता है।

रसों के अंतर्गत अधिकाशतः शृंगार का विस्तार से और अन्य रसों का संक्षेप में वर्णन किया गया है। शृंगार में संयोग और वियोग दोनों ही पक्षों का वर्णन मिलता है। संयोग में विभाव, अनुभाव, संचारी भावों के साथ हावों का भी

वर्णन किया गया है और वियोग या विप्रलंभ के प्रसंग में मान और विरह की दस दशाओं का वर्णन प्रधान है। नायिकाभेद का वर्णन विविध आधारों पर कवियों ने किया है और अधिकांशतया भानुदत्त की रसमंजरी की परिपाटी ही उन्होंने अपनाई है। यह कहा जा सकता है कि इन रस और नायिकाभेद संबंधी ग्रंथों से विषय के शास्त्रीय विवेचन का विकास तो नहीं हुआ, परंतु, इसमें कोई संदेह नहीं कि इसी बहाने शुद्ध काव्यपद्धति पर सुंदर, ललित और मनमोहक तथा स्मरणीय कविता की पंक्तियों का प्रणयन हुआ और ब्रजभाषा का कलात्मक सौंदर्य पूर्णतया निखर आया।

जैसा ऊपर कहा जा चुका है, रस के भीतर शृंगार और उसके भीतर नायिका-भेद का वर्णन इन ग्रंथों में आ ही जाता है, अतः इन ग्रंथों के एक दूसरे से नितांत भिन्न वर्ग स्थापित नहीं किए जा सकते। परंतु अध्ययन की सुविधा और एक दृष्टि में देख लेने के उद्देश्य से इन ग्रंथों के तीन वर्ग किए जा सकते हैं :

(क) प्रथम वर्ग—समस्त रसों का निरूपण करनेवाले ग्रंथ,

(ख) द्वितीय वर्ग—केवल शृंगार रस का निरूपण करनेवाले ग्रंथ और

(ग) तृतीय वर्ग—केवल नायिकाभेद पर लिखे गए ग्रंथ।

इनमें से प्रत्येक वर्ग की सूची यहाँ दी जाती है :

(क) सर्व-रस-निरूपक ग्रंथ

लेखक	ग्रंथ	रचनाकाल
१–बलभद्र मिश्र	रसविलास	सं० १६४० वि० के लगभग
२–केशवदास	रसिकप्रिया	,, १६४८ ,,
३–ब्रजपति भट्ट	रंगभावमाधुरी	,, १६८० ,,
४–तोष	सुधानिधि	,, १६६१ ,,
५–तुलसीदास	रसकल्लोल	,, १७११ ,,
६–गोपालराम	रससागर	,, १७२६ ,,
७–सुखदेव मिश्र	रसरत्नाकर व रसार्णव	,, १७३० ,, के लगभग
८–देव	भावविलास	,, १७४६ ,,
९–श्रीनिवास	रससागर	,, १७५० ,,
१०–लोकनाथ चौबे	रसतरंग	,, १७६० ,,
११–बेनीप्रसाद	रस-शृंगार-समुद्र	,, १७६५ ,,
१२–श्रीपति	रससागर	,, १७७० ,,
१३–याकूब खाँ	रसभूषण	,, १७७५ ,,
१४–भिखारीदास	रससाराश	,, १७९१ ,,
१५–रसलीन	रसप्रबोध	,, १७९८ ,,

१६–गुरुदत्तसिंह (भूपति)	रसरत्नाकर, रसदीप	सं० १८वीं शती का अंत
१७–रघुनाथ	काव्यकलाधर	„ १८०२ वि०
१८–उदयनाथ कवींद्र	रसचंद्रोदय	„ १८०४ „
१९–शंभुनाथ	रसकल्लोल, रसतरंगिणी	„ १८०६ „
२०–समनेस	रसिकविलास	„ १८२७ „
२१–शिवनाथ	रसवृष्टि	„ १८२८ „
२२–दौलतराम उजियारे	रसचंद्रिका, जुगलप्रकाश	„ १८३७ „
२३–रामसिंह	रसनिवास	„ १८३९ „
२४–सेवादास	रसदर्पण	„ १८४० „
२५–बेनी बंदीजन	रसविलास	„ १८४९ „
२६–पद्माकर	जगतविनोद	„ १८६७ „
२७–बेनी प्रवीन	नवरसतरंग	„ १८७४ „
२८–करन कवि	रसकल्लोल	„ १८९० „
२९–नवीन	रंगतरंग	„ १८९९ „
३०–चंद्रशेखर	रसिकविनोद	„ १९०३ „
३१–ग्वाल कवि	रसरंग	„ १९०४ „

(ख) शृंगारनिरूपक ग्रंथ

१–मोहनलाल	शृंगारसागर	सं० १६१६ वि०
२–सुंदर कवि	सुंदरशृंगार	„ १६८८ „
३–मतिराम	रसराज	„ १७२० „ के लगभग
४–मंडन	रसरत्नावली	„ १७२० „
५–सुखदेव मिश्र	शृंगारलता	„ १७३३ „
६–देव	भवानीविलास	„ १७५० „
७–कृष्णभट्ट देवऋषि	शृंगार-रस-माधुरी	„ १७६९ „
८–आजम	शृंगार-रस-दर्पण	„ १७८६ „
९–सोमनाथ	शृंगारविलास	„ १७९५ „
१०–उदयनाथ	रसचंद्रोदय	„ १८०४ „
११–भिखारीदास	शृंगारनिर्णय	„ १८०७ „
१२–चंददास	शृंगारसागर	„ १८११ „
१३–शोभा कवि	नवल-रस-चंद्रोदय	„ १८१८ „
१४–देवकीनंदन	शृंगारचरित	„ १८४१ „
१५–लाल कवि	विष्णुविलास	„ १८५० „
१६–भोगीलाल दुबे	बखतविलास	„ १८५६ „

१७–यशवंतसिंह	शृंगारशिरोमणि	सं० १८५६ वि०
१८–वंशमणि	रसचंद्रिका	„ अज्ञात
१९–कृष्ण कवि	गोविंदविलास	„ १८६३ वि०

(ग) नायिकाभेद ग्रंथ

१–कृपाराम	हिततरंगिणी	सं० १४९८ वि०
२–सूरदास	साहित्यलहरी	„ १६०७ „
३–रहीम	बरवै नायिकाभेद	„ १६५० „
४–नंददास	रसमंजरी	„ १६५० „
५–शंभुनाथ सोलंकी	नायिकाभेद	„ १७०७ „
६–चिंतामणि	शृंगारमंजरी	„ १७१० „ के लगभग
७–देव	जातिविलास, रसविलास	„ १७६० „ „
८–कालिदास	बधूविनोद	„ १७४९ „
९–कुंदन	नायिकाभेद	„ १७९२ „
१०–केशवराम	नायिकाभेद	„ १७५४ „
११–बलवीर	दंपतिविलास	„ १७५६ „
१२–खल्लूराम	नायिकाभेद	„ १७६५ „
१३–रंग खाँ	नायिकाभेद	„ १८४० „
१४–यशोदानंदन	बरवै नायिकाभेद	„ १८७२ „
१५–जगदीशलाल	ब्रजविनोद नायिकाभेद	१९वीं शती का अंत
१६–गिरिधरदास	रसरत्नाकर	सं० „
१७–अज्ञात	नायिकाभेद	अज्ञात

(२) विषयप्रवेश

रस और नायिकाभेद पर ग्रंथ लिखने की परंपरा प्रमुखतया रीतियुग में विकसित हुई। इस युग (सं० १७०० से १९०० वि० तक) में इन विषयों को लेकर हिंदी में बहुसंख्यक ग्रंथ लिखे गए। इन सब ग्रंथो का विवरण आज भी हमें पूर्णतया प्राप्त नहीं हो पाया है। फिर भी अनुमान इस बात का होता है कि भक्ति, वीर और शृंगार इन तीनों रसों पर लिखनेवाले अधिकांशतया इस युग के कवियों ने रस और नायिकाभेद पर कुछ न कुछ अवश्य लिखा। कुछ फुटकल ग्रंथ रीतियुग के पूर्व भी लिखे गए जिन्हें हम प्रायः इस नवीन परंपरा का प्रारंभिक रूप कह सकते हैं। कृपाराम कृत हिततरंगिणी का नाम इस प्रसंग में सबसे प्रथम आता है। इसकी रचना सं० १५९८ में हुई और इसका विषय था नायिकाभेद। वल्लभ संप्रदायी कृष्णभक्त और अष्टछाप के दो प्रसिद्ध कवियों—सूरदास और नंददास—ने

भी नायिकाभेद पर थोड़ा बहुत लिखा ही। सूर की साहित्यलहरी में अप्रत्यक्ष रूप से तथा नंददास की रसमंजरी में प्रत्यक्ष रूप से नायिकाभेद का वर्णन हुआ है। रहीम ने अपने बरवै नायिकाभेद में बरवै छंदों में नायिका का वर्णन किया है।

रस और नायिकाभेद पर ही नहीं, वरन् काव्यशास्त्र और रीतिपरंपरा पर दृढ़ता से पदन्यास करनेवाले दो परिवार हैं। प्रथम आचार्य केशवदास का और द्वितीय आचार्य चिंतामणि त्रिपाठी का। आचार्य केशवदास ने स्वयं तो कविप्रिया समस्त काव्यांगों पर और रसिकप्रिया रस और नायिकाभेद को लेकर लिखी है, परंतु इसके साथ ही साथ केशवदास के बड़े भाई बलभद्र मिश्र ने इस रीतिपरंपरा से संबंधित दो ग्रंथ लिखे—एक शिखनख और द्वितीय रसविलास। रसविलास में रसों का वर्णन अपनी विशेषता लिए हुए है। रसविलास को बलभद्र ने महाकाव्य कहा है। इसमें वर्णन संचारी, ललित और स्थायी भावों का ही हुआ है। रस का स्वतंत्र वर्णन नहीं है, परंतु इन वर्णनो के अनेक उदाहरण रसपूर्ण हैं। इनकी रचना में शब्दो पर विलक्षण अधिकार तथा पांडित्य दिखलाई पड़ता है। अपने ग्रंथ के संबंध में इन्होंने लिखा है :

> पूषन भूषन दिवस को, निसि भूषन ससि जानि।
> भूषन रसिक सभानि को, रसविलास कवि मानि ॥ ६ ॥

इस ग्रंथ में आठ सात्विक भाव, बत्तीस संचारी भाव और बीस ललित भावों का वर्णन हुआ है। इन ललित भावों में कुछ तो हाव हैं और कुछ अनुभाव। विभाव का वर्णन भी इसमें अपने निजी ढंग पर है। इसके भीतर प्रतिभाव, सुभाव, काकु, व्यंग्य, अन्योक्ति, संभाव, विभाव, कलहांतरित, जुगुति, अभाव, सुषसंचित आदि का वर्णन है। वर्णन की यह परंपरा आगे गृहीत नहीं हुई। यही बात केशवदास की कविप्रिया और रसिकप्रिया के लिये भी कुछ अंशो तक कही जा सकती है। दूसरे परिवार में चिंतामणि, भूषण और मतिराम आते हैं जो त्रिपाठीबंधु के नाम से प्रसिद्ध हैं। काव्यांगों का सबसे पुष्ट विवेचन चिंतामणि का है। भूषण ने केवल अलंकारो का रीतिबद्ध वर्णन किया है और मतिराम ने अलंकार और शृंगार तथा नायिकाभेद का। चिंतामणि ने नायिकाभेद पर अलग शृंगारमंजरी लिखी। अन्य ग्रंथ काव्यप्रकाश, साहित्यदर्पण, चंद्रालोक आदि की पद्धति पर हैं और यही पद्धति आगे के रीतिकवियों द्वारा ग्रहण की गई।

रीतियुग का प्रारंभ चिंतामणि से ही माना जाता है। केशवदास का समय भक्तियुग में है। इन दोनों के बीच शाहजहाँ के दरबारी 'महाकवि' उपाधिभूषित सुंदर कवि का सुंदरशृंगार सं० १६८८ वि० में लिखा गया, जो यो तो इस युग के पूर्व पड़ जाता है, पर प्रवृत्ति की दृष्टि से है वह रीतियुग की ही एक कड़ी। इसमें शृंगार, नायिकाभेद और नखशिख तीनों का ही वर्णन हुआ है। नायिकाभेद

भानुदत्तकृत रसमंजरी के आधार पर है। लक्षण इसमें दोहा या दोहरा छंद में तथा उदाहरण कवित्त और सवैयों में दिए गए हैं। इसके लक्षण स्पष्ट हैं तथा उदाहरण सरस एवं कवि की रसिकता के परिचायक हैं।

सुंदरशृंगार के बाद रस और नायिकाभेद पर कोई महत्वपूर्ण ग्रंथ चिंतामणि के पहले नहीं प्राप्त होता। चिंतामणि के साथ ही रीतियुग की रस-नायिका-भेद ग्रंथों की परंपरा प्रारंभ होती है। इन ग्रंथो का प्रेरणास्रोत प्रधानतया केशवदासकृत रसिकप्रिया ग्रंथ है परंतु उसका आधार पूर्णतया ग्रहण नहीं किया गया। संस्कृत साहित्य के इस रस और नायिकाभेद पर लिखे गए ग्रंथ ही इन ग्रंथो के आधार थे, जैसा पहले कहा जा चुका है।

आगे के पृष्ठों में हम (क) सर्व-रस-निरूपक ग्रंथ, (ख) शृंगार-रस-ग्रंथ तथा (ग) नायिकाभेद ग्रंथ—इस क्रम से इस युग के रस एवं नायिकाभेद साहित्य का परिचय दे रहे हैं।

(१) सर्व-रस-निरूपक आचार्य और उनके ग्रंथ

१. केशवदासकृत रसिकप्रिया

केशवदास का जीवनवृत्त और उनकी रसिकप्रिया का विवेचन, सर्वांगनिरूपक प्रसंग में यथास्थान दिया गया है।

२. तोष का सुधानिधि

केशवदास के बाद समस्त रसों का वर्णन करनेवाला तोष का सुधानिधि ग्रंथ है। यह ग्रंथ सं० १६६१ वि० की रचना है। ५६० छंदों में यह ग्रंथ पूर्ण हुआ है। तोष कवि सिंगरौर के रहनेवाले चतुर्भुज शुक्ल के पुत्र थे इसमें रसवर्णन के बहाने राधाकृष्ण की विलासलीलाओं का वर्णन है। अतः यह स्पष्ट ही है कि इसमें प्रयत्न काव्यात्मक है, शास्त्रीय विवेचन का नहीं। इसमें नवरसों, भावों के वर्णन के साथ ही भावोदय, भावशांति भावशबलता, भावसंधि, रसाभास, रसदोष, वृत्ति एवं नायिकाभेद का वर्णन किया गया है। सखा-सखी-भेद भी विस्तार से वर्णित है और हावों का वर्णन कवित्वपूर्ण है। रसवर्णन के समस्त प्रसंग इस ग्रंथ में संमिलित हैं। इसमें लक्षण दोहों में तथा उदाहरण दोहा, कवित्त, सवैया, छप्पय आदि छंदों में दिए गए हैं। इनका काव्य बड़ा ही ललित है। तोष की रचना में भाषा का प्रवाह और आलंकारिक सौंदर्य है। इनकी रचना में उक्तिचमत्कार और सरसता बहुत कुछ रसखान की कविता के समान है। वर्णमैत्री, यमक, अनुप्रास आदि के साथ सहज रूप से रूपक, उपमा, उत्प्रेक्षा आदि अर्थालंकार भी उसमें समाविष्ट हैं। एक ही उदाहरण इसे स्पष्ट कर देगा :

तो तन में रवि को प्रतिबिंब परे किरनैं सो घनी सरसाती।
भीतर ही रहि जाति नहीं, अँखियाँ चकचौंधि ह्वै जाति हैं राती॥
बैठि रही बलि कोठरी में कहि तोष करौं बिनती बहु भाँती।
सारसी नैन लै आरसी सो अँग काम कहा कढ़ि घाम में जाती॥

इसके उपरांत १८वीं शती के प्रारंभ में लिखे गए तुलसीदासकृत रसकल्लोल (सं० १७११) और गोपालराम कृत रससागर (सं० १७२६) प्राप्त नहीं हो सके।

केशवदास के बाद रीतियुग के प्रारंभ में रस का सर्वांग निरूपण करनेवाले अनेक ऐसे ग्रंथ हैं जिनमें समस्त काव्यशास्त्र के निरूपण के बीच रसवर्णन का भी प्रसंग है। चिंतामणि, सूरति, कुलपति, श्रीपति आदि के ग्रंथ इस दिशा में विशेष उल्लेखनीय हैं जिनका विवरण यथास्थान दिया गया है। परंतु केशव की रसिकप्रिया के समान सभी रसों का विवेचन करनेवाला इन लोगों का स्वतंत्र ग्रंथ प्राप्त नहीं है। पिंगलाचार्य सुखदेव मिश्र ने छंद और काव्यशास्त्र पर अनेक ग्रंथ लिखे हैं। उनका एक ग्रंथ रसरत्नाकर रसों का निरूपण करनेवाला स्वतंत्र ग्रंथ है।

३. सुखदेवकृत रसरत्नाकर और रसार्णव

सुखदेव मिश्र कंपिला के रहनेवाले कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। मिश्रबंधुओं ने इनका समय सं० १६९० से सं० १७६० तक माना है। इनके वंशधर अब भी दौलतपुर में विद्यमान हैं। इन्होंने अनेक स्रोतों से विद्याध्ययन किया था। काशी में इन्होंने साहित्य और तंत्र का ज्ञान प्राप्त किया था। ये कई राजाओं के आश्रय में रहे। असोथर (जिला फतेहपुर) के राजा भगवंतराय खीची, डौंड़ियाखेरे के राव मर्दनसिंह, औरंगजेब के मंत्री फाजिलअली, अमेठी के राजा हिम्मतसिंह आदि से इन्हें संमान प्राप्त हुआ। इनको कविराज की उपाधि अलइयार खाँ ने प्रदान की थी। इनके अधिकांश ग्रंथ छंदों पर हैं। रचित ग्रंथों की सूची इस प्रकार है—वृत्तविचार (१७२८), छंदविचार, फाजिलअली प्रकाश, अध्यात्मप्रकाश, रसार्णव, शृंगारलता आदि। इनके अतिरिक्त काशी नागरीप्रचारिणी सभा में इनका समस्त रसों का विवेचन करनेवाला ग्रंथ रसरत्नाकर भी है। इसकी प्रति खंडित है और प्रारंभ के ११ छंद नहीं हैं।

रसरत्नाकर में सर्वप्रथम नायिकाभेद का वर्णन है जिसका आधार भानुकृत रसमंजरी है। केवल भेदप्रभेदों में कुछ नवीनता इसमें कहीं कहीं मिलती है। जैसे इन्होंने लक्षिता के पहला, दूसरा, तीसरा कहकर तीन भेद कर दिए हैं, नायकवर्णन भी उसी प्रकार का है। दर्शन, सखी, दूती आदि का वर्णन करने के बाद भावों, हावों और रसों का वर्णन है। रसों का वर्णन शृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, बीभत्स, अद्भुत और शांत के क्रम से है। इसके बाद संचारी

भावों का वर्णन है और अंत में सात्विक भावों का नामोल्लेख मात्र है। सभी वर्णन दोहा छंदों में है। ग्रंथ की प्रतिलिपि सं० १८६२ में की हुई है। इसका रचनाकाल १७३० के आसपास मानना चाहिए।

रसार्णव—सुखदेव का दूसरा ग्रंथ है रसार्णव। यह डौंड़ियाखेरे के राव मर्दनसिंह की आज्ञा से रचा गया था। इसमें भी नवरसों और नायिकाभेद का वर्णन है। काव्य की दृष्टि से यह उत्तम और रसराज के समान है। शृंगार रस और नायिकाभेद का वर्णन तो इसमें विस्तार के साथ है, परंतु अन्य रसों का वर्णन अत्यल्प है। रसार्णव की मुद्रित प्रति टीकमगढ़ के राज पुस्तकालय में है।

इनके अन्य ग्रंथ छंद या काव्यांगों पर विचार करनेवाले हैं। शृंगारलता प्राप्त नहीं हो सकी। अनुमानतः यह शृंगार रस का वर्णन करनेवाली पुस्तक होगी।

सुखदेव मिश्र का काव्य ओज, सरसता और कल्पना से पूर्ण है। ये पिंगलाचार्य के रूप में प्रसिद्ध हुए, क्योंकि इन्होंने छंदशास्त्र पर कई पुस्तकें लिखी थीं। इनकी शैली सहज भावमयी है जिसमें आलंकारिकता का पुट अधिक नहीं है। दृश्ययोजना इनके छंदों में प्रायः देखी जाती है। इनकी उपमाएँ कहीं कहीं बड़ी स्वाभाविक और प्रकृत रूप मे आई हैं। एक उदाहरण है :

जोहैं जहाँ मगु नंदकुमार तहाँ चली चंद्रमुखी सुकुमार है।
मोतिन ही को कियो गहनो सब फूलि रही जनु कुंद की डार है।
भीतर ही जु लखी सु लखी अब बाहिर जाहिर होति न दार है।
जोन्ह सी जोन्है गई मिलि यों मिलि जात ज्यौं दूध में दूध की धार है।

४. करन कवि कृत रसकल्लोल

करन कवि पन्नानरेश हिंदूपति के यहाँ थे। ये षट्कुल, भरद्वाजगोत्रीय पांडेय थे। इनके पिता का नाम श्रीधर था। इनके लिखे दो ग्रंथों—रसकल्लोल और साहित्यरस का उल्लेख मिलता है। रसकल्लोल की प्रति काशी नागरीप्रचारिणी सभा में है। इसके एक छंद मे करुण रस के उदाहरण के रूप में छत्रसाल की मृत्यु का उल्लेख है तथा अन्य छंदों में भी छत्रसाल, दत्ता आदि शब्दों द्वारा छत्रसाल की प्रशंसा की गई है, जैसे वीभत्स के इस प्रसंग में :

तेग तरल छत्रसाल की, कतरति संगर जौन।
जुरि जोगिनि करि कुंभ ले, पियहि गले लगि लोन॥ ७३॥

इन्होंने स्वयं लिखा है कि हमने भरत मत के अनुसार रस का वर्णन किया है। रसों का वर्णन बड़ा ही सांगोपांग है। उनके रंगों, देवताओं, विभाव, अनुभाव, संचारी आदि का उल्लेख है।

रसकल्लोल में रसवर्णन के साथ ही शब्दशक्ति और वृत्ति का भी वर्णन संक्षेप में किया गया है। रीति के संबंध में इनका मत है :

रीति चारिहूँ देस की, सो समास ते होइ।
भाषा मैं याते न मैं, बरनी सुनि कवि लोइ ॥ २५४ ॥

रसकल्लोल की प्रति का लिपिकाल सं० १८६० लिखा है। इसका रचनाकाल १७५७ के आसपास मानना चाहिए।

कवि के रूप मे करन सफल कलाकार हैं। इनकी रचनाओ में आलंकारिक प्रवृत्ति विशेष परिलक्षित होती है। यमक, अनुप्रास आदि के साथ काव्यगुणो का समावेश है। रचना प्रवाहमयी एवं स्मरणीय है। भावानुकूल शब्दावली का चयन बड़ा प्रभावकारी है। रीतिकालीन प्रवृत्ति के पूर्ण दिग्दर्शन इनके काव्य में होते हैं। उदाहरणार्थ :

खल खंडन मंडन धरनि, उद्धत उदित उदंड।
दल दंडन दारुन समर, हिंदुराज भुजदंड।
सरद चंद सारद कमल, भारद होत बिसेषि।
छबि छलकत झलकत बदन, ललकत मुनिमन देषि ॥

५. कृष्णभट्ट देवऋषि कृत शृंगार-रस-माधुरी

कृष्णभट्ट देवऋषि के संबंध मे अधिक विवरण प्राप्त नहीं हो सका। इनका 'शृंगार-रस-माधुरी' ग्रंथ समस्त रसो का वर्णन करता है। यह विंदवती के राजा बुद्धसिंह जी देव की आज्ञा से सं० १७६६ मे रचा गया। लेखक प्रतिभासंपन्न कवि और आचार्य है। मंगलाचरण के बाद विंदवती नगरी का वर्णन करता हुआ कवि कहता है :

सब भूपति बंस सिरै अवतंस सदा सिव अंस नरिंदवती।
महिमान महिम्मति हिम्मति की हद किम्मति की हद हिंदवती।
सुष सौं सरसी सरसी सरसी सरसीरुह सौरभ वृंदवती।
गुन सौं अगरी सगरी नगरी अधिराज बिराजत विंदवती ॥ ७ ॥

ग्रंथपरिचय और वर्णनक्रम देते हुए कवि ने लिखा है :

करौ पहिलैं रस कौ निरधार धरौं पुनि भाव बिभाव बखानौं।
फेरि करौं अनुभाव निरूपन भाव सबै व्यभिचारी बितानौं।
काबि के पंथन कोरिक ग्रंथ महोदधि मंथ अमी डर आनौं।
भाषौं सिंगार महारस माधुरी भूषन आनौं न दूषन आनौं ॥ १० ॥

इस प्रकार शृंगार के महारसत्व की प्रतिष्ठा कवि ने की है। कवि ने 'लाल' का प्रयोग उपनाम के रूप में किया है। सबसे पहले शृंगार रस का वर्णन संयोग, विप्रलंभ, दो भेदों में किया है। इनके भेद प्रच्छन्न और प्रकाश इन दो रूपों में हैं। काव्य के उदाहरण इनके अत्यंत सुंदर हैं। शब्द पर विलक्षण अधिकार और समृद्ध कल्पना का वैभव इनके उदाहरणों से प्रमाणित होता है। विप्रलंभ शृंगार का एक उदाहरण है :

परयो ब्रज बालन में बिरह अचानक ही बाढ़े नेह गिरिधर लाल गुनरसी कौं।
देखि देखि कुंजन के आले पात सूखि परे कूकि परे जौर कोइलानि रंगमसी कौं॥
भौंर भटकाने चंपा चित्त अटकाने वै गुलाब चटकाने जब लेख्यौ जगजसी कौं।
पीरी परि प्रात लौं जुन्हैया मुरिझाइ गई कारी परि हियरा सिराइ गयो ससी कौं॥१०॥

कवि की उपाधि 'कवि-कोविद-चूड़ामणि-सकल-कलानिधि' थी। प्रथम स्वाद में शृंगार के दोनो भेदो का वर्णन है। द्वितीय स्वाद में नायक-भेद-वर्णन है। नायक के चार भेदों के प्रच्छन्न और प्रकाश, ये दो भेद किए गए हैं। तृतीय स्वाद में नायिकाभेद है। पहले पद्मिनी, चित्रिणी, हस्तिनी, शंखिनी आदि का वर्णन है। फिर स्वकीया आदि भेद हैं। स्वकीया के नवलवधू, नवयौवना, नवलअनंगा, लज्जाप्रायरता भेद हैं। प्रौढा के भेद समस्त-रस-कोविदा, विचित्रविभ्रमा, आक्रामित नायिका, लब्धामति प्रौढ़ा हैं। ये भेद इनके नए हैं और परंपरा से अलग हैं। परकीया के ऊढा, अनूढ़ा भेद परंपरागत हैं।

चतुर्थ स्वाद में साक्षात् दर्शन (प्रच्छन्न और प्रकाश), चित्रदर्शन, (प्रकाश, प्रच्छन्न), स्वप्नदर्शन, श्रवणदर्शन (प्रच्छन्न, प्रकाश) का नायक और नायिका दोनो के प्रसंगों में वर्णन है।

पंचम स्वाद में दूती का वर्णन है। सखी के प्रति नायक नायिका (कृष्ण, राधा) की प्रच्छन्न प्रकाश चेष्टाओं का वर्णन है। स्वयंदूतत्व राधा और कृष्ण का भी प्रच्छन्न और प्रकाश रूप में वर्णित है। मिलन के भेद भी इसमें वर्णित हैं; जैसे प्रथम मिलन, सहेली के घर मिलन, धाय के घर मिलन, सूने घर का मिलन, निसिचार का मिलन, अतिभय का मिलन, उत्सव का मिलन, व्याधि के मिस मिलन, न्योते के मिस मिलन, जलविहार, वनविहार आदि में मिलन, आदि।

छठे स्वाद में भाव, विभाव, स्थायी भाव, सात्विक भाव, संचारी भाव हैं। इनके लक्षणों को अलंकारकलानिधि में देखने का निर्देश है जो इनका रचा हुआ दूसरा ग्रंथ जान पड़ता है। हाव आदि का वर्णन इसके बाद है।

सातवें स्वाद में स्वाधीनपतिका आदि नायिका के आठ भेदों का प्रच्छन्न प्रकाश रूप में वर्णन है। अभिसारिका के प्रेमाभिसारिका, गर्वाभिसारिका और

सकामा तीन भेद और हैं। उत्तम, मध्यम, अधम नायिकाओं का भी इसी में वर्णन किया गया है।

आठवें स्वाद में विप्रलंभ शृंगार का वर्णन है। इसमें पूर्वानुराग (प्रच्छन्न और प्रकाश) नायक और नायिका दोनों ही का वर्णित हुआ है। पूर्वानुराग को दश दशाओं में रखकर वर्णन करना इनकी विशेषता है। इसके बाद नवे स्वाद में मान का वर्णन है। यह भी प्रच्छन्न प्रकाश तथा प्रिया और प्रेमी के भेदों में विभक्त है।

दसवें स्वाद में मानमोचन का वर्णन है। सामोपाय, दामोपाय, भेदोपाय, प्रणति, उपेक्षा, प्रसंग विध्वंस, दंडोपाय, मानमोचन उपायों का नायक और नायिका दोनों भेद मे वर्णन है।

ग्यारहवे स्वाद में करुण विप्रलंभ का वर्णन है। इसी में प्रवास का भी वर्णन आया है। ये सब प्रच्छन्न और प्रकाश भेदों मे कहे गए हैं। इसमें पाती (पत्रो) का भी वर्णन है।

बारहवे स्वाद मे सखियों का वर्णन हुआ है। इनमे धाय, जनी, नाइन, नटिनी, परोसिन, मालिन, बरइन, शिल्पिन, चुरिहेरिन, सुनारिन, रामजनी, सन्यासिन, पटविन का वर्णन किया गया है। इन सबके उदाहरण बड़े सुंदर हैं।

तेरहवे स्वाद मे दूतीकर्म का वर्णन है।

चौदहवें स्वाद मे हास और उसके भेद—मंदहास, कलहास, अतिहास, परिहास—का वर्णन है। करुण, रौद्र, भयानक, वीभत्स, अद्‌भुत, सम (शात) रसों का शृंगार के रूप मे वर्णन किया गया है।

पंद्रहवें स्वाद में वृत्तियों का वर्णन है। वृत्तियो में जो रस आते हैं उनका विस्तार से इसमें वर्णन है।

सोलहवें स्वाद में अनरस का वर्णन है। ये रसदोष हैं जो प्रत्यनीक, नीरस, विरस, दुस्संधान, पात्रादुष्ट हैं। यह वर्णन केशव के रस-दोष-वर्णन से साम्य रखता है। ग्रंथ केशवदास की रसिकप्रिया के आधार पर है। इस प्रकार सोलह स्वादों में शृंगार-रस-माधुरी ग्रंथ समाप्त हुआ है। रसविवेचन और कवित्व, दोनों दृष्टियों से इसका महत्व है। यह देवऋषि का उत्कृष्ट आचार्यत्व और कवित्वशक्ति प्रमाणित करता है।

इसके बाद देव की कृति भावविलास में यद्यपि रस का सामान्य विवेचन है, पर प्रधान उद्देश्य शृंगार को ही प्रमुख रस मानकर उसी का वर्णन करना है, अतः इसका विवरण शृंगार रस के प्रसंग में ही दिया गया है। इसी समय के आसपास श्रीनिवास का रससागर (सं० १७६०), लोकनाथ चौबे कृत रसतरंग (सं० १७६०), बेनीप्रसाद का रस-शृंगार-समुद्र (सं० १७६५) तथा श्रीपति का रससागर (सं० १७७०) आदि रचनाएँ रस का वर्णन करनेवाली हैं, परंतु ये देखने को नहीं मिल सकीं।

६. याकूब खाँ का रसभूषण

याकूब खाँ का और विवरण प्राप्त नहीं है, केवल उनके ग्रंथ रसभूषण का नाम ही मिलता है। रसभूषण का रचनाकाल सं० १७७५ वि० है, जैसा मिश्रबंधुओं का मत है। इस ग्रंथ की विशेषता यह है कि इसमें रस, नायिकाभेद और अलंकार का वर्णन साथ साथ चलता है। उपमा के साथ नायिका, लुप्तोपमा के साथ स्वीया आदि का वर्णन है। इस ग्रंथ मे लक्षणों और उदाहरणों को टीका में स्पष्ट भी किया गया है। नायिकाभेद के बाद स्थायी भाव, विभाव, अनुभाव का वर्णन है और उसके पश्चात् नवरसो का विवरण दिया गया है। इनके भेदों का भी उल्लेख है। याकूब खाँ ने हास्य के मृदुहास, मंदहास, अतिहास और अट्टहास ये चार प्रकार दिए हैं। रौद्र के साथ भावोदय और अद्भुत के साथ यमकालंकार का वर्णन दिया गया है। इस ग्रंथ का महत्व प्रणाली की नवीनता मे ही माना जा सकता है। जहाँ तक विवेचन का प्रश्न है, कोई गंभीरता इसमें नही है। लक्षण उदाहरण दोहा और सोरठा छंदों मे हैं। काव्य की दृष्टि से ग्रंथ साधारण महत्व का है।

७. भिखारीदास कृत रससारांश और शृंगारनिर्णय

दास सर्वांगनिरूपक कवि हैं, अतः इनका जीवनवृत्त तथा इनके रसनिरूपक ग्रंथों का विवेचन उसी प्रसंग में यथास्थान दिया गया है।

८. सैयद गुलाम नबी 'रसलीन'

(१) कविपरिचय—सैयद गुलाम नबी 'रसलीन' प्रसिद्ध नगर बिलग्राम (जिला हरदोई) के निवासी थे। बिलग्राम कवियों के लिये उर्वर भूमि है। इस नगर में हिंदी में लिखनेवाले अनेक मुसलमान कवि हुए हैं। इन कवियों में सर्वप्रसिद्ध 'रसलीन' हैं। बिलग्राम के रहनेवाले अन्य पूर्ववर्ती कवि शेख शाहमुहम्मद फर्मली, सैयद निजामुद्दीन 'मदनायक', दीवान सैयद रहमतुल्लाह तथा मीर अब्दुल-जलील 'बिलग्रामी' थे। मीर जलील की रचना तो रहीम के दोहों से टक्कर लेती है। ये बड़े उदात्तचरित्र तथा असाधारण योग्यतावाले व्यक्ति थे। फारसी के कुछ सुंदर शृंगार-रस-पूर्ण छंदो का इन्होंने हिंदी में अनुवाद भी किया था। इन्हीं मीर जलील के भाजे रसलीन थे। रसलीन के पिता का नाम सैयद मुहम्मद बाकर था। ये हुसैनी परंपरा के थे। इनके गुरु का नाम मीर तुफेलअहमद था और मीर जलील से इन्होने हिंदी काव्यरचना की प्रेरणा प्राप्त की थी। रसलीन केवल कवि ही नहीं थे, वरन् एक सुयोग्य सैनिक, तीरंदाज और घुड़सवारी में निपुण व्यक्ति थे। ये संगीतज्ञ भी थे। इन्होंने फारसी में भी रचना की थी। सैयद गुलाम नबी का जन्म सं० १७४७ के लगभग माना जाना चाहिए। ये नवाब सफदरजंग की सेवा में

काम करते थे। आगरा के समीप नवाब सफदरजंग की सेना और पठानों में जो युद्ध हुआ था उसी में ये मारे गए थे। इनका मृत्युसमय सन् ११६३ हि० (१८०७ वि०) है। गुलाम नबी रसलीन की रची हुई दो पुस्तकें रीतिपरंपरा की मिलती है—अंगदर्पण और रसप्रबोध।

अंगदर्पण—यह नखशिख वर्णन करनेवाली रचना है। नखशिख सौंदर्य-वर्णन नायिकाभेद का अंग माना जाता है। अंगदर्पण की रचना संवत् १७६४ वि० में हुई थी। नखशिख नाम से कुछ लोग इनकी अलग रचना का उल्लेख करते हैं, परंतु वह यही अंगदर्पण ग्रंथ ही है। अंगदर्पण में कुल १८० दोहे हैं जिनमें अंतिम तीन उपसंहार के और प्रथम दो मंगलाचरण के दोहे हैं। यह अंगदर्पण लिखने का प्रयत्न रसलीन ने ब्रजभाषा सीखने के लिये किया था, जैसा निम्नांकित दोहे से प्रकट है :

> **ब्रजबानी सीखन रची, यह रसलीन रसाल।**
> **गुन सुबरन नग अरथ लहि, हिय धरियो ज्यौं माल ॥ १७८ ॥**

अंगदर्पण में क्रमशः बाल, बेनी, जूरा, माँग, टीका, बिंदी, भाड़ खौर, श्रवण, श्रवणाभूषण, भौंह, पलक, बरुनी, नेत्र, पुतरी, कोयन, काजर, चितवन, कटाक्ष, कपोल, शीतलादाग, स्वेदकण, अलक, नासा, नथ, लटकन, अधर, तमोल, दसन, मुसुकान, हास, रसना, बानी, मुखनास, चिबुक, मुखमंडल, ग्रीवा, कंठाभूषण, बाँह (कराभूषण), अँगुरी, गात, अंगबास, कुच, कंचुकी, रोमावली, त्रिबली, नाभि, नीबी, किंकिनी, पीठ, कटि, नितंब, जंघ, पद, पदलाली, एड़ी, अँगुरी, पदनख, जावक, नूपुर, पायल, अनवट, बिछिया तथा संपूर्ण नायिका का वर्णन किया गया है जो बड़ा रोचक है। संपूर्ण वर्णन करते हुए 'रसलीन' ने लिखा है :

> **नवला अमला कमल सी, चपला सी चल चारु।**
> **चंद्रकला सी सीतकर, कमला सी सुकुमार ॥ १७४ ॥**
> **मुख छबि निरखि चकोर अरु, तन पानिप लखि मीन।**
> **पद पंकज देखत भँवर, होत नयन रसलीन ॥ १७५ ॥**

रसलीन का प्रसिद्ध दोहा :

> **अमी हलाहल मद भरे, स्वेत स्याम रतनार।**
> **जियत मरत झुकि झुकि परत, जेहि चितवत एकबार ॥ ३५ ॥**

अंगदर्पण का ही है। इस प्रकार दोहाकारों में 'रसलीन' श्रेष्ठ हैं। इनका दूसरा ग्रंथ 'रसप्रबोध' है।

रसप्रबोध—रसलीनकृत 'रसप्रबोध' संवत् १७९८ की रचना है। यह चैत्र शुक्ल ६, बुधवार को बिलग्राम में आने पर लिखी गई। इससे सिद्ध होता है

कि ये पहले कहीं और थे। संभवतः फौज से ही छुट्टी लेकर आए हों। रसप्रबोध का रचना-समाप्ति-काल हिजरी सन् ११५४ है। रसप्रबोध में सब मिलाकर ११९७ दोहे हैं। रसप्रबोध में रस का वर्णन है। प्रमुख वर्णन शृंगार रस और नायिकाभेद का है और अंत में संक्षेप में अन्य रसों का वर्णन किया गया है। रसलीन को दोहा छंद ही सिद्ध था। इन्होंने सारे ग्रंथ में इसी छंद का प्रयोग किया है। इस प्रकार लक्षण और उदाहरण दोनों ही दोहा छंद में हैं।

रसलीन ने रस का सर्वमान्य लक्षण लिया है। विभाव, अनुभाव, संचारी भाव से परिपूर्ण व्यापी स्थायी रस है। स्थायी बीज है जो चित्त की भूमि में आलंबन-उद्दीपन-विभाव-रूपी जल के पड़ने पर अनुभावरूपी वृक्ष और संचारी भावरूपी फूलों के रूप मे प्रकट होता है। इन सब के संयोग से मकरंद के समान रस की उत्पत्ति होती है। भाव दो प्रकार के हैं—एक स्थायी, दूसरे संचारी। स्थायी अपने अपने रस में रहते हैं और संचारी अन्यों में भी संचरित होते हैं। व्यभिचारी दो प्रकार के हैं—एक तनव्यभिचारी दूसरे मनव्यभिचारी। सात्विक भावों को रसलीन ने तनसंचारी माना है। इस प्रकार नौ स्थायी, आठ सात्विक और तैंतीस संचारी मिलकर पचास भाव हुए। इन भावों में स्थायी रस का मूल है। अतः सबसे पहले रसलीन ने उसी का वर्णन किया है। स्थायी भावों के नाम उनके कारणरूप आलंबन, उद्दीपन, विभाव तथा स्थायी को अनायास प्रकट करनेवाले अनुभावों का वर्णन इसके बाद किया गया है। इसके बाद अलग अलग रसों का वर्णन है।

सबसे पहले शृंगाररस का वर्णन करने का हेतु रसलीन यह देते हैं कि शृंगार रस के भीतर अन्य रस या उनके सभी स्थायी संचारी रूप में आ जाते हैं इसलिये शृंगार रसराज है। रसलीन का कथन है :

> मोहन लखि यह सखन ते, है उदास दिन राति।
> उमहवि हँसति बकति डरति,बिगचति बिलसि रिसाति ॥ ४१ ॥
> जब निकस्यों सब रसन मैं, यह रसराज कहाय।
> तब बरन्यो याको कबिन, सब ते पहिले ल्याय ॥ ४३ ॥

ऊपर के प्रथम दोहे में क्रमशः निर्वेद, उत्साह, हास आश्चर्य, भय, घृणा, शोक, क्रोध आदि के शृंगार रस में संचारी होने का संकेत है। आगे शृंगार रस के आलंबन रूप नायिका के प्रसंग में नायिकाभेद का वर्णन किया गया है।

नायिकाभेद—रसलीन के द्वारा वर्णित नायिकाभेद का प्रसंग रसमंजरी साहित्यदर्पण आदि की परंपरा का अनुगमन करता हुआ भी मौलिकता से पूर्ण और रोचक है। अनेक प्रसंगों में भेदों के अन्य भेद नवीन आधारों पर किए गए हैं। अधिकाशतः उन भेदों के लक्षण रसलीन ने नहीं दिए हैं जो नाम से ही स्पष्ट हैं। नायिकाभेद का वर्णनक्रम इन प्रसंगों में पूरा हुआ है। स्वकीया के मुग्धा, मध्या,

प्रौढ़ा, मुग्धा के पाँच भेद—अंकुरितयौवना, शैशवयौवना, नवयौवना, नवलअनंगा, नवलवधू। शैशवयौवना शब्द रसलीन का निजी जान पड़ता है। इसके स्थान पर देव आदि ने सलज्जरति दिया है, जो रुद्रभट्ट के शृंगारतिलक के आधार पर जान पड़ता है, रसमंजरी (भानु भट्ट कृत) के आधार पर नहीं। रसलीन ने इन भेदों के भी भेद किए हैं।

नवयौवना के दो भेद हैं—अज्ञातयौवना और ज्ञातयौवना तथा नवलअनंगा के विदितकाया और अविदितकाया तथा नवलवधू के वोढा और विश्रब्धनवोढा ऐसे ही भेद हैं। नवलवधू का रसलीन ने एक तीसरा भेद किया है—लज्जाप्रासक-रति-कोविदा। मुग्धा के उपर्युक्त भेदों के साथ उसकी चेष्टाओं, जैसे मुड़ बैठना, सैन, सुरति आदि का भी वर्णन है जो कामशास्त्र और रतिरहस्य ग्रंथों का प्रभाव जान पड़ता है। मध्या के भेद हैं—उन्नतयौवना, उन्नतकाया, प्रगल्भवचना, सुरतविचित्रा। इनके अतिरिक्त पाँचवाँ भेद लघुलज्जा भी रसलीन ने कुछ लोगो के मतानुसार किया है। मध्या की कामचेष्टाओं का वर्णन भी इसमें है। प्रौढा के भेद हैं—उद्‌भट-यौवना, मदनमदमाती, लुब्धामतिप्रौढा, रतिकोविदा। इनके अतिरिक्त रतिक्रिया और आनंदातिसंमोहा भेद भी रसलीन ने लिखे हैं।

रसलीन ने इसके बाद पतिदुःखिता नामक नवीन भेद की कल्पना की है। इसके भेद हैं—मूढपतिदुःखिता, बालपतिदुःखिता, वृद्धपतिदुःखिता। धीरा, अधीरा, धीराधीरा आदि का भेदवर्णन विवेचन सहित है जो रसमंजरी के आधार पर है। ये सभी भेद स्वकीया के भेदों—मध्या और प्रौढा—के हैं। स्वकीया के प्रसंग में ज्येष्ठा और कनिष्ठा, दो भेदों का और वर्णन है।

इसके बाद परपुरुषानुरागा, परकीया का वर्णन है। उसके भेद ऊढा, अनूढ़ा, साध्या, असाध्या, उद्‌बुद्धा और उद्‌बोधिता हैं। इनमें साध्या के भेद वृद्ध-वधूसुखसाध्या, बालवधूसुखसाध्या, नपुंसकवधूसुखसाध्या, विधवावधूसुखसाध्या, गुणीवधूसुखसाध्या हैं तथा असाध्या के भेद सभीता, दूतीवर्जिता, गुरुजनभीता, अतिक्रांता, खलपृष्ठअसाध्या हैं।

अवस्था के भेद से परकीया के सुरतिगोपना, विदग्धा, लक्षिता, कुलटा, मुदिता, अनुशयना, ये छः भेद हैं तथा इनके भी भेदोपभेदों के वर्णन रसलीन ने किए हैं। इसके बाद परकीया की सुरतचेष्टाओं का वर्णन है।

स्वकीया, परकीया दोनों के तीन भेद कामवती, अनुरागिनी और प्रेमासक्ता भी हैं। इस प्रकार परकीया का अतिविस्तार से रसलीन ने वर्णन किया है।

सामान्या के भेद स्वतंत्रा, जननीअधीना, नियमिता, प्रेमदुःखिता हैं। इससे अधिक भेद सामान्या के सामान्यतया नहीं मिलते हैं। सामान्या की भी कामचेष्टाओं का इसमें वर्णन है।

रसलीन ने खंडिता आदि प्राचीन आचार्यों के भेदों को नवीन मतानुसार अन्यसुरतिदुःखिता (खंडिता), गर्विता (स्वाधीनपतिका), मानिनी भेदो में वर्णित किया है तथा अवस्थाभेद से स्वाधीनपतिका, वासकसज्जा, उत्कंठिता, अभिसारिका, विप्रलब्धा, कलहांतरिता, प्रोषितपतिका, खंडिता—ये आठ भेद हैं। इनके भी प्रभेद वर्णित किए गए हैं। इस प्रकार ११५२ नायिकाभेदों का वर्णन रसलीन ने किया है। इन भेदो के अतिरिक्त पद्मिनी, चित्रिणी, शंखिनी, हस्तिनी भेद भी हैं। उत्तमा, मध्यमा और अधमा नायिकाओ का भी वर्णन हुआ है। नायिकाभेद का यह वर्णन भरत, रुद्रभट्ट और भानुभट्ट तथा अन्य आचार्यों के विवेचन के अनुसार तथा रसलीन की कुछ मौलिक बातों को भी लिए हुए है।

नायकभेद भी सामान्य ग्रंथो की अपेक्षा इसमें अधिक विस्तार के साथ है।

नायकभेद और दर्शन के उपरात सखी का वर्णन है। सखीवर्णन भी रसलीन ने कुछ नवीन पद्धति पर किया है। सखी चार प्रकार की हैं—हितकारिणी, विज्ञानविदग्धा, अंतरंगिनी और बहिरंगिनी। सखीकर्म का तो सामान्य ढंग पर ही वर्णन किया है। दूती के उत्तम, मध्यम, अधम भेद भी किए गए हैं। इसके अतिरिक्त दूती के हितावान, अहितावान, हिताहितावान भेदों का वर्णन है। इसके अतिरिक्त प्रसंग ये हैं—दूतीकार्य, नायिका-नायक-स्तुति-निंदा, विरहनिवेदन, प्रबोध आदि। नायक-सखा-भेद के वर्णन के उपरात उद्दीपन रूप में ऋतुवर्णन है जो उनकी कवित्वप्रतिभा का परिचायक है। ऋतुवर्णन दोहो में है। कुछ सुंदर उदाहरण यहाँ दिए जाते हैं :

> **ओषधीश सँग पाइ अरु, लहि बसंत अभिराम।**
> **मनो रोग जग हरन को, भयो धनंतरि काम ॥ ६४६ ॥**
> **फूले कुंजन अलि भ्रमत, सीतल चलत समीर।**
> **भानजात काको न मन, जात भानुजा तीर ॥ ६५० ॥**
> **पिय छींटत यों तियन कर, लहि जल केलि अनंद।**
> **मनो कमल चहुँ ओर ते, मुकतनि छोरत चंद ॥ ६५१ ॥**

अनुभाव वर्णन—में इन्होंने चेष्टाओं के बड़े सजीव चित्र प्रस्तुत किए हैं, जैसे :

> **दगन जोरि मुसुकाय अरु, भौंहैं दोउ नचाइ।**
> **ओठनि आँठि बनाइ यह, माया लमेठत जाइ ॥ ६६१ ॥**

इसके पश्चात् हावों और संचारी भावों का वर्णन किया गया है। संयोग-श्रृंगार के बाद वियोग-श्रृंगार-वर्णन पूर्वानुरागी मान, प्रवास और करुण भेदों के साथ किया गया है। दस दशाओं का वर्णन भी इसी प्रसंग के अंतर्गत है। संयोग

में जिस प्रकार षड्ऋतु वर्णन किया गया है उसी प्रकार वियोग प्रसंग में बारहमासा वर्णन है। बारहमासा के कुछ सुंदर उदाहरण ये हैं :

> लाख यतन कहि राखिए, करै जारि तन राख।
> शाख शाख जो डाख की, फूल रही बैशाख ॥ ९९० ॥
> पुहुप रूप इन द्रुमन में, आगि लगी है आइ।
> जामें जरि ये भँवर सब कारे भए बनाइ ॥ ९९१ ॥
> माघ मास कहिते तहीं, यह दुख भयो अनंत।
> क्यों बसंत अब खेलिहैं, बसे अंत हैं कंत ॥ १००८ ॥
> मनमोहन बिन बिरह ते, फाग रच्यो इन चाल।
> पीरो रँग अंगन छयो, अँसुवन झरत गुलाल ॥ १०१० ॥

ये छंद रसलीन की सहज मार्मिक शैली के द्योतक हैं। इसके बाद हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स, अद्भुत और शात के लक्षण और उदाहरण दिए गए हैं। भावसंधि, भावोदय, भावशाति, भावशबलता, प्रौढ़ोक्ति, भावाभास, रसाभास आदि के वर्णन के साथ ग्रंथ की समाप्ति हुई है।

११५४ हिजरी में ११९७ दोहा छंदों में यह ग्रंथ पूरा हुआ। यह रस का विवरण देनेवाला महत्वपूर्ण और काव्य की दृष्टि से सुंदर ग्रंथ है।

अठारहवीं शताब्दी के अंतिम भाग में अमेठी (अवध) के राजा गुरुदत्त सिंह उपनाम 'भूपति' ने रस से संबंधित रसरत्नाकर और रसदीप नामक ग्रंथ लिखे। इनकी बनाई भूपतिसतसई प्रसिद्ध है जो बिहारी के दोहों से टक्कर लेनेवाली और सं० १७९१ में रची गई है। इनके अन्य ग्रंथों में कंठाभरण और भागवत भाषा भी हैं।

रघुनाथ कवि ने सं० १८०२ में रस विषयक काव्यकलाधर नामक ग्रंथ लिखा। ये काशीनरेश के राजकवि थे। इनके बनाए ग्रंथ रसिकमोहन (अलंकार), जगतमोहन और इश्कमहोत्सव भी माने जाते हैं। अंतिम ग्रंथ खड़ी बोली में लिखा गया है। काव्यकलाधर १५० पृष्ठों का बृहत् ग्रंथ है। इसके अंतर्गत कवि ने भावभेद, रसभेद तथा नायिकाभेद का विस्तार के साथ वर्णन किया है। इसके उदाहरण भी सुंदर हैं। जगतमोहन में श्रीकृष्णचंद्र की दिनचर्या है। रघुनाथ अच्छे कवि थे।

६. समनेस कृत रसिकविलास

समनेस रीवाँ के रहनेवाले कायस्थ थे। ये रीवाँनरेश महाराज जयसिंह के बख्शी थे। इनके द्वारा अलंकार, रस और छंद पर लिखे क्रमशः तीन ग्रंथों—काव्यभूषण, रसिकविलास और पिंगल—का उल्लेख मिला है।

रसिकविलास रस और नायिकाभेद विषयक ग्रंथ है। इसका रचनाकाल सं० १८४७ वि० है जो निम्नलिखित दोहे से स्पष्ट है :

संवत् रिषि गुन बसु ससी कुल पूज्यौ नभमास।
संपूरन समनेस कृत, बनिगो रसिकबिलास॥

इनका रचनाकाल १८७६ तक रहा। रसिकविलास में श्रृंगार तथा वीर, रौद्र, वीभत्स, करुण, शांत, हास्य, अद्भुत, भयानक रसों का वर्णन है। नायिकाभेद, दूतीकर्म, विभाव, अनुभाव, सात्विक संचारी भावों का भी विवेचन है। लक्षण साधारण और स्पष्ट तथा उदाहरण उपयुक्त हैं। रस पर लिखा हुआ यह सामान्यतया अच्छा ग्रंथ है। इनकी कविता अच्छी सामान्य श्रेणी की है।

१०. शंभुनाथ मिश्र कृत रसतरंगिणी

शंभुनाथ मिश्र असोथर जिला फतेहपुर के राजा भगवंतराय के यहाँ रहते थे। ये विद्वान् कवि थे। इन्होंने रसकल्लोल, रसतरंगिणी और अलंकारदीपक नामक ग्रंथ लिखे। रसकल्लोल देखने मे नहीं आया। रसतरंगिणी की एक खंडित प्रति काशी नागरीप्रचारिणी सभा के पुस्तकालय में है। यदि यह शंभुनाथ मिश्र की है, तो रचनाकाल १८२० के आसपास होना चाहिए।

रसतरंगिणी—(सं० १८२० के आसपास) की उक्त अपूर्ण प्रति पृष्ठ ३ से १८ तक है। प्रथम २१ छंद नहीं हैं। इसमें रस का निरूपण है। भानुकृत रसतरंगिणी का अनेक स्थलों पर प्रमाण स्वरूप उल्लेख है। इसके अतिरिक्त संस्कृत के अनेक ग्रंथों का भी प्रमाण है। उदाहरणार्थ :

मिलि बिभाव अनुभाव अरु, संचारिन के बृंद।
परिपूरन थिर भाव जो, सोइ रस रूप कबिंद॥ २३॥
ज्यों पय पाइ बिकार कछु, दधि दधि होत अनूप।
त्यों परिणत थिर भाव को, बरणत कवि रस रूप॥ २४॥
सो रस स्वनिष्ठ, परनिष्ठ अरु स्वनिष्ठ परनिष्ठक है।
रसानां अन्यजनक भाव: ॥ २५॥
प्रगटत हास्य सिंगार सो, रौद्र ते करुणा होइ।
उपजत अद्भुत बीर ते, भय बीभत्स ते जोइ॥ २६॥

इसी प्रकार बैरी और विरोधी रसों का कथन है। श्रृंगार, हास्य, अद्भुत, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स, करुण, शांत का वर्णन है। रौद्र और वीर का भेद प्रकट करते हुए लिखा गया है :

समता की सुधि है जहाँ, है सुध उत्साह।
जहँ भूलै सुधि सम असम, सो है क्रोध प्रवाह॥ ४६॥

भक्तिसुधानिधि के अनुसार लेखक ने हास्य, वात्सल्य, सख्य, रसों का भी वर्णन किया है। इनमें अधिकांश लक्षण संस्कृत में ही हैं। इस प्रसंग में भक्ति-

रसामृत-सिंधु के भी प्रमाण और उद्धरण इस ग्रंथ में हैं। विद्वन्मोदतरंगिणी के आधार पर भी इसमें विवेचन हुआ है। साहित्यरत्नाकर ग्रंथ के आधार पर विभिन्न रसों के उद्दीपनों का वर्णन है। इसके बाद अलग अलग रसों के अंगों के लक्षण और उदाहरण हैं। हास्य रस का एक उदाहरण देखिए :

> **खेलतीं फागु फबीं नवला चपला सीं सजे मनि भूषन सारी।**
> **मेलती मंजु गुलालन मूठिन रंगती रंगन सौं पिचकारी।**
> **खेल रँगीली गतील छबीलीं छटी गनिका गच सींच सँवारी।**
> **ज्यों ही झुकी चटकी बहु कीने रुकी सु बजी तरुनीन की तारी॥ ९॥**

'इहाँ तारी पदाश्रित हासातिशयता व्यंजित है। अरु ह्याँ ष्याल प्रमदानि प्रति है रति स्थायी अरु अनुभावादिऊ को अभावई है यातें हास्यरसई की मुख्यता है' इस प्रकार उदाहरणों के मार्मिक विवेचन द्वारा रस का स्पष्टीकरण किया गया है। इसी प्रकार 'वीर' का उदाहरण द्रष्टव्य है :

> **बीच अनी चतुरंगिनी रावन बेष बिलोकतैं बानर भाजे।**
> **बाजे बजे रन के बहके करि गाजे बलाहक बृंद से आजे।**
> **त्यों रघुबीर अभंगई धीर हँसे सढमंगनि षंग नेवाजे।**
> **आनँद कोकनदै सर दै कर साजे सरासन सायक राजे॥ १०॥**

इहाँ रक्तोत्पल कोकनद ताकी समता ते आनन अरुनता अनुभाव। उमंग हास पद उत्साह स्थायी वीर रस पूर्णताई व्यंजित है। अरु राजे पद ते करन की अरु प्रभा परें सरसरासनऊ समरोत्साह संजुतई से व्यंजित हैं। अरु वेष विलोकतई भाजे तहाँ तेज से दुर्द्धषता ताते सन्मुख न है सके। अरु बलाहक वृंद से आजे तहा रामाश्रम विरचिते अमरतिलको बलेन हीयते इति बलाहकः इति व्युत्पत्या अति बलवंतः सजलो इत्यर्थः याते करीण के ग्रंथस्थल मदजल परिपूर्णाई प्रकाशित है।' आगे इस संबंध में रसतरंगिणी के नवम सर्ग से संस्कृत में प्रमाण दिया हुआ है— 'ईषत्फुल्लकपोलाभ्या'। इसी प्रकार भक्ति रसों में भी वात्सल्य, सख्य का विवेचन है। प्रति पूरी नहीं है, अतः इस ग्रंथ का पूर्ण विवेचन नहीं किया जा सकता। परंतु यह ग्रंथ लेखक की विद्वत्ता, सहृदयता, कवित्व और आचार्यत्व की शक्तियों का प्रमाण है।

११. शिवनाथकृत रसवृष्टि

शिवनाथ द्विवेदी कुरसी, जिला बाराबंकी के रहनेवाले थे। इनका रसवृष्टि ग्रंथ, राधाकृष्ण के शृंगार-सुख-वर्णन रूप रस-नायिका-भेद का ग्रंथ हैं। इसे कविवर शिवनाथ ने पवाया (पवायाँ) जिला हरदोई के निवासी नृप कुशलसिंह के लिये

लिखा था। कुशलसिंह सं० १८३१ में स्वर्गवासी हुए। इस प्रकार इसका रचनाकाल मिश्रबंधुओं के अनुसार सं० १८२८ वि० के लगभग ठहरता है।

इस ग्रंथ में सबसे प्रथम गणपतिवंदना, फिर वाणी, नारायण, गौरीशंकर, की स्तुतियाँ हैं और फिर कवि-वंश-वर्णन है। लवकुश द्वारा स्थापित कुरसी नामक नगर में कात्यायन गोत्री दुबे ब्राह्मण ब्रह्मदास हुए। उनके पुत्र बद्रीनाथ। बद्रीनाथ के पुत्र झाऊलाल हुए। इन्हीं झाऊलाल के पुत्र पंडित कवि शिवनाथ हुए। इनसे पवावा नगर के राजा कुशलसिंह ने नायिकाभेद ग्रंथ लिखने को कहा। इन कुशलसिंह की सभा का वर्णन इंद्र की सभा के समान शिवनाथ कवि ने किया है।

रसवृष्टि ग्रंथ सोलह रहस्यों (अध्यायों) में विभक्त है। प्रथम में तो मंगलाचरण, परिचय, कवि और आश्रयदाता के वंश और यश का वर्णन है। दूसरे रहस्य में नायक के पति, उपपति, वैसिक तथा अनुकूल, दक्ष, शठ और धृष्ट भेदों का वर्णन है। नायक का लक्षण इन्होंने निम्नलिखित रूप में दिया है :

तरुण रूप अभिमान तजि, परम विवेकी होइ।
धनी अथी शुचि बुद्धिवर, नायक बरणौं सोइ॥

इनके अतिरिक्त मानी, चतुर और अनभिज्ञ भेदों का भी इसमें वर्णन है। तृतीय रहस्य में सबसे पहले चार प्रकार की नायिकाओं—उत्तम, मध्यम, अधम और लघु—का कथन है। उत्तम वह है जो संपत्ति विपत्ति में पति की आज्ञा के अनुसार एकरस रहे। मध्यम वह है जो बड़ा अपराध करने पर मान करे। अधम वह है जो बार बार रूठे और बिना कारण कटु वचन कहे। लघु निर्लज्ज, निःशंक, कुबुद्धि और कलहप्रिय है। यह चौथा भेद विचारणीय है, क्योंकि इसमें तो नायिका का जो मुख्य आकर्षण है वही नहीं रह जाता। इसके साथ पद्मिनी आदि चार नायिकाओं का वर्णन है।

चतुर्थ रहस्य में स्वकीया नायिकाओं का वर्णन है। इनके उदाहरण सुंदर काव्य की विशेषताओं से पूर्ण हैं। इस संबंध में सुरतिविचित्रा का उदाहरण देखिए :

भाग भरे भाल माग मोतिन सोहाग भरी बंक भरी भौंहन सनेह भरे नैन हैं।
नाज भरी नासिका अधर बिंब रस भरे हास भरी अलक सकुच भरे बैन हैं॥
सुध भरे यौवन मनोरथ मनोज भरे अंग अंग रस भरे रस सुख ऐन हैं।
लाज भरी गति मति प्रीति भरी शिवनाथ चातुरी चितौनि हाव भाव भरी सैन है॥३४॥

यह इनकी कवित्वशक्ति का नमूना है।

इस प्रसंग में भेदप्रभेदों का भी उल्लेख शिवनाथ ने किया है।

पंचम रहस्य में परकीया का वर्णन है, उसके गुप्ता, लक्षिता, मुदिता, विदग्धा, कुलटा, अनुशयाना भेदों तथा इनके प्रभेदों का वर्णन तथा सामान्या का कथन है। छठे रहस्य में मानवर्णन है। मान के लघु, मध्यम, गुरु, सामान्य भेदों के साथ बतरस, प्रणति, अनायास भेद आदि प्रकारों का भी विवरण इसमें मिलता है जो नवीन है। सातवें रहस्य में मानमोचन का प्रसंग है। इसमें विभिन्न उद्यमों की स्त्रियाँ मानमोचन की बातें कहती हैं। आठवें रहस्य में सखी-भेद-वर्णन है। इसमें सोलह शृंगार, बारह आभरण, परिहासशिक्षा आदि का उल्लेख है। नवें रहस्य में चार प्रकार के दर्शन का वर्णन है। दसवें रहस्य में मिलन का वर्णन है। यह मिलन जलविहार, वनविहार, वाटिका, धाई के घर, सखी के घर, सूने घर, भय, व्याधि, तीर्थयात्रा, उत्सव में होता है। ग्यारहवें रहस्य में स्वाधीनपतिका आदि अष्ट-नायिका-भेद का वर्णन है। बारहवें रहस्य में विप्रलंभ शृंगार तथा चिंता आदि दस दशाओं का वर्णन है। इसी प्रसंग में पाती आना, संदेश लाना आदि प्रसंगों में ऊधो और राधिका का संवाद भी आया है। तेरहवें रहस्य में हावों का वर्णन है। चौदहवें रहस्य में नखशिख, अंगसौंदर्य का वर्णन किया गया है। पंद्रहवें प्रसंग में वस्त्राभूषण की शोभा का वर्णन है। सोलहवें रहस्य में नवरसों का वर्णन किया गया है। यह वर्णन अधिकांश रसिकप्रिया की परिपाटी पर है और पाठक को सर्वत्र रसानुभूति कराने में समर्थ नहीं है। रसलीन के रसप्रबोध ग्रंथ से भी कवि ने प्रेरणा ग्रहण की है, ऐसा जान पड़ता है।

शिवनाथ की कविता उपयुक्त शब्दावली में प्रभावपूर्ण वर्णन की विशेषता से युक्त है।

१२. उजियारेकृत जुगल-रस-प्रकाश और रसचंद्रिका

वृंदावन के नवलशाह के पुत्र उजियारे कवि ने हाथरस के जुगलकिशोर दीवान के लिये जुगल-रस-प्रकाश और जयपुर के दौलतराम के लिये रसचंद्रिका नामक ग्रंथों की रचना की। इन दोनों ग्रंथो मे लक्षण और उदाहरण एक से हैं। विभिन्न आश्रयदाताओं के कारण नाम बदल दिए गए हैं। जुगल-रस-प्रकाश की रचना सं० १८३७ वि० में हुई थी। इसका आधार अधिकांशतया भरत मुनि का नाट्यशास्त्र है। अधिकतर विषय का स्पष्टीकरण रसचंद्रिका में प्रश्नोत्तर के रूप में किया गया है। इसमें शृंगार रस का अन्य रसों की अपेक्षा अधिक विस्तार से वर्णन किया गया है। इस वर्णन में विभाव, अनुभाव, संचारी भाव आदि का विश्लेषण है। रसविवेचन के बाद 'रसनि कौ रोध' के प्रसंग में रसविरोधी बातों का वर्णन है। इन्हीं विषयों का वर्णन रसचंद्रिका में भी है। काव्य की दृष्टि से इनकी रचना साधारण कोटि की है।

११. महाराज रामसिंहकृत रसनिवास

नरवर गढ़ के राजा छत्रसिंह के पुत्र महाराज रामसिंह काव्यशास्त्र के प्रसिद्ध विद्वान् थे। इन्होंने कई ग्रंथ लिखे। जुगलविलास (१८३६), रसशिरोमणि (१८३०), अलंकारदर्पण, रसविनोद एवं रसनिवास (१८३९) विशेष प्रसिद्ध हैं। रसविवेचन की दृष्टि से रसनिवास अधिक महत्वपूर्ण ग्रंथ है। इसका आधार भानुदत्तकृत रसतरंगिणी है। रसनिवास की रचना सं० १८३९ वि० में हुई थी इसमें लक्षण और उदाहरण अत्यंत स्पष्ट एवं सुबोध हैं। इसमें विवेचन भी अच्छा है। नायिकाभेद और शृंगार पर विस्तार से लिखने के बाद चौथे निवास में भाव का वर्णन है। छठे अध्याय में अनुभाव, सातवें में सात्विक भाव और आठवें में संचारी भावों का वर्णन है। आठवें विलास के अंतर्गत ११५ छंदों में संचारी भावों का विस्तार से वर्णन है। नवें विलास में रसवर्णन है। इसमें रस के लौकिक और अलौकिक दो भेद किए गए हैं। हास्य रस का अच्छा वर्णन है। सभी रसों के स्वनिष्ठ और परनिष्ठ इन दो भेदों में वर्णन हैं।

ग्यारहवें निवास में रसदृष्टि, रसभाव का संबंध तथा अलंकार का रस और भावों से संबंध विवेचित है। रसविरोध का भी वर्णन रामसिंह ने किया है। इन्होने रस के आधार पर काव्यकोटि का भी निर्धारण किया है। वह है अभिमुख, विमुख और परमुख। अभिमुख में रस प्रमुख है, परमुख में रस गौण है और विमुख मे रस का अभाव है। यह नवीन वर्गीकरण है।

इस प्रकार रसनिवास में रस का रसतरंगिणी के आधार पर सुंदर विवेचन हुआ है। कुछ इनकी नवीन बाते भी हैं। रामसिंह का काव्य उत्तम कोटि का है। यद्यपि इनके अधिकाश उदाहरण वर्णनप्रधान और अभिधात्मक हैं तथा उक्ति-वैचित्र्य एवं अर्थगौरव कम है, फिर भी लक्षण को स्पष्ट करने की दृष्टि से सुंदर और सरस हैं। आलंकारिकता का अधिक आग्रह इनमें नहीं। समस्त काव्य में एक समान सरसता और उत्कृष्टता नहीं। विच्छत हाववर्णन का इनका एक सुंदर उदाहरण यहाँ दिया जाता है :

> साजि कै सिंगार रूप जोबन गुमान भरी,
> बैठी ही अनेक गोपी निकट गुपाल के।
> आवत ही तेरे मुख चंद के प्रकास फैले,
> कुंज के निवास में मयूखनि के जाल के।
> भूषन बिना हू असैं काजर सँवारे नैन,
> अनियारे प्यारे मनमोहन रसाल के।
> देखत ही लोचन सरोज भए लौतिन के,
> चाह भरे लोचन चकोर भए लाल के॥

१४. सेवादासकृत रसदर्पण

सेवादास का अधिक परिचय नहीं मिलता है। ये वैष्णव भक्त एवं रसिक कवि थे। इनकी रचनाओं में राम सीता और कृष्ण राधा दोनों का ही मधुर रूप चित्रित हुआ है। इनके पाँच ग्रंथों—गीतामहात्म्य, रघुनाथअलंकार, अलबेले लाल जू को नखशिख, अलबेले लाल जू को छप्पय तथा रसदर्पण—की सं० १८४५ वि० की प्रतलिपियाँ मिलती हैं।

सेवादास का रस से संबंधित ग्रंथ रसदर्पण है। इसका रचनाकाल सं० १८४० वि० है। मंगलाचरण और वंदना के उपरांत नायिकाभेद का वर्णन इस ग्रंथ में है। स्वकीया के उदाहरण सीता के वर्णन के हैं और परकीया के उदाहरण राधा के हैं। नायिकाओं के अधिकाश वर्णन पुराणप्रसिद्ध नायिकाओं के हैं। नायिकाभेद का वर्णन प्रमुखतः रसमंजरी के आधार पर है। नायिकाभेद के बाद सात्विक भावो का वर्णन है और उसके बाद शृंगार रस का। संयोग और वियोग दोनों पक्षों के वर्णन के बाद नवरसों का वर्णन इसमें किया गया है। अधिकाश वर्णनो में हीरा, मोती, माणिक्य आदि आलंकारिक वस्तुओ का वर्णन प्रधान है। परंतु लक्षण और उदाहरण दोनों ही दृष्टियों से सेवादास का रसवर्णन दोषपूर्ण है। यह ग्रंथ ३४६ छंदों में पूर्ण हुआ है।

सेवादास की कविता सामान्य कोटि की, वर्णनप्रधान एवं अभिधात्मक है। विवरण संकेतपूर्ण एवं व्यंग्यात्मक नहीं है। अनेक स्थलों पर तो साधारण नामगणना और शब्दाडंबर सा जान पड़ता है। सेवादास की चित्तवृत्ति समृद्धि और ऐश्वर्य-वर्णन मे अधिक रमती है। उदाहरणार्थ :

> सुंदरता सु रची विधि ने सोधरी सुभ साजि धरी सुधरी।
> मनि मानिक जाल महा सजिकै पचा सुचि छोरनि वेलिहरी।
> सेवादास सदा सुष पावत है गुन गावत सारद बीन धरी।
> अवली वर हीरन की झलकैं सिय के पग जेहरि रूप भरी॥

प्रकृतिवर्णन के प्रसंग में भी सेवादास ने नाम गिनानेवाली परिपाटी का ही अनुसरण किया है। राधा-कृष्ण-विहार के प्रसंग में यह बात स्पष्ट है।

१५. बेनी बंदीजन कृत रसविलास

ये बेनी रायबरेली के रहनेवाले प्रसिद्ध भँड़ौआकार थे। ये अवध के प्रसिद्ध वजीर टिकैतराय (लखनऊ) के आश्रय में रहते थे। इन्होने ही लखनऊ के दूसरे बेनी को बेनी प्रवीन की उपाधि दी थी। इन्होंने टिकैतरायप्रकाश (टिकैतराय के नाम पर अलंकारग्रंथ) लिखा और लछमनदास के लिये रसविलास नामक ग्रंथ

रस और भावों पर लिखा। रसविलास ग्रंथ सं० १८७४ वि० में बना। यह काव्य की दृष्टि से महत्वपूर्ण है।

बेनी कवि की रचनाएँ प्रायः समाज की कुरीतियों और दुर्गुणों एवं वैयक्तिक अवगुणों की खिल्ली उड़ानेवाली हैं। इस दृष्टि से इनकी हास्यव्यंग्य से पूर्ण रचनाएँ बड़ा कठोर प्रहार करनेवाली हैं। लखनऊ की कीच पर इनका एक प्रसिद्ध छंद है:

> गड़ि जात बाजी और गयंद गन अड़ि जात,
> सुतुर अकड़ि जात मुसकिल गऊ की।
> दावन उठाय पाँय धोखे जो धरत,
> होत आप गड़काव रहि जात पाग मऊ की।
> बेनी कवि कहै देखि थर थर काँपै गात,
> रथन के पथ न बिपति बरदऊ की।
> बार बार कहत पुकारि करतार तोसों,
> मीच तौ कबूल पै न कीच लखनऊ की॥

इतनी कटु आलोचना आज का कोई पत्रसंपादक भी न कर पाएगा। इसके अतिरिक्त अन्य रसो के भी इनके छंद बड़े ललित हैं। नवीन बात कहने का मोहक और आकर्षक ढंग बेनी की कविता को स्मरणीय बना देता है, जैसे:

> करि की चुराई चाल, सिंह को चुरायो लंक,
> ससि को चुरायो मुख, नासा चोरी कीर की।
> पिक को चुरायो बैन, मृग को चुरायो नैन,
> दसन अनार, हाँसी बीजुरी गँभीर की।
> कहै कवि बेनी बेनी ब्याल की चुराइ लीनी,
> रती रती सोभा सब रति के सरीर की।
> अब तो कन्हैया जू को चितहू चुराय लीनो,
> छोरटी है गोरटी या चोरटी अहीर की॥

१६. पद्माकर का जगतविनोद

रीतिकाल के प्रसिद्ध कवि पद्माकर ने जयपुर के सवाई प्रतापसिंह के पुत्र जगतसिंह के लिये रस और नायिकाभेद पर जगतविनोद नामक ग्रंथ लिखा। यह कवित्व के गुणों से ओतप्रोत और पद्माकर की ख्याति का प्रमुख आधार है। इसमें यद्यपि नवरसों का वर्णन है, तथापि प्रमुखतया विवरण शृंगार का ही है, जैसा पद्माकर ने स्वयं लिखा है:

> नव रस में शृंगार रस, सिरे कहत सब कोइ।
> सुरस नायिका नायकहिं, आलंबित है होइ॥ ९॥

इस प्रकार सबसे पहले नायिकाभेद का वर्णन है। नायिकाभेद का वर्णन रसमंजरी की पद्धति पर है जिसमें उदाहरणों का सौंदर्य अतीव आकर्षक है। अष्टविधि नायिकाओं के लक्षण न देकर केवल उदाहरण दिए गए हैं।

इसके बाद नायकभेद का वर्णन है और उसके बाद दर्शन, उद्दीपन, नायक-सखा, सखीकर्म आदि का वर्णन किया गया है। पद्माकर ने षड्ऋतु का बड़ा ही विशद वर्णन किया है। अनुभाव, हाव, संचारी भाव, स्थायी भाव के वर्णन के बाद रसनिरूपण किया गया है।

रस के संबंध में पद्माकर का विचार है कि विभाव, अनुभाव, संचारी भावों से मिलकर जब वाणी के रूप में स्थायी भाव परिपूर्ण होता है, तब वह रस का रूप धारण करता है। यह स्थायीभाव की रस में परिणति दूध की दही में परिणति के समान है। यह रस नौ भाँति का है जिसका वर्णन अलग अलग पद्माकर ने किया है। प्रत्येक रस के स्थायी भाव, विभाव, अनुभाव, संचारी भाव, रसदेवता तथा भेद देकर उसका वर्णन किया गया है। रसों के उदाहरण तो पद्माकर के अत्यंत सुंदर हैं, इसमें किसी को भी संदेह नहीं हो सकता। वियोग शृंगार के प्रसंग में दस दशाओं का भी चित्रण है। ऐसे कम ग्रंथ हैं जिनमें शृंगार के अतिरिक्त अन्य रसों के भी प्रभावशाली उदाहरण दिए गए हों। इस दृष्टि से जगद्विनोद बड़ा ही सफल है। यह रसों का वर्णन करनेवाला अत्यंत सरस ग्रंथ है।

पद्माकर उत्कृष्ट प्रतिभासंपन्न कवि थे। पद्माकर के काव्य की दो विशेषताएँ सर्वोपरि हैं—एक दृश्ययोजना और दूसरी शब्दयोजना। इनकी शब्दावली दृश्य को सजीव रूप में प्रस्तुत करती है और इनकी दृश्यावली भाव की सृष्टि करनेवाली है। कल्पना की प्रसन्नता पद्माकर की रचनाओं में खूब मिलती है। यों तो पद्माकर ने सभी रसों और विविध भावों से युक्त छंद लिखे हैं, परंतु इनके अतिशय रमणीय चित्र आनंदोल्लास के हैं। सावन के झूले और वसंत के उत्सव के दृश्य मन को मुग्ध करनेवाले हैं। एक ही वजन के वर्णों और चेष्टाओं एवं घटनाओं का जगमगाता चित्र प्रस्तुत करनेवाले शब्दों के चयन में पद्माकर बड़े दक्ष हैं। दो छंद प्रमाणस्वरूप प्रस्तुत हैं :

चपला चमाकैं चहुँ ओरन तें चाह भरी,
चरजि गई ती फेरि चरजन लागी री।
कहै पद्माकर लवंगनि की लोनी लता,
लरजि गई ती फेरि लरजन लागी री।
कैसे धरौं धीर बीर त्रिविध समीरैं तन,
तरजि गई ती फेरि तरजन लागी री।
घुमड़ि घमंड घटा घन की घनेरी अबै,
गरजि गई ती फेरि गरजन लागी री॥ १॥

वा अनुराग की फाग लखी जहँ रागति राग किसोर किसोरी ।
त्यों पद्माकर घाली घली फिर लाल ही लाल गुलाल की झोरी ।
जैसी की वैसी रही पिचकी कर काहू न केसरि रंग में बोरी ।
गोरिन के रँग भीजिगो साँवरो साँवरे के रँग भीजिगी गोरी ॥२॥

१७. बेनी 'प्रवीन' कृत नवरसतरंग

बेनी प्रवीन का असली नाम बेनीदीन था। 'प्रवीण' उपाधि इनके समकालीन प्रसिद्ध भँड़ौआकार दूसरे बेनी ने इन्हें दी थी। ये लखनऊ के वाजपेयी थे। इनके पिता का नाम शीतल था। अवध के शाही दरबार में इनका और इनके परिवार का काफी संमान था। बेनी प्रवीन वल्लभ संप्रदायी वंशीलाल के शिष्य थे। इन्होंने गाजीउद्दीन हैदर के दीवान दयाकृष्ण के पुत्र नवलकृष्ण के लिये सं० १८७४ वि० में नवरसतरंग की रचना की थी, जैसा उनके निम्नांकित दोहे से स्पष्ट है :

समय देखि दिग दीप युत, सिद्धि चंद्र बल पाइ ।
माघ मास श्रीपंचमी, श्रीगोपाल सहाइ ॥ २७ ॥
नवरस में ब्रजराज नित, कहत सुकवि प्राचीन ।
सो नवरस सुनि रीझिहैं, नवलकृष्ण परवीन ॥ २८ ॥

बेनी 'प्रवीन' ने तीन ग्रंथों की रचना की—शृंगारभूषण, नवरसतरंग और नानारावप्रकाश। नवरसतरंग ही इनमें उपलब्ध है। इसमें नवरसों का वर्णन है। शृंगार का विशेष रूप से वर्णन हुआ है और नायिकाभेद का भी। नवरसतरंग का बहुत कुछ आदर्श पद्माकर का जगद्विनोद रहा। नायिकाभेद का वर्णन इसमें भानुदत्त की रसमंजरी के आधार पर है। अनेक स्थानों पर बेनी लक्षण न देकर शृंगारभूषण देखने की बात कहते हैं। इससे यह स्पष्ट है कि इनका शृंगारभूषण नवरसतरंग से पहले बना था। इसमें शास्त्रीय विवेचन महत्वपूर्ण नहीं है; हाँ, कविता, जो उदाहरणस्वरूप आई है, अत्यंत ललित है और देव तथा मतिराम की कविता से टक्कर लेती है। कवित्व संबंधी गुणों के कारण नवरसतरंग की ख्याति है।

बेनी की कविता सरस प्रवाह एवं गहरी भावुकता से युक्त है। चित्रात्मकता से साथ मर्मस्पर्शिता इसका विशेष गुण है। प्रेमभाव का एक चित्र देखिए :

मालिन ह्वै हरवा गुहि देत चुरी पहिरावै बने चुरिहेरी ।
नाइन ह्वै निरवारत केस हमेस करैं बनि जोगिनि फेरी ।
बेनी प्रबीन बनाइ बिरी, बरईन बने रहैं राधिका के री ।
नंदकिसोर सदा वृषभानु की पौरि पै ठाढे रहैं बने चेरी ॥

बेनी के प्रकृतिवर्णन के छंद भी बड़े विशद एवं प्रभावकारी हैं। पावस ऋतु का एक दृश्य यहाँ प्रस्तुत किया जाता है :

घहराती कछुक घटा घन की घहराती घुघुरनि बेलि घुही।
महराती समीर झकोर महा महराती समीर सुगंध बही।
तहँ राती गुविंद सों गोप सुता सिर ओढ़नियाँ फहराती सुही।
ठहराती महू करि नैननि में परि अंगनि मैं छहराती फुही॥

इस प्रकार वेनी के वर्णन भावपूर्ण, सजीव और मर्मस्पर्शी हैं। इनकी गणना उत्कृष्ट सरस कवियों की परंपरा में होती है।

१८. नवीन कवि कृत रंगतरंग

रंगतरंग नामक ग्रंथ इंडिया लिटरेचर सोसायटी द्वारा मुरादाबाद में १६०० वि० में छपा। इसे वृंदावनवासी नवीन कवि ने सं० १८६६ में नाभानरेश मालवेंद्रदेवसिंह की आज्ञा से लिखा। ये जसवंतसिंह के पुत्र थे। नवीन जी का अधिक वृत्त ज्ञात नहीं। रंगतरंग में सबसे पहले राजा की प्रशंसा, हाथी, घोड़ा, कमान, तोप, द्विजमंडली, वैद्य, कविराज, गायन, पुष्पवाटिका, नगर, प्रभुता का वर्णन है। नवीन ने मालवेंद्र के ही आश्रय में सरस रस, नेहनिदान नामक ग्रंथों की रचना भी की थी। फिर महाराज की आज्ञा से नवरस का अति रंगीन वर्णन करने के लिये नवीन ने रंगतरंग की रचना की। इसके उपलक्ष्य में प्राप्त दान का वर्णन नवीन जी ने इस प्रकार किया है :

रीझ चतुर महराज बर, गुन निधि मूरति काम।
दीने अब तिह मौज में साज बाज धन धाम॥ २६॥
बसन दिए भूषन दिए दिए मतंग ख़तंग।
ग्राम दिए निज नाम हित, सुनिकरि रंगतरंग॥ २७॥
रसिक कबिन सों मौज यह माँगत दीन नवीन।
गहे मौन लखि चूक के देहिं सँभार प्रबीन॥ २८॥

रचनाकाल संबंधी दो दोहे पुस्तक में हैं। एक प्रारंभ में और एक अंत में :

प्रभु सिधि निधि पर सिध सरस, शुभ समत सुख सार।
कीनों रंगतरंग बर, ग्रंथ आइ अवतार॥ २९॥

तथा

ठारह से निन्यानवे संवतसर निरधार।
माधव सुकला तीज गुरु भयो ग्रंथ अवतार॥

नायिकालक्षण नवीन का इस प्रकार है :

रूप गुन जोबन की होइ अधिकाई जेह,
चित उरझाई चिह्न ऐसे पहिचानिए।

सूरति सिंगार की सी पूरित सिंगारन सों,
कोविद कुलीन जो नवीन जिय जानिए।
साँचे के ढरे से अंग जैसे जहाँ जोग जाके,
सील भरी सुंदर असील उर आनिए।
नैन मैन लाइका हिए की सुखदाइका,
सरस जामें जाइका सो नाइका बखानिए॥

नवीन का यह लक्षण शास्त्रीय से अधिक अनुभूत है।

नायिका-भेद-विवरण इस प्रकार है—स्वकीया, परकीया, गणिका। स्वकीया के मुग्धा, मध्या, प्रौढ़ा। मुग्धा के ज्ञातयौवना और अज्ञातयौवना। फिर नवोढ़ा, विश्रब्धा। मध्या के रतिप्रीता और आनंदसंमोहा। मध्या और प्रौढ़ा के धीरा, अधीरा, धीरा। ज्येष्ठा, कनिष्ठा। परकीया के ऊढ़ा, अनूढ़ा तथा गुप्ता, विदग्धा, अनुशयना, लक्षिता, मुदिता और कुलटा। सामान्या के भेद नवीन ने नहीं लिखे हैं। इसके बाद अवस्थाभेद से दस प्रकार इन्होने लिखे हैं। प्रोषितपतिका, खंडिता, कलहांतरिता, विप्रलब्धा, उत्कंठिता, वासकसज्जा, स्वाधीनपतिका, अभिसारिका, प्रवत्स्यत्पतिका, आगतपतिका। अधिकांश आचार्यों ने आठ ही अवस्थाभेदों का वर्णन किया है। रसमंजरीकार ने दस भेद किए हैं। नवीन जी का यह नायिका-भेद-वर्णन रसमंजरी के आधार पर ही है जो हिंदी के उत्तर रीतिकाल में परंपराबद्ध हो चुका था। इसके बाद उत्तमा, मध्यमा और अधमा नायिकाओं का वर्णन नवीन ने किया है। नायकभेद का भी परंपरागत वर्णन है। इसके बाद चार प्रकार के दर्शन—श्रवण, चित्र, स्वप्न और साक्षात्—का वर्णन है। उपर्युक्त सब वर्णन रंगतरंग की 'आलंबन विभाव' नामक प्रथम तरंग में किया गया है।

द्वितीय तरंग उद्दीपन विभाव की है। इसमें सखा, सखी, दूती, उपवन, बाग, विहार, षड्ऋतु आदि का वर्णन है। नायकसखाओं में पीठमर्द, विट, चेट और विदूषक हैं। सखीकर्म में मंडन, शिक्षा, उपालंभ, परिहास आदि का वर्णन है। षड्ऋतुवर्णन इनका बड़ा ही विशद है।

तृतीय तरंग में अनुभाव का वर्णन है जिसके लिये 'नवीन' का लक्षण यह है :

जिनते अनुभव होत है चित में रति को भाव।
ते अनुभाव बखानहीं, रस के सब कविराव॥

अनुभावों के साथ ही सात्विक भावों और दुखों का भी वर्णन किया गया है। इनके उदाहरण बड़े ही सुंदर हैं। चतुर्थ तरंग में संचारी भावों का वर्णन किया गया है। संचारी भावों का लक्षण नवीन जी ने इस प्रकार दिया है :

थाई भावन में रहैं, आवत जात हमेश।
नवरस माहीं संचरे हैं संचारी तेस ॥ २ ॥
थाई भावन में सदा या विधि प्रगट बिलाहिं।
जैसे लहर समुद्र में उठत उठत बिनसाहिं ॥ ३ ॥

पंचम विलास में रसवर्णन किया गया है। रस के स्वरूपविवेचन में नवीन ने लिखा है :

मिलि बिभाव अनुभाव अरु, बिभचारी के जाल।
थाई परिपूरण भयो, रस को रूप रसाल।
तन बिकार को पाइ ज्यों, होत छीर दधि रूप।
त्यों थिर भावहि होत रस बरनत सुकबि अनूप ॥

इस प्रकार भरतादि के मतानुसार रस का परंपरागत स्वरूप स्पष्ट करके अलग अलग रसों का वर्णन रंगतरंग मे किया गया है। वियोग शृंगार के प्रसंग मे मान तथा दस दशाओ का भी वर्णन है। स्मृति का एक उदाहरण है :

ललित कदंबन की गहरी कलित छाया,
मंद मंद ढलक समीर अति सीरे की।
नाचि चहुँ ओर मोर बीच में किसोर ठाढे,
छाइ रही बाँसुरी की घोर सुर धीरे की ॥
भूलत न भौंह की मरोर मुसकान मंजु,
कुंज के संकेत हित सैन सुख नीरे की।
नैननि में लहरे लहरदार फेंटा अजौं,
फहरै हिरै में फहरान पट पीरे की ॥

शृंगार के अतिरिक्त अन्य रसों में वीर रस का अच्छा वर्णन है। शेष रसो का वर्णन साधारण कोटि का है। रसवर्णन की पंचम तरंग के बाद ग्रंथपूर्णता के कवित्तों के साथ रंगतरंग समाप्त हुआ है।

रंगतरंग के कुछ सुंदर उदाहरण, जो इसकी काव्यगत विशेषता पर प्रकाश डालते हैं, यहाँ दिए जाते हैं :

पावस के घन ऐसे घूमत चलत झूमि,
झूमि पै नगर मनों चलत पहार ये।
ऐंड़दार डरत न मानें कान आँकुस की,
दिल की दलेलैं केलैं सेर की सिकार ये।
महामतिवारे औ अनूप गतिवारे गज,
सोचत सचीपति हूँ मन में बिहार ये।

बखत बलंद जसवंतसिंह जू के नंद,
              डारै तेरे बैरिन की आँखिन में झार पे ॥ १ ॥
हालिब खबावत मरालिब सों पीलवान,
              दान झर कुंभन ते बहत बलावली।
महुरा करत घूम झूम पै मधुंडन के,
              दंतन के दाब थाम पायन मलामली।
भूप मालवेंद्र के दराज गजराज ऐसे,
              देखें होत दुर्जन के दिलन दलावली।
झीनी झीनी झनक जँजीरन की झूमन में,
              झालरी झमक्क झक्क झूलन झलाझली ॥ २ ॥

यह वर्णन मालवेंद्र के हाथियों का है। इससे स्पष्ट है कि इनके वर्णन बड़े रोचक होते हैं। एक संदेहालंकार से युक्त नायिका का वर्णन देखिए :

लसै लीक सी जाकी गुराई की नैननि,
              अंगनि की अभिरामिनी है।
चमकै झमकै दमकै दुति देह,
              दुरी दरसे गजगामिनी है।
कारी आई नवीन सी को ब्रज में,
              तकिबे निस को मुहि लामिनी है।
पर स्याम घटा में घिरी तड़पै,
              यह कामिनी है किधौं दामिनी है ॥ ३ ॥

विरहवर्णन भी नवीन जी का बड़ा ही मार्मिक है। एक प्रोषितपतिका का पावस ऋतु मे विरहानुभव कितना मर्मस्पर्शी है, देखिए :

बहुत दिना ते एक पाती को न पाइबो औ,
              दूजे पुरवा को चलि छाती को जरायबो।
तीजे घटा घन को घुमंड घिर आयबो त्यों,
              मोरन को ओर बाँध सोर को मचायबो।
बिरह बलाय लाय उर में लगाय चौथे,
              चपला को चौंध के कृपान चमकायबो।
तापै और बादल बिषाद ज्यों ज्यों आवे याद,
              चातक की बोली सुने प्यारी को बुलायबो ॥ ४ ॥

नवीन जी की भाषा भी बड़ी ही प्रवाहपूर्ण है; साथ ही, इनके वर्णन दृश्य को सजीव रूप में प्रस्तुत कर भाव को जागृत करनेवाले हैं।

पावस ऋतु के झूले के प्रसंग का एक छंद इस प्रकार है :

फूलत कुसुम बल बल्लिन भरे हैं बंद,
सघन कदंबन में गुंज अलि जोरे की ।
मोरन को सोर सीरी पवन झकोर घन-
घोर घोर परत फुहार जल थोरे की ।
गावैं तिय तीजैं भीजैं चूनरी नवीन रंग,
जागि रही जोति की तरंग अंग गोरे की ।
उझकि उझकि झूमि झूमि झीने झोंका लेत,
झूलत हिए में अजौं झूलनि हिंडोरे की ॥ ६ ॥

इस प्रकार कवित्त और विवेचन दोनों ही दृष्टियों से यह ग्रंथ सुंदर और महत्वपूर्ण है ।

१६. चंद्रशेखर वाजपेयी कृत रसिकविनोद

चंद्रशेखर वाजपेयी असनी (जिला फतेहपुर) के निकट मौजाबाद के निवासी थे । पिता का नाम मनीराम वाजपेयी था । चंद्रशेखर का जन्म सं० १८५५ वि० में हुआ था । ये संस्कृत के विद्वान् और भाषाकवि थे । २२ वर्ष की आयु में ये दरभंगा पहुँचे जहाँ इनका बड़ा संमान हुआ । इसके बाद जोधपुर के राजा मानसिंह के यहाँ ६ वर्ष रहे । वहाँ से कश्मीरनरेश महाराज रणजीतसिंह के यहाँ जाने के लिये प्रस्थान किया । मार्ग में पटियालानरेश से बहुत संमान प्राप्त कर वहीं रह गए । इनका सं० १६३२ वि० मे स्वर्गवास हुआ । इनका वीर रस का प्रसिद्ध काव्य हम्मीरहठ है । इनके अन्य ग्रंथ नखशिख, वृंदावनशतक, गुरुपंचाशिका, ताजक, माधवीवसंत, हरि-मानस-विलास, रसिकविनोद आदि हैं । चंद्रशेखर का शृंगार एवं नायिकाभेद पर लिखा ग्रंथ रसिकविनोद है । इसके मंगलाचरण में कवि ने लिखा है :

नव निकुंज नव राधिका, नव नागर नँद नंद ।
मित शेखर बंदत चरन, उपजत नव आनंद ॥ ५ ॥

इनके आश्रयदाता नरेंद्रसिंह का वंशवृक्ष इस प्रकार है :
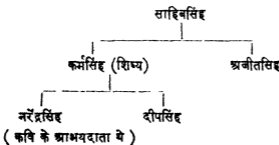
नरेंद्रसिंह की प्रेरणा से इस ग्रंथ की रचना हुई, जैसा निम्नांकित दोहों से प्रकट है :

तब शेखर मन में कह्यो, महाराज के हेत।
ग्रंथ नायिकाभेद को, रचिए रसनि समेत ॥ २८ ॥
कृपा नरेंद्र मृगेस की, बरनन कियो विसेस।
तब ते सेखर चित जलज, प्रफुलित रहत हमेश ॥ २९ ॥
बरनत नवरस रीत सौं लक्षण लक्ष समेत।
कृपासिंधु सब सुकवि जन, लैहैं सोधि सहेत ॥ १२ ॥

कर्मसिंह की दानवीरता के संबंध में चंद्रशेखर ने लिखा है :

सलिल सिमिट सरिता भई, कर्मसिंह के दान।
कहो कौन कवि कहि सके, ताको बाँधि प्रमान ॥ ११ ॥

चंद्रशेखर कर्मसिंह के गुरु थे। यह बात निम्नांकित छंद से प्रमाणित है :

शेखर गुरु के चारु चरन सरोजन को,
प्रेम मकरंद ताको रसिक रसाल भो।
काल रिपुगन को कराल द्विज दोषिन को,
भालबली बीर कर्मसिंह महिपाल भो ॥ १२ ॥

सबसे पहले इन्होंने लक्षणा का लक्षण लिखकर उसमें अतिव्याप्ति, अव्याप्ति और असंभव, इन तीन दोषों का वर्णन किया है। गूढ़ व्यंग्य और अगूढ़ व्यंग्य का उल्लेख करके मम्मट के मतानुसार उनके लक्षणा अभिधामूल और लक्षणामूल व्यंग्यभेदों में स्पष्ट किए गए हैं। इन व्यंग्यों से नायिका नायक का ज्ञान होता है। अतः इनका विवरण, इस प्रकार शेखर ने पहले दिया है। इसके बाद नायिकाभेद का वर्णन है। यह वर्णन इस प्रकार है—नायिका के तीन भेद हैं—स्वकीया, परकीया, सामान्या। स्वकीया के तीन भेद—मुग्धा, मध्या, प्रगल्भा। मुग्धा के दो भेद—ज्ञातयौवना, अज्ञातयौवना। नवोढ़ा, विश्रब्धनवोढ़ा। प्रौढ़ा के दो भेद—रतिप्रीता, आनंदसंमोहा। मध्या और प्रौढ़ा के तीन भेद—धीरा, अधीरा, धीराधीरा। इसके अतिरिक्त ज्येष्ठा, कनिष्ठा।

परकीया के ऊढा, अनूढा, तथा गुप्ता, विदग्धा, लक्षिता, कुलटा, मुदिता, अनुशयना। गुप्ता के तीन भेद—भूतगुप्ता, वर्तमानगुप्ता, भविष्यगुप्ता। विदग्धा के वचनविदग्धा, क्रियाविदग्धा। अनुशयना के संकेत विघटन अनुशयना, भाविस्थान शंक्या अनुशयना, अनुमानशंक्यानुशयना।

सामान्या के अन्यसुरतदुःखिता, गर्विता, मानवती। गर्विता के रूपगर्विता, प्रेमगर्विता भेद हैं।

इसके बाद अष्टविध नायिका का वर्णन है जो ये हैं—खंडिता, कलहांतरिता विप्रलब्धा, उत्कंठिता, वासकसज्जा, स्वाधीनपतिका, अभिसारिका, विरहिणी। ये भेद अधिकतर रसमंजरी के आधार पर हैं। केवल विरहिणी को प्रोषितभर्तृका के स्थान पर कर दिया गया है। ये भेद स्वकीया और सामान्या सभी के होते हैं।

नायकभेद भी रसमंजरी के अनुसार ही है जो ये हैं—पति, उपपति, वैशिक। पति के अनुकूल दक्षिण, धृष्ट, शठ आदि।

इसके उपरात रसवर्णन है। रस के संबंध में शेखर का विचार है :

बरनत हैं सब सुकवि जन, रस कविता को सार।
तामैं भाव प्रधान है, ताको करो विचार॥

भाव को इन्होंने मनोविकार माना है। ये तीन प्रकार के हैं—स्थायी, अनुभाव और संचारी। इसके अतिरिक्त भाव का मुख्य लक्षण इन्होंने अलग इस प्रकार दिया है :

इष्ट वस्तु अनुकूल है, जहाँ मगन मन होइ।
ताकी इच्छा वासना, प्रगट भाव है सोइ॥ २४१॥

यह चार प्रकार का—विभाव, स्थायी भाव, अनुभाव और संचारी—है। अनुभाव और संचारी का भेद देते हुए शेखर ने लिखा है :

जे रस को अनुभव करैं, ते अनुभाव बखानि।
बहु बिधि बिहरैं रसनि मैं, ते संचारी जानि॥ २४४॥

रसवर्णन के प्रसंग को इन्होंने भरतमत के अनुसार वर्णन करने का उल्लेख किया है। अनुभाव का लक्षण शेखर कवि इस प्रकार देते हैं :

उरगत थाई भाव को, जाते अनुभव होइ।
ताहि कहत अनुभाव हैं, भरतमतो कवि जोइ॥ २७२॥
बैन नैन अरु अंग सब, मन विकार अनुकूल।
ईहा प्रगटत आपनी, सो अनुभव को मूल॥ २७३॥

परंतु भरत के नाट्यशास्त्र में इस विषय का उल्लेख भिन्न प्रकार से है। भरत के मतानुसार :

वागंगाभिनयेनेह यतस्त्वर्थोनुभाव्यते।
वागंगोपांगसंयुक्तस्त्वनुभावस्ततः स्मृतः॥ ५॥

—नाट्यशास्त्र, पृ० ८०

इस प्रकार भरत के मत का स्वच्छंदतापूर्वक कथन यहाँ पर हुआ है। रस का निरूपण भी इन्होंने भरत का मत ग्रहण करते हुए भी स्वच्छंदतापूर्वक किया है। जैसे :

लहि विभाव अनुभाव अरु, संचारिन के संग ।
वर्तमान थिर भाव जो, सो रस जान अभंग ॥ २८७ ॥

यह 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्ति' के आधार पर साफ ढंग से कहा गया है। नवरसों का स्पष्ट निरूपण आगे किया गया है। संयोग शृंगार के प्रसंग में हावों का सुंदर वर्णन है। भाववर्णन रसतरंगिणी का आधार अधिक लिए हुए है।

इस ग्रंथ की रचना सं० १६०३ में हुई थी, जैसा नीचे लिखे दोहे से प्रकट है :

संवत राम[३] अकाश[०] ग्रह[९], पुनि आतमा विचार ।
माघ शुक्ल ससि सप्तमी भयो ग्रंथ अवतार ॥ ७४७ ॥

ग्रंथ में ७४७ छंद हैं और यह चंद्रवंशावतंश महाराज नरेंद्रसिंह के लिये चंद्रशेखर द्वारा लिखा गया। ग्रंथ के अंतर्गत उदाहरण स्वरूप आए छंद सरस एवं सुंदर हैं और कवि के भाषा पर अधिकार एवं वर्णनपटुता के द्योतक हैं। सभी रसों के उदाहरण सुंदर हैं। प्रमाणस्वरूप एक वीर और वियोग शृंगार का उदाहरण दिया जाता है :

बाजिन के ठट्ट औ गरट्ट गजराजन के,
गाजत तराजत सुभट्ट सरसेत मैं ।
बज्जत निसान आसमान मैं गरद छाई,
बोलत बिरद हद बंदी बीर खेत मैं ।
इंद्र ज्यौं उमंडि चढ़ो सेखर नरेंद्रसिंह,
अंगन उमंग बढ़ी समर सचेत मैं ।
लाली चढ़ी बदन बहाली चढ़ी बाहन पै,
काली सी कराली करबाली हयखेत मैं ॥ १ ॥

चंदन पंक गुलाब को नीर सरोज की सोजन जाति जरी सी ।
हारि थकी उपचारन कौ करिकै डर और ही आगि भरी सी ।
सेखर प्यारो गयौ परदेस परी तब ते धुति हीन परी सी ।
छीन भई तिय दीन दसा तलफै जलहीन परी सफरी सी ॥ २ ॥

२०. ग्वाल

ग्वाल का जीवनवृत्त तथा इनका रस एवं नायक-नायिका-भेद संबंधी निरूपण सर्वांगनिरूपक आचार्यों के प्रसंग में यथास्थान देखिए।

(ख) शृंगार-रस-निरूपक आचार्य और उनके ग्रंथ

सर्व-रस-निरूपक ग्रंथों के प्रसंग में हमने देखा है कि उनमें अधिकतर शृंगार रस और नायिकाभेद का वर्णन तो अधिक विस्तार से हुआ है, परंतु अन्य रसों का विवरण अत्यल्प है। इसी प्रकार शृंगार रस का निरूपण करनेवाले ग्रंथों में भी नायिकाभेद का वर्णन अधिक विस्तार से मिलता है। शृंगार रस के साथ नायिका-भेद अनिवार्य सा हो गया था। जैसा पहले कहा जा चुका है रीतियुग (सं० १७०० से १६०० वि०) के पूर्व दो तीन ग्रंथ ही इस विषय पर मिलते हैं। वे ग्रंथ भी नायिकाभेद के ही हैं।

शृंगार रस पर लिखा ग्रंथ सुंदरशृंगार है। सुंदरशृंगार संवत् १६८८ की रचना है। सुंदर शाहजहाँ के दरबारी कवि थे और उन्हें बादशाह ने महाकवि की उपाधि प्रदान की थी। समस्त रसों में शृंगार श्रेष्ठ है, इस बात को मानते हुए इस ग्रंथ में शृंगार रस का वर्णन है। साथ ही, शृंगार का आलंबन नायिका है, अतः इसमें नायिकाभेद का वर्णन किया गया है। नायिकाभेद का आधार रसमंजरी जान पड़ता है। अनुराग को सुंदर कवि दो रूपों में प्रकट करते हैं—एक दृष्टानुराग और दूसरा श्रुतानुराग। भाव का लक्षण भरत के मतानुसार दिया गया है और फिर आठ सात्विक भावों और १६ प्रकार के हावों का वर्णन किया गया है। वियोग शृंगार का वर्णन केशव की रसिकप्रिया जैसा है। विरह की दस दशाओं में सुंदर कवि ने नौ का वर्णन किया है, दसवीं अवस्था मरण का वर्णन नहीं।

सुंदरशृंगार में लक्षण सामान्य किंतु स्पष्ट हैं और उदाहरण भी अच्छे हैं। लक्षणों में दोहरा या हरिपद छंदों का प्रयोग है। शृंगार रस का इस ग्रंथ में पूरा वर्णन है, केवल संचारी भाव नहीं है।

प्रारंभ में लिखा है, किंतु प्रसिद्ध ग्रंथ होने के कारण सुंदरशृंगार ग्रंथ की काफी ख्याति रही। इसका उल्लेख बाद मे आनेवाले लेखकों ने प्रायः किया है।

सुंदरशृंगार को रीतियुग की परंपरा में ही समझना चाहिए। क्योंकि लगभग उसी समय चिंतामणि, मतिराम आदि का भी काव्यकाल प्रारंभ होता है। इस युग के ग्रंथों में केशव के समान कवि का अपना व्यक्तित्व विषयविवेचन में दृष्टिगत नहीं होता। रीतियुगीन कवियों का व्यक्तित्व तो अधिकांशतः उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत कविता में देखा जा सकता है।

१. मंडनकृत रसरत्नावली

मणिमंडन मिश्र जैतपुर (बुंदेलखंड) के निवासी थे। इनका जन्म सं० १६६० में हुआ था। कुछ लोगों ने इन्हें भूषण और मतिराम का भाई माना है जो निराधार है। इनके बनाए ग्रंथ रसरत्नावली, रसविलास, जनकपचीसी, जानकी जू को बिवाह, नैनपचासा, पुरंदरमाया (१७१६) हैं।

रसरत्नावली—(अपूर्ण) में, कविता के सार रूप रस का वर्णन किया गया है। पहले सभी रसों के नाम हैं। भरत मतानुसार आठ स्थायी भावों का वर्णन है। रसाभास के संबंध में इनका कथन है :

रस जे होइ निबृक्त वै, ते कहिए आभास।
जैसे चेरी को जयनि, हाँसी गुरुजन पास॥ ११॥

विभावानुभाव संचारी से स्थायी का जागना ही रस है। जैसे दूध से दही हो जाता है वैसे ही स्थायी रस में परिणत हो जाता है। इसके बाद आलंबन, उद्दीपन (विभाव), अनुभाव आदि का उल्लेख और ३३ संचारी भावों का वर्णन है। शृंगार को समस्त रसों का राजा मानकर इसका वर्णन पहले किया गया है।

नायक का लक्षण इस प्रकार दिया गया है :

नाइक सुघरु सुहावनो, सरस सुसील कुलीन।
परकाजी परस्वारथी, पंडित परम प्रवीन॥
पंडित परम प्रवीन, दीन दुखमोचन दाता।
धीर धर्म रुचि धनी, गीत गाथा गुन पाता॥
चौंसठि कला निधान, ग्यान सोभा सब लायकु।
मंडन रस सिंगारु होइ आलंबनु नायकु॥ २०॥

नायक चार प्रकार के हैं। अनुकूल, दक्षिण, शठ, धृष्ट। दूती तीन प्रकार की हैं—उत्तम, मध्यम और अवर। अवर वह है जो अधिक न जानकर केवल कहा हुआ संदेशा दे देती हैं।

नायिका नायक के समान गुणवाली होती है। नायिकाभेद का क्रम इस प्रकार है : स्वकीया, परकीया, सामान्या (गणिका)। स्वकीया के मुग्धा, मध्या, प्रौढ़ा। मुग्धा के नवमदना, नवयौवना, नवभूषनरुचि, अतिलज्जा, अतिडरपनी, रतवामा (नवोढा) मध्या के भेद लघुलज्जा, चित्ररति, बंकविलोकनि, उन्नतयौवना हैं। प्रौढ़ा—रतिव्यसनी, रतिमोहिनी, लाजनिदरनी, मटकुनी आदि लक्षणोंवाली है। इनके धीराअधीरा तथा धीराधीरा भेद कहे गए हैं। साथ ही सरस, नीरस ये दो भेद मंडन ने नए कहे हैं। ये भेद परकीया के हैं। ऊढ़ा, अनूढ़ा, दो परकीया और १३ स्वकीया के भेद के साथ स्वाधीनपतिका आदि आठ दशाभेदों का वर्णन मंडन ने किया है। इसके बाद प्रति खंडित है।

यह ग्रंथ मंडन को विद्वान् और कवि दोनों सिद्ध करता है। मंडन की रचना बड़ी सरस है। इनकी भाषा सरल और शैली सुबोध है। वचनविदग्धा का एक उदाहरण उनकी काव्यगत विशेषताओं को स्पष्ट करेगा :

सखी हौं जो गई जमुना जल को, सु कहा कहौं बीच बिपत्ति परी।
घहराइ के कारी घटा उनई, इतनेई में गागरि सीस धरी।
रपट्यो पग घाट चढ्यो न गयो, कवि मंडन ह्वैके बेहाल गिरी।
चिर जीवहु नंद को बारो अरी, गहि बाँह गरीब ने ठाढ़ी करी॥

२. मतिराम कृत रसराज

रससिद्ध कवि मतिराम चिंतामणि और भूषण के भाई थे। ये कानपुर जिले के टिकमापुर ग्राम के रहनेवाले कहे जाते हैं। पिता का नाम रत्नाकर त्रिपाठी था। ये कश्यपगोत्रीय कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। टिकमापुर जमुना के निकट छोटा सा ग्राम है। इसी के पास बीरबल का बनवाया हुआ विहारेश्वर का मंदिर है। मतिराम के वंश में अनेक कवि हुए जिनमें चरखारी के महाराज विक्रमादित्य के आश्रित बिहारीलाल विशेष प्रसिद्ध थे। ये मतिराम के पौत्र थे। मतिराम ग्रंथावली के संपादक पंडित कृष्णबिहारी मिश्र ने मतिराम का जन्मकाल संवत् १६६० के लगभग और स्वर्गवास सं० १७५० के लगभग माना है। मतिराम अनेक राजाओं के आश्रय में गए थे जिनमें बूँदी राज्य के अधिपति हाड़ा छत्रसाल, राव भाऊसिंह, जहाँगीर, राजा उदोतसिंह के पुत्र ज्ञानचंद, श्रीनगर के फतेहसाहि बुंदेला प्रसिद्ध हैं। मतिराम की प्रसिद्ध रचनाएँ ये हैं—ललितललाम, रसराज, फूलमंजरी, छंदसार पिंगल, सतसई, साहित्यसार, लक्षणशृंगार और अलंकारपंचाशिका। इन ग्रंथों में अत्यधिक प्रसिद्ध और प्राप्त इनके दो ग्रंथ हैं—(१) ललितललाम और (२) रसराज। समस्त रीतियुग में इन दोनों ग्रंथों की अपने काव्यलालित्य के कारण धूम रही। ललितललाम अलंकार का ग्रंथ है और चंद्रालोक की पद्धति पर है। रसराज शृंगार और नायिकाभेद का ग्रंथ है जो अपने सुकुमार भावों और काव्यसौदर्य के लिये रसिकों का कंठहार बना हुआ है। मतिराम सरस, ललित एवं सुकुमार रचना के धनी हैं।

रसराज में शृंगार और नायिकाभेद का निरूपण—

रसराज, जैसा उसके नाम से ही प्रकट है, शृंगार का, जो रसों का राजा है, निरूपण करनेवाला ग्रंथ है। परंतु प्रधानतया इसमें नायिकाभेद का विस्तार है। यह शृंगार के आलंबन नायिका-नायक-वर्णन से प्रारंभ किया गया है। नायिका, मतिराम के विचार से, वह है जिसको देखकर चित्त के भीतर रसभाव की उत्पत्ति होती है। नायिका के अनेक भेदों के मतिराम के उदाहरण अत्यंत मनमोहक हैं। नायिका का वर्णन करनेवाला इनका सवैया बड़ा प्रसिद्ध है जो सरस एवं रमणीय काव्य का सुंदर नमूना है :

कुंदन को रँग फीको लगै झलकै अति अंगन चारु गुराई।
आँखिन में अलसानि चितौनि में मंजु बिलासन की सरसाई॥
को बिन मोल बिकात नहीं, मतिराम लहै मुसकानि मिठाई।
ज्यों ज्यों निहारिए नेरे ह्वै नैननि त्यौं त्यौं खरी निकरै सी निकाई॥

इनका नायिकाभेद का आधार रसमंजरी है। इन्होंने स्वकीया, परकीया और गणिका, तीन नायिकाएँ मानी हैं। स्वकीया के तीन भेद हैं—मुग्धा, जो लज्जा के कारण पतिसंग में झिझकती है, नवोढ़ा कहलाती है[1], और जो प्रीतम को कुछ कुछ पतियाती है वह विश्रब्धनवोढ़ा होती है। मध्या और प्रौढ़ा के धीरा, अधीरा धीराअधीरा भेद हैं। परकीया के ऊढा, अनूढा तथा गुप्ता, विदग्धा, लक्षिता, कुलटा, मुदिता, अनुशयना भेदों का वर्णन मतिराम ने किया है। परकीया का इतना ही प्रकरण है[2]।

गणिका के बाद अन्यसंयोगदुःखिता, प्रेमगर्विता, रूपगर्विता, मानवती नायिकाओं का वर्णन मतिराम ने किया है। ये भेद स्वकीया के हैं जिसका संकेत मतिराम ने नहीं किया। इसके बाद दशविध नायिका—प्रोषितपतिका, खंडिता, कलहांतरिता, विप्रलब्धा, उत्कंठिता, वासकसज्जा, स्वाधीनपतिका, अभिसारिका, प्रवत्स्यत्प्रेयसी और आगतपतिका—का वर्णन है। सरल, सीधे लक्षण तथा सुंदर उदाहरण रसराज की विशेषता है। ये भेद तीनों ही प्रकार की नायिकाओं के लिए जा सकते हैं। इसके बाद उत्तमा, मध्यमा और अधमा नायिकाओं का वर्णन है। मतिराम का यह वर्णन भी रसमंजरी के आधार पर है और प्रायः स्वीकृत पद्धति पर है। अधिकांश लोगों ने इसी प्रकार नायिका-भेद-निरूपण किया है।

नायकभेद में पति, उपपति, वैसिक, ये तीन भेद किए गए हैं। इसके बाद चार प्रकार के नायकों—अनुकूल, दक्षिण, शठ और धृष्ठ—का उल्लेख है। ये नायक के पतिभेद के अंतर्गत हैं। उपपति और वैसिक का अलग वर्णन है। मानी, वचन-चतुर और क्रियाचतुर, इन तीन प्रकार के नायकों का वर्णन इसके अतिरिक्त है।

इसके बाद मतिराम ने दर्शन को चार रूपों—श्रवण, स्वप्न, चित्र और साक्षात्—में प्रस्तुत किया है। इसके साथ उद्दीपन, परिहास, दूती आदि के वर्णन के पश्चात् अनुभाव, सात्विक भाव, हाव, संयोग शृंगार का सुंदर वर्णन किया गया है। वियोग शृंगार के पूर्वानुराग, मान, प्रवास, इन तीन भेदों का वर्णन है, करुणात्मक का नहीं, जिसका देव आदि परवर्ती कवियों तथा पूर्ववर्ती आचार्य केशवदास ने वर्णन

[1] रसराज, छं० ६, १०, ११, १७-१८, २४
[2] वही, छं० २४-६१

किया है। वियोग की दस दशाएँ मानी गई हैं, परंतु मतिराम ने नौ का ही वर्णन किया है। मरण दशा का वर्णन नहीं है। इन वियोगदशाओं के वर्णन के साथ ही ग्रंथ समाप्त हुआ है। मतिराम का यह वर्णन भी रसमंजरी के आधार पर है।

जैसा पहले कहा जा चुका है, मतिराम ने नायिका-भेद-वर्णन बँधी परिपाटी पर किया है। अतः विवेचन या सिद्धांत संबंधी कोई विशेष बात मतिराम में नहीं मिलेगी। परंतु इनके स्पष्ट लक्षणों के उदाहरण काव्य की निधि हैं। उन्माद दशा का एक उदाहरण यह है :

> **जा छिन ते 'मतिराम' कहै, मुसुकात कहूँ निरख्यो नँदलालहिं।**
> **ता छिन ते छिन ही छिन छीन, बिथा बहु बाढ़ी बियोग की बालहिं।**
> **पोंछति है कर सों किसलै गहि बूझति स्याम सरीर गुपालहिं।**
> **भोरी भई है मयंकमुखी, भुज भेंटति है भरि अंक तमालहिं॥**

मतिराम की कविता सुकुमार भावना और कोमल कल्पना के सहज गुणों से संपन्न है। इनकी अलंकारयोजना अनुभूति को स्पर्श करनेवाली है। इनके चित्रण व्यक्ति, वस्तु और भाव को सजीव रूप से प्रस्तुत करने की विशेषता रखते हैं। इनकी शैली सुसंस्कृत किंतु मर्मस्पर्शी है। मधुर, स्निग्ध भावावली के वर्णन में मतिराम अद्वितीय हैं। उदाहरण के लिये दो छंद देखिए :

> **गौने के द्यौस सिंगारन को मतिराम सहेलिन को गन आयो।**
> **कंचन के बिछुआ पहिरावत प्यारी सखी परिहास बनायो।**
> **पीतम स्रौन समीप सदा बजैं यौं कहिकै पहिलै पहिरायो।**
> **कामिनी कौल चलावन कौ कर ऊँचो कियो पै चल्यो न चलायो॥ १॥**
>
> **मोरपखा मतिराम किरीट में कंठ बनी बनमाल सुहाई।**
> **मोहन की मुसकानि मनोहर कुंडल डोलनि में छबि छाई।**
> **लोचन लोल बिसाल बिलोकनि को न बिलोकि भयो बस माई।**
> **वा मुख की मधुराई कहा कहौं मीठी लगै अँखियान लुनाई॥ २॥**

२. देव

देव के जीवनवृत्त तथा उनके शृंगार एवं नायिका-भेद-विवेचन के लिये सर्वांगनिरूपण के प्रसंग में यथास्थान देखिए।

देवकृत भवानीविलास की ही पद्धति पर कृष्ण भट्ट देवऋषि द्वारा लिखा शृंगार-रस-माधुरी ग्रंथ है। इसमें वर्णन नवरसों का है, परंतु वे शृंगार के रूप से ही लगते हैं। भवानीविलास में देव ने इस बात का स्पष्ट उल्लेख कर दिया है, परंतु शृंगार-रस-माधुरी में यह उल्लेख नहीं है। इस कारण इसका विवेचन सर्व-रस-निरूपण करनेवाले ग्रंथों के प्रकरण में पहले किया जा चुका है।

दिल्लीपति मुहम्मदशाह की आज्ञा से आजम कवि ने संवत् १७८६ वि० में शृंगारदर्पण नामक शृंगारग्रंथ रस और नायिकाभेद पर लिखा। कवित्व और विवेचन दोनों ही की दृष्टि से यह साधारण श्रेणी का ग्रंथ है।

४. सोमनाथ

सोमनाथ का जीवनवृत्त तथा इनके शृंगार एवं नायिका-भेद-निरूपण ग्रंथों का विवेचन सर्वांगनिरूपक कवियों के प्रसंग में यथास्थान देखिए।

५. उदयनाथकृत रसचंद्रोदय

उदयनाथ 'कवींद्र' वनपुरा के निवासी और प्रसिद्ध कवि कालिदास त्रिवेदी के पुत्र थे। ये अमेठी के राजा हिम्मतसिंह और गुरुदत्तसिंह 'भूपति' के आश्रय में रहे। हिम्मतसिंह ने रसचंद्रोदय ग्रंथ पर ही इन्हें 'कवींद्र' की उपाधि दी थी। रसचंद्रोदय का दूसरा नाम विनोदचंद्रोदय भी है। इसकी रचना सं० १८०४ में हुई थी।

रसचंद्रोदय—शृंगार और नायिकाभेद पर लिखा गया ग्रंथ है। शृंगार के संयोग और वियोग दोनो भेदो का उल्लेख इसमें है, परंतु यह रसचंद्रोदय काव्य की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। नायिकाभेद का वर्णन रसमंजरी की परिपाटी पर है। रसचंद्रोदय में लक्षणों को स्पष्ट करने के लिये दिए गए उदाहरण कवित्व-पूर्ण हैं। इनकी रचना सरल, सरस एवं सुबोध है। इस प्रसंग में दिवाभिसारिका का उदाहरण देखिए :

> **भूमि घन घटा आई मूँदि कै अकाश छाई,**
> **चमकत कौंधा चकचौंधा से बगारे से।**
> **चटकारी चूनरी कुसुंभी वा किनारीवारी,**
> **सैसिए दमकि रही घूँघट उघारे तें।**
> **सेद औ फुलेल लागी अलकैं बिथुरि रहीं,**
> **मानौं नाग लटकत कुंडल किनारे से।**
> **चौस मैं सिधारी गिरिधारी के मिलन हेतु,**
> **जानी जाति दामिनी न कामिनी निहारे ते।**

कवींद्र के वर्णन भी बड़े सजीव हैं और दृश्य को प्रभावकारी रूप में प्रस्तुत करते हैं। प्रौढ़ा प्रोषितभर्तृका का उदाहरण निम्नांकित है :

> **कुंज कुंज सौरभ में भौंर पुंज गुंजरत कोकिला रसालनि निकुंज ठौर ठौर ते।**
> **मंद मंद मारुत बहत मलयाचल ते काही मग आवै सुरभित होत गातते।**

भनत कवींद्र कोऊ चलत बसंत समैं तुमसे चलन कहो पूछो पिय पाँव ते ।
गोरस की आन देहौं असकुन ठान देहौं आन देत तुम्हैं पै न आन देत आवते ॥

नायक के प्रसंग में इन्होंने नायक के मानी, चतुर और अनभिज्ञ भेदों की भी चर्चा की है। इनका ग्रंथ विवेचन की अपेक्षा कवित्वगुणों से अधिक संपन्न है।

६. भिखारीदास

भिखारीदास के जीवनवृत्त तथा शृंगार और नायिकाभेद के ग्रंथों के विवेचन के लिये सर्वांगनिरूपक प्रसंग को यथास्थान देखिए।

७. चंद्रदासकृत शृंगारसागर

चंद्रदास का और परिचय प्राप्त नहीं हो सका। इनका ग्रंथ शृंगारसागर ही मिला है। इनके रचनाकाल का संकेत इस छंद में है :

दस अष्ट सतब्रत वर्ष रचो गुन ग्व सु भगीत विवेक विचारो ।
श्रावण मास कला ससि की छलिया सुभ संजम धर्म सुधारो ।
ग्राम सु हेसपुरी बसिकै, एहु प्रश्न सु दिव्य पुरान सँवारो ।
चद तजे रस भाव सबै सब जोग सो छीरहि आन बिसारो ॥

इससे प्रकट है कि इसकी रचना १८११ वि० में हुई थी। इसका आधार रास पंचाध्यायी है, जैसा निम्नांकित दोहे से प्रकट है :

पंचध्यायी ध्यान बहु बरनौ सुक मुनि व्यास ।
पठत सुनत पावत सुपद नरनारी कैलास ॥

ग्रंथ में २२५ कवित्त, ७३ दोहा, २८ सोरठा हैं। चंद्रदास ने 'जयचंद्र' के नाम से भी कविता की है। यह रचना राधाकृष्ण के विनोद और विलास का वर्णन करती है, अतः इसे भक्तिशृंगार का ग्रंथ कहना चाहिए। लिखा है :

नौरस षोडस भक्तरस द्वादस भूषन मर्म ।
बरनउ क्रीड़ा कृष्ण सुभ गोचर सात्विक धर्म ॥ ३ ॥

इसमें लक्षणों पर आग्रह नहीं, राधाकृष्ण की प्रेमलीला का ही वर्णन है, यद्यपि कुछ प्रसंग नायिकाभेद ग्रंथों के से वर्णित हैं। जयचंद्र ने लिखा है :

लच्छन जानत रसिक जन, साधू जानत ध्यान ।
चंद बखानत कृष्ण गुन, राधा रहस बिधान ॥

इसमें १६ शृंगारों का वर्णन करने के बाद पद्मिनी आदि चार नायिकाओं का वर्णन किया गया है। इनके केवल उदाहरण ही नहीं, लक्षण भी कहे गए हैं। इसके बाद स्वकीया और परकीया का वर्णन है। आंतरिक तल्लीनता न होने से

सामान्या का वर्णन इसमें नहीं किया गया है। यह सब प्रथम अध्याय का विषय है। द्वितीय अध्याय दर्शनवर्णन से प्रारंभ होता है। इसके बाद सखीकर्म, राधा का आगमन, राधा जी की शोभा, नख-शिख-सौंदर्य का वर्णन है। फिर ऋतु-विहार-वर्णन है। मानबर्णन, विलासवर्णन, वसंत-ऋतु-क्रीड़ा, प्रेमपरीक्षा, रासक्रीड़ा रास पंचाध्यायी (भागवत) का प्रसंग है। इसमें सरस श्रृंगारिक भक्तिभावना का वर्णन है, जो युग का प्रभाव है। इनका काव्य सामान्य कोटि का है।

८. रामसिंहकृत रसशिरोमणि

नरवरगढ़ के राजा रसनिवास के रचयिता महाराज रामसिंह का श्रृंगार पर लिखा ग्रंथ रसशिरोमणि है। इसका परिचय इस प्रकार है :

कूरम कुल नरवरनृपति छत्रसिंह परवांन।
रामसिंह तिहि समय यह, बरन्यो ग्रंथ नवीन ॥ ३३१ ॥
बरन बरन विचारि नीके समझि यो गुन आय।
सरस ग्रंथ नवीन प्रगट्यो रससिरोमणि नाय।
माघ सुदि तिथि पूरना, षग पुष्य अरु गुरुवार।
गिनि अठारह सै बरस पुनि तीस संवत सार ॥ ३३२ ॥

ग्रंथ ३३२ छंदो में पूर्ण हुआ है। इसका रचनाकाल सं० १८३० वि० है।

मंगलाचरण के बाद नायिका का लक्षण इस प्रकार दिया हुआ है :

चित विच रस को भाव अति, उपजत देखे जाहि।
कवि जन रसिक प्रवीन जे कहत नायका ताहि ॥ २ ॥

यहाँ पर 'रस को भाव' प्रकट होना, यह वाक्य अनुचित है। हो सकता है, 'रस' के स्थान पर 'रति' हो। नायिका का उदाहरण सुंदर है :

अंग सलोने भरे रुचि सोने से कोमल गोरे लिए अरुनाई।
नैन छकै से रसीली चितौनि बसी मुसिक्यानि सुधा सी मिठाई।
बैन सुनैं सरसे सुख औननि है मनमोहन चाह निकाई।
होत निहारत मैं न अघानि लसी छबि और ही और सुहाई ॥ ३ ॥

नायिकाभेद का वर्णन इस प्रकार है : स्वकीया, परकीया, गनिका। स्वकीया के भेद हैं—मुग्धा, मध्या, प्रौढ़ा। इनके लक्षण क्रमागत रूप मे हैं। मुग्धा के ज्ञातयौवना, अज्ञातयौवना। मुग्धा के ही भेद—नवोढा, विश्रब्धनवोढ़ा। प्रौढ़ा के रतिप्रीता और रति-सुख-संमोहिता तथा मध्या और प्रौढा दोनो ही के धीरादि भेद। ज्येष्ठा, कनिष्ठा। परकीया के भेद ऊढा, अनूढा तथा गुप्ता, विदग्धा, लक्षिता, कुलटा, अनुशयना, मुदिता। इनके प्रभेद। गणिका के अन्य-संभोग-दुःखिता, गर्विता,

मानवती। अष्ट नायिकाभेदों—प्रोषितपतिका, खंडिता, कलहांतरिता, विप्रलब्धा, उत्कंठिता, वासकसज्जा, स्वाधीनपतिका, अभिसारिका—का इसके बाद वर्णन है। इसी के क्रम में प्रवत्स्यत्पतिका और आगतपतिका का भी वर्णन है। इसके पश्चात् उत्तमा, मध्यमा और अधमा नायिकाभेदो का विवरण दिया गया है। यह वर्णन रसमंजरी के आधार पर है।

इसके बाद सखीवर्णन के अंतर्गत मंडन, उपालंभ, शिक्षा, परिहास का वर्णन है। परिहासवर्णन के एकाध छंद अच्छे हैं। उदाहरण के लिये नायिका का परिहास है :

> भृकुटी अति टेढ़ी तिहारी अजूँ अति टेढी चितौनि ठगोरी भरी।
> मनमोहन नाँव त्रिभंगी भली अँग जैसे ही तैसियै बानि परी।
> कहूँ टेढ़ियै होंहूँ ह्वै जाऊँ नहीं हिय में बसती मैं बराति खरी।
> हँसि के जब बात कह्यो यों हँसे हरि और सखी हूँ हँसीं सिगरी ॥१५७॥

इसके बाद दूतीवर्णन किया गया है। दूती के उत्तम, मध्यम, अधम भेदो के साथ उसके कार्यों मे नायिका की लगनि नाइक सो प्रगटिबो ॥ २ ॥ नायक की लगनि नायिका सो प्रगटिबो ॥ ३ ॥ विरह निवेदन तथा ॥ ४ ॥ संघटन का वर्णन है।

नायिकावर्णन के प्रसंग मे पति के अनुकूल, दक्षिण, धृष्ट और शठ भेद तथा उपपति और वैशिक नायको का वर्णन किया गया है। नायिका के समान नायक के भी उत्तम, मध्यम और अधम भेदो का उल्लेख है। इसके अतिरिक्त, चतुर, प्रोषित और अनभिज्ञ नायकों का भी वर्णन किया गया है। सखाभेद मे पीठमर्द, विट, चेट और विदूषक आते हैं।

दर्शन के प्रकारो के वर्णन के पश्चात् भाववर्णन है।

भाव का लक्षण रसशिरोमणि मे इस प्रकार है :

> तन मन जनित विकार जो, भाव रसे अनुकूल।
> काइक मानस दुविध सो, रस प्रबंध में मूल ॥ २२१ ॥

रस का लक्षण रामसिंह ने इस प्रकार दिया है :

> जो विभाव अनुभाव, सात्विक व्यभिचारीन मिलि।
> होत जु पूरन भाव, थाई रस को जानिए ॥ २२७ ॥
> सो रस नव बिधि जानिए तिन में प्रथम सिंगार।
> हास करुण पुनि रौद्र कहि, बहुरयो बीर बिचार ॥ २२८ ॥

श्रृंगार के साथ सात्विक भावों का प्रथम वर्णन है। संयोगवर्णन के बाद हावबर्णन किया गया है। इसके उदाहरण बड़े सुंदर हैं। विच्छित्त का एक उदाहरण है जो रामसिंह की काव्यगत विशेषताओं को स्पष्ट करनेवाला है :

**साजि के सिंगार रूप जोबन गुमान भरी बैठी ही अनेक गोपी निकट गुपाल के ।
आवत ही तेरे मुखचंद्र के प्रकास फैले कुंज के निवास में मयूखनि के जाल के ।
भूषन बिना हू लसै काजर सँवारे नैन अनियारे प्यारे मनमोहन रसाल के ।
देखत ही लोचन सरोज भए सौतिन के चाह भरे लोचन चकोर भए लाल के ॥२७१॥**

पूर्वानुराग, मान, प्रवास और वियोग की दस दशाओं का यथाक्रम वर्णन इसके बाद है। तदनंतर संचारी भावों के केवल नाम गिनाए गए हैं। अन्य रसों का वर्णन नहीं है। सब रसों में शिरोमणि शृंगार का वर्णन करने के कारण इस ग्रंथ का नाम रसशिरोमणि रखा गया है। रामसिंह की कविता सरल, सरस एवं सदलंकृति-युक्त है। वह स्मरणीयता के गुणों से संपन्न है।

१६वीं शताब्दी के मध्य में शृंगार और नायिकाभेद को लेकर अनेक ग्रंथ लिखे गए जिनमें से बहुत से प्रसिद्ध और प्राप्त नहीं हुए। शोभा कवि का नवल-रस-चंद्रोदय सं० १८१८ में लिखा हुआ शृंगार रस का वर्णन करनेवाला ग्रंथ है। इसी प्रकार देवकीनंदन कृत शृंगारचरित (सं० १८४१), लालकविकृत विष्णुविलास (१८६०), रामभट्ट फर्रुखाबादी कृत शृंगारसौरभ (१८३०), कलानिधिकृत शृंगार-रस-माधुरी आदि ग्रंथ भी लिखे गए। यशवंतसिंहकृत शृंगारशिरोमणि इनसे अधिक प्रसिद्ध हुआ।

६. यशवंतसिंहकृत शृंगारशिरोमणि

तेरवा नरेश महाराज यशवंतसिंह ने शृंगार पर शृंगारशिरोमणि नामक ग्रंथ लिखा। मिश्रबंधुओं ने इसका रचनाकाल सं० १८५६ वि० माना है। इसमें सर्वप्रथम स्थायी भावों का उल्लेख है, तत्पश्चात् संचारीभावों का। इसमे रसों में शृंगार को शिरोमणि मानकर उसका विवेचन किया गया है। यशवंतसिंह का कथन है: 'नवरस मे शृंगार रस लसत शिरोमणि रूप'। ग्रंथ मे श्रवण और दर्शन, इन दो प्रकारो की रति का वर्णन है। इसके बाद विभाव का वर्णन है जिसके अंतर्गत नायिकाभेद का विशद उल्लेख है। इसमें आगतपतिका के भीतर शकुनों का भी वर्णन किया गया है। उद्दीपन का भी इस ग्रंथ में विस्तृत वर्णन है जिसमें नृत्य, गान, पावस, कवित्त-श्रवण वनदर्शन, चपलादर्शन उपवनगमन, भूषण, सुमन, शशि, नक्षत्रदर्शन, बसंत, होली, पिक आदि के प्रसंग हैं। ये सुंदर और नव्यता लिए हुए हैं।

अनुभावों का तीन रूपों—आंगिक, वाचिक और आहार्य—में उल्लेख है। अनुभाव के प्रसंग में यह विभाजन सचमुच एक नवीनता है। इन तीनो के भेदों का वर्णन भी इस ग्रंथ में विशद है। सखी, दूती आदि का भी विस्तार से उल्लेख है, परंतु नायक के सहायक और सखा रूप में इस ग्रंथ के अंतर्गत मीमासक, नैयायिक, ज्योतिषी, वैष्णव, शैव, आरण्य, पौराणिक आदि विशेष रोचक जान पड़ते हैं।

इसके उपरांत चौथे, पाँचवें और छठे अंगों में क्रमशः सात्विक, संचारी भावों और हावों का वर्णन किया गया है।

शृंगार का ऐसा विशद और विस्तृत विवेचन प्रस्तुत करनेवाला ग्रंथ और नहीं है, अतः शृंगारशिरोमणि एक महत्वपूर्ण कृति है।

१०. कृष्णकविकृत गोविंदविलास

कृष्णकवि गोपाल के पुत्र और ग्वालियर निवासी थे। इन्होंने आमेर (जयपुर) नरेश श्री हरनाथसिंह के पुत्र श्री गोविंदसिंह के लिये गोविंदविलास की रचना की थी। कृष्णकवि गोविंदसिंह के कविराज थे, जैसा निम्नांकित दोहे से प्रकट है :

> **श्री गोविंद नरेश के, चित प्रसंन के काज।**
> **कियो ग्रंथ वे राज हैं, हौं उनको कविराज ॥ ९ ॥**

गोविंदविलास का रचनाकाल सं० १८६३ वि० है। कृष्णकवि वल्लभ संप्रदाय के थे। इस ग्रंथ मे इन्होने रसों में सबसे सरस शृंगार रस का वर्णन किया है। मंगलाचरण में गणेश, शारदा, गुरु, हरि की स्तुति के बाद ग्रंथ के उद्देश्य की चर्चा है। इसके बाद राज-वंश-वर्णन है। इसके उपरात रसमंजरी के आधार पर बनी परिपाटी के अनुसार नायिका-भेद-वर्णन किया गया है। इसके पश्चात् भाव का लक्षण और फिर संयोग-वियोग-शृंगार का विस्तार से वर्णन है। अन्य रसों की बड़ी संक्षिप्त चर्चा है। सात्विक भावों, हावों, मान, वियोगदशाओं आदि का वर्णन अति विशद है।

कृष्णकवि की रचना कवित्व की दृष्टि से सुंदर है। इसमें सरसता और सहज प्रवाह है जो मनोमुग्धकारी प्रभाव डालता है। आलंकारिक उक्तियों और शब्दचयन के चमत्कार ने इनकी रचना को मधुर बना दिया है। इनके नायिकावर्णन से एक छंद उदाहरण स्वरूप यहाँ दिया जाता है :

> **बैन सुरंग कुरंग नरंग अनंग उमंग न अंग प्रकासी।**
> **कृष्न कहै अति सुभ्र छटा सुघटा गरजै पट लागै अकासी।**
> **बार के भार लचै कटि मोहन भूषन फूलन ताई चकासी।**
> **कोमलता सी सुपासी रसी सुनि दीप सिखा सी है जोति बिकासी।**

उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम भाग में शृंगार रस पर अलग से लिखे हुए ग्रंथ कम मिलते हैं। अधिकतर सर्वांगनिरूपक या सर्व-रस-निरूपक ग्रंथों के अंतर्गत शृंगार का वर्णन आया है। नायिकाभेद पर, जो शृंगार का ही एक अंग है, अवश्य इस बीच अधिक ग्रंथ उपलब्ध होते हैं।

(५) नायिका-भेद-निरूपक आचार्य और उनके ग्रंथ

जैसा पहले कहा जा चुका है, नायिकाभेद विषय पर, रसग्रंथों और शृंगार-ग्रंथों में भी प्रचुर सामग्री मिलती है जिसका उल्लेख पूर्वगामी प्रसंगों में यथास्थान किया जा चुका है। परंतु अकेले नायिकाभेद विषय पर लिखे जानेवाले ग्रंथों का भी एक वर्ग है जिसके अंतर्गत नायक-नायिका-भेद ही लिखे गए हैं। यह कहा जा सकता है कि नायिकाभेद पर अधिक प्राचीन समय से हिंदी में ग्रंथ उपलब्ध होते हैं और आधुनिक युग तक इन ग्रंथों के लिखने का चलन रहा है।

रीतियुग के पूर्व समस्त रसों का विवेचन करनेवाला ग्रंथ केवल रसिकप्रिया है और शृंगार रस का विवेचन करनेवाला ग्रंथ सुंदरशृंगार है, परंतु नायिकाभेद पर भक्तियुग में ही ये चार ग्रंथ उपलब्ध होते हैं—कृपारामकृत हिततरंगिणी, सूरदासकृत साहित्यलहरी, नंददासकृत रसमंजरी और रहीमकृत बरवै नायिकाभेद। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि हिंदी साहित्य में नायिकाभेद पर ग्रंथ लिखने की प्रवृत्ति, काव्यशास्त्रीय या रसग्रंथ लिखने के पूर्व आई।

कृपारामकृत हिततरंगिणी इस दिशा में सर्वप्रथम रचना है। इसका समय संवत् १५९८ वि० है जैसा निम्नलिखित दोहे से स्पष्ट है :

> **सिधि निधि शिवमुख चंद्र लखि, माघ शुद्ध ततियासु।**
> **हिततरंगिनी हौं रची कविहित परम प्रकासु ॥ २०१ ॥**

कृपाराम के प्रारंभिक कथन से यह भी स्पष्ट होता है कि शृंगार रस और नायिकाभेद संबंधी ग्रंथों का वर्णन उनके समय मे बडे छंदों में होता था और उन्होंने संक्षेप और सुविधा के कारण दोहा जैसे छोटे छंदो में इसकी रचना की :

> **बरनत कवि सिंगार रस, छंद बड़े बिस्तारि।**
> **मैं बरन्यौ दोहान बिच, याते सुघर बिचारि ॥ ४ ॥**

हिततरंगिणी में पहले विभाव का आलंबन और उद्दीपन रूप में उल्लेख करके फिर नायक नायिका रूप में कृष्ण राधा का संकेत है। नारी के तीन भेद—स्वकीया, परकीया और वारवधू—का उल्लेख करके उनके उत्तम, मध्यम और अधम भेद प्रकृतिभेद से किए गए हैं। ये भेद भरत के नाट्यशास्त्र के आधार पर हैं। मुग्धा के ज्ञातयौवना, नवोढा, विश्रब्धनवोढ़ा भेद हैं। मध्या के अतिविश्रब्धनवोढ़ा तथा प्रौढ़ा के आनंदमत्ता एवं रतिप्रीता भेद हैं। स्वकीया के तीन भेद और हैं—अतिहित, समहित और न्यूनहित। इनका उल्लेख बाद के आचार्यों ने नहीं किया है।

परकीया के भेद ऊढ़ा, अनूढ़ा। ऊढ़ा के भेद भी इसी प्रकार दो किए गए हैं जो आगे के ग्रंथों में नहीं मिलेंगे; वे हैं—परब्याही, जब परकीया उपपति के पास

हो, और प्यारी जब वह पति के पास हो। इसके बाद लक्षिता, चतुरा, कुलटा, मुदिता, स्वयंदूतिका, अनुशयनिका, गुप्ता भेद भी परकीया के कहे गए हैं।

इसके बाद सबके दस भेद किए गए हैं जो ये हैं—स्वाधीनपतिका, वासकसज्जा, उत्कंठिता, अभिसारिका, विप्रलब्धा, खंडिता, कलहांतरिता, प्रवत्स्यत्पतिका, प्रोषितपतिका और स्वागतपतिका। स्वकीया, परकीया और वारवधू के भेद से नायक के तीन भेद किए गए हैं—पति, उपपति और वैसिक।

इसके उपरात सखी और उनके कर्म, दूतीभेद और कर्म आदि का वर्णन है। कृपाराम ने सामान्या तक के मुग्धा, मध्या, प्रौढा आदि भेद किए हैं जो आगे के आचार्यों ने मान्य नहीं समझे। इसमें बीच में विरह की दस अवस्थाओं का भी उल्लेख है। यही कृपाराम की नायिकाभेद की वर्णनपद्धति है। परवर्ती लेखकों ने भरतमत को न मानकर भानुदत्त की रसमंजरी का आधार ग्रहण किया है।

सूरदासकृत साहित्यलहरी का समय अधिकांश विद्वानों द्वारा सं० १६०७ वि० माना जाता है। यह सूरसागर से भिन्न कूट पद्धति पर लिखा गया साहित्यिक विशेषता से युक्त ग्रंथ है क्योंकि इसमें भक्तिरस के अनुकूल नायिकाभेद का वर्णन है। इसका उद्देश्य लौकिक वासनाओं को भक्ति-रस-समुद्र में निमज्जित करना था। भक्ति के भावों का सूरसागर जैसा तन्मय वर्णन इसमें नहीं, वरन् बौद्धिक कलाबाजी के रूप में नायिकाभेद प्रस्तुत किया गया है जिससे इस प्रकार की लौकिक वासनाओं के साथ मन समझौता न कर पाए।

नंददासकृत रसमंजरी स्पष्टतया नायिकाभेद का ही ग्रंथ है, परंतु इसका उद्देश्य प्रेम का रहस्य समझना है। नंददास ने भानुकृत रसमंजरी के आधार पर रचना की है, जैसा निम्नलिखित दोहे से स्पष्ट है :

> रसमंजरि अनुसार के, नंद सुमति अनुसार।
> बरनत बनिता भेद जहँ, प्रेम सार विस्तार ॥ २५ ॥

उद्देश्य को स्पष्ट करता हुआ उनका छंद है :

> बिन जाने यह भेद सब, प्रेम न परचै होय।
> चरण हीन ऊँचे अचल, चढ़त न देख्यो कोय ॥ १६ ॥

इस प्रकार यह नायिका-भेद-वर्णन साधन है। नायिका-भेद-वर्णन का क्रम इस प्रकार है—स्वकीया, परकीया, सामान्या। इनके मुग्धा, मध्या, प्रौढ़ा भेद हैं। मुग्धा के नवोढ़ा, विश्रब्धनवोढ़ा एवं ज्ञातयौवना, अज्ञातयौवना भेद हैं। मध्या और प्रौढ़ा के धीरादि भेद। इसके बाद इनके स्वाधीनपतिकादि नौ भेद हैं। तदनंतर नायकभेद भी मान्य पद्धति पर है। यह ग्रंथ केवल लक्षण वर्णन करता है और

अधिकांशतः हिततरंगिणी के समान है। नंददास का यह नायिका-भेद-वर्णन माधुर्य भक्ति की उपासना की सीढी के रूप में है।

रहीमकृत बरवै नायिकाभेद बरवै छंदों में लिखा नायिकाभेद का उदाहरण ग्रंथ है। इसमें लक्षण नहीं हैं, केवल उदाहरणों में विविध नायिकाओं के शीर्षक हैं। अतः शास्त्रीय दृष्टि से नहीं वरन् कवित्व की दृष्टि से ही इसका महत्व है। बरवै बडे सरस हैं और इस विशिष्ट छंद से आकर्षित होकर ही रहीम ने यह ग्रंथ लिखा। वर्णन का क्रम रसमंजरी के अनुसार है। परंतु अवस्थानुसार दशविध नायिका का वर्णन कर यह ग्रंथ समाप्त हुआ है। आतरिक भावों का इसमें बड़ा स्वाभाविक एवं मर्मस्पर्शी वर्णन है। प्रिय के सानिध्य और सहयोग की ललक इस ग्रंथ में इस प्रकार वर्णित है कि इससे तत्कालीन समाज में नारी की दशा भी चित्रित हो जाती है।

इन ग्रंथों के बाद रीतियुग में लिखे नायिकाभेद ग्रंथ आते हैं। इनका उद्देश्य भक्ति संबंधी नहीं, वरन् रसात्मक और साहित्यिक है। सं० १७०७ के आसपास शंभुनाथ सुलंकी या नृपशंभु के नायिकाभेद ग्रंथों का उल्लेख मिलता है, पर वे प्राप्त नहीं हैं। इसलिये इस विषय पर प्राप्त चिंतामणि त्रिपाठी कृत शृंगार-मंजरी ही प्रथम रह जाता है।

१. आचार्य चिंतामणिकृत शृंगारमंजरी

चिंतामणिकृत रस-नायिका-भेद ग्रंथों का विवेचन तथा उनका जीवनवृत्त सर्वांगनिरूपक प्रकरण में यथास्थान देखिए।

२. कालिदासकृत वधूविनोद

कालिदास त्रिवेदी अंतर्वेद के रहनेवाले थे। ये औरंगजेब की सेवा में बीजापुर की लड़ाई मे भी गए थे। इनके रचे ग्रंथ—हजारा, राधामाधव-बुध-मिलन-विनोद, वधूविनोद या वारवधूविनोद हैं। वधूविनोद ग्रंथ जालिम जोगाजीत के लिये लिखा गया।

प्रारंभिक परिचयात्मक विवरण से पता चलता है कि ये जंबूनरेश थे। छंद यह है:

> भयभीत दुर्जन होत है कर गहत की समसेर हैं।
> कर पगा जालिम के अगै जिमि जगत जग जस में रहे।
> जसु जीति जोगाजीत जीनौ मच्यौ सुरपुर भगर है।
> परसिद्ध जंबूद्वीप कौ शीधाम जंबू नगर है ॥ ५ ॥
> नगर एक बीनों तहाँ, बहुविध नृपति अनूप।
> तरे बहे तृपदा नदी, त्रिपथगामिनी रूप ॥ ६ ॥

रूप धरें हरिहर जहाँ भृकुटा देवी द्वार ।
पुनि है बाला सुंदरी कह्यो न ता गुन पार ॥ ७ ॥
पारबती नायक तहाँ सिधिदायक हैं ईश ।
सोभे सुरपुर मध्य में बसे चंद जा सीस ॥ ८ ॥
तिलक जानि जा देस कौ दुवन भए भयभीत ।
जाहिर भयो जहान में जालिम जोगाजीत ॥ ११ ॥

जालिम जोगाजीत का वंशपरिचय १३वें, १४वें तथा १५वें छंदों में दिया है। मालदेव के रामसिंह, उनके जैतसिंह, उनके माधोसिंह, उनके रामसिंह (द्वितीय), उनके गोपालसिंह, उनके सुबहरीसिंह, उनके गोकुलदास, उनके लक्ष्मीसिंह तथा उनके पुत्र वृत्तसिंह थे। इन्हीं वृत्तसिंह के पुत्र थे जोगार्जतसिंह।

जोगाजीत गुनीन को, दीनौ अगनित दान ।
कालिदास जाते कियो, ग्रंथ पंथ इन मान ॥ १५ ॥

इसमे नायिकाभेद एक कथाप्रसंग के रूप में वर्णित है। ललिता सखी राधा को कृष्ण से मिलाने के लिये दूतीत्व का कार्य करती है और जब तक राधा नहीं आती, तब तक वह विविध नायिकाओं के भेदों का वर्णन करती है। उसका जोर स्वकीया नायिका पर है और व्यंग्य रूप से वह राधा से विवाह की बात ही तात्पर्य रूप में कहना चाहती है :

भेद कहे कुलबधुनि के, प्रथमहि रचि रचि बैन ।
मिले लाल गोकुल बधू, पै कुलबधू मिलै न ॥ १० ॥

कुलवधू स्वकीया नायिका है जिसके मुग्धा, मध्या, प्रौढ़ा भेद परंपरागत हैं। मुग्धा के अंकुरितयौवना, नवभूषनरुचि, लज्जावती, अज्ञातयौवना, ज्ञातयौवना, विश्रब्धनवोढ़ा भेद हैं। वयःसंधि की स्थिति में होने से इसका भी वर्णन इसमें है। कालिदास का विचार है, इस अवस्था में—'ज्यों दूधहिं जामन त्यों मनभावन जोबन आवन जोग भयो।' एक उदाहरण है :

झिझकत पट पोलै संकुचित बोलै भूषन नौलै रुचि उमगे ।
दुलहिन होने की पिव लौने की मन गौने की बात पगे ।
ओढ़नी संभारी डरडरतारी मुष पै भारी जोति जगे ।
गाईं ने बाढ़त लाजन डाढ़त घूँघट काढ़त लाज लगे ॥ २० ॥

मध्या में लाज और काम बराबर होता है। प्रौढ़ा रतिकोविदा होती है। धीरा, अधीरा आदि भेद परंपरागत हैं। इन सबके उदाहरण इन नायिकाओं का वास्तविक चित्र खींचनेवाले हैं। ये वर्णन त्रिभंगी और ललित दुपई, चौपई आदि छंदों में हैं। दुपई छंद :

कली कमल की प्रौढ़ा धीराधीरा गही भली यों।
पिय तर्जन ता करि के चितई के दृग कमल कली ज्यों ॥ ५३ ॥

ज्यों कली कमल की अरुनै दल की त्यों दृग झलकी छवि सरसी।
तिरछौहैं भौहैं तकित न को है पिय को मौहैं कर बर सी।
कछु लगे चलावन पिय परिपावन त्यों मन भावन गहि परसी।
त्यों कोप झकोरें लोचन कोरे पिय मुख बोरे करि दरसी ॥ ५४ ॥

ज्येष्ठा, कनिष्ठा, भेद के साथ स्वकीया प्रसंग समाप्त हुआ है। परकीया के ऊढा, अनूढा, गुप्ता, त्रिविध विदग्धा, लक्षिता, कुलटा, अनुसुधा, मुदिता भेदों का वर्णन है। सामान्या का वर्णन न केवल उसके लक्षणों के साथ है, वरन् उसके नृत्य एवं सौंदर्यचेष्टाओं का भी चित्रण है। एक उदाहरण है :

बिहसैं सिर ढारैं, सरस उचारैं बरद बिथारैं दृग पलकैं।
बेसरि के पोतिन मनिगन जोतिन जरकस ओतिन तन झलकैं।
डारबसी न पूजैं कवि कुल कूजैं बसिकिनि कूजै गहि अलकैं।
जगमग बरबीचिन बदन मरीचिन सदन दरीचिन छवि छलकैं ॥१०१॥

वारवधू के नखशिख, आभूषण, चेष्टा आदि का भी वर्णन इसमे है। यह वर्णन इतना विस्तृत है कि इसे 'वारवधूविनोद' नाम भी दिया जाता है। चेष्टा सौंदर्य का एक छंद है :

लगे कान में बीरि की आन फैली। लगी दूरि के सूर की जोति मैली।
नचै नैन नीके रचैं चैन चोपैं। हरैं डबलसैं फुल्ल अंभोज ओपैं ॥११८॥

इस प्रकार सामान्या का विस्तार से वर्णन है। इसके बाद अष्टनायिकाओं का कथन है। अन्यसंभोगदुःखिता, वक्रोक्तिगर्विता, रूपगर्विता, आदि के साथ विप्रलब्धा, वासकसज्जा, स्वाधीनभर्तृका, अभिसारिका, प्रोषितपतिका का वर्णन इस प्रसंग में किया गया है। उत्तमादि नायिकाओं का वर्णन इसके बाद हुआ है। इसके बाद कृष्ण राधा के संयोगविलास का वर्णन है। इसी ग्रंथ मे यह छंद है :

एक ही सेज पै राधिका माधव बाहु लै सोई सुभाई सलोने।
पारे महाकवि कान्ह कौं मद्धि पै राधा कहै यह बात न होने।
ह्वैहौं न साँवरी साँवरे ते मिलि बावरी बात सिखाई है कौने।
सोने को रूप कसौटी लगी पै कसौटी को रंग लगी नहिं सोने ॥ २२९ ॥

इसके बाद नायक और नायकसखाओं का वर्णन है। राधा कृष्ण के शृंगारवर्णन में कवि कालिदास की भक्तिभावना के दर्शन होते हैं, जैसा अंत के कवित्त तथा छंद से प्रकट है :

भीजी इक जाम तकि राधा घनश्याम केलि,
  धाम ते निकरि दोऊ बाहरी यौं आए हैं।
कालीदास अंगन अंगना मरोरि आनि,
  अंगराग अंग के सबै ही झहराए हैं।
कंचन सो तन तामें ओप परी निपरी है,
  प्यारी मुख सुषमा समूह सरसाए हैं।
झीने पट झलकन लागी छबि छलकनि,
  झलकनि पलकनि जलकनि छाए हैं॥ ३३९ ॥

दुपई—

छाय रहे सु कहाँ रति जा घर प्रेम जँजीर जकरिकै।
कालिदास राधा माधव के पूजौं पाइ पकरिकै॥ ३४० ॥

इस प्रकार वधूविनोद ३४० छंदों मे समाप्त हुआ है। इसकी रचना सं० १७४६ वि० में हुई थी। कालिदास ने महाकवि नाम से भी कविता की है, जैसा ऊपर उद्धृत छंद ३३६ से प्रकट है। नायिकाभेद पर यह उत्तम ग्रंथ है। इसके उदाहरण कवित्वपूर्ण है। इनकी कविता उक्तिवैचित्र्य, भावव्यंजना और वर्णनसौदर्य से संपन्न है।

नायिकाभेद विषय पर १८वीं शताब्दी के मध्य में अनेक ग्रंथ लिखे गए हैं। खोज रिपोर्टों और कुछ इतिहास ग्रंथों मे श्रीधर का लिखा नायिकाभेद, कुंदन (बुंदेलखंडी) का नायिकाभेद, केशवराय का नायिकाभेद, खंगराम का नायिकाभेद रंग खाँ का नायिकाभेद, प्रभृति ग्रंथों का उल्लेख हुआ है। ये ग्रंथ अधिक प्रसिद्ध नहीं हुए। साथ ही, ये प्राप्य भी नहीं हैं। यह तथ्य इनके कवित्व और विवेचन दोनों ही के महत्व को साधारण कोटि का सिद्ध करता है। परंतु यहाँ पर यह प्रवृत्ति पूर्णतया स्पष्ट हो जाती हैं कि अलंकार ग्रंथों के साथ नायिकाभेद ग्रंथों की रचना का प्रचुर मात्रा में प्रचलन था। यह प्रवृत्ति १६वीं शताब्दी के अंत तक परिलक्षित होती है।

२. यशोदानंदनकृत नायिकाभेद

यशोदानंदन का उल्लेख शिवसिंहसरोज में मिलता है। ये संभवतः उन्नाव जिले के बैसवारा क्षेत्र के निवासी थे। इनका जन्म सं० १८२८ में हुआ था। इन्होने बरवै नायिकाभेद नामक ग्रंथ सं० १८७२ वि० में लिखा था। इसमें संस्कृत मे भी कुछ बरवै मिलते हैं, शेष अवधी भाषा में लिखे बरवै हैं। यह रहीम के बरवै नायिकाभेद के समान ललित ग्रंथ है। महत्व कवित्व का है, विवेचन का नहीं। कविता बड़ी सरस है।

उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम चरण में भी नायिकाभेद पर लिखे गए ग्रंथ मिलते हैं। माखन पाठक ने सं० १८६० में होली के वर्णन के साथ नायिकाभेद कहनेवाला वसंतमंजरी नामक ग्रंथ लिखा, जैसा उनके निम्नांकित कथन से स्पष्ट है :

मनो नायका राधिका, नायक नंदकुमार।
तिनकी लीला फागु की, बरनौं परम उदार ॥ १ ॥

इनके वर्णन अच्छे हैं। महाकवि देव के प्रपौत्र भोगीलाल दुबे ने भी बखत-विलास नामक ग्रंथ की रचना सं० १८५६ में की जो नायिकाभेद पर लिखा हुआ ग्रंथ है। यह कूर्मनरेश बख्तावरसिंह के लिये लिखा गया था।

नायिकाभेद पर जगदीशलालकृत ब्रजविनोद नामक ग्रंथ भी इसी समय की रचना है।

४. प्रतापसाहिकृत व्यंग्यार्थकौमुदी

प्रतापसाहिकृत रस और नायिकाभेद ग्रंथों का विवेचन तथा उनका जीवन-वृत्त सर्वांगनिरूपक प्रसंग में यथास्थान देखिए।

५. गिरिधरदासकृत रसरत्नाकर, उत्तरार्ध नायिकाभेद

(भारतेंदु हरिश्चंद्र द्वारा संपादित तथा खंगविलास प्रेस, बाँकीपुर, पटना से प्रकाशित)।

भारतेंदु जी ने मंगलाचरण के बाद इस ग्रंथ में लिखा है :

रसरतनाकर नाम इक, मम पितु बिरच्यो ग्रंथ।
यथा नाम गुन गन भरयो, दरसावन रस पंथ ॥ ३ ॥
तामें भावादिक कहे, जेहि पढ़ि रहत न खेद।
काल कृपा ते रहि गयो, लिखन नायिका भेद ॥ ४ ॥
ताको इक बरनन करत, सुमिरि कृष्ण सुख कंद।
पितु इच्छा पूरन करन, ता सुत श्री हरिचंद ॥ ५ ॥

इस ग्रंथ में लक्षण भारतेंदु हरिश्चंद्र जी ने गद्य में लिखे हैं और उदाहरण गोपालचंद्र या गिरिधरदास के हैं। भारतेंदु को लक्षण लिखने की आवश्यकता वहीं पड़ी है जहाँ पर गिरिधरदास के लक्षण नहीं प्राप्त हैं। पद्मिनी आदि के लक्षण गिरिधरदास जी ने स्वयं दिए हैं। चित्रिणी का लक्षण यों दिया गया है :

दूबरी न मोटी नहिं लाँबी नहिं छोटी देह,
उन्नत उरोज छीन कटि छबि छावती।

राग बाग आदि उपभोगन सों रति अति,
रति अत मध्य मधुगंध अधिकावती।
गिरिधरदास बानी बोलती मयूर ऐसी,
कारे केश वेश सेस ललना लजावती।
लोल दोऊ मित्र मित्र सुखद चरित्र जाके,
ऐसी जो विचित्र तौन चित्रनी कहावती।

भारतेंदु जी ने इनके मिश्र भेदों का भी संकेत किया है—जैसे पद्मिनीचित्रिणी, पद्मिनीशंखिनी आदि। इसके बाद दिव्या, आदिव्या और दिव्यादिव्या भेदो का कथन है। देवताओ की स्त्रियाँ दिव्या। अवतार लेकर आई हुई दिव्यादिव्या और मानुषी अदिव्या हैं। भारतेंदु ने अपनी व्याख्या में स्वकीया, परकीया और सामान्या तीन भेद न मानकर पाँच भेद—कुमारी, स्वकीया, परकीया, कुलटा और वारवधू माने हैं। उनके विचार से कुमारी में जब स्वकीयात्व ही नहीं है तो परकीयात्व कहाँ से होगा, और फिर यह तो कोई जानता नही कि उसका विवाह किसको वह चाहती है उसी से होगा या दूसरे से, इससे पहले ही से उसको परकीया मानना अयोग्य है। वैसे ही, कुलटा तो प्रकट और अनेक पुरुषो मे अनुरक्त होती है, इससे परकीया नहीं कही जा सकती। भारतेंदु जी के ये विचार मौलिक जरूर हैं पर सर्वमान्य नही हो सकते। कुमारी का प्रिय रूप में अनुराग करना, बिना यह जाने कि वह उसका पति होगा या नहीं, उसे परकीयापन के लक्षण से युक्त कर देता है। इसी प्रकार सामान्या का उद्देश्य धनप्राप्ति होता है, प्रेम नही। कुलटा का उद्देश्य यह नही है। अतः कुलटा सामान्या नहीं। यदि उसमें प्रेम और आकर्षण नहीं तो नायिका ही न होगी और यदि ये बातें हैं तो वह परकीया के भीतर आ जाती है, जैसी प्राचीन आचार्यों की धारणा है। फिर भी, भारतेदु की सूझ उनके मौलिक चिंतन को स्पष्ट करती है।

स्वकीया के तीन भेद हैं—अनुकूला, समा और विषमा। ये भेद उत्तमा, मध्यमा और अधमा से भिन्न हैं। उत्तमा को पति के अतिरिक्त त्रैलोक्य में कोई पुरुष नहीं जान पड़ता। और अनुकूला पति के अपराधी होने पर भी सदैव अनुकूल रहती है। मध्यमा अन्य पुरुषो को भाई के समान देखती है और सम पति के अनुसार सम और विषम व्यवहार करती है। अधमा धर्म के भय से दूसरे पुरुषों पर चित्त नहीं चलाती और विषमा पति के चाहने पर भी नहीं चाहती। इस प्रकार दोनों प्रकारों में अंतर है। यहाँ पर यह निर्देश कर देना आवश्यक है कि भारतेदु की उत्तमा आदि पतिव्रता के उत्तमा, मध्यमा, अधमा भेद हैं, जैसा तुलसीदास ने सीता अनुसूया के प्रसंग में लिखा है—उत्तम के अस बस मन माँही। सपनेहुँ आन पुरुष जग नाहीं। आदि। साहित्य में वर्णित उत्तमा आदि अनुकूला, समा, विषमा ही हैं।

परकीया के भेदनिरूपण में भी भारतेंदु ने मौलिकता दिखाई है। उनके विचार से परकीया का लक्षण है :

मन मोहै ओहत सकल, जानै रस निरधारि।
प्रीति एक ही सों करै, सो परकीया नारि।
प्रकट करै अनुराग वा, राखै ताहि छिपाय।
नहिं चाहै पिय को तऊ, परकीया कहवाय॥

इसके तीन भेद हैं—उत्तमा, समा और विषमा। उत्तमा के दो भेद हैं, प्रेमपूर्णा और शंकिता। भारतेंदु के ये भेद मौलिक हैं। परकीया विषयक उनका प्रसिद्ध छंद है :

यह सावन सोक नसावन है मनभावनि यामैं न लाज भरो।
जमुना पै चलो सु सबै मिलिकै अरु गाइ बजाइ कै सोच हरो।
इमि भाषत है हरिचंद पिया, अहो लाड़िली देर न यामैं करो।
चलो झूलो झुलाओ, झुको झमको, इहि पाखैं पतिव्रत ताखैं धरो।

उत्तमा, जो प्रियतम के न चाहते हुए भी चाहे। इसका भेद शंकिता वह है जो लोगों की शंका से प्रीति को प्रकट न करे। तथा प्रेमपूर्णा वह है जिससे किसी की लाज, शंका या भय न हो। नायक के समान प्रीति करनेवाली और लज्जा का निर्वाह करनेवाली 'समा परकीया है और विषमा वह है जो नायक के चाहने पर भी न चाहे। उदाहरण :

दिन पै सौ फेरे करत, तुव गलियन के लाल।
तौहू तू झाँकत न चढ़ि, कबहूँ अटारी बाल॥

द्रव्य के लोभ से जो प्रिय की अभिलाषा करती है वह सामान्या या गणिका है। भारतेंदु ने इसके दो भेद किए हैं। एक गुप्त गणिका और दूसरी शुद्ध गणिका। जिनकी वृत्ति गणिका न हो और गुप्त रीति से गणिकात्व करे वह गुप्त गणिका है। उदाहरण :

लप झप करि छिपि लावहीं, कंचन चारत अहान।
धनि कासी की कुलवधू, काटत गनिका कान॥

ये भेद रसरत्नाकर में गिरिधरदास के नाम पर भारतेंदु जी ने प्रस्तुत किए हैं जिनमें भेद प्रभेद के विचार से अनेक स्थलों पर उनकी मौलिक कल्पनाएँ हैं।

(६) उपसंहार

यह संक्षेप में संवत् १७०० वि० से लेकर १६०० वि० तक सर्वरस, श्रृंगार, नायिकाभेद विषयों का वर्णन करनेवाले ग्रंथों का परिचय हुआ। रीतियुग में इन विषयों पर साहित्य लिखने की विशेष प्रवृत्ति थी, जैसा पहले कहा जा चुका है।

१६०० वि० के बाद भी इन विषयों पर अनेक ग्रंथ लिखे गए। समस्त रसों का वर्णन करनेवाले ग्रंथ तो आधुनिक युग में भी लिखे जाते रहे, परंतु श्रृंगार और नायिकाभेद का निरूपण कम हो गया। ग्वाल, लछिराम, सेवक, बिहारीलाल, प्रतापनारायण सिंह, भानु, ब्रजेश आदि अनेक कवि आधुनिक युग में भी इन विषयों पर लिखने के कारण उल्लेखनीय रहेंगे।

परंतु, आधुनिक युग की परिवर्तित परिस्थितियों के कारण इस साहित्यिक प्रवृत्ति का अधिक विकास १६०० वि० के बाद नहीं हो सका। रीतियुग में तो इन विषयों पर लिखना अत्यंत संमान की बात समझी जाती थी, पर आधुनिक काल में यह प्रवृत्ति युगचेतना के प्रतिकूल सिद्ध हुई। अतः न केवल यही बात थी कि इसे प्रोत्साहन नहीं प्राप्त हुआ, वरन् आगे चलकर इसकी निंदा तक हुई। भारतेंदु-युग में थोड़ा बहुत संमान इसे मिलता रहा, परंतु द्विवेदीयुग में इसके विरुद्ध विचार प्रकट किए गए। वह राष्ट्रीय आंदोलन का युग था, अतएव रस-नायिका-भेद वर्णन की अपेक्षा उद्बोधन और क्रांति के गीतों की आवश्यकता थी। अतएव यह परंपरा टूट गई। परंतु, उस समय के विचारों से यह हानि अवश्य हुई कि उस सामयिक आवश्यकताजन्य विरोध से लोगों में समस्त रीतिसाहित्य के प्रति निंदा की भावना जाग्रत हुई, जो अवाछनीय थी।

रीतियुग के रस, श्रृंगार और नायिकाभेद पर लिखे गए काव्य का कवित्व, जीवन और मनोविज्ञान की दृष्टि से बड़ा महत्व है। विवेचना के क्षेत्र में अधिक विकास नहीं हुआ, यह तथ्य है, परंतु इसके माध्यम से सौंदर्य, रूप और भावनाओं का सूक्ष्म चित्रण करनेवाले अतीव मधुर और ललित काव्य की रचना हुई जिसका साहित्य में सदैव संमान रहेगा। यह काव्य उपयोगी चाहे न हो, पर इसके लालित्य में किसी को भी संदेह नहीं हो सकता। खड़ी बोली में इस प्रकार के लालित्य को उतारना अभी शेष है।

पंचम अध्याय

अलंकारनिरूपक आचार्य

१. विषयप्रवेश

कर्नल टाड के आधार पर शिवसिंह सेंगर ने लिखा है—मुझको अवंतिपुरी के एक प्राचीन इतिहास में लिखा मिला है कि संवत् सात सौ सत्तर मे अवंतिपुरी के राजा भोज के पिता राजा मान काव्यशास्त्र मे महानिपुण थे। उन्होने अलंकारविद्या पूषी नामक एक बंदीजन को पढाई। पूषी कवि ने संस्कृत अलंकारो का भाषा दोहरो में विशद वर्णन किया। उसी समय से भाषाकाव्य की नीवँ पड़ी[१]। इस जनश्रुति पर पं० रामचंद्र शुक्ल ने विश्वास नहीं किया। यद्यपि पूषी या पुष्य कवि की रचना या उसका कोई अंश आज उपलब्ध नहीं है, इसलिये उक्त जनश्रुति को ही प्रमाण मानकर उसे इतिहास का आधार नहीं बनाया जा सकता, फिर भी यह असंभव नहीं लगता कि अष्टम शती के अंतिम चरण में अलंकार विषय के दोहे भाषा मे लिखे गए हो, क्योंकि संस्कृत-अलंकार-शास्त्र के अनुकरण पर संस्कृतेतर सरस्वतियो मे ग्रंथप्रणयन के प्रयत्न उस समय होने लगे थे—दंडी के काव्यादर्श से अनुप्रेरित कन्नड़ भाषा की प्रसिद्ध रचना कवि-राज-मार्ग का रचनाकाल नृपतुंग या अमोघवर्ष (८१४–८७७ ई०) का शासनकाल ही है। कम विश्वास का तथ्य यह है कि अष्टम शती की वह 'भाषा' अपभ्रंश की अपेक्षा हिंदी के अधिक निकट है।

यदि पुष्य कवि के अस्तित्व में सत्याश है तो उनके आश्रयदाता राजा मान और उनका काल संवत् ७७० भी सत्य है। अवतिपुरी या धारानगरी और उसके अधिपति राजा भोज सास्कृतिक इतिहास में अनेक किंवदंतियो के आलंबन रहे हैं। डा० एस० के० दे ने सरस्वतीकंठाभरण और शृंगारप्रकाश के रचयिता धारा-नरेश भोजदेव का काव्यकाल ईसा की ग्यारहवीं शती का द्वितीय चरण[२] माना है। ये दोनो ग्रंथ उस प्रतापी राजा के विशाल अध्ययन और मौलिक चिंतन का अच्छा परिचय देते हैं। यदि संस्कृत-काव्य-शास्त्र की ये मान्यताएँ विश्वसनीय हैं तो धारा-नरेशो का काव्य-शास्त्र-व्यसन संभव है। परंतु या तो राजा मान भोजदेव के पिता नहीं हैं या उनका समय विक्रम संवत् ७७० नहीं है। संभवतः इसी असंगति के

[१] शिवसिंहसरोज, पृ० ६

[२] हिस्ट्री आव् संस्कृत पोएटिक्स, प्रथम भाग।

निवारणार्थ पं० रामचंद्र शुक्ल ने[१] 'राजा भोज के पिता राजा मान' पदों में 'पिता' का अर्थ 'पूर्वपुरुष' लेकर पूषी कवि को 'भोज के पूर्वपुरुष राजा मान का सभासद पुष्य नामक बंदीजन' माना है और आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने कल्पना की है कि 'मान्यखेट' का ही परवर्ती रूप राजा 'मान' हो गया और सभाकवि का बाद में 'भाट' हो जाना भी कुछ आश्चर्य की बात नहीं है[२] ।

हम ऊपर निवेदन कर चुके हैं कि पूषी कवि के भाषा दोहरों को हिंदी की संपत्ति नहीं माना जा सकता । संभवतः उनको पश्चिमी अपभ्रंश की निधि माना जा सकता था । उनके अंतर्धान होने का भी यही कारण है कि उत्तर भारत में अपभ्रंश का वही साहित्य बच सका है जिसका मूल उच्छ्वास जैन मत था—काव्यशास्त्र के स्वतंत्र ग्रंथ या तो लिखे नहीं गए या विस्मृति की चादर लपेटकर सदा के लिये सो गए । अष्टम शती के चतुर्थ चरण में 'भाषा' में अलंकार विषय और दोहा छंद दोनों की रचना संभव थी । अलंकार के दिग्गज आचार्य भामह और दंडी, जिनकी स्थायी परंपरा क्रमशः उत्तर भारत और दक्षिण भारत में चिरकाल तक चलती रही, इस काल तक प्रसिद्ध हो गए थे । अष्टम शती में ही उद्भट ने भामह-विवरण लिखकर काव्यलंकार के सार का संग्रह सामान्य संस्कृतज्ञ पाठक के लाभार्थ तैयार कर दिया था, और स्वयंभू की कृपा से अष्टम शती में 'भाषा' तथा सरहपा के प्रयत्न से 'दोहा' छंद का भी पर्याप्त प्रचार था । अस्तु, पूषी कवि की कल्पना के लिये अष्टम शती की ऐतिहासिक परिस्थिति प्रतिकूल नहीं है और उनका चिरलोप भी युक्तिसंगत लगता है ।

अनुमान किया जाता है, अपभ्रंश के प्रसिद्ध कवि पुष्पदंत ही भाषा के पूषी कवि हैं । इस अनुमान का बीज 'पुष्प' या 'पुष्य' नाम की भूमि में छिपा है और इसका सिंचन इस विश्वास से हुआ है कि वह कवि 'भाषा' अर्थात् अपभ्रंश का कवि था और वह इतना प्रसिद्ध था कि उसका लोप नहीं हो सकता । कहने की आवश्यकता नहीं कि 'पुष्प' और 'पुष्पदंत' की एकता कष्टकल्पना है । उपर्युक्त अनुमान अनावश्यक है । पुष्पदंत ग्यारहवीं शताब्दी के कवि थे, इनके आश्रयदाता राष्ट्रकूट कृष्णराज तृतीय के महामात्य भरत[३] और उनके पुत्र महामात्य नन्न थे, राष्ट्रकूट राजाओं का धारानगरी पर अधिकार एक बार अवश्य हुआ था परंतु केवल इसी आधार पर उनके अमात्यों को राजा भोज और राजा मान कल्पित नहीं किया जा सकता । पुष्पदंत की भाषा रचनाएँ प्राप्य हैं । उनके नाम तिसट्ठि महापुरिस गुणा-

[१] हिंदी साहित्य का इतिहास, पृ० ३

[२] हिंदी साहित्य, पृ० ८

[३] श्रीराम शर्मा : दक्खिनी का गद्य और पद्य, पृ० ४७४

लंकाह (त्रिषष्ठि महापुरुष गुणालंकार) अर्थात् महापुराण, णायकुमारचरिउ (नागकुमारचरित) और जसहरचरिउ (यशोधरचरित) हैं। ये तीनों ही प्रकाशित हो चुकी हैं, यद्यपि महापुराण या त्रिषष्ठि महापुरुष गुणालंकार नाम की पुस्तक गुण और अलंकार के संबंध में भ्रम उत्पन्न कर सकती थी, परंतु इस रचना में ६३ महापुरुषों के गुणगान मात्र हैं, इसलिये काव्यशास्त्र की भ्राति यहाँ संभव नहीं। अस्तु।

पूषी कवि का पुष्पदंत में अध्यवसान युक्तियुक्त नहीं लगता और हमको किंवदंती पर पूर्णतः विश्वास करते हुए आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी से ही इस बात में सहमत होना पड़ता है कि पूषी कवि अपभ्रंश का ही[1] कवि था और हमारा अनुमान है कि अष्टम शती की अस्तवेला में अलंकार विषय तथा दोहा छंद के लिये भाषा में पर्याप्त अनुकूलता थी।

यह असंभव नहीं कि पूषी कवि के बाद भी भाषा में यदाकदा काव्यशास्त्र पर पुस्तकें लिखी जाती रही हों, क्योंकि संस्कृत में काव्यशास्त्र का जो प्रसार हुआ वह समकालीन भाषाकवियों को अवश्य प्रेरित करता रहा होगा। फिर भी, केशवदास से पूर्व कोई भी ऐसा आचार्य नहीं हुआ जो संस्कृत और भाषा का समान रूप से पंडित होने के कारण संस्कृत में लिखने की क्षमता रहने पर भी शिष्यजन के प्रति अनुराग से प्रेरित होकर भाषा में काव्यशास्त्र का निश्चित और व्यवस्थित सूत्रपात कर सकता। केशव से पूर्व, पं० रामचंद्र शुक्ल के अनुसार, संवत् १५६८ में कृपाराम ने नायिकाभेद की पुस्तक हिततरंगिणी लिखी, परंतु आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी उसे पीछे की रचना मानते हैं[2]। यदि यह पुस्तक गोस्वामी हितहरिवंश की प्रेरणा से लौकिक शब्दावली में अलौकिक रस का वर्णन करती है तो भी इसका प्रणयन संवत् १५६० में संभव नहीं। स्वयं हित जी का काव्यकाल[3] संवत् १५६१ से प्रारंभ होता है। रसनिरूपण में सूरदासकृत साहित्यलहरी (सं० १६०७), नंददासकृत रसमंजरी (लगभग सं० १६१०) और मोहनलाल मिश्र कृत शृंगारसागर (सं० १६१६)[4] केशव से पूर्व की रचनाएँ हैं, परंतु उनका प्रणयनहेतु भक्ति-उच्छ्वास है, विवेचन की इच्छा नहीं; उनमें रसनिरूपण के बीज खोजे जा सकते हैं, सूत्रपात नहीं। अलंकार विषय पर गोपा ने अलंकारचंद्रिका और करनेस कवि ने कर्णाभरण, श्रुतिभूषण और भूपभूषण केशव से पूर्व लिखी थीं, परंतु डा० भगीरथ मिश्र ने गोपा का गोप कवि से अभेद मानकर यह सिद्ध किया है कि गोप कवि का

[1] हिंदी साहित्य, पृ० ८

[2] वही, पृ० २६५

[3] राधावल्लभ संप्रदाय, सिद्धांत और साहित्य, पृ० ११६

[4] हिंदी काव्यशास्त्र का इतिहास, पृ० ५१

समय सं० १६१५ नहीं, प्रत्युत सं० १७७३[1] है, और करनेस कवि की रचनाएँ अप्राप्य हैं। इस परिस्थिति में अद्यावधि उपलब्ध प्रामाणिक सामग्री के आधार पर यही सिद्ध होता है कि केशवदास ने हिंदी ब्रजभाषा में सर्वप्रथम अलंकार नि का विवेचन करके काव्यशास्त्र के प्रौढ़ विवेचन का सूत्रपात किया।

केशवदास के काव्यशास्त्र संबंधी ग्रंथ तीन हैं—रसिकप्रिया (सं० १६४८), रामचंद्रिका (सं० १६५७), तथा कविप्रिया (सं० १६५८)। रसिकप्रिया उनकी प्रथम रचना है। इसकी मुख्य विशेषता यह है कि इसमें रसवर्णन काव्यशास्त्र की दृष्टि से किया गया है, भक्तिभाव से नहीं। रामचंद्रिका में रामकथा के व्याज से नाना छंदों का प्रयोग केशव ने दिखाया है। कविप्रिया का 'अवतार' तो सं० १६५८ में हुआ परंतु उसकी तैयारी बहुत दिनों से चल रही थी—शनैः शनैः हमारा यह विश्वास हो चला है कि कविप्रिया का बीजवपन रसिकप्रिया से पूर्व का है और इसने रसिकप्रिया के नामकरण को भी प्रभावित किया है। कविप्रिया का विषय कविशिक्षा है, काव्यशास्त्र या अलंकार मात्र नहीं, परंतु रीतिकाल के कवि अलंकार या काव्यशास्त्र का ही वर्णन करते थे। इसलिये, और इसलिये भी कि केशवदास प्रौढ आचार्य हैं परंतु रीतिकाल के अधिकाश साहित्यिक कवि मात्र थे, विद्वानों का यह मत है कि केशव को रीतिकाल की परंपरा से संपृक्त करके न देखा जाय। ये दोनों तर्क मान्य हैं और यह भी सत्य है कि केशव में संस्कृत के प्राच्य आचार्यों की छाया है, नव्य मम्मट, जयदेव आदि की नहीं। फिर भी, यह निर्विवाद है कि हिंदी (ब्रजभाषा) में केशव ही काव्यशास्त्र के प्रथम प्रौढ विवेचक और अलंकार विषय के शिरोमणि आचार्य हैं।

अस्तु, केशवदास हिंदी के सर्वप्रथम अलंकारनिरूपक आचार्य हैं। भक्तिभाव से उद्वेलित होकर रीतिकाल के भावोल्लास में सहस्रशः तरंगायित होनेवाली रीतिकल्लोलिनी बीच में केशव के उत्तुंग व्यक्तित्व से टकराती गई है। केशव की परंपरा के कुछ चिह्न आगे पदुमनदास की काव्यमंजरी (सं० १७४१), गुरुदीन पांडेय के बागमनोहर (सं० १८६०) और बेनी प्रवीन के नानारावप्रकाश (सं० १८७० के आसपास) में दिखलाई पड़ते हैं। केशव और जसवंतसिंह के बीच अर्धशती के व्यवधान को भरनेवाला साहित्य आज प्राप्य नहीं है, परंतु उसके संकेत अवश्य मिलते हैं। भाषाभूषण में जसवंतसिंह ने लिखा है :

> ताही नर के हेतु यह, कीन्हों ग्रंथ नवीन।
> जो पंडित भाषा निपुन, कविता विषै प्रवीन ॥ २१० ॥

[1] वही, पृ० ५१

इसमें अपनी रचना को 'नवीन' ग्रंथ कहकर कवि ने यह संकेत किया है कि इससे पूर्व भी इस विषय पर पुस्तकें लिखी गई थीं। फिर भी, इस पुस्तक की रचना क्यों हुई, इसका कारण यह है कि इसके पाठक कुछ भिन्न हैं—वे लोग जो (क) भाषा के निपुण पंडित हो, और (ख) कविता विषय में प्रवीण हों, अर्थात् इसके पाठक भाषारसिक हो। इनसे भिन्न प्रकार के पाठक या तो प्रौढ आचार्य हो सकते हैं, या शिक्षार्थी युवक। प्रौढ आचार्य उस समय संस्कृत ग्रंथों का अध्ययन मनन करते थे, भाषा कृतियों का नहीं। तब शिक्षार्थी युवक ही बच गए, जिनके लिये केशव ने कविप्रिया लिखी :

> **समुझैं बाला बालकहु, वर्णन पंथ अगाध।**
> **कविप्रिया केशव करी, छमियो कवि अपराध॥**

केशव का उद्देश्य शिष्यों की शिक्षा थी। कुवलयानंदकार अप्पय्य दीक्षित ने भी अलंकार विषय पर अपनी ललित कृति का बालकों के अवगाहनार्थ ही निर्माण किया था :

> **अलंकारेषु बालानाम्, अवगाहन सिद्धये।**
> **ललितः क्रियते तेषां, लक्ष्यलक्षणसंग्रहः॥**

अस्तु, केशव संस्कृत के कतिपय आचार्यों के समान शिष्यों के हेतु ही अलंकारादि विषय का विवेचन करते हैं, परंतु उनके कुछ समय बाद रीतिग्रंथ भी रसिकों के लिये ही लिखे जाने लगे, फलतः आचार्य की प्रतिभा, व्याख्याकार की अध्ययनशीलता, या गुरुजनोचित ललित अभिव्यक्ति के स्थान पर कवि की सहृदयता ही शेष रह गई।

हिंदी रीतिकाव्य के सर्वप्रिय अंग अलंकार का वर्णन करनेवाले साहित्यिक दो प्रकार के हैं। एक वे जो अलंकार विषय के ज्ञाता और लेखक थे और जो इसी दृष्टि से काव्यरचना में लगे। इनको दूलह के शब्दों मे अलंकृती[1] संज्ञा दी जा सकती है। इनपर प्रधानतः चंद्रालोक तथा कुवलयानंद का प्रभाव है। दूसरे वे जो वर्णन के निमित्त अलंकार के व्याज से साहित्यक्षेत्र में आए। इनको दूलह के ही शब्दों में 'कर्ता' कहा जा सकता है। इनकी रुचि लक्षण में कम परंतु उदाहरणों में विशेष थी। मतिराम और भूषण उस युग के दो प्रसिद्ध 'कर्ता' हैं। अलंकृती का उद्देश्य छोटे से छोटे छंद में भाषारसिक के संमुख अलंकार विषय का स्थूल वर्णन कर देना है। उसकी सफलता स्वच्छता में है। इसके विपरीत, 'कर्ता' स्वयं काव्यरसिक

[1] हिंदी अलंकार साहित्य, पृ० ५४-५

थे, उन्होंने उदाहरणों के लिये बड़े छंद लिखे हैं। उनमें रस की मात्रा अधिक है, परंतु अलंकार का वर्णन प्रायः उलझा हुआ है।

केशव से लेकर ग्वाल कवि तक अलंकारनिरूपक कवियों की संख्या अपार है। इनमें से कुछ कवियों की कृतियाँ हमारे देखने में नहीं आईं और उनका वर्णन हमने दूसरे विद्वानों के आधार पर किया है। गोपा, करनेस, छेमराज, गोपालराय, बलवीर, चतुर्भुज आदि कतिपय कवियों की कृतियाँ सुलभ नहीं हैं। उनकी चर्चा हमने प्रस्तुत प्रसंग में नहीं की। शेष कवियों और उनके अलंकार विषयक ग्रंथों का परिचय कालक्रम से आगे दिया जाता है।

१. केशवदास

आचार्य केशवदास हिंदी के प्रथम प्रौढ आचार्य हैं। इन्होंने रस, अलंकार छंद और कविशिक्षा का साधिकार विवेचन किया है। ये केवल संस्कृत के पुराने आचार्य दंडी आदि से प्रभावित हैं, अतः इनको मूलतः अलंकारवादी आचार्य कहना चाहिए। कविप्रिया मे, 'भूषण बिनु न विराजई कविता, बनिता मित्त' लिखकर केशव ने काव्य में अलंकार का सर्वाधिक महत्व प्रतिपादित किया है। इन्होंने अलंकार शब्द का प्रयोग व्यापक अर्थ में करके उसके दो भेद—सामान्य और विशेष—कर दिए हैं। सामान्यालंकार के अंतर्गत वर्ण्य विषय और विशेषालंकार के अंतर्गत तथाकथित अलंकार आते हैं। आचार्य केशव का विशद विवेचन सर्वांगनिरूपक आचार्यों के प्रकरण में किया गया है।

२. जसवंतसिंह (सं० १६८३–१७३५)

मारवाड़नरेश महाराज गजसिंह की मृत्यु के उपरात उनके द्वितीय पुत्र जसवंतसिंह १२ वर्ष की आयु मे गद्दी पर बैठे। ये महान् तेजस्वी तथा साहित्य एवं दर्शन के पंडित थे। इतिहास में इनका नाम अपने प्रताप तथा विद्याप्रेम दोनों के लिये प्रसिद्ध है। शाहजहाँ तथा औरगंजेब दोनों के शासनकाल में इनका महत्व रहा है। शाहजहाँ के समय में ये कई युद्धों में संमिलित हुए। औरंगजेब इनके तेज से आशंकित था। उसने इनको गुजरात का सूबेदार बनाया, फिर शाइस्ता खाँ के साथ शिवाजी से युद्ध करने भेजा। कहा जाता है कि छत्रपति शिवाजी ने शाइस्ता खाँ की जो दुर्गति की थी उसमें जसवंतसिंह की अनुमति थी।

जसवंतसिंह विद्वानो के आश्रयदाता तथा स्वयं विद्याव्यसनी थे। इन्होंने अपरोक्षसिद्धात, अनुभवप्रकाश, आनंदविलास, सिद्धातबोध, सिद्धातसार, प्रबोधचंद्रोदय नाटक आदि पुस्तकें पद्य में लिखी हैं। इन रचनाओं का विषय तत्वज्ञान है। साहित्य की दृष्टि से इनकी पुस्तक भाषाभूषण सदा अमर रहेगी।

भाषाभूषण से कुवलयानंद का अनुकरण करते हुए चंद्रालोक शैली पर प्रौढ़ ग्रंथरचना प्रारंभ होती है और भाषाभूषण ही इस शैली का सर्वोत्तम ग्रंथ है। उत्तरकालीन साहित्यिकों ने भाषाभूषण की देखादेखी अलंकार ग्रंथ लिखकर और भाषाभूषण पर टीकाएँ लिखकर इस कृति का महत्व स्वीकार किया है। अनुकरण करनेवाले ग्रंथों की तो एक दीर्घ परंपरा है। प्राचीन टीकाएँ भी कम से कम सात अवश्य थीं जिनमें से वंशीधर, रणधीरसिंह, प्रतापसाहि, गुलाब कवि तथा हरिचरणदास की टीकाएँ प्राप्य हैं। दलपतिराय, वंशीधर का तिलक अलंकाररत्नाकर (सं० १७६२) तो मूल के समान ही प्रतिष्ठा का भागी बन गया है।

आचार्य जसवंतसिंह ने केवल भाषाभूषण की रचना है। यह पुस्तक दोहा छंद में अलंकार विषय का लक्षण-उदाहरण-पूर्वक वर्णन करती है। भाषाभूषण मे सब मिलाकर २१२ दोहे हैं। यदि भूमिका तथा उपसंहार के १० दोहों को अलग कर दें तो २०२ दोहो में से १६६ अलंकार विषय के हैं, शेष ३६ दोहों मे काव्य के अन्य अंग नायिकाभेद आदि की सरल चर्चा है—इन इतर अंगों के उदाहरण नहीं दिए गए हैं।

भाषाभूषण अलंकार संप्रदाय का ग्रंथ है। इसमें चंद्रालोक के समान सभी काव्यांगों की चर्चा नहीं, प्रत्युत् कुवलयानंद के अनुकरण पर अलंकार विषय को सर्वसुलभ बनाने का सफल प्रयत्न है। लेखक का उद्देश्य है भाषा में भूषण का प्रकटीकरण, जो इस रचना के नाम तथा उपसंहार से भी स्पष्ट हो जाता है। वर्ण्य अलंकारो की संख्या, कुवलयानंद के ही अनुसार, १०८ है। रसवत् आदि पंचदश अलंकार स्वीकार नही किए गए। आदि मे अर्थालंकार और फिर ६ शब्दालंकार हैं—शब्दालंकारो को 'अनुप्रास षट विध' कहकर यमक का वर्णन भी अनुप्रास के ही अंतर्गत कर दिया गया है। जयदेव ने शब्दालंकार का वर्णन पुस्तक के प्रारंभ में किया और अप्पय्य दीक्षित ने इस विषय पर कुछ लिखा ही नहीं।

भाषाभूषण के चतुर्थ प्रकाश मे १०१ (यदि पूर्णोपमा और लुप्तोपमा को अलग अलग गिनें तो १०२) अर्थालंकार हैं। यदि चित्र अलंकार को अलग कर लें तो इन १०० अलंकारो का क्रम कुवलयानद के शत अलंकारो के ही अनुसार है। गुम्फ (कारणमाला) तथा गूढोत्तर (उत्तर) के अतिरिक्त शेष नाम भी कुवलयानंद से आए हैं।

भाषाभूषण को प्रायः चंद्रालोक की छाया समझा जाता है, परंतु वह कुवलयानंद के अधिक समीप है। केवल अलंकार विषय का वर्णन, अलंकारों के नाम, क्रम, तथा संख्या, शब्दालंकार की उपेक्षा आदि इसके प्रमाण हैं। किसी अलंकार के जहाँ कई भेद हों, वहाँ सामान्यतः कुवलयानंद की ही कृपा समझनी चाहिए (दे० उल्लेख, विभावना, असंगति आदि)।

जसवंतसिंह के सभी लक्षण संस्कृत से अनूदित हैं, लेखक ने मूल शब्दावली तक को अक्षत् रखने का प्रयत्न किया है (दे० एकावली, प्रत्यनीक, अर्थापत्ति, उदात्त आदि)। फिर भी, लक्षण सरल तथा स्पष्ट हैं (दे० अनन्वय, परिणाम आदि)। उदाहरणों में अनुवाद बहुत कम हैं, मौलिक उदाहरण अधिक सरस, मधुर एवं आकर्षक हैं। लक्षण-लक्ष्य-समन्वय दो प्रकार से है। एक ही दोहे में लक्षण और उदाहरण का समावेश, चंद्रालोक और कुवलयानंद के अनुकरण पर, भाषाभूषण में प्रायः किया गया है। परंतु जहाँ अलंकारों के अनेक भेद हैं (विशेषतः उन अलंकारों के प्रसंग मे जहाँ चंद्रालोक में तो एक ही भेद है, परंतु कुवलयानंद में अधिक भेद हो गए हैं) वहाँ लेखक पहले भेदों को अलग अलग समझा देता है, फिर सब भेदों के क्रमशः उदाहरण देता है (दे० निदर्शना, पर्यायोक्त, आक्षेप, असंगति आदि)। यह प्रणाली उतनी स्वाभाविक नहीं है।

भाषाभूषण अपनी शैली का सबसे स्वच्छ तथा प्रौढ़ ग्रंथ है। जसवंतसिंह को विषय का निर्भ्रांत बोध था और आचार्य पद से उसके प्रकटीकरण में भी वे कुशल थे। इस ग्रंथ की अद्यावधि प्रतिष्ठा इसका मूल्यांकन कर सकती है। संस्कृत में जो स्थान कुवलयानंद का है, हिंदी मे वही भाषाभूषण का। कवि ने लक्षणों में (और कहीं कहीं उदाहरणों मे भी) कुवलयानंद से बड़े स्वच्छ अनुवाद किए हैं :

(क प्रतीपमुपमानस्योपमेयत्व प्रकल्पनम् ।
त्वल्लोचनसमं पद्मं त्वद्वक्त्रसदृशो विधुः ।
सो प्रतीप उपमेय कों, कीजै जब उपमानु ।
लोचन से अंबुज बने, मुख सो चंद बखानु ॥

(ख) समासोक्तिः परिस्फूर्तिः प्रस्तुते प्रस्तुतस्य चेत् ।
समासोक्ति प्रस्तुत जु, फुरै सुन प्रस्तुत माँझ ॥

(ग) मीलितं बहुसादृश्याद् भेदवच्चेन्न लक्ष्यते ।
मीलित बहुसादृश्य तें भेद न परै लखाय ॥

३. मतिराम

कविवर मतिराम उस वर्ग के कवि हैं जिसको हम 'कर्ता' कह चुके हैं। इनका विवरण रस प्रकरण में दिया गया है। अलंकार विषय पर आपने ललितललाम और अलंकारपंचाशिका[1] ये दो पुस्तकें लिखी हैं। ललितललाम की रचना बूँदीनरेश भावसिंह के आश्रय में सं० १७१६ से सं० १७४५ के बीच हुई। ४०१ छंदों के इस

[1] इसकी एक हस्तलिखित प्रति हमारे सहयोगी श्री महेंद्रकुमार, एम० ए० के पास है।

ग्रंथ में कम से कम आधे दोहे हैं, शेष कवित्त सवैए। अलंकार विषय ३६० छंदों में है। 'ललाम' शब्द का अर्थ है सुंदर, सौंदर्य अथवा अलंकार, और 'ललित' शब्द का अभिप्राय सुकुमारोपयोगी है। इस प्रकार 'ललितललाम' का अर्थ है, 'ऐसा अलंकारग्रंथ जो सुकुमारबुद्धि पाठकों के लिये उपयोगी हो।' मतिराम को नामवैचित्र्य का शौक था, कई अलंकारों के संबंध में भी उन्होंने ऐसा किया है।

ललितललाम में केवल अर्थालंकारों का वर्णन है। 'काव्यलिंग' का अभाव है, परतु भाषाभूषण के समान 'चित्र' का समावेश है। अलंकारों की संख्या तथा क्रम सामान्यतः कुवलयानंद के ही अनुसार है। संस्कृत में 'स्मृति' और 'स्मरण' 'भ्रांति' और 'भ्रम' तथा 'स्वभावोक्ति' और 'जाति' के विकल्प तो रहे हैं, परंतु अर्थालंकारों के नामपरिवर्तन की आवश्यकता नहीं समझी गई। हिंदी में मतिराम ने ऐसा किया है, 'कैतवोपह्नुति' का 'छलापह्नुति', 'प्रतीयमाना उत्प्रेक्षा' का 'गुप्तोत्प्रेक्षा, 'अन्योन्य' का 'परस्पर' तथा 'कारणमाला' का 'हेतुमाला' तो हो ही गया है, 'विशेषक' का 'विशेष' कर देने से 'विशेष' नाम के दो अर्थालंकार ललितललाम में हो गए हैं।

सभी अलंकारों के लक्षण दोहों में हैं। एक अलंकार अथवा एक भेद के लिये एक दोहा प्रयुक्त हुआ है। प्रथम दो चरणों में लक्षण तथा अंतिम दो मे अलंकार एवं कवि के नाम हैं। इस प्रकार भाषाभूषण तथा ललितललाम की लक्षणशैली (आधा दोहा), आकार का भेद होते हुए भी, समान है। मतिराम के लक्षणों में चंद्रालोक, कुवलयानंद, काव्यप्रकाश तथा साहित्यदर्पण, चारों की शब्दावली का उपयोग है। ललितललामकार को यद्यपि पूरे दोहे के उपयोग की सुविधा थी, फिर भी उसने अपने लक्षणों को स्पष्ट एवं स्वच्छ नहीं बनाया। उनमें माधुर्य के साथ शिथिलता भी पर्याप्त है। अप्रस्तुत प्रशंसा जैसे अलंकार को कवि ने समझा ही नहीं, 'प्रशंसा' का अर्थ 'महिमागान' लेकर लक्षण कर दिया—'अप्रस्तुतै प्रसंसिए, प्रस्तुत लीने नाम', और उदाहरण भी वास्तविक बड़ाई का दे दिया :

ते धनि जे ब्रजराज लखैं, गृह काज करैं अरु लाज सँभारैं ॥

मतिराम की विशेषता उनके उदाहरण हैं—सरस, मधुर तथा मनोहर। प्रायः कवित्त सवैयों का प्रयोग अधिक है, दोहों का कम। कुछ अलंकारों के उदाहरण एक से अधिक भी हैं, परंतु उनसे अलंकार के महत्व की कोई सूचना नहीं मिलती। बड़े छंदों के उदाहरणों में एक दोष है, आदि के तीन चरण बिलकुल व्यर्थ हैं, प्रायः भ्रम में डालनेवाले (दे० समासोक्ति, विभावना, परिवृत्ति, अवज्ञा आदि)। वर्णन की सुविधा से सहोक्ति, पर्यायोक्ति, द्वितीय विषम तथा अर्थांतरन्यास आदि के उदाहरण स्पष्ट भी हैं तथा मार्मिक भी।

ललितललाम विशेष अध्ययन का फल नहीं जान पड़ता। संस्कृत ग्रंथों की जितनी भी छाया मिलती है वह कवि के पक्ष में नहीं जाती, केवल वातावरण का ही परिचय देती है। हिंदी के पूर्ववर्ती कवियों का अवलोकन मतिराम ने अवश्य किया होगा क्योंकि 'चित्र' में केशव की शब्दावली और लक्षणों में सामान्यतः जसवंतसिंह का प्रवाह उपलब्ध होता है। कवि ने केवल अर्थालंकारों का वर्णन किया है और वह भी केवल वर्णन के लिये। उसकी कविता मधुर, सरस तथा प्रसाद-गुण-पूर्ण है, परंतु केवल अलंकार के लिये लिखे गए पद्यों में इस गुण का भी अभाव है।

ललितललाम की कविता के उदाहरण देखिए :

काज हेतु कौं छोड़ि जहँ, औरनि के सहभाव।
बरनत तहाँ सहोक्ति हैं, कविजन बुद्धि प्रभाव ॥ १५७ ॥

महावीर राव भावसिंह को प्रताप साथ,
जस के पहुँच्यौ छोर दसहूँ दिसानि के।
दल के चढ़त फनमंडल फनीपति को,
फूटि फाट जात साथ सैल की सिलानि के।
दुज्जन के गन कलपद्रुम के बागनि मैं,
करति बिहार साथ सुर प्रमदानि के।
संपति के साथ कवि सौधनि बसत, बन,
वारिद बसत साथ बैरी बनितान के ॥ १५८ ॥

अलंकार विषय पर मतिराम की दूसरी रचना अलंकारपंचाशिका मानी जाती है। इसकी रचना संवत् १७४७ में कुमायूँ के राजा उदोतचंद के पुत्र ज्ञानचंद के लिये हुई थी। अलंकारपंचाशिका में ग्रंथ का परिचय इस प्रकार दिया हुआ है :

महाराज उद्योतचंद जू, भयो धरम को धाम।
तपत धरम परपक्ष सम, चहूँ चक्क परनाम ॥ ३ ॥
तिनके राजकुमार बर ग्यानचंद कुलचंद।
कुवलै कोबिद कबिन को बरषै सुधा अनंद ॥ ५ ॥
ग्यानचंद के गुन बने गनै भनै गुनवंत।
बारिद के मुकतान को कौने पायौ अंत ॥ ८ ॥
तदपि यथामति सौं कह्यौ शब्द अर्थ अभिराम।
अलंकारपंचासिका रची रुचिर मतिराम ॥ ९ ॥
संस्कृत को अर्थ लै भाषा सुद्ध बिचार।
उदाहरन क्रम ए किए लीजौ सुकबि सुधार ॥१०॥
संवत सत्रह सै जहाँ सैंतालिस नभ मास।
अलंकारपंचासिका पूरन भयो प्रकास ॥११॥

अलंकारपंचाशिका में, भेदों को अलग गिनकर, पचास अर्थालंकार हैं। प्रतिवस्तूपमा, दृष्टांत, निदर्शना, समासोक्ति, अप्रस्तुतप्रशंसा, कारणमाला, प्रत्यनीक, परिसंख्या आदि ऐसे प्रमुख अलंकार हैं जिनकी चर्चा ललितललाम में तो है परंतु अलंकारपंचाशिका में नहीं है। केवल प्रतीप, प्रहर्षण, उल्लेख, अधिक तथा सामान्य अलंकारों के ही दो दो भेद हैं और प्रत्येक भेद की अलग अलंकार रूप में गणना की गई है। उपमा, रूपक, और उत्प्रेक्षा के भेदों की अवहेलना ध्यान देने योग्य है। अलंकारो का क्रम स्वच्छंद है। उपमा तो आदि में है, परंतु रूपक बीच में तथा उत्प्रेक्षा लगभग अंत में आया है। 'गुणवंत' नाम का नया अलंकार क्रम में चतुर्थ है और उसके दो उदाहरण दिए गए हैं। लक्षण भी कम मनोरंजक नहीं :

> कछु संपत्त ही पाइके, लघु दीरघ ह्वै जात।
> सो गुनवंत कहंत है, मंद मतन समुझात ॥ १२ ॥

ललितललाम में कुछ अलंकारों के नाम बदल दिए गए थे, परंतु पंचाशिका में उस परिवर्तन का निर्वाह नहीं पाया जाता। दोनों ग्रंथो में अलंकारों के लक्षणों की शब्दावली अलग अलग है।

उपर्युक्त समस्त प्रमाणों से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि ललितललाम अधिक पूर्ण, सरस तथा प्रौढ़ रचना है, अलंकारपंचाशिका उसकी तुलना मे बाल प्रयत्न सा लगता है। पं० कृष्णबिहारी मिश्र ने ललितललाम का रचनाकाल[1] सं० १७१६ माना है, पं० रामचंद्र शुक्ल ने सं० १७१६ से १७४५ के बीच[2] तथा डा० भगीरथ मिश्र का भी यही मत[3] है। अलंकारपंचाशिका मे इसका रचनाकाल सं० १७४७ लिखा है। पं० कृष्णबिहारी मिश्र भी इसको मतिराम की अंतिम रचना मानते हैं। यदि ललितललाम और अलंकारपंचाशिका के रचनाकाल का क्रम यही है तो पंचाशिका उस कवि की रचना नहीं, किसी अन्य सामान्य मतिराम की कृति होगी।

अलंकारपंचाशिका की प्रस्तुत कृति इतनी अशुद्ध है कि इसपर अधिक विश्वास भी नहीं किया जा सकता। संभव है, लिपिकार ने प्रमादवश अलंकारों के क्रम में परिवर्तन कर दिया हो। परंतु केवल ५० अलंकारो का वर्णन, मुख्य अलंकारों और भेदों की अवहेलना, अत्यंत शिथिल लक्षण, मतिराम की शब्दावली की अस्वीकृति आदि दोष पुस्तक को बाल या इतर प्रयत्न सिद्ध करते हैं। कहा जायगा

[1] मतिरामग्रथावली, भूमिका, पृ० १४२
[2] हिंदी साहित्य का इतिहास, पृ० २५३
[3] हिंदी काव्यशास्त्र का इतिहास, पृ० ४१

कि देव कवि के भावविलास के समान पंचाशिका प्रसिद्ध मतिराम की बालरचना है। यह स्वीकार्य नहीं क्योंकि अंतःप्रमाण का एकदम अविश्वास कैसे कर लें और पुस्तक को ५० वर्ष पूर्व की कृति क्यों मान लें। साथ ही, पंचाशिका में शृंगार के उदाहरणों का अभाव भी इस बात का विरोधी है कि रसराज तथा ललितललाम लिखनेवाले की वह युवावस्था की रचना हो सकती है। अतः हमारा अनुमान है कि अलंकारपंचाशिका की रचना संवत् १७४७ में कुमायूँ के राजकुमार ज्ञानचंद के आश्रय में कवि मतिराम ने की, परंतु वे मतिराम रसराज और ललितललाम के रचयिता से भिन्न सामान्य प्रतिभा के कोई अन्य कवि थे।

४. भूषण (सं० १६७०–१७७२)

चिंतामणि तथा मतिराम के भाई भूषण का वास्तविक नाम क्या था, यह नहीं कहा जा सकता। ये कई आश्रयदाताओं के यहाँ रहे, परंतु महाराज छत्रसाल तथा छत्रपति शिवाजी ही इनके अधिक प्रिय बने। भूषण की उपाधि इनको चित्रकूट के सोलंकी राजा रुद्र से प्राप्त हुई थी। घोर शृंगार के युग में वीररस की अपूर्व कविता लिखकर अपना प्रमुख स्थान बना लेने में ही भूषण कवि का कृतित्व है। भूषण के काव्य का उद्देश्य वाणी को कलियुगीन स्त्रैण वातावरण से निकालकर वीरत्व की दीप्त सरिता में पवित्र[1] करना था। इसके लिये उनको शिवाजी उपयुक्त पात्र मिल गए। अस्तु, कवि की वाणी उस पात्र को पाकर आनंदगान कर उठी। प्रतिकूल परिस्थितियों में खिलकर भी भूषण ने जो सुरभि प्रदान की वह प्रत्येक हृदय को स्वाभिमान से भरनेवाली है।

भूषण कवि की ६ रचनाएँ[2] मानी जाती हैं जिनमें से शिवराजभूषण, शिवाबावनी, तथा छत्रसालदशक प्राप्य हैं। द्वितीय तथा तृतीय रचनाओं में वीर रस के छंद हैं और शिवराजभूषण में अलंकारनिरूपण है। आश्रयदाता 'शिवराज' तथा प्रशंसक 'भूषण', दोनों के नाम के उचित संयोग से इस पुस्तक का नामकरण हुआ। इसके ३८२ छंदों में से ३५० में अलंकार के लक्षण तथा उदाहरण हैं।

शिवराजभूषण का उद्देश्य अलंकारवर्णन नहीं, प्रत्युत् परंपरा के अनुसार शिवराज के चरित्र का संकीर्तन है (दोहा संख्या २९ तथा ३०)। अतः उत्तम ग्रंथों का अनुकरण तथा कहीं कहीं स्वमत[3] का कथन करके १०५ अलंकारों का यह वर्णन

[1] भूषन यों कलि के कविराजन राजन के गुन पाय नसानी।
पुन्य चरित्र सिवा सरजा सर न्हाय पवित्र भई पुनि बानी॥

[2] शिवराजभूषण, शिवाबावनी, छत्रसालदशक, भूषणउल्लास, दूषणउल्लास, तथा भूषणहजारा) हिंदी साहित्य का इतिहास, पृ० २५६)।

[3] लखि चारु ग्रंथन निज मतो युत सुकवि मानहुँ साँच। ३७९।

शास्त्र की दृष्टि से किसी महत्व का नहीं। 'ग्रंथालंकार नामावली' तो पुस्तक को व्यर्थ ही बोझिल बनाती है। छंद के लिये भरती के शब्दों का योग तथा नामों की तोड़ मरोड़ पाठक को खटकती है। 'विशेष' नाम का अलंकार तो ३ बार आया है।

ललितललाम से तुलना करने पर शिवराजभूषण का एक रहस्य और खुल जाता है कि अधिकतर अलंकारों के लक्षण तो भूषण ने चुपचाप अपने भाई से ही लिए हैं, कम से कम एक चौथाई[1] लक्षणों की शब्दावली ज्यों की त्यों अपना ली है, यदि कोई परिवर्तन है तो दोनों कवियों के नाम 'मति' तथा 'भूषण' शब्दों के ही कारण, और वह भी मात्राओं के लिये, विचारों के आधार पर नहीं। चंद्रालोक का प्रभाव भी कतिपय स्थलों पर देखने योग्य है। फिर भी, भूषण के लक्षणों में सफाई नहीं है। उल्लेख के लक्षणों में 'उल्लेख' शब्द तीन बार आता है, व्यर्थ ही। भूषण पर कुवलयानंदकार का प्रभाव कम है। कदाचित् उन्होंने कुवलयानंद देखा नहीं, अन्यथा अनेक भेदोपभेदों की उपेक्षा न होती।

शिवराजभूषण में आए हुए उदाहरण अच्छे हैं परंतु उतने उपयुक्त नहीं। 'भूषण' को भूषण बनानेवाला मालोपमा के उदाहरण का कवित्त भी सदोष है। 'तेज तम अंस पर' कहने से प्रस्तुत का उत्कर्ष प्रकट नहीं होता। उपमा के एक उदाहरण (सं० ३४) में औरंगजेब की हीनता दिखाते हुए भी उसकी समता ब्रजराज से कर दी गई है, श्रम में सादृश्य का भूषण को ध्यान ही न रहा और प्रत्यनीक में वे वास्तविक सेना का युद्ध दिखा बैठे हैं। उदाहरणों की इस शिथिलता का एक मुख्य कारण यह भी है कि भूषण कवि केवल वीर रस या उसके सहयोगियों को ही काव्यरस समझते हैं। मतिराम के उदाहरण भी अधिक उपयुक्त नहीं, परंतु उनमें काव्यगुण पर्याप्त मात्रा में हैं। युग की कोमलता एवं मंजुलता प्रत्येक चरण मे झंकृत होती है। भूषण में इसका भी अभाव है। वीरगाथाकाल की स्रोतस्वनी को पुनः रसवती करने में तो भूषण कवि को सफलता मिली है, परंतु विलासवती क्रीड़ा से उसमें जो सौंदर्य की तरलता आ गई थी उसमें अकस्मात् परिवर्तन संभव नहीं था। भूषण ने इसी का प्रयत्न किया और प्रकृत सुंदर रूप को भी अनाकर्षक बना बैठे।

भूषण कवि का काव्य वीर तथा उसके सहायक रसों से ओतप्रोत है। कुछ स्थल तो अलंकार का स्पष्टीकरण भी बड़ी सुंदरता से करते हैं। उदाहरण देखिए :

(क) परिसंख्या—

कंप कदली मैं, बारि बुंद बदली मैं,
सिवराज अदली के राज मैं यो राजनीति है।

[1] हिंदी अलंकार साहित्य, पृ० १०१

(ख) रूपकातिशयोक्ति—

कनकलतानि इंदु, इंदु माँहि अरविंद,
झरैं अरविंदन तें बुंद मकरंद के।

(ग) चंचलातिशयोक्ति—

आयो आयो सुनत ही, सिव सरजा तुम नाँव।
बैरि नारि दृग जलन सौं, बूड़ि जाति अरि गाँव॥

(घ) अपह्नुति—

चमकती चपला न, फेरत फिरंगी भट,
इंद्र को न चाप, रूप बैरख समाज को।
धाए धुरवा न, छाए धूरि के पटल, मेघ,
गाजिबो न, बाजिबो है दुंदुभि दराज को।
भौंसिला के डरन डरानी रिपुरानी कहैं,
पिय भजौ, देखि उदौ पावस के साज को।
घन की घटा न, गज घटनि सनाह साज,
भूषन भनत आयो सेन सिवराज को॥

भूषण के काव्य में वीर रस का अपूर्व प्रवाह है। उनकी उक्तियों में दर्प और आतंक के ओजपूर्ण चित्र हैं। इनकी तुलना खुशामदी कवियों से नहीं की जा सकती। यह सत्य है कि भूषण ने अपने आश्रयदाता की अतिशयोक्तिपूर्ण प्रशंसा की है, परंतु यह भी सत्य है कि वह आश्रयदाता उस युग का नेता था और वह केवल अपने स्वार्थ के लिये ही युद्ध न करके जनता की स्वत्वरक्षा के लिये जीवन अर्पण कर बैठा था। यह प्रशंसा जीवन को पवित्र, महान् एवं उदार बनानेवाली है। अस्तु, घोर शृंगारी घटनाओं में बिजली के समान चमकनेवाली भूषण की ओजस्विनी प्रतिभा आश्रयभोगी कवियों की प्रशंसामयी रुचि से तुलनीय नहीं है। निश्चय ही, भूषण आदिकाल और रीतिकाल के कवियों से अधिक गौरव के भागी हैं।

भूषण आचार्य के रूप में सफल नहीं हैं, उनको तो वीरकवि के रूप में ही देखना चाहिए। उस युग के काव्य का सामान्य रूप या विषय है शृंगार, और शैली है लक्ष्य-लक्षण-निरूपण करनेवाली। भूषण ने पिछली प्रवृत्ति को अपनाया, पहली को नहीं। वे लक्ष्य-लक्षण-निरूपण में वीर रस को अग्रणी बनाने में सफल हुए हैं।

४. सूरति मिश्र

सूरति मिश्र का जीवनवृत्त तथा इनका अलंकारनिरूपण संबंधी सामान्य परिचय सर्वांगनिरूपक आचार्यों के प्रसंग में यथास्थान देखिए।

६. श्रीधर ओझा

श्रीधर ओझा या मुरलीधर[१] कवि का जन्म पंडित रामचंद्र शुक्ल ने संवत् १७३७ माना है। ये प्रयाग के रहनेवाले ब्राह्मण थे। इनकी रचनाओं में जंगनामा प्रकाशित है, जिसमें फर्रुखसियर और जहाँदार के युद्ध का वर्णन है। शुक्ल जी के अनुसार, बाबू राधाकृष्णदास ने इनके बनाए कई रीतिग्रंथों का उल्लेख किया है, जैसे नायिकाभेद, चित्रकाव्य आदि[२]। हमको श्रीधर कवि की भाषाभूषण नामक एक हस्तलिखित कृति काशी नागरीप्रचारिणी सभा के पुस्तकालय से प्राप्त हुई है। भाषाभूषण की रचना कवि ने नवाब मुसल्लेह खान के आश्रय में सं० १७६७ में[३] की। उपलब्ध[४] प्रति का लिपिकाल[५] सं० १८०८ है।

भाषाभूषण के इस लेखक ने जसवंतसिंह का भाषाभूषण भी देखा होगा। दोनों की व्यवस्था में अधिक अंतर नहीं है। यह पुस्तक १५० दोहों में अर्थालंकार का लक्षण-उदाहरण-पूर्वक वर्णन करती है। दोहे के पूर्वार्ध में लक्षण और उत्तरार्ध मे उदाहरण[६] हैं। आधार चंद्रालोक तथा कुवलयानंद ही हैं। अंत के ४२ दोहे नायिकाभेद तथा रसादि का संक्षिप्त वर्णन करते हैं, परंतु उस भाग का अलग नाम ही 'काव्यप्रकाश' दे दिया गया है। अनुमान से जान पड़ता है कि उस युग का साहित्यिक 'भाषा'[७] में 'भूषण' का (चंद्रालोक, कुवलयानंद के आधार पर) वर्णन करनेवाली पुस्तक नाम ही भाषाभूषण समझता था और काव्यप्रकाश का महत्व अलंकारेतर अन्य काव्यांगों, विशेषतः रस और नायिकाभेद के लिये था।

श्रीधर कवि की कविता सामान्य है, अलंकारवर्णन में भी वे सामान्य सफलता के अधिकारी हैं। कुछ उदाहरण उनके भाषाभूषण से देखिए :

> **सो बिभावना, हेतु बिन कारज कौ उद्योत।**
> **बिन जावक चरनन जिते, अरुन कमलदल-गोत॥**

[१] श्रीधर ओझा विप्रवर, मुरलीधर जस नाम।
तीरथराज प्रयाग में, सुबस बस्यो रविधाम॥

[२] हिंदी साहित्य का इतिहास, पृ० २६६

[३] सत्रह सै सतसठि लिख्यो, संवत जेठ प्रमानि।

[४] हिंदी अलंकार साहित्य, पृ० १३९

[५] नवाब मुसल्लेह खान बहादुर प्रकाशितं कविवर प्रयागस्थल ओझा श्रीधर मुरली कृत भाषाभूषणं संपूर्णम्। संवत १८०८।

[६] लच्छन आधे दोहरा, उदाहरन पुनि आधु।

[७] भासहि मै मनि भूखन सो सुरभास ज्यौं भूषन भाँति भली है।

दोसहु में गुन देखिए, वहै अवज्ञा चारु।
बिपति भली सुमिरौ जहाँ, हरि के चरन उदारु॥

७. श्रीपति

श्रीपति का जीवनवृत्त तथा इनका अलंकारविवेचन संबंधी सामान्य परिचय सर्वांगनिरूपक आचार्यों के प्रसंग में यथास्थान देखिए।

८. गोप कवि

मिश्रबंधुओं ने ओरछानरेश महाराज पृथ्वीसिंह के आश्रय में रहनेवाले एक गोप कवि की चर्चा की है। इन्होंने सं० १७७३ के आसपास रामालंकार नामक अलंकारग्रंथ लिखा था। डा० भगीरथ मिश्र को टीकमगढ़ के सवाई महेंद्र पुस्तकालय (ओरछा) मे गोप कवि के दो ग्रंथ रामचंद्रभूषण और रामचंद्राभरण मिले हैं। कवि के केवल अलंकार विषय पर लिखे हुए तीन सामान्य ग्रंथ हैं—रामालंकार, रामचंद्रभूषण और रामचंद्राभरण। रामचंद्राभरण के प्रारंभ में कवि ने अपनी वंशावली और अपने आश्रयदाता ओरछानरेश पृथ्वीसिंह का वर्णन किया है। कवि का इतना ही विवरण उपलब्ध है।

गोप कवि के तीनो ग्रंथ एक ही योजना के तीन रूप हैं। उनके नाम और प्रतिपाद्य विषय तो एक हैं ही, वर्णनशैली तथा वर्णनविस्तार भी समान है। सामान्यतः इन ग्रंथों पर चंद्रालोक और भाषाभूषण का प्रभाव है।

डा० भगीरथ मिश्र ने रामचंद्रभूषण का परिचय देते हुए लिखा है कि यह अलंकारो का ग्रंथ है। दोहों में ही उनके लक्षण और उदाहरण दिए गए हैं। प्रथमार्ध मे अलंकार के लक्षण और द्वितीयार्ध मे उदाहरण हैं। ये उदाहरण राम के चरित्र से संबंध रखते हैं। पहले अर्थालंकारो का और बाद में शब्दालंकारो का वर्णन है। उदाहरण स्पष्ट और लक्षण संक्षेप में दिए गए हैं[१]।

गोप कवि का आचार्यत्व सामान्य स्तर का है। तीन तीन पुस्तको की रचना इन्होंने किसी सिद्धांत से प्रेरित होकर नहीं की। अलंकार के स्वरूप का वर्णन करते हुए :

शब्द अर्थ रचना रुचिर, अलंकार सो जान।
भाव भेद गुन रूप तें, प्रगट होत है, आन॥

लिखकर कवि अलंकार को शब्द और अर्थ की वह कलापूर्ण, रुचिर रचना नहीं मान

[१] हिंदी काव्यशास्त्र का इतिहास, पृ० ११५

रहा है जिसकी अभिव्यक्ति भावादि की स्थिति से होती है[1] उक्त दोहे का कोई विशेष अर्थ नहीं है। उसका अन्वय इस प्रकार होगा—शब्द-अर्थ-रचना (स्वरूप काव्य को, जो) रुचिर (करतु है) सो (ताको) अलंकार जान, (जु अलंकार) भाव भेद तथा गुन रूप तें आन (भिन्न) (रूप में) प्रकट होता है। इसका अर्थ यही होगा कि शब्दार्थरचना काव्य के शोभाकारक धर्म का नाम अलंकार है, यह भावादि तथा गुण से भिन्न प्रकार का होता है।

गोप कवि की भाषा सरल तथा उदाहरण सहज हैं। उनका उद्देश्य, अनेक रीतिकालीन कवियों के समान, कविता था, आचार्यत्व नहीं।

९. याकूब खाँ

याकूब खाँ सामान्य कोटि के कवि थे। उनका लिखा हुआ ग्रंथ रसभूषण दतिया राजपुस्तकालय में उपलब्ध है। मिश्रबंधुओं ने इसका रचनाकाल सं० १७७५ माना है। इस ग्रंथ की एक विशेषता यह है कि इसमें रस अर्थात् नायिकाभेद और अलंकार का वर्णन साथ साथ चलता है। कवि ने इस चमत्कार के लिये बड़ी मनोरंजक युक्ति दी है। वह कहता है कि अलंकार के बिना नायिका शोभित नहीं होती अतः मैं इस पुस्तक में अलंकारयुक्त नायिका का वर्णन कर रहा हूँ :

> अलंकार बिनु नायिका, सोभित होइ न भाम।
> अलंकारजुत नायका, यातें कहौं बखानि॥

इस पुस्तक में नायिका का एक भेद और अलंकार साथ साथ वर्णित हैं। यत्र तत्र ब्रजभाषा गद्य में व्याख्यात्मक टीका है। समस्त पुस्तक दोहा और सोरठा छंदों में लिखी गई है। प्रसंगतः इस रचना में इस विषय पर भी प्रकाश पड़ता है कि कौन सा अलंकार किस रस में अधिक उपयुक्त है। रसभूषण की कविता सामान्य स्तर की है :

> पूरन उपमा जानि, चारि पदारथ होइ जिहिं।
> ताहि नायिका मानि, रूपवंत सुंदर सुकवि॥
> हैं कर कोमल कंज से, ससि सी दुति मुख पेन।
> कुंदन रँग, पिक बचन से, मधुरे जाके बैन॥

१०. रसिक सुमति

आगरा निवासी उपाध्याय ईश्वरदास के पुत्र रसिक सुमति ने संवत् १७८५-८६ में अलंकारचंद्रोदय की रचना की। जिस टोले[2] में कुलपति मिश्र का घर था,

[1] हिंदी रीतिसाहित्य, पृ० ६७

[2] टोलै मथुरियानि के तपन-तनया निकट भवदात।

उसी में ६० वर्ष बाद रसिक सुमति रहते थे—इस संयोग का संकेत[1] उन्होंने बड़े गौरव से किया है।

अलंकारचंद्रोदय की रचना सामान्यतः कुवलयानंद के आधार पर[2] दोहों में हुई है। १८७ में से १८० दोहों में अर्थालंकार तथा शेष में शब्दालंकार हैं। काव्य में वैचित्र्य[3] का नाम अलंकार है। यह शब्द और अर्थ के भेद से दो प्रकार का हो सकता है। प्राधान्य की दृष्टि से अर्थालंकार का वर्णन पहले है। रसिक जी ने भाषा-भूषण से उदाहरणों में सहायता ली है। चंद्रोदय की भाषाभूषण से बढ़कर एक विशेषता यह है कि प्रत्येक भेद के लक्षण उदाहरण के लिये एक स्वतंत्र दोहा लिख दिया है, फलतः प्रत्येक भेद सुगम तथा सरल बन गया है।

चंद्रालोक के लक्षणों को कुवलयानंद से ग्रहण करके रसिक सुमति ने उनका प्रायः छायानुवाद और कहीं कहीं शब्दानुवाद कर दिया है :

(१) वदंति वर्ण्यावर्ण्यानां, धर्मैक्यं दीपकं बुधाः।
मदेन भाति कलभः प्रतापेन महीपतिः।
दीपक वर्ण्य अवर्ण्य की, एक क्रिया जो सोय।
गज मद सौं नृप तेज सौं, जग मैं भूषित होय॥

(२) सहोक्तिः सहभावश्चेद् भासते जनरंजनः।
दिगंतमगमत्तस्य कीर्तिः प्रत्यर्थिभिः सह।
सो सहोक्ति तजि हेतु फल औरनि कौ सहभाव।
सुजस संग परताप तुव, नाँघि गयौ दरियाउ॥

११. भूपति

अमेठी के राजा गुरुदत्तसिंह 'भूपति' नाम से कविता करते थे। शुक्ल जी ने इनके विषय में लिखा है कि ये जैसे सहृदय और काव्यमर्मज्ञ थे वैसे ही कवियों का आदर संमान करनेवाले भी। एक बार अवध के नवाब सआदत खाँ से ये बिगड़ खड़े हुए। सआदत खाँ ने जब इनकी गढ़ी घेरी तो ये सआदत खाँ के सामने ही अनेक को मार काटकर गिराते हुए जंगल की ओर निकल गए।

[1] हिंदी अलंकार साहित्य, पृ० १४०

[2] रसिक कुवलयानंद लखि, मति मन हरष बढ़ाय।
अलंकार चंद्रोदयहिं बरनत हिय हुलसाय॥

[3] सबद अरथ की चित्रता, बिबिध भाँति की होइ।
अलंकार तासौं कहत, रसिक बिबुध कवि लोइ॥

भूपति की ३ पुस्तकें प्रसिद्ध हैं—सतसई, रसरत्नाकर और कंठाभूषण। सतसई की रचना सं० १७९१ में हुई थी। इसमें शृंगार के सरस दोहे हैं। रसरत्नाकर में रस और कंठाभूषण में अलंकार का वर्णन है[1]। ये रीतिग्रंथ अभी प्रकाश में नहीं आए। सतसई के दोहे मधुर तथा सरस हैं।

१२. दलपतिराय

अहमदाबाद के निवासी दलपतिराय महाजन और वंशीधर ब्राह्मण ने उदयपुर के महाराणा जगतसिंह के आश्रय मे अलंकाररत्नाकर नामक ग्रंथ सं० १७९२ में बनाया। यह ग्रंथ जसवंतसिंह के भाषाभूषण की व्याख्या है। पं० रामचंद्र शुक्ल के अनुसार इसका भाषाभूषण के साथ प्रायः वही संबंध है जो कुवलयानंद का चंद्रालोक के साथ। इस ग्रंथ में विशेषता यह है कि इसमें अलंकारों का स्वरूप समझाने का प्रयत्न किया गया है तथा इस कार्य के लिये गद्य व्यवहृत हुआ है।

कवियों ने आचार्यत्व की भावना से अलंकारों के लक्षण और फिर उदाहरण देकर उदाहरणों को घटाया है। उदाहरण दूसरे कवियों के भी दिए गए हैं। पुस्तक बहुत ही पाडित्यपूर्ण और उपयोगी है। कविता की दृष्टि से भी दलपतिराय तथा वंशीधर का अच्छा स्थान है।

१३. रघुनाथ

काशीनरेश महाराज बरिबंडसिंह की सभा में रघुनाथ बंदीजन थे। काशिराज ने इनको चौरा नामक ग्राम दिया था जिसकी स्थिति वाराणसी[2] से एक योजन और पंचक्रोशी से एक कोस दूर थी। महाभारत का प्रसिद्ध अनुवाद करनेवाले गोकुलनाथ इनके पुत्र और गोपीनाथ इनके पौत्र थे।

रघुनाथ ने ४ ग्रंथ लिखे—रसिकमोहन, काव्यकलाधर, जगत्मोहन, तथा इश्कमहोत्सव। कहा जाता है कि इन्होंने बिहारी की सतसई पर एक टीका भी लिखी थी। रसिकमोहन अलंकार ग्रंथ है। इसकी रचना सं० १७९६[3] में हुई थी। काव्यकलाधर (सं० १८०२) में रस तथा नायिकाभेद का वर्णन है। जगतमोहन (सं० १८०७) अष्टयाम की परंपरा में है जिसमें कृष्ण को आदर्श नृपति के रूप में चित्रित करके उनकी १२ घंटे की दिनचर्या का वर्णन है। इस ग्रंथ में कवि का संसार के समस्त विषयों का ज्ञान भली भाँति प्रतिबिंबित होता है। इश्कमहोत्सव उस

[1] हिंदी काव्यशास्त्र का इतिहास, पृ० १२६

[2] योजन भरि वाराणसी, पचकोस यक कोस।

[3] सवत सत्रह सै अधिक, बरस छानवे पाय।

युग की प्रगतिशील रचना है। खड़ी बोली और फारसी शब्दों के अधिकांश मिश्रण द्वारा इश्क अर्थात् प्रेम के उल्लास से परिपूर्ण। इस पुस्तक की दृष्टि से रघुनाथ बोधा कवि (जन्म सं० १८०४) से अग्रणी ठहरते हैं—इश्कमहोत्सव की रचना इश्कनामा से पूर्व ही हुई थी।

अलंकार की दृष्टि से रसिकमोहन का अपना महत्व है। इसकी सबसे पहली विशेषता यह है कि उदाहरण के लिये आए हुए पद्यों के चारो चरण उस अलंकार के उदाहरण हैं। सामान्यतः दूसरे कवियों ने अपने कवित्त या सवैयों के प्रथम तीन चरण व्यर्थ ही रचे हैं, अंतिम चतुर्थ चरण में ही उस अलंकार का उदाहरण मिलता है। रसिकमोहन की दूसरी विशेषता उदाहरणों के लिये केवल शृंगार रस के ही पद्य न बनाकर वीर आदि रसों का आश्रय है। इस पुस्तक का उद्देश्य अलंकार-वर्णन के अतिरिक्त आश्रयदाता राजा की विशद गुणगाथा[1] भी है।

रसिकमोहन ४८२ छंदों का ग्रंथ है। लक्षण के लिये दोहा और उदाहरण के लिये कविच या सवैया छंद का प्रयोग है। पुस्तक का विभाजन 'मंत्रों' में है और प्रत्येक 'मंत्र' का नामकरण भी है। केशव के समान रघुनाथ ने पुस्तक प्रारंभ करते ही विवेच्य अलंकारों की सूची दे दी है। रघुनाथ के लक्षणों में कुवलयानंद का प्रभाव है, कहीं कहीं (दे० स्तवकोपमा) चंद्रालोक की भी छाया है। अलंकारों के नामों, लक्षणों, या भेदों म कोई विशेषता नहीं। प्रमादवश व्याजोक्ति नाम दो बार आ गया है और देखादेखी अत्युक्ति का भेद प्रेमात्युक्ति वर्णित है।

रघुनाथ कवि के उदाहरण पाठक का ध्यान आकृष्ट करते हैं, स्पष्टता के कारण भी तथा कवित्व के कारण भी। इनकी कविता सरस एवं मनोहर है, भाषा साफ सुथरी एवं छंद गतिपूर्ण हैं। काव्यगुण मे इनको मतिरामवर्ग में रखा जा सकता है। काव्यकलाधर से रघुनाथ की कविता के उदाहरण देखिए :

चंद सो आनन, चाँदनी सो पट,
तारे सी मोती की माल बिभाति सी।
आँखें कुमोदिनि सी हुलसी,
मनिदीपनि दीपकदामि के भाति सी।
हे रघुनाथ कहा कहिए,
प्रिय की तिय पूरन पुन्य बिसाति सी।
आई ओन्हाई के देखिबे को,
बनि पून्यो की राति में पून्यो की राति सी ॥१॥

[1] बिच बिच काशी नृपति के कहे बिसद गुन गाथ।

देखि री देखि ये ग्वालि गँवारिन,
नैक नहीं थिरता गहती है।
आनँद सों रघुनाथ पगी,
पग रंगन सों फिरती रहती है।
छोर सौं छोर तरौना को छ्वै करि,
ऐसी बड़ी छबि कौं लहती है।
जोबन आइबे की महिमा,
अँखिया मनो कानन सौं कहती हैं ॥२॥

संबंधातिशयोक्ति तथा श्लेष के निम्नलिखित उदाहरण कवि की प्रतिभा की कुछ झलक दे सकते हैं :

देखि गति आसन तें सासन न मानै सखी,
कहिबे कौं चहत कहत गरो परि जाय।
कौन भाँति उनको सँदेसौ आवै रघुनाथ,
आइबे को मोपै न उपाव कछू करि जाय।
बिरह बिथा की बात लिख्यो जब चाहै तब,
ऐसी दसा होति आँच आखर मैं भरि जाय।
हरि जाय चेत चित, सूखि स्याही झरि जाय,
बरि जाय कागद, कलम डंक जरि जाय ॥१॥

भरे तनसुख सिरी साफ सोहै रघुनाथ,
अतलस रही गज गति मैं बखान है।
फिरि मिली बंदी की बिराजै पाँति न्यारी नीकी,
काकनी लिहारी औ रूमाल सुभ ठान है।
गाढ़े कुच की है मेही कमर अलकपरी,
औरऊ चिकन पट के तो सुलतान है।
तुम तो सुजान बलि गई चलि देखौ लाल,
आजु बनी बनिता बजाज की दुकान है ॥२॥

१४. गोविंद कवि

गोविंद कवि ने सं० १७९७ में कर्णाभरण नामक अलंकार विषय की पुस्तक लिखी जो सं० १८६४ में भारतजीवन प्रेस, काशी से मुद्रित भी हुई। गोविंद कवि से सार्ध शताब्दी पूर्व करनेस कवि ने भी इसी विषय और नाम की एक पुस्तक लिखी थी जो प्राप्य नहीं है। फिर भी, उसका ऐतिहासिक महत्व है। संभव है, गोविंद कवि उस रचना से परिचित न रहे हों।

कर्णाभरण ४६ पृष्ठों की पुस्तक है। भाषाभूषण के समान इसमें भी केवल दोहा छंद के प्रयोग से अलंकार के लक्षण और उदाहरण प्रस्तुत किए गए हैं। लेखक ने अपनी कृति का समय इन शब्दों में लिखा है :

> नग निधि रिषि बिधु बरष मैं, सावन सित तिथि संभु।
> कीन्हौं सुकवि गुविंद जू, करणाभरण अरंभु ॥

कर्णाभरण भाषाभूषण की शैली पर लिखा गया है। इसके नाम, आकार तथा शैली तीनों ही इस तथ्य के द्योतक हैं कि कवि ने उपयोगिता का सदा ध्यान रखा है। गोविंद कवि ने अलंकार का विशेषज्ञ बनकर पाठक को भ्रम मे डालने का प्रयत्न नहीं किया, प्रत्युत श्रुतिमधुर (अतः कर्ण का आभरण) शैली में, संक्षेपतः, प्रसिद्ध विषय को हृदयंगम कराया है। इस दृष्टि से कर्णाभरण भाषाभूषण से आगे है। इसकी भाषा सरल तथा मधुर है। विषय को स्पष्ट करते हुए उसमे पाठक की रुचि जाग्रत करना इसकी विशेषता है।

इस पुस्तक में सामान्यतः भाषाभूषण का ही अनुकरण है। प्रायः दोहे में लक्षण और उदाहरण आ गए हैं, परंतु जहाँ यह संभव नहीं हुआ है, वहाँ कवि ने स्वतंत्र दोहा दिया है। सामान्यतः पुस्तक स्वच्छ तथा सरल है। विशेषोक्ति का एक उदाहरण देखिए :

> तुव कृपान पानिपमई, जदपि नरेस दिखाति।
> तऊ प्यास पर प्रान की, याकी नाहिं बुझाति ॥

१५. शिव कवि

मिश्रबंधु विनोद के आधार पर डा० भगीरथ मिश्र[1] ने एक शिव कवि की चर्चा की है, जिन्होंने सं० १८०० वि० के आसपास रसिकविलास और अलंकार-भूषण नामक दो रीतिग्रंथों की रचना की। जैसा नाम से ही स्पष्ट है, रसिकविलास में नायिकाभेद का मधुर और कोमल विस्तार होगा और अलंकारभूषण में कवि ने भिन्न भिन्न अलंकारों का वर्णन किया होगा। इससे अधिक कवि या उसकी रचना के विषय में कुछ भी ज्ञात नहीं है।

१६. दूलह

प्रसिद्ध कवि कालिदास त्रिवेदी के पौत्र और कवींद्र उदयनाथ के पुत्र कवि दूलह के विषय में किसी ने कहा है : 'और बराती सकल कवि, दूलह दूलहराय'।

[1] हिंदी काव्यशास्त्र का इतिहास, पृ० १४८

इनका कविताकाल पं० रामचंद्र शुक्ल ने सं० १८०० से १८२५ के आसपास तक माना है। इन्होंने कवि-कुल-कंठाभरण नामक अलंकार विषय की एक प्रसिद्ध पुस्तक लिखी है जिसमें रचनाकाल नहीं दिया गया है। इसके अतिरिक्त कुछ सुंदर कवित्त भी इनके नाम से अंकित हैं। संभव है, वे किसी अप्राप्य रचना के अंग हों।

कवि-कुल-कंठाभरण अलंकार की प्रसिद्ध पुस्तक है। इसमें केवल ८५ छंद हैं। विषयप्रतिपादन ८१ पद्यों में है—८ दोहे, १ सवैया तथा शेष कवित्त हैं। 'थोरे क्रम क्रम ते कही अलंकार की रीति' लिखने से दूलह का अभिप्राय छोटे छंद से नहीं, प्रत्युत संक्षिप्त विवेचन से है। इस दृष्टि से कंठाभरण इस युग की परंपरा से अलग है। इसमें चंद्रालोक, कुवलयानंद, या भाषाभूषण आदि के समान छोटे छोटे पद्य लिखकर उन्हें स्मृतिसुगम बनाने का प्रयत्न नहीं है, यद्यपि कवि ने अपने प्रयत्न को संक्षिप्त ही समझा और पाठक से उसे याद कर लेने की आशा की है :

दीरघ मत सतकविन के, अर्थाशय लघुवर्ण।
कवि दूलह यातें कियो, कवि कुल कंठाभर्ण।
जो या कंठाभरण को, कंठ करै चित लाय।
सभा मध्य सोभा लहै, अलंकृती ठहराय॥

कंठाभरण की विशेषता बड़ा छंद नहीं, अन्य साहित्यिक तथ्य भी हैं। दूलह ने सतकवि, करतार तथा अलंकृती शब्दों का प्रयोग करके उस युग के साहित्यिकों के तीन वर्गों का संकेत[1] किया है। सत्कवि से अनेक अंगो का एकत्र विवेचन करनेवाले आचार्यों दास, देव आदि, कर्ता से रीति के आश्रय से वर्णन करनेवाले कवि मतिराम, भूषण आदि तथा अलंकृती से अलंकार विषय के ज्ञाता और लेखक जसवंतसिंह, दूलह आदि का अर्थ लिया जा सकता है।

केशव की शब्दावली में दूलह ने कविता में अलंकार के महत्व का प्रतिपादन किया है : बिन भूषण नहिं भूषई, कविता वनिता चार तथा कुवलयानंद और चंद्रालोक का नाम लेकर उनका ऋण स्वीकार किया गया है। अलंकारों की संख्या, नाम तथा क्रम कुवलयानंद के अनुसार हैं। मुख्य अलंकार १०० तथा[2] अन्य १५ में से चार रसवत् आदि, ३ भावोदय आदि तथा ८ प्रत्यक्ष प्रमाणादि का कुवलयानंद के अनुसार वर्णन है।

रीतिकाल के अलंकृतियों ने अलंकारों का परिचय मात्र कराया है, विवेचन

[1] हिंदी अलंकार साहित्य, पृ० ५५ तथा १४६–७

[2] अरथ लङ्कृत शत प्राचीन कहे ते कहे, आधुनिक सत्तर बहत्तर प्रमाने हैं।
कहे कवि दूलह सु पंचदस औरो सुनौ, औरो और ग्रंथन सो जे वै ठीक ठाने हैं॥

नहीं किया। फलतः सभी अलंकारों के लक्षण देना आवश्यक नहीं समझा गया। दूलह ने भी 'जानिबे के हेतु कवि दूलह सुगम कियो नाम लच्छ्य लच्छन कवित्त ही सों जानिए' लिखकर उसी प्रवृत्ति की स्वीकृति दिखाई है। जिन अलंकारों के कई भेद शास्त्र में प्रचलित हैं, उन अलंकारों के लक्षण दिए ही नहीं, केवल भेदों की विशेषताओं को समझा दिया है। उपमा और उसके भेदों तक के लक्षण नहीं दिए। अपह्नुति, उत्प्रेक्षा तथा अतिशयोक्ति के विषय में भी यही बात है। जिन अलंकारों के लक्षण हैं, उनके स्पष्ट तथा सुगम हैं। तुल्ययोगिता, दीपक, प्रतिवस्तूपमा, दृष्टांत, निदर्शना और विभावना इसके प्रमाण हैं। इस क्षेत्र में कंठाभरण का महत्व भाषाभूषण से अधिक है।

लक्षणों से भी अधिक विशेषता उदाहरणों में लक्षित होती है। कवित्त जैसे छंद में उदाहरण अधिक स्पष्ट हो जाता है। अधिकतर अलंकृती लक्षण और उदाहरण लिखकर अपने कर्तव्य की इतिश्री समझ लेते थे, परंतु पाठक अलंकारों का पारस्परिक भेद नहीं जान पाता था। उदाहरणों की शब्दावलियाँ अलग अलग थीं– प्रायः कहीं से अनूदित—अतः उनसे पारस्परिक अंतर की झलक नहीं मिलती थी। एक ही अलंकार के विभेदों का स्पष्टीकरण तो और भी कठिन था, क्योंकि पारस्परिक अंतर की सूक्ष्मता ब्रजभाषा पद्य में सरल नहीं थी। इस अंतर को स्पष्ट करने का एक ही उपाय है कि सारे उदाहरण एक ही शब्दावली के हों। दूलह ने इस रहस्य को समझा और कंठाभरण में इसका उपयोग किया। रूपक के दो भेद हैं—अभेद और तद्रूप। फिर प्रत्येक भेद के ३ उपभेद हैं—अधिक, सम तथा न्यून। दूलह ने अभेद रूपक के इन ३ उपभेदों को एक ही शब्दावली के उदाहरणों से समझाया है :

राम अवियोगी तुम, राम तुम यशपाल।
राम तुम लंक के बिरोध बिन ही अहै॥

'राम तुम' अभेद रूपक का सामान्य उदाहरण है, 'तुम राम (परंतु) अवियोगी'···राम वियोगी थे तुम अवियोगी हो, उनसे अधिक हो—अधिक अभेद रूपक का, तुम यशपाल राम हो, दोनो बराबर, सम अभेद रूपक का, राम तुम लंक के बिरोध बिन ही' में प्रस्तुत में लंकाविजय की सामर्थ्य के अभाव से न्यून अभेद रूपक का उदाहरण बन जाता है।

बड़े छंद के कारण उदाहरणों में दोष भी आ गए हैं। आधे छंद में एक अलंकार का उदाहरण तथा शेष आधे में दूसरे का लक्षण और उदाहरण प्रारंभ हो गया है। कवित्त के कुछ चरण भरती के शब्दों से भरे हुए हैं। कुछ अलंकारों के उदाहरण नहीं हैं प्रस्तुत उन परिस्थितियों का वर्णन है, जिनमें वह अलंकार बन सकता है (दे० छेकापह्नुति तथा हेतूत्प्रेक्षा)।

चाहिए। 'रामायन के लच्छ' से यह अभिप्राय नहीं कि उदाहरण रामचरितमानस से ही लिए गए हैं, क्योंकि गीतावली के उदाहरणों की भी कमी नहीं, बरवै रामायण आदि के उदाहरण भी हैं ही, अतः 'रामायन' से 'तुलसीकृत रामकथा' का संकेत है। लक्षण दोहे में हैं और उदाहरण के लिये तो सभी छंद आ गए हैं। लेखक की भक्तिरसपूर्ण उदाहरणों में बड़ी रुचि थी, अतः 'पुनर्यथा' लिखकर प्रायः एक से अधिक उदाहरण उसने दिए हैं।

आदि में ६ शब्दालंकार—अनुप्रास, वक्रोक्ति, यमक, श्लेष, चित्र, पुनरुक्तवदाभास—लिखकर फिर अर्थालंकार का वर्णन है। अर्थालंकार के विषय में रसरूप लिखते हैं :

> अक्षर कौ संबंध करि, क्रमही सो रसरूप।
> आद्य वरन के नेम सौं, भूषण रचे अनूप॥

अर्थात् अर्थालंकारों का वर्णन अकारादि क्रम से किया गया है, जो उस युग में एक विचित्र बात थी। शब्दालंकार पर मम्मट का तथा अर्थालंकार पर जयदेव का प्रभाव अधिक है।

रसरूप कवि के रूप में हमारे संमुख नहीं आते क्योंकि इन्होंने उदादरणों की रचना नहीं की। ये या तो आचार्य हैं या भक्त, आचार्य कम, भक्त अधिक। इन्होने केवल लक्षण बनाए हैं, परंतु वे भी सामान्य कोटि के हैं। क्रम भी प्रासंगिक है, किसी गहराई का द्योतक नही। फिर भी रसरूप का प्रयत्न प्रशंसनीय है। इन्होंने उदाहरणों के मोह से छूटकर एक ऐसा अलंकारग्रंथ लिखा जिसकी सामग्री का आधार हिंदी का मूर्धन्य कवि है और जिसमें काव्यशास्त्र को शृंगार की संकीर्ण गली से निकालकर जीवन के व्यापक क्षेत्र में लाया गया है।

१६. बैरीसाल

असनी में बैरीसाल के वंशज और उनकी हवेली अब तक विद्यमान है। ये जाति के ब्रह्मभट्ट थे। बैरीसाल ने सं० १८२५ में अलंकार विषय पर भाषाभरण नामक एक सुंदर तथा प्रसिद्ध ग्रंथ लिखा।

भाषाभूषण ४७५ छंदों की पुस्तक है जिसमें अधिकतर दोहा छंद का व्यवहार हुआ है। इसके लक्षण स्पष्ट और उदाहरण सुंदर हैं। विवेचन में स्पष्टता तथा कवित्व में माधुर्य बैरीसाल के मुख्य गुण हैं। इस पुस्तक का मुख्य आधार कुवलयानंद है—रीति कुवलयानंद की कीन्हीं भाषाभर्ण। सामान्यतः इसे भाषाभूषण की ही कोटि का समझना चाहिए। आगे चलकर प्रसिद्ध कवि पद्माकर ने अपने पद्माभरण में बैरीसाल के भाषाभरण का अनुकरण किया। कवित्व की दृष्टि से भाषाभरण के दो दोहे देखिए :

नहिं कुरंग, नहिं ससक यह, नहिं कलंक, नहिं पंक।
बीस बिसे बिरहा दही, गड़ी दीठि ससि अंक॥
करत कोकनद मदहिं रद, तुव पद हर सुकुमार।
भए अरुन अति दबि मनो पायजेब के भार॥

२०. हरिनाथ

नाथ या हरिनाथ काशी के रहनेवाले गुजराती ब्राह्मण थे। इन्होंने सं० १८२६ में अलंकारदर्पण की रचना की। इस छोटे से ग्रंथ में एक एक पद के भीतर कई उदाहरण हैं[1]। पहले दोहों में अलंकारों के एक साथ लक्षण और फिर क्रम से उन अलंकारो के कवित्तों में उदाहरण देने से विवेचन सहज नहीं रहा। इस विचित्रता की झलक दूलह कवि में भी दिखाई देती है। कविता साधारणतः अच्छी है।

२१. दत्त

दत्त ने सं० १८३० के आसपास लालित्यलता नाम की एक पुस्तक लिखी जिसका विषय अलंकारवर्णन है। इसमें कवित्व ही मुख्य है। दत्त कानपुर जिले के ब्राह्मण थे। इन्होने चरखारी के राजा खुमानसिंह के आश्रय में कविता की है। इनकी कविता में माधुर्य और मनोज्ञता है जो इनको सामान्य से ऊँचा स्थान दिलाती हैं।

२२. ऋषिनाथ

गोरखपुर जिले के देवकीनंदन मिश्र अच्छी कविता करते थे। एक बार मँझौली के राजा के यहाँ विवाहोत्सव पर उन्होंने कुछ कवित्त पढ़े और पुरस्कार भी प्राप्त किया। इसपर उनकी जाति के सरयूपारी ब्राह्मणों ने उनको भाट कहकर जातिच्युत कर दिया। उनका विवाह असनी के प्रसिद्ध भाट नरहर कवि की पुत्री के साथ हुआ और भाट बनकर ये असनी में रहने लगे[2]। इन्हीं के वंश में ऋषिनाथ का जन्म हुआ। ऋषिनाथ के पुत्र ठाकुर कवि थे। ठाकुर कवि के पौत्र सेवक कवि हुए। सेवक के भतीजे श्रीकृष्ण[3] ने अपने पूर्वजों की इस कहानी को लिखा है।

ऋषिनाथ ने काशिराज के दीवान सदानंद[4] के आश्रय में सं० १८३१ में

[1] हिंदी साहित्य का इतिहास, पृ० २६६
[2] हिंदी अलंकार साहित्य, पृ० १७८
[3] हिंदी साहित्य का इतिहास, पृ० ३७६
[4] ऋषिनाथ सदानंद सुजस बिलंद तमवृंद के हरैया चंदचंद्रिका सुढार है।

अलंकारमणिमंजरी की रचना की। इस कवि का संबंध रघुवर[1] कायस्थ से भी माना जाता है। अलंकारमणिमंजरी दोहों में लिखी हुई छोटी सी पुस्तक है। बीच बीच में कवित्त, गाथा और छप्पय भी आ गए हैं। उपलब्ध प्रति का संशोधन सेवकराम ने ही किया है और वह सं० १६३६ में आर्यतंत्र, वाराणसी से छपी है।

मंजरी में अर्थालंकार तथा शब्दालंकार का सामान्य वर्णन है। पुस्तक कवित्वपूर्ण है। एक अलंकार के एक से अधिक उदाहरण भी हैं। भाषा सरल तथा सुबोध है। दृष्टांत अलंकार का उदाहरण देखिए :

राधा ही में जगमगति, रुचिराई की जोति।
राका ही में सरद की, बिसद चाँदनी होति॥

२१. रामसिंह

नरवलगढ़ के नरेश[2] महाराज छत्रसिंह के पुत्र महाराज रामसिंह अच्छे साहित्यमर्मज्ञ थे। इनका विशेष परिचय रसप्रकरण में दिया गया है। अलंकार विषय पर इन्होंने सं० १८३५ में अलंकारदर्पण की रचना की। यह इनकी प्रथम अतः सामान्य रचना है।

भाषाभूषण के समान अलंकार विषय की सामान्य पुस्तक का नाम अलंकार-दर्पण भी चलने लगा; जिसमें अलंकारों का प्रतिबिंब हो वही अलंकारदर्पण। हिंदी में कम से कम ४ अलंकारदर्पण प्राप्य हैं—गुमान मिश्र (सं० १८०० के लगभग), हरिनाथ (सं० १८२६), रतन कवि (सं० १८२७,) तथा रामसिंह (सं० १८३०)[3] के।

कविता और वनिता को अलंकार छवि[4] प्रदान करता है, इसलिये रामसिंह ने लगभग ४०० छंदों की अलंकार विषयक पुस्तक ५८ पृष्ठों में लिखी। इस पुस्तक की एक विशेषता कई छोटे छोटे छंदों का व्यवहार है। इसमें उदाहरण प्रायः दोहे में हैं परंतु लक्षण के लिये सोरठा, चौपाई, गाथा तथा दोहा सभी छंद लिए गए हैं।

अलंकारदर्पण[5] में सामान्यतः कुवलयानंद का अनुकरण है। लक्षणों में

[1] हिंदी साहित्य का इतिहास, पृ० २६३।
[2] नरवलगढ़ नृप वीरवर, छत्रसिंह गुनधाम।
रामसिंह तिहि सुत कियौ, नयो ग्रंथ अभिराम॥
[3] बरस अठारह सै गनौ, पुनि पैंतीस बखानि॥
[4] कविता अरु वनितान कौ, अलकार छवि देत।
[5] रामसिंहकृत अलंकारदर्पण सं० १६५६ में भारतजीवन प्रेस, काशी से छप चुका है।

भाषाभूषण की छाया मिलती है। उपमा से प्रारंभ करके १८३ छंदों में अर्थालंकारों का वर्णन है। विविध छंदों के ग्रहण का कोई प्रत्यक्ष कारण नहीं दिखाई पड़ता। कुछ अलंकारों के लक्षण देखिए :

> उत्प्रेक्षा—मुख्य वस्तु पै आन की संभावना विचारि।
> काव्यलिंग—समर्थनीय अर्थ को जहाँ समर्थ कीजिए।
> बखान काव्यलिंग को तहाँ विचार लीजिए॥
> चित्र—प्रश्न पदन में उत्तर कहै।
> सोई चित्र अलंकृत लहै।
> अन्योन्य—जहँ अन्योन्य होइ उपकार।
> सो अन्योन्य कह्यौ निरधार[1]॥

२४. सेवादास

रामभक्ति परंपरा में श्री अलबेलेलाल के शिष्य सेवादास थे। इनका परिचय रसप्रकरण में दिया गया है। इनकी रचना इनको सामान्य भक्त सिद्ध करती है। रघुनाथअलंकार इनकी अलंकार विषय की रचना है। इसकी रचना सं० १८४०[2] में हुई थी। कवि ने पुस्तक का परिचय इन शब्दों में दिया है :

> छप्पय, कवित्त, दोहा रचे हैं परम रूप,
> जाही कौ बिचारु किये पावन हरस है।
> मंगल मनोहर है सीय कौ रुचिर गाथ,
> श्रवनन सुनत मनौ अमृत बरस है।
> सेवादास रसिकन कौ प्यारौ लगत सोई,
> मूढ़ हीन पारत न खानि कै तरस है।
> कुवलयानंद चंद्रालोक के मते सौं कह्यौ,
> अलंकार राम रघुबीर कौ सरस है।

पुस्तक में सभी उदाहरण भक्ति से आए हैं, लक्षणों से संतोष नहीं होता है कुवलयानंद आदि से तो अलंकारों के नाम[3] भर लिए गए हैं, लक्षणों का भी अनुवाद नहीं किया गया है। इस पुस्तक में विविध छंदों का अकारण प्रयोग है।

[1] तुलना कीजिए—अन्योन्यं नाम यत्र स्यादुपकारः परस्परम्। —चंद्रालोक। अन्योन्यालंकार है, अन्योन्यहि उपकार। — भाषाभूषण।

[2] अठारह सै चालिस सो, संवत सरस बखान।

[3] कुवलयानद चंद्रालोक मैं, अलंकार के नाम।
तिनकी गति अवलोक कैं, अलकार कहि राम॥

शब्दालंकार का प्रसंग नहीं है, परंतु रामभक्ति के साथ हनुमान की भक्ति भी है। दो अलंकारों के लक्षण देखिए :

> उपमा तें उपमेय मैं, झलकै अधिक प्रकास।
> परिसंख्या सो जानियै, ताकौ कहत अकास।
> प्रथम कहै सुनि बात कौ, दूजै पलटै सोइ।
> छेक अपह्नुति जानियै, ताकौ कहत जु सोइ।

रघुनाथअलंकार की लिपि रामदास नामक व्यक्ति के हाथ की है। इसकी कविता सामान्य कोटि की है :

> कंचन सौ गात मनौ उदित प्रभात भानु,
> अति ही चपल चारु बुधि के सुधीर है।
> पिंगाहन नैन और लाल ही मुखारबिंद,
> झलकै लाँगूर वर उज्वल सो हीर है।
> अति ही प्रचंड वेग मनहुँ सौं कोटि गुन,
> अंजनी सुमातु सुचि पिता सो समीर है।
> सेवादास राम को चरित जहाँ राजत है,
> रछा ही करत हनुमान बली बीर है।

२५. रतन कवि

शिवसिंह सेंगर ने रतन कवि का जन्मकाल सं० १७६८ लिखा है, जिसके आधार पर शुक्ल जी ने इनका कविताकाल सं० १८३० के आसपास माना है। रतन कवि के विषय में केवल इतना ज्ञात है कि ये श्रीनगर (गढवाल) के राजा फतहसाहि के आश्रय मे थे जहाँ इन्होंने फतेहभूषण नामक एक ग्रंथ लिखकर काव्यांगों का विवेचन किया। इस पुस्तक की यह विशेषता है कि उदाहरणों में राजा की स्तुति के छंद ही मुख्य हैं, शृंगार की कविता नहीं।

रतन कवि का एक दूसरा ग्रंथ अलंकारदर्पण दतिया के राज पुस्तकालय में है जिसका रचनाकाल शुक्ल जी ने सं० १८२७ परंतु डा० भगीरथ मिश्र ने सं० १८४३ माना है। अलंकारदर्पण में अलंकार विषय का विवेचन है, लक्षण और उदाहरण एक ही छंद में देने की इच्छा से दोहे के स्थान पर बडे छंदों का प्रयोग किया गया है। विवेचन सामान्य कोटि का है, परंतु कविता मनोहर तथा सरस है।

२६. देवकीनंदन

ये मकरंदपुर के रहनेवाले कनौजिया ब्राह्मण थे। इनका रचनाकाल सं० १८४० से १८६० तक माना जा सकता है। शिवसिंह ने इनके बनाए हुए एक

नखशिख की चर्चा की है। इन्होंने सं० १८४१ में शृंगारचरित्र लिखा। फिर अपने आश्रयदाता कुँवर सरफराज गिरि नामक महंत के नाम पर सं० १८४३ में सरफराज-चंद्रिका नामक अलंकारग्रंथ लिखा। तदुपरांत ये हरदोई जिला के रईस अवधूतसिंह के आश्रय में चले गए और सं० १८५७ में अवधूतभूषण की रचना की। अवधूत-भूषण शृंगारचरित्र का ही परिवर्धित रूप है, परंतु सरफराजचंद्रिका में अलंकार विषय का वर्णन है। इनकी कविता में वैचित्र्य के साथ साथ लालित्य और माधुर्य भी है।

२७. चंदन

चंदन कवि जिला शाहजहाँपुर के निवासी बंदीजन थे। गौड़ राजा केसरीसिंह के आश्रय में इन्होने हिंदी और फारसी में सुंदर कविता लिखी है, फारसी में इनका नाम संदल था। शुक्ल जी ने इनका कविताकाल सं० १८२० से १८५० तक माना है।

चंदन कवि की १३ रचनाएँ प्रसिद्ध हैं—शृंगारसागर, काव्याभरण, कल्लोल-तरंगिणी, केसरीप्रकाश, चंदनसतसई, नखशिख, नाममाला, प्राज्ञविलास, कृष्णकाव्य, सीतवसंत, पथिकबोध, पत्रिकाबोध, तथा तत्वसंग्रह। इन नामों से ही स्पष्ट है कि चंदन की प्रतिभा बहुमुखी थी—सीतवसंत की लोककहानी से लेकर तत्वसंग्रह जैसे दार्शनिक और नाममाला जैसी कोशरचना से लेकर कृष्णकाव्य जैसे प्रबंध काव्य तक। इन रचनाओं में उस समय की काव्यशैलियों का सहज प्रतिनिधित्व मिलता है।

काव्याभरण की रचना सं० १८४५ में हुई थी। नाम से लगता है कि इसमें समस्त काव्यांगों की चर्चा होनी चाहिए, परंतु डा० भगीरथ मिश्र ने इसको अलंकार-ग्रंथ[1] बताया है। हो सकता है, भाषाभरण से लेकर पद्माभरण तक की परंपरा के बीच काव्याभरण भी हो।

२८. बेनी बंदीजन

बेनी नाम के दो कवि बहुत प्रसिद्ध हैं—बेनी प्रवीन और बेनी बंदीजन। बेनी बंदीजन रायबरेली जिला में बेंती ग्राम के रहनेवाले थे। इनको अवध के वजीर महाराज टिकैतराय का आश्रय मिला। इनका विशेष परिचय रसप्रकरण में दिया गया है।

बेनी ने टिकैतरायप्रकाश संवत् १८४९ में लिखा। यह अलंकार का ग्रंथ है। इसमें विवेचन की गंभीरता नहीं, परंतु काव्य का माधुर्य है। बेनी बंदीजन कवि थे। इनकी कविता सरस एवं मधुर है। कोमलकांत पदावली, प्रसादगुण, सहजगति एवं

[1] हिंदी काव्यशास्त्र का इतिहास, पृ० १४७

विदग्धता के कारण इनका कवित्व बड़ा लोकप्रिय रहा है। इनको मतिरामवर्ग में रखा जा सकता है। इनकी कविता का एक उदाहरण देखिए :

> अलि हसे अधर सुगंध पाय आनन को,
> कानन में ऐसे चारु चरन चलाए हैं।
> फटि गई कंचुकी लगी तें कंट कुंजन के,
> बेनी बरहीन खोली बार छबि छाए हैं।
> बेग तें गवन कीनो, धकधक होत सीनो,
> ऊरध उसासैं तन सेद सरसाए हैं।
> भली प्रीति पाली बनमाली के बुलाइबे की,
> मेरे हेत आली बहुतेरे दुख पाए हैं।

२९. भान कवि

भान कवि का केवल इतना ही विवरण मिलता है कि वे राजा जोरावरसिंह के पुत्र थे और राजा रनजोरसिंह बुंदेले के यहाँ रहते थे। इन्होंने सं० १८४५ में नरेंद्रभूषण नाम की पुस्तक लिखी।

नरेंद्रभूषण, जैसा कि इसके नाम से ही स्पष्ट है, अलंकारों की पुस्तक है। इसकी एक विशेषता यह है कि अलंकारों के उदाहरणों में शृंगार के साथ साथ वीर, भयानक, आदि कठोर रसों को भी समान स्थान मिला है। भान कवि की कविता में ओज और प्रसाद गुण ही मुख्य हैं। शृंगार रस के उदाहरण कोमल तथा मधुर हैं। शुक्ल जी के इतिहास से भान कवि की कविता का एक उदाहरण दिया जाता है :

> रन मतवारे ये जोरावर दुलारे तब,
> बाजत नगारे भए गालिब दिलीस पर।
> दल के चलत भर भर होत चारों ओर,
> चालति धरनि भारी भार सों फनीस पर।
> देखिकै समर सनमुख भयो ताहि समै,
> बरनत भान पैज कै कै बिसे बीस पर।
> तेरी समसेर की सिफत सिंह रनजोर,
> लखी एकै साथ हाथ अरिन के सीस पर।

३०. ब्रह्मदत्त

कवि ब्रह्म या ब्रह्मदत्त जाति के ब्राह्मण थे और काशीनरेश महाराज उदितनारायण सिंह के अनुज दीपनारायण सिंह के आश्रय में रहते थे। इन्होंने दो पुस्तकें

लिखीं—विद्वद्विलास (सं० १८६०) तथा दीपप्रकाश[१] (सं० १८६७) । दीपप्रकाश भारतजीवन प्रेस, काशी से प्रकाशित भी हो चुका है। इसके संपादक स्व० रत्नाकर जी ने सं० १८६७ को लिपिकाल माना है, रचनाकाल नहीं । पं० रामचंद्र शुक्ल ने[२] रचनाकाल सं० १८६५ लिखा है । अंतःप्रमाण[३] के आधार पर हम दीपप्रकाश का रचनाकाल सं० १८६७ ही ठीक समझते हैं ।

दीपप्रकाश की रचना आश्रयदाता[४] दीपनारायण सिंह की आज्ञा[५] से उन्हीं के नाम पर हुई है । ४६ पृष्ठों की यह पुस्तक ७ प्रकाशो में विभक्त है । प्रथम प्रकाश के १५ दोहों में परिचय, दूसरे प्रकाश के ४७ दोहों में नायक-नायिका-भेद, तृतीय प्रकाश में भावादि तथा शब्दालंकार, चतुर्थ प्रकाश में अर्थालंकार तथा शेष मे अन्य काव्यागो की चर्चा है । श्रव्य काव्य के सभी अंगो का यत्किंचित् समावेश इस पुस्तक की विशेषता है और शायद इसी के कारण रत्नाकर जी इसको भाषाभूषण से उत्तम पुस्तक मानते हैं ।

दीपकप्रकाश में अलंकार विषय का ही बाहुल्य है । समस्त पुस्तक दोहो में रची गई है । विषयविवेचन सामान्य परंतु स्पष्ट है । एक ही दोहे में लक्षण तथा उदाहरण दोनो को रखने का प्रयास किया गया है । उदाहरण शृंगार के हैं, परंतु निर्मल तथा सरल । कविता के कुछ उदाहरण देखिए :

> कहत धर्म उपमा लुपत, गोपित करि बुधि ऐन ।
> हरि नीके लागत लखत, हरिनी के से नैन ।
> विषहूं अंतर विषय के, करत काम परिणाम ।
> कर कंजनि तोरति सुमन, चित चोरति वह बाम ।
> प्रथम प्रहर्षण जतन बिन, वांछित फल जब होय ।
> चित चाहत हरि राधिका, औचक आई सोय ।

३१. पद्माकर

कवि पद्माकर का विशेष विवरण रसप्रकरण में दिया गया है । इन्होंने पद्माभरण नाम का एक छोटा सा अलंकार ग्रंथ संवत् १८६७ के आसपास लिखा ।

[१] संपादक जगन्नाथदास रत्नाकर, प्रकाशक भारतजीवन प्रेस, काशी, संवत् १६४६
[२] हिंदी साहित्य का इतिहास, पृ० ३०७
[३] मुनि, रस, वसु, ससि बरस नभ, मास चतुर्थी स्वेत ।
[४] दीपनारायन, अवनीप को अनुज प्यारो, दीन दुख देखत हरत हरबर है ।
[५] दीपनरायन सिंह कौ, लहि आयसु कवि ब्रह्म ।
कवि-कुल-कंठाभरण लगि, कीन्हौ ग्रंथ अरंभ ॥

इसके १४४ छंदों में प्रधानतः दोहा और कहीं कहीं चौपाइयाँ हैं। पद्माभरण में दो प्रकरण हैं—अर्थालंकार प्रकरण तथा पंचदश अलंकार प्रकरण। अर्थालंकार प्रकरण में स्वीकृत अलंकारों के लक्षण उदाहरण हैं और दूसरे प्रकरण में मतभेदवाले १५ अलंकारों का वर्णन है। इस पुस्तक की मुख्य प्रेरणा बैरीसाल का भाषाभरण है।

पद्माकर अस्तोन्मुख रीतिकाल के आचार्य हैं। उनमें न तो किसी विशेष सिद्धांत का प्रतिपादन है और न आचार्यत्व की पांडित्यपूर्ण प्रतिभा। वे मुख्यतः कवि हैं, युग की परंपरा का अनुसरण करते हुए उनको अलंकार विषय पर भी पुस्तक लिखनी पड़ी।

पद्माभरण में अलंकार के ३ भेद हैं—शब्दालंकार, अर्थालंकार तथा उभयालंकार। परंतु विवेचन केवल अर्थालंकारों का ही है, कुवलयानंद के आधार पर। पद्माकर ने यह प्रश्न उठाया है कि यदि किसी स्थल पर एक से अधिक अलंकार दिखाई पड़ते हो तो वहाँ मुख्य किसको माना जायगा। और उत्तर दिया है कि ऐसे स्थल पर कवि ही प्रमाण है अर्थात् कवि जिस अलंकार को जितनी मुख्यता देना चाहता है उतनी पाठक को देनी चाहिए। राजप्रासाद में कितने ही एक जैसे भवन होते हैं, परंतु मुख्य वही समझा जाता है जो राजा के मन को अच्छा लगता है। यह साक्षात् बैरीसाल का अनुकरण है। बैरीसाल ने उक्त प्रश्न का उत्तर अधिक सरसता से दिया था :

> **ज्यों ब्रज में ब्रज बधुन की, निकसति सजी समाज।**
> **मन की रुचि जापर भई, ताहि लखत ब्रजराज॥**

परंतु यह उत्तर संतोषजनक नहीं है।

पद्माकर ने अलंकारो के नाम, लक्षण और भेद कुवलयानंद के ही अनुसार बनाए हैं, परंतु जसवंतसिंह और बैरीसाल की भी स्थान स्थान पर छाप है। कुछ अलंकारो के दोनो लक्षण हैं। पद्माकर का लक्षण-उदाहरण-समन्वय अत्यंत स्वच्छ होने के कारण ग्रंथ की उपयोगिता में वृद्धि कर देता है। पंचदश अलंकार प्रकरण में तो 'लच्छन लच्छ' के समन्वय के लिये गद्य में वार्तिक भी लिखा है। कवि ने संसृष्टि और संकर का भी वर्णन किया है।

लक्षणों की अपेक्षा पद्माभरण के उदाहरण अधिक सरस हैं, यद्यपि उनको निर्दोष नहीं कहा जा सकता[१]। पद्माकर पर जसवंतसिंह, दूलह, बिहारी, मतिराम आदि कतिपय कवियों का सरस प्रभाव है। उनकी कविता का कुछ नमूना नीचे दिया जाता है :

[१] हिंदी अलंकारसाहित्य, पृ० १८४-६

सो विभावना जानि, कारन बिन कारज जहाँ।
बिनु हू सु अंजन दान, कजरारे दृग देखियतु।

× × ×

कैद होत सुक सारिका, मधुरी बानि उचारि।
कागा परत न बंध में, श्रुति कटु सबद पुकारि।

× × ×

करत भए जाके तरे, राधाकृष्न बिहार।
सो न होइ क्यों तरुन को, बंसीवट सिंगार।

× × ×

पंच ज्ञान इंद्रियन तें, जहाँ वस्तु को ज्ञान।
तहँ प्रत्यक्ष प्रमान सो, अलंकार कन जान॥

१२. शिवप्रसाद

दतियानिवासी शिवप्रसाद ने संवत् १८६६ में रसभूषण की रचना की। इस ग्रंथ की मुख्य विशेषता यह है कि इसमें रसवर्णन के साथ साथ अलंकारवर्णन भी आ गया है। इसी शैली पर इसी नाम की एक पुस्तक एक शताब्दी पूर्व याकूब खाँ ने भी लिखी थी। शिवप्रसाद में उसी का अनुकरण है। अलंकार विषय में जसवंतसिंह को आधार माना गया है। लक्षण साधारण हैं, परंतु उदाहरण सुंदर एवं आकर्षक हैं।

१३. रणधीरसिंह

ये सिंहरामऊ (जौनपुर) के जमींदार थे। इनके लिखे ५ ग्रंथ माने जाते हैं—काव्यरत्नाकर, भूषणकौमुदी, पिंगल, नामार्णव और रसरत्नाकर। नामों से अनुमान लगाया जा सकता है कि भूषणकौमुदी में अलंकार, पिंगल में छंदशास्त्र, नामार्णव में कोश और रसरत्नाकर में नायिकाभेद विषय रहा होगा। रणधीरसिंह का विशेष विवरण रसप्रकरण में दिया गया है। अलंकार विषय पर इन्होंने भूषणकौमुदी नामक पुस्तक की रचना की, जिसमें सामान्यतः स्वच्छंद विवेचन है।

१४. काशिराज

काशीनरेश महाराज चेतसिंह के पुत्र बलवानसिंह के नाम से चित्रचंद्रिका नाम का एक ग्रंथ उपलब्ध है। इसकी रचना सं० १८८९[1] से प्रारंभ होकर

[1] निधि, सिद्धि, नाग, चंद्र विक्रम सु अब्द।

सं० १६३१ में[1] पूर्ण हुई। ऊपर रचयिता का नाम, आर्यभाषा पुस्तकालय की प्रति (सं० १८७५) में, 'कवि काशिराज महाराज' लिखा है। महाराज चेतसिंह के आश्रय में कवि गोकुलनाथ ने संवत् १८४० से संवत् १८७० के बीच[2] जिस चेत-चंद्रिका की रचना की, वह इस ग्रंथ से भिन्न है। उसका रचनाकाल, विषय तथा लेखक चित्रचंद्रिका के रचनाकाल, विषय तथा लेखक से भिन्न हैं। चित्रचंद्रिका में लेखक ने स्वयं अपना परिचय दिया है :

> तासु तनय जग बिदित है, चेतसिंह महाराज ॥
> हौं सुत तिनकौ जानिये, बिदित नाम बलवान ।

चित्रचंद्रिका का नामकरण इसके प्रतिपाद्य विषय चित्रकाव्य के आधार पर हुआ है। यह अत्यंत पांडित्यपूर्ण तथा उपयोगी पुस्तक है। संस्कृत, प्राकृत, हिंदी तथा फारसी के गंभीर अध्ययन तथा मनन की इसपर छाप है। चित्र के विषय को समझाने के लिये भाषाटीका तथा चित्रों से सहायता ली गई है। छप्पय, दोहा, सोरठा, कवित्त, तोमर, कुंडलिया, चौपाई आदि अनेक छंदों का इसमें व्यवहार है।

चित्रकाव्य काव्य का एक भेद होते हुए भी अलंकार का सजातीय है। कवि ने चित्र के ३ भेद किए हैं—शब्दचित्र, अर्थचित्र तथा संकरचित्र। शब्द-चित्र के ७ भेदों का वर्णन ग्रंथ के प्रथम सात प्रकाशों में है। अर्थचित्र के ६ भेद हैं—प्रहेलिका, सूक्ष्मालकार, गूढ़ोत्तर, अपह्नुति, श्लेष तथा यमक। इस अलंकारवर्ग का वर्णन अष्टम प्रकाश में है। अंतिम प्रकाश मे पदार्थ (शब्दार्थ), संकरचित्र या उभयालंकार का वर्णन है।

चित्रचंद्रिका अपने ढंग की अपूर्व रचना है। लेखक के पांडित्य, विशद अध्ययन, तथा सफल आचार्यत्व का प्रमाण पद पद पर मिल जाता है। गद्यमयी व्याख्या ने विषय को सुबोध बनाने में विशेष सहायता दी है। यद्यपि चित्रकाव्य तथा चित्रालंकार आधुनिकों को आकृष्ट नहीं करते, फिर भी इस पुस्तक की उपादेयता में मतभेद नहीं हो सकता।

३५. रसिक गोविंद

रसिक गोविंद का जीवनवृत्त तथा उनका अलंकारनिरूपण संबंधी सामान्य परिचय सर्वांगनिरूपक आचार्यों के प्रसंग में यथास्थान देखिए।

[1] इंदु, राम, ग्रह, ससि बरस, मार्ग शुक्ल रविवार।
चित्रचंद्रिका पूर्ण भो पचमि तिथि सविचार।

[2] हिंदी साहित्य का इतिहास, पृ० ३६६

३६. गिरिधरदास

भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र के पिता बाबू गोपालचंद्र गिरिधरदास, गिरिधर, या गिरिधारन नाम से कविता करते थे। इनके लिखे हुए ४० ग्रंथ माने जाते हैं। भारतीभूषण[1] इनका अलंकार ग्रंथ है। इसकी रचना रीतिकाल के अस्ताचल सं० १८६० में हुई थी। कवि ने पुस्तक का परिचय इन शब्दों में दिया है :

> मोह न मन मानी सदा, बानी को करि ध्यान।
> अलंकार बरनन करत, गिरिधरदास सुजान॥
> सुंदर बरनन गन रचित, भारति भूषन एहु।
> पढ़हु, गुनहु, सीखहु, सुनहु, सतकवि सहित सनेहु॥

और अंत में 'इति श्री नंदनंदन पदारविंद मिलिंद धनाधीश श्री बाबू गिरिधरदास कवीश्वर विरचितं भारतिभूषणमलंकारं समाप्तम्' लिखकर पुस्तक की समाप्ति की है।

भारतीभूषण ३६ पृष्ठों की पुस्तक है जिसमें ३७८ दोहों में कुवलयानंद आदि के आधार पर अलंकारवर्णन किया गया है। अलंकारवर्णन तो ३७६वें दोहे पर ही समाप्त[2] हो जाता है। फिर कवि ने एक कदम नायिकाभेद की ओर उठाया है, बड़ा मनोरंजक[3] दोहा लिखकर।

गिरिधरदास ने अर्थालंकार का वर्णन करके दो शब्दालंकार, अनुप्रास तथा यमक का विवेचन किया है। अर्थालंकारों का क्रम कुवलयानंद ही के अनुसार है। लक्षणों में कसावट अधिक नहीं, परंतु स्पष्टता है। उदाहरण सरस तथा पूर्ववर्ती कवियों से प्रभावित हैं। भारतीभूषण की कविता मधुर तथा सरस है। कुछ उदाहरण देखिए :

> जो मिलि घेरे में परत, चूर करत बलि ताहि।
> पथ्य संग पै गहत नहिं, खल खल वृंद सदाहि॥ (व्यतिरेक)
>
> × × ×
>
> सजनी रजनी पाइ ससि बिहरत रस भरपूर।
> आलिंगत प्राची मुदित कर पसारि कै सूर॥ (समासोक्ति)
>
> × × ×

[1] प्रकाशक चौखंभा पुस्तकालय, बनारस।

[2] शब्द अर्थ आभरन दोउ, इह बिधि भए समाप्त।

[3] बैंगन कर लै कामिनी, कहति चितै घनश्याम।
भर्ता करिहौं तुमहि हौं जो चलिहौ मम धाम॥

मृगनैनी, गजगामिनी, पिकबैनी, सुकुमारि ।
केहरि कटिवारी, खरी, नारी लखौं मुरारि ॥ (लुप्तोपमा)

३७. ग्वाल कवि

ग्वाल कवि का जीवनवृत्त तथा उनका अलंकारनिरूपण संबंधी सामान्य परिचय सर्वांगनिरूपक आचार्यों के प्रसंग में यथास्थान देखिए ।

षष्ठ अध्याय

पिंगलनिरूपक आचार्य

१. केशव

पिंगल पर केशव का ग्रंथ है—छंदमाला। यद्यपि यह ग्रंथ साधारण कोटि का है, फिर भी हिंदी साहित्य का प्रथम छंदग्रंथ होने के नाते इसका अपना ऐतिहासिक महत्व है। इस ग्रंथ का विशेष परिचय पीछे यथास्थान दिया जा चुका है।

२. चिंतामणि

केशव के छंदमाला ग्रंथ के उपरात दूसरा उपलब्ध छंदग्रंथ चिंतामणिप्रणीत पिंगल है। यह ग्रंथ अधिकाशतः स्वच्छ और शास्त्रसंमत है। इसका विशेष परिचय भी पीछे यथास्थान दिया गया है।

३. मतिराम

(१) **वृत्तकौमुदी**—मतिराम का पिंगल विषयक ग्रंथ वृत्तकौमुदी है। इसके दो और नाम कहे जाते हैं—छंदसारपिंगल और छंदसारसंग्रह। शिवसिंहसरोज और मिश्रबंधुविनोद में छंदसारपिंगल नाम का उल्लेख है पर इस नाम का कोई पुष्ट प्रमाण नहीं है। छंदसारसंग्रह का प्रमाण यह है कि ग्रंथ में इस नाम का कथन इस प्रकार मिलता है :

> छंदसार संग्रह रच्यौ, सकल ग्रंथ मति देषि।
> बालक कविता सींच को, भाषा सरल विशेषि॥

इस कथन से ग्रंथ का नाम छंदसार संग्रह प्रतीत होता है किंतु इस दोहे से पूर्व के दोहे इस प्रकार हैं :

> श्री सुक आए भवन में सबनि कहै मम काम।
> त्योंही नृप को सुजस सुनि आयो कवि मतिराम॥
> ताहि बचन सनमानि कै, कीन्हों काम सुजान।
> ग्रंथ संस्कृत रीति सौं भाषा करो प्रमान॥
> यह सुनि रचना छंद विधि, करी सुकवि समुदाइ।
> वृत्त रीति सब जानिकै, जो ये पढ़े चितलाइ॥

पिंगल करता आदि के, आचारज सिरताज ।
नमस्कार कर जोरिकै, बिमल बुद्धि के काज ॥

इनसे स्पष्ट है कि मतिराम जी ने अपने आश्रयदाता की प्रेरणा के अनुसार संस्कृत और प्राकृत के अनेक छंदग्रंथो से सामग्री लेकर सार रूप में इस पुस्तक की रचना की। इस प्रकार छंदसारसंग्रह इस ग्रंथ का नाम न होकर विषय का सूचक मात्र है। ग्रंथ का नाम वृत्तकौमुदी ही है क्योंकि ग्रंथ के अध्यायों का नाम प्रकाश है और प्रत्येक प्रकाश के अंत में वृत्तकौमुदी नाम ही लिखा है, छंदसारसंग्रह नहीं। ग्रंथ की दो हस्तलिखित प्रतियाँ मिली हैं। एक प्रति काशी नागरीप्रचारिणी सभा के पुस्तकालय में है जिसका लिपिकाल सं० १८६२ है और लिपिकार हैं श्री भवानीदीन। दूसरी प्रति खालसा कालेज, दिल्ली के प्राध्यापक श्री महेंद्रकुमार जी के पास है जिसे उन्होने फतेहपुर जिले के किसी ग्राम से प्राप्त की थी। दोनों प्रतियो से ग्रंथ की प्रामाणिकता सिद्ध हो जाती है। दोनो ही मूल प्रति की भिन्न भिन्न प्रतिलिपियाँ हैं।

(अ) रचनाकाल—ग्रंथ का रचनाकाल सं० १७१८ इस प्रकार दिया हुआ है:

संवत सत्रह सौ बरस अट्ठारह सुभ साल।
कातिक शुक्ल त्रियोदसी, करि विचार तिहि काल ॥

(आ) आश्रयदाता— ग्रंथ की रचना स्वरूपसिंह बुंदेला के आश्रय में हुई थी। कुछ इतिहासकार शंभुनाथ सोलंकी के आश्रय में इसकी रचना मानते हैं, पर इसका कोई पुष्ट प्रमाण नही है। स्वरूपसिंह बुंदेला का उल्लेख वृत्तकौमुदी के पंचम प्रकाश में इस प्रकार हुआ है :

दाता एक जैसो सिवराज भयौ तैसो अब,
फतेहसाहि श्रीनगर साहिबी समाजु है।
जैसो चितधर धनी राना नरनाह भयो,
तैसोई कुमाऊँ पति पूरो रजलाज है।
जैसे जयसिंह जसवंत महाराज भए,
जिनकी मही मैं अजौं बाढ़ौ बल साजु है।
मित्र साहि नंदन दुलचंद भाग भयौ बड़े,
बुंदेलबंस मैं सरूप महाराज है ॥

छंदों के लक्षणों में भी सरूपसिंह बुंदेला का नाम मिलता है, जैसे :

मगन जुगल आ चरन मैं, विद्युल्लेखा सोइ।
नृपमनि सिंघ सरूप इमि, कहैं सुमति कवि लोय ॥

(इ) वर्ण्य विषय—ग्रंथ में पाँच प्रकाश हैं। प्रथम प्रकाश में सर्वप्रथम गणेश और सरस्वती की वंदना है। फिर आश्रयदाता के दान की प्रशंसा और

ग्रंथारंभ का प्रसंग है। तत्पश्चात् गणों के स्वरूप, उनके क्रम, देवता, फल, ग्रहगुण, रसरंग, देश, वाहन, तेज, जाति, प्रकृति तथा वर्णों का शुभाशुभ फल है। अंत में मात्रिक गणों, लघु गुरु एवं वर्णिक गणों का विवेचन है। द्वितीय प्रकाश में एक से लेकर २६ वर्णों तक के १४७ सम वर्णिक छंदों का वर्णन है। अर्धसम और विषम वर्णिक छंदों का विवेचन छूट गया है। तृतीय प्रकाश में मात्रिक छंदों का विवेचन है। १ से लेकर ३२ मात्रा तक के छंद तथा अर्धसम और विषम छंदों के लक्षण और उदाहरण दिए गए हैं। इसमें ३५ समछंद और २० अर्धसम और विषम छंद हैं। चतुर्थ प्रकाश में प्रत्यय प्रकरण है। इसमें वर्ण और मात्रा दोनों के अनुसार प्रत्यय, प्रस्तार, पताका आदि का विवेचन है। पंचम प्रकाश में वर्णिक दंडक है। दंडकों में अभंगशेखर, घनाक्षरी और रूपघनाक्षरी, तीन ही दंडक रखे गए हैं।

(ई) **आधार**—इस ग्रंथ के आधारग्रंथ हैं भट्ट केदार कृत वृत्तरत्नाकर, हेमचंद्ररचित छंदानुशासन और प्राकृतपैंगलम्। प्राकृतपैंगलम् के तो अनेक स्थल अनुवाद ही प्रतीत होते हैं। कुछ मात्रिक छंद अवश्य ऐसे हैं जो उक्त ग्रंथों में नहीं थे, किंतु ये छंद उस काल में प्रचलित हो चुके थे। तात्पर्य यह कि ग्रंथ में मौलिक विवेचन प्रायः नहीं के बराबर है, कवि ने स्वयं अन्य ग्रंथों का आधार स्वीकार किया है।

मतिराम की वृत्तकौमुदी हिंदी के पिंगलग्रंथों में अपना महत्वपूर्ण स्थान रखती है। इसके लक्षण सरल और सुबोध हैं। उदाहरण नियमानुसार और कवित्वपूर्ण हैं। कवि का सरस ब्रजभाषा पर अधिकार होने के कारण वृत्तकौमुदी के उदाहरण अन्य छंदग्रंथो की अपेक्षा अधिक उत्कृष्ट हैं।

४. सुखदेव मिश्र

(१) **वृत्तविचार**—हिंदी के पिंगलग्रंथों मे सुखदेव मिश्र का वृत्तविचार महत्वपूर्ण ग्रंथ है। इस ग्रंथ में छंदविवेचन इतना विशद है कि अकेले इसी ग्रंथ के कारण सुखदेव मिश्र की गणना प्रसिद्ध आचार्यों में की जाती है। वृत्तविचार ग्रंथ की चार हस्तलिखित प्रतियाँ नागरीप्रचारिणी सभा, काशी के पुस्तकालय में उपलब्ध हैं। एक प्रति पूर्ण है, शेष तीन प्रतियाँ अपूर्ण हैं। सभी प्रतियों में पाठ एक ही मिलता है। ग्रंथ में उसका रचनाकाल इस प्रकार दिया हुआ है :

> **संबत सत्रह सै बरस अट्ठाइस अति चार।**
> **जेठ सुकुल तिथि पंचमी, उपज्यो वृत्तविचार॥**

छंदविचार नाम की कोई हस्तलिखित प्रति उपलब्ध नहीं होती। सभा के पुस्तकालय में सुखदेव मिश्र कृत छंदोनिवास नामक एक खंडित प्रति अवश्य मिलती

है किंतु उसमें कोई प्रामाणिक तथ्य प्राप्त नहीं होता। अतः निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि छंदविचार नामक इनका कोई अलग ग्रंथ भी था। यह भी संभव है कि वृत्तविचार का ही यह दूसरा नाम हो।

(अ) वर्ण्य विषय—वृत्तविचार ग्रंथ में चार परिच्छेद हैं। प्रथम परिच्छेद कवित्त और छप्पय मे है। इसमें मंगलाचरण तथा कवि और आश्रयदाता राजसिंह का वर्णन है। द्वितीय परिच्छेद मे छंद के सामान्य नियम, दग्धाक्षर, लघु गुरु, गण, प्रस्तार, मर्कटी, मेरु, उद्दिष्ट, नष्ट और पताका आदि के विशद विवेचन हैं। तृतीय परिच्छेद में वर्णिक वृत्तों का विवेचन है। वृत्तों में छंदो की उक्ता, अयुक्ता, गायत्री, अनुष्टुप आदि जातियों का भी उल्लेख है। कवि ने छंदशास्त्र के सभी छंदों की परिभाषा न देकर केवल उनकी सूची प्रस्तुत कर दी है और इस संबंध में अपना मत इस प्रकार प्रकट किया है :

> बरन बरन के वृत्त बताए। जेते कछु बुद्धि में आए।
> वृत्त महोदधि अति बिस्तारा। पायो जात कौन पै पारा।

१ से लेकर ३२ वर्णों तक के छंदों के लक्षण और उदाहरण हैं। इनमें सम छंदो का ही वर्णन है। आरंभ में सम, अर्द्धसम और विषम, तीनों प्रकारो का उल्लेख है किंतु वर्णन केवल समवृत्तों का ही मिलता है। चतुर्थ परिच्छेद में मात्रिक छंदो का विवरण है। मात्रिक गण और मात्रिक प्रत्ययों पर भी सम्यक् विचार है। दोहे का वर्णन सबसे विशद है। अन्य छंदो के लक्षण दोहा या गोपाल छंद में मिलते हैं।

(आ) आधार—इस ग्रंथ का भी मूल आधार प्राकृतपैंगलम् ही है। केदार भट्ट के वृत्तरत्नाकर का भी प्रभाव वर्णिक वृत्तो के विवेचन मे प्राप्त होता है।

(इ) शैली—वृत्तविचार का विवेचन रोचक है। कवि का भाषा पर अधिकार था, इसीलिये वह छंदशास्त्र का सांगोपांग विवेचन सुरुचि और सुकरता से संपन्न कर सका। शैली में एकरूपता न होकर विविधता है। जहाँ अन्य ग्रंथों में लक्षण केवल दोहे मे मिलते हैं वहाँ इस ग्रंथ में वे गोपाल छंद और कहीं कहीं संस्कृत की सूत्र पद्धति मे भी हैं। सभी छंदों को स्पर्श करने का प्रयत्न है, इसीलिये वैदिक छंदों की जातियों का भी कथन है किंतु उनके लक्षण आदि नहीं दिए गए हैं। कवि ने प्रयत्नपूर्वक विषय को सरस, मनोरंजक और बोधगम्य बनाया है।

साराश यह कि श्री सुखदेव मिश्र जी का नाम हिंदी के पिंगलनिरूपक आचार्यों में संमाननीय है। उन्होंने विषय का विस्तृत और वैज्ञानिक विवेचन हिंदी में सर्वप्रथम उपस्थित किया और हिंदी छंदोविधान के लिये मार्ग भी प्रशस्त किया।

५. माखन कवि

(१) श्रीनागपिंगल छंदविलास—माखन कृत श्रीनागपिंगल छंदविलास का उल्लेख इतिहास ग्रंथों में नहीं प्राप्त होता। इस ग्रंथ की एक हस्तलिखित प्रति नागरीप्रचारिणी सभा के पुस्तकालय में विद्यमान है। माखन कवि मध्यप्रदेश के निवासी थे, इसीलिये इनका तथा इनके ग्रंथ का परिचय अधिक दिनों तक प्राप्त नहीं हुआ। ये रतनपुरा (विलासपुर) के रहनेवाले थे। राजा राजसिंह, जिनका राज्यकाल १७५६ से १७७६ है, रतनपुर के राजा थे। उनके दरबार में माखन कवि के पिता गोपाल कवि राजकवि थे। पिता पुत्र दोनों ही कवि थे और दोनों ने मिलकर ग्रंथो की रचना की थी। इनके सात ग्रंथों का उल्लेख मिलता है जिनमे से चार ग्रंथ प्रकाशित हुए थे और तीन ग्रंथ प्रकाशित नहीं हुए।

प्रकाशित ग्रंथ—भक्तचिंतामणि, रामप्रताप, जैमिनी अश्वमेध, खूब तमाशा।

अप्रकाशित ग्रंथ—सुदामाचरित, छंदविलास, विनोदशतक।

छंदविलास की रचना माखन कवि ने अपने पिता जी के आदेश पर की थी। ग्रंथ में कथन इस प्रकार है :

पितु सुकवि गोपाल कों यह भयो सासन है जबै।
विमल पद वंदन कियो सुमति बाढ़ी है तबै॥

छंदविलास की रचना रायपुर में हुई थी :

राजसिंह नृप राजमणि हैहो बंस प्रकास।
सुबस रायपुर में रच्यो, सुंदर छंदविलास॥

ग्रंथ का रचनाकाल संवत् १७५६ विक्रमी है।

(अ) वर्ण्य विषय—इस पुस्तक मे परिच्छेद नहीं हैं किंतु बीच बीच में शीर्षक या प्रकरण मिलते हैं। इसका प्रथम प्रकरण है संज्ञावृत्ति प्रकरण जिसमें लघु, गुरु, गण आदि का संक्षिप्त कथन है। इसमे पताका, मेरु और मर्कटी आदि का वर्णन नहीं है। माखन ने स्वयं लिखा है कि पुस्तक का उद्देश्य केवल आरंभिक छात्रों के लिये है अतः पताका, मर्कटी आदि के गूढ़ प्रकरण उन्होने छोड़ दिए हैं :

ध्वजा पताका मर्कटी, अर्गादिक तजि दीन।
कवि माखन सिसु हेतु रचि, सरल सरल कछु कीन।

द्वितीय प्रकरण का नाम उन्होंने मात्रावृत्ति छप्पय प्रकरण लिखा है। इसमें ७१ प्रकार के छप्पयों का वर्णन है। ये विभिन्न प्रकार के छप्पय प्रायः सभी प्राचीन ग्रंथों में मिलते हैं। प्राकृतपैंगलम् में भी इनका वर्णन है। माखन ने कुछ छप्पय नवीन लिखे हैं। वास्तव में इनमें विशेष अंतर नहीं है, किसी में कुछ लघु और गुरु अधिक कर दिए गए हैं और किसी में कुछ कम।

तृतीय गाहादिक प्रकरण है। इसमें गाहा, विग्गाहा, घत्ता, घत्तानंद, दोहा, रोला, सोरठा, कड़खा, अमृतधुनि, अष्टपदी, षटपदी आदि छंद हैं।

(आ) **शैली**—छंदविलास की भाषा बड़ी सरस है। उदाहरणों में कृष्ण-लीला के सरस प्रसंग मिलते हैं। भाषा अलंकारिक और परिमार्जित है। पुस्तक में विषय का सांगोपांग निरूपण नहीं है क्योंकि कवि ने बालकों के निमित्त ही ग्रंथ की रचना की थी। इस ग्रंथ की एक विशेषता यह भी है कि इसमें कुछ ऐसे छंद मिलते हैं जो अब तक अन्य ग्रंथों में प्राप्य नहीं थे। कुछ नवीन छंद इस प्रकार हैं :

कंभक (१४ मात्रा), हरिमालिका (२० मात्रा), मदनमोहन (२३ मात्रा),
सुरस (२६ मात्रा), तरलगति (२८ मात्रा), सदागति (२८ मात्रा),
सुबल (२८ मात्रा), प्रवाल (विषम छंद १६, ३२, १७, ३५),
गंधार (अर्धसम छंद १–३–२२ मात्रा, २–४–२४ मात्रा)

६. जयकृष्ण भुजंग

इनका जीवनवृत्त अज्ञात है। इनकी एक लघु पुस्तक पिंगलरूपदीप भाषा, जिसका रचनाकाल सं० १७७६ है, नागरीप्रचारिणी सभा के पुस्तकालय में है। इस पुस्तक में रचनाकाल का उल्लेख इस प्रकार है :

संवत सत्रा सै बरस, और छिहत्तर पाइ।
भादो स्फटि द्वितीया गुरु, भयो ग्रंथ कहाइ॥

इसमें कवि के गुरु कृपाराम जी का भी उल्लेख है :

प्राकृत की बानी कठिन भाषा अगम प्रतिच्छ।
कृपाराम की कृपा सों कंठ करैं सब सिच्छ॥

ग्रंथ में केवल ५२ मुख्य छंदों के लक्षण हैं। उदाहरण भी इसमें नहीं दिए गए हैं। सूत्रपद्धति का उपयोग भी बहुत मिलता है। वैसे, अधिकाश लक्षण दोहे में हैं। पुस्तक में अध्याय नहीं हैं। सारांश यह कि इस पुस्तक में शास्त्रीय विवेचन नहीं है, छात्रो के प्रसंग हैं। पुस्तकरचना का उद्देश्य चुने हुए छंदों का लक्षण देना है। शास्त्रीय दृष्टि से ग्रंथ का विशेष महत्व नहीं है। फिर भी, पुस्तक का योगदान विस्मरणीय नहीं है। उसके उदाहरण अपना अलग स्थान रखते हैं।

७. भिखारीदास

रीतिकालीन पिंगलग्रंथों में भिखारीदासप्रणीत छंदोर्णव सर्वोत्कृष्ट ग्रंथ है। छंदों का वर्गीकरण इस ग्रंथ की निजी विशेषता है। इस ग्रंथ का विशिष्ट परिचय पीछे यथास्थान दिया गया है।

८. सोमनाथ

सोमनाथ ने अपने विविधांगनिरूपक ग्रंथ रसपीयूषनिधि के प्रारंभिक भाग में छंद का निरूपण किया है। यह निरूपण स्वच्छ रूप में प्रतिपादित है, किंतु वर्ण्य सामग्री की दृष्टि से अत्यंत साधारण कोटि का है। इस निरूपण का परिचय पीछे यथास्थान दिया जा चुका है।

९. नारायणदास

इनकी केवल एक छोटी पुस्तक छंदसार उपलब्ध है। इसका रचनाकाल संवत् १८२६ विक्रमी है। पुस्तक की एक हस्तलिखित प्रति नागरीप्रचारिणी सभा, काशी के पुस्तकालय में है। इसमें कवि का कोई जीवनवृत्त प्राप्त नहीं होता। अन्य इतिहास ग्रंथो में भी नारायणदास का उल्लेख नहीं है। पुस्तक में कुल ५२ छंद हैं। कवि ने कहा है :

पिंगल छंद अनेक हैं कहे भुजंगमईस।
तिनते लिए निकारि मैं द्वादस अरु चालीस॥

समस्त छंद प्राकृतपैंगलम् से ही लिए गए हैं। केवल घनाश्री छंद नया है। लक्षण दोहे मे हैं और उदाहरणों में कृष्णप्रणय संबंधी सरस प्रसंग हैं।

१०. दशरथ

इनका जीवनवृत्त अज्ञात है किंतु इनकी पिंगल की महत्वपूर्ण पुस्तक वृत्त-विचार की एक हस्तलिखित प्रति नागरीप्रचारिणी सभा, काशी के पुस्तकालय में उपलब्ध है। पुस्तक का निर्माणकाल १८५६ विक्रमी है। जो प्रति उपलब्ध है उसका लिपिकाल भी १८५६ ही है। वृत्तविचार चार अध्यायों की एक छोटी सी पुस्तक है किंतु नवीन छंद इस पुस्तक में इतने अधिक हैं कि कलेवर छोटा होने पर भी पुस्तक महत्वपूर्ण हो गई है।

(१) **वर्ण्य विषय**—ग्रंथकार ने अध्यायों को 'विचार' नाम से अभिहित किया है। प्रथम विचार में लघु गुरु, मात्रिक और वर्णिक गण तथा छंदों के वर्गी-करण के विवेचन हैं। वर्गीकरण में सम, अर्द्धसम और विषम की चर्चा नहीं है। उसमें वर्ग हैं मात्रावृत्त, वर्णवृत्त और उभयवृत्त।

द्वितीय विचार में वर्णिक छंद और तृतीय विचार में मात्रिक छंदों के लक्षण उदाहरण हैं। चतुर्थ विचार का शीर्षक है वर्णवृत्तानि, इसमें केवल दो छंदों का विवेचन है। ये दो छंद हैं श्लोक (अनुष्टुप) और घनाक्षरी।

(२) आधार—प्राकृतपैंगलम् ही इस ग्रंथ का भी मुख्य आधार प्रतीत होता है। लक्षण प्राकृत पिंगल से मिलते हैं। कुछ छंद नवीन हैं जो न तो पूर्ववर्ती पिंगलग्रंथों में मिलते हैं और न परवर्ती। उदाहरण :

पंचाक्षरी—महीप, विमला, दामिनी, सुगण, नग, लगन

षडक्षरी—गगन, छगन, अगन, मणिहारवंद, संवत, कुशल

सप्ताक्षरी—सुधा, अभिनव, हरिहर

द्वादशाक्षरी—मातंग

मात्रिक छंद—मद (७ मात्रा), सैनिक (६ मात्रा), मुक्तावली (१० मात्रा), सुमन (१२ मात्रा), अह (२१ मात्रा)

प्रतीत होता है, कवि ने प्राचीन छंदों के आधार पर ही कुछ नवीन छंदों की रचना कर डाली है। यह भी संभव है कि कवि को प्राकृत या संस्कृत में कहीं ये छंद मिले हों क्योंकि उन्होंने प्राकृत और संस्कृत दोनों को अपना आधार माना है :

भाषा प्राकृत संस्कृत, आदि बचन संसार।

(३) शैली—अन्य पिंगल ग्रंथों की भाँति इस पुस्तक में भी दोहा ही विवेचन का माध्यम है। विवेचन न तो गंभीर है और न विशेष शास्त्रीय। प्राकृत-पैंगलम् की शैली का अनुकरण मात्र ही आद्योपांत मिलता है। उदाहरणों में काव्य-सौष्ठव साधारण है। फिर भी, हिंदी पिंगलग्रंथकारों में दशरथ का नाम स्मरणीय है क्योंकि उन्होंने नए छंदों का निर्माण किया। दशरथ से पूर्व प्रायः आचार्यगण परंपरागत छंदों से आगे नहीं बढ़ते थे। दशरथ के पश्चात् पिंगल ग्रंथकारों ने नवीन छंदों में रुचि ली। परिणाम यह हुआ कि हिंदी छंदों की संख्या बढ़ने लगी तथा संस्कृत और प्राकृत के छंदों की प्रधानता जाती रही।

१०. नंदकिशोर

इनकी रचना पिंगलप्रकाश थी जिसका रचनाकाल सं० १८५८ वि० है। पुस्तक का केवल प्रथम अध्याय उपलब्ध है। पुस्तक के प्राप्त पृष्ठों के अवलोकन से पता चलता है कि ग्रंथ का विवेचन बड़ा सुंदर था। आरंभ में गणेशस्तुति है और आठ पृष्ठों में पिंगल प्रत्ययों का सम्यक् निरूपण है।

आधार और क्रम प्राकृतपैंगलम् के अनुसार ही है। प्रत्यय के पश्चात् गाथा-विचार है। कवि ने स्वयं स्वीकार किया है कि उसने प्राकृत पिंगल को आधार बनाकर ग्रंथ का निर्माण किया है। प्रतीत होता है, कवि ने प्राकृत पिंगल का हिंदी अनुवाद ही प्रस्तुत किया था। ग्रंथ में छंदों के लक्षण, वर्गीकरण, क्रम आदि में

कोई नवीनता नहीं मिलती। इस प्रकार नंदकिशोर जी को पिंगल आचार्यों में अनुवादक का ही स्थान दिया जा सकता है। ग्रंथ में उन्होंने अपना विशेष परिचय भी नहीं दिया है।

१२. चेतन

ये एक जैन कवि थे। इन्होंने भी अपना जीवनपरिचय नहीं दिया है। ग्रंथ के आरंभ में चैत्यवंदन नाम का एक प्रकरण रखा है जिसमें २४ जैन तीर्थंकरों की स्तुति है। इनका ग्रंथ है लघुपिंगल जिसका रचनाकाल है मिति चैत्र बदी ६, मंगलवार, सं० १८७७। पुस्तक में कुल ४६ पृष्ठ हैं। नागरीप्रचारिणी सभा, काशी में इसकी एक प्रति वर्तमान है।

(१) **वर्ण्य विषय**—इस पुस्तक मे ४२ मुख्य छंदों और ३५ राग रागिनियों के लक्षण और उदाहरण हैं। यही पहली छंद की पुस्तक है जिसमें छंदों के साथ राग रागिनियों के भी लक्षण और उदाहरण दिए गए हैं। इस ग्रंथ के उदाहरणों में उपदेश और वैराग्य की प्रवृत्ति है, अन्य ग्रंथो की भाँति शृंगार के उदाहरण नहीं हैं।

(२) **आधार**—ग्रंथ का आधार रूपदीपचिंतामणि है। लेखक ने रूपदीपचिंतामणि का आधार इस प्रकार प्रकट किया है :

छाया बिन नहिं करि सकै, पिंगल छंद अपार।
रूप दीप चिंतामणि, ए पिंगल मन धार॥

ग्रंथ छात्रोपयोगी है, शास्त्रीय विवेचन का सर्वथा अभाव है। लक्षण दोहे में हैं। उदाहरण के छंदो मे काव्यसौष्ठव बड़ी हीन कोटि का है। ग्राम्यत्व के आधिक्य के कारण रचना शिथिल हो गई है।

१३. रामसहायदास

इनकी रचना वृत्ततरंगिणी है जिसकी केवल एक अपूर्ण प्रति नागरीप्रचारिणी सभा के पुस्तकालय में उपलब्ध है। इस ग्रंथ में लेखक और उसके पिता का नाम प्रत्येक तरंग की समाप्ति पर इस प्रकार लिखा है :

'इति श्री भवानीदासात्मज रामसहायदास कायस्थ कृत वृत्ततरंगिणीया मात्रा वृत्त कथने द्वितीय तरंग।'

लेखक ने अपने गुरु का नाम चिंतामणि लिखा है किंतु ये चिंतामणि कविवर चिंतामणि त्रिपाठी नहीं थे क्योंकि उनके साथ उनके पिता का नाम भी इन्होंने लिखा है :

दायक नित्यानंद के श्री चिंतामनि मिश्र।
सो मौंपै अनुकूल अति यातें रचौं कवित्त ॥
श्री गुरु ब्रह्म सरूप, चिंतामनि चिंताहरन।
तिनके चरन अनूप, नयो जोरि निज कर जुगल ॥

(१) रचनाकाल—ग्रंथ का रचनाकाल सं० १८७३ है। लेखक ने ग्रंथ में रचनाकाल इस प्रकार दिया है :

संध्या सुचि सिधि विधु बरस, (१८७३) गौरी तिथि सुचि दूज।
सुराचार्ज बासर सुखद, अरु घट में गत सूज ॥
गनपति गौरि सिव ध्याय, अरु गुरु के पद पद्म परि।
ता दिन रामसहाय, वृत्ततरंगिनि को रची ॥

(२) वर्ण्य विषय—ग्रंथ की प्रथम तरंग में लघु, गुरु, गण, गणों के देवता, गणों का योग, उनके प्रभाव तथा प्रत्यय आदि का विस्तृत विवेचन है। द्वितीय तरंग में मात्रिक छंदों का वर्णन है। प्रत्येक जाति के छंदों की सूची दी गई है। एक मात्रा से लेकर ३२ मात्रा तक के छंद रचे गए हैं। इन छंदों की संख्या के संबंध में कवि ने लिखा है कि ये बानवे लाख सत्ताईस हजार चार सौ तिरसठ हैं :

इक कल सै बत्तीस लौं, भेद बानबे लाख।
सहस सताइस चारि सत, तिरसठ फनपति भाख ॥

कवि ने मात्राओं के आधार पर छंदों के चार वर्ग किए हैं—सम, अर्द्धसम, विषम और मात्रा दंडक। तृतीय तरंग में वर्णिक छंदों का विवेचन है। संस्कृत उक्ता, गायत्री, अनुष्टुप आदि प्रत्येक जाति के छंदों के लक्षण और उदाहरण नियमानुसार क्रम से दिए गए हैं। अर्धसम वृत्तों और दंडकों को भी उचित स्थान मिला है। चतुर्थ तरंग में तुक का विवेचन है। तुक के अनेक भेद बताए गए हैं। विवेचन बड़ा ही वैज्ञानिक और अभूतपूर्व है।

पुस्तक अपूर्ण है। निश्चय ही इसमें और तरंगें रही होंगी और उनमें छंद विषयक अन्य ज्ञातव्य विवरण रहे होंगे। उनके अभाव में पुस्तक का सांगोपांग परिचय नहीं दिया जा सकता।

(३) विवेचन शैली—विवेचन की दृष्टि से वृत्ततरंगिणी हिंदी का सर्वश्रेष्ठ पिंगल ग्रंथ है। विषय का ऐसा विधिवत वर्गीकरण और विस्तृत प्रतिपादन कहीं उपलब्ध नहीं होता। पुस्तक की प्राप्त केवल चार तरंगें इस तथ्य को प्रमाणित करने में समर्थ हैं कि रामसहाय जी में आचार्यत्व के गुण विद्यमान थे। अन्य पिंगलकारों की भाँति दोहे में लक्षण और छंद में उदाहरण मात्र देकर ही उन्होंने संतोष नहीं

किया वरन् अपने कथन की व्याख्या गद्य में भी की है। उदाहरण के लिये गुरु के विवेचन में लक्षण के उपरांत कवि ने चार दोहे ऐसे लिखे हैं जिनके आरंभ में गुरु वर्ण है, जैसे :

सारी जरतारी खरी, गौरी भोरी बेस।
लपटी तन घनस्याम के, तड़ित कला सी देस॥
× × ×
हा हा मामिक बावरी देत भाँवरी कान।
मान करै मति मानिनी, मान कह्यौ मतिमान॥

उदाहरणों के उपरात गद्य में जो विवेचन है उसे कवि ने वार्ता कहा है। उपर्युक्त गुरुविवेचन की वार्ता का नमूना इस प्रकार है :

वार्ता—ये चारिहू दोहानि के आदि सकार, ककार, हकार,
मकार, अकार संयुक्त है याते दीरघ भयेति॥

ऐसी वार्ताएँ संपूर्ण ग्रंथ में प्रत्येक उदाहरण के पश्चात् मिलती जाती हैं। इस प्रकार प्रत्येक स्थल का पूर्ण विवेचन ग्रंथ मे ही मिल जाता है।

विवेचन की दूसरी विशेषता यह है कि कवि ने उदाहरण केवल स्वरचित छंदों के ही नहीं रखे हैं, अन्य कवियों के अनेक उदाहरण प्रस्तुत किए हैं। सूरसागर के उदाहरण सबसे अधिक हैं। लघु प्रकरण का एक उदाहरण द्रष्टव्य है :

मुख छवि देखि रे नँदघरनि !
इहाँ नंद पद को नँद कहे। ऐसे ही और हू जानियो॥

इसी प्रकार संस्कृत वृत्तो के लक्षण देने के उपरात संस्कृत के श्रेष्ठ ग्रंथों के पद भी ज्यों के त्यों उद्धृत कर दिए गए हैं, जैसे शिखरिणी के उदाहरण में कुवलयानंद का उद्धरण इस प्रकार है :

जटानेयं वेणीकृतकचकलापो न गरलं।
गले कस्तूरीयं शिरसि शशिलेखा न कुसुमं।
इयं भूतिर्नाङ्गे प्रिय विरह जन्याधवलिमा।
पुरारातिभ्रान्त्या कुसुमशर किं मां प्रहरसि॥

शैली की तीसरी विशेषता यह है कि परिभाषा में केवल दोहे का ही प्रयोग नहीं है। दोहे में लक्षण देने की परंपरा हिंदी में बन चुकी थी। रामसहाय जी ने भी दोहे का उपयोग लक्षण के लिये सबसे अधिक किया है, किंतु साथ ही अनेक स्थलों पर उन्होंने सूत्रपद्धति में लक्षण और छंदों के भेद दिए हैं। इस प्रकार शैली में एकरूपता नहीं है। मात्राओं की संख्या के लिये कवि ने कूटशैली का प्रयोग किया है और उदाहरणों में गुरु, लघु के चिह्न भी लगाते गए हैं। कूटों के

स्पष्टीकरण के लिये शब्दों के ऊपर अंक भी लिख दिए हैं। उदाहरण के लिये दोहे का लक्षण इस प्रकार है :

> बिस्व[13] कला बिश्राम पुनि, कीजिय रुद्र[11] बिराम।
> अगुर अंत में होय दल, तासों दोहा नाम॥

शैली की चतुर्थ विशेषता यह है कि उदाहरण बडे ही सरस हैं। कविकृत समस्त उदाहरण कृष्णलीला के सरस प्रसंगो के हैं। प्रतीत होता है, जिस प्रकार रीतिकाल के रस और अलंकार ग्रंथों में कृष्ण और गोपियों के सरस प्रसंग रखे गए थे उसी प्रकार छंदशास्त्र के भी अधिकांश ग्रंथों में उदाहरण उसी ढंग के हैं। वृत्ततरंगिणी के लघु प्रकरण का एक ही उदाहरण पर्याप्त होगा।

> एकनि के झूमि झूमि मिलते मुख चूमि चूमि,
> एकनि की ठोढ़ी बीच अंगुलि धरते।
> एकनि के गर गर अपनो मिलाय,
> अरु एकनि के कर गहि मोद हिय भरते॥
> राम कहि एकनि के ललित उरोजनि पै,
> परसि सरोजपानि काम पीर हरते।
> एरी मेरी बीर चलि आहि जमुना के तीर,
> सरद जुन्हैया मैं कन्हैया रास करते॥

तात्पर्य यह कि वृत्ततरंगिणी की शैली सुस्पष्ट, विस्तृत, सरस और शास्त्रीय है। ऐसा विस्तृत सांगोपाग विवेचन किसी भी ग्रंथ में नहीं मिलता। किंतु खेद का विषय है कि ग्रंथ की पूर्ण प्रति अप्राप्य है। ग्रंथ की खंडित प्रति भी इतनी अमूल्य है कि प्रकाशन की अपेक्षा रखती है। निश्चय ही हिंदी-छंद-निरूपण में रामसहाय जी का योगदान बड़ा महत्वपूर्ण है। नए छंदों[1] की संख्या भी रामसहाय जी की वृत्ततरंगिणी में सबसे अधिक है।

[1] रामसहाय द्वारा प्रस्तुत किए हुए कुछ नए छंद :

मात्रिक छंद—

माधुर्य (१२ मात्रा), कलकंठ (१२ मात्रा), इंदिरा (१३ मात्रा), नागर (१५ मात्रा)

वर्णिक छंद—

कलिंदजा, पंचवर्ण, मृगाक्षी (छ. वर्ण), ललितललाम (७ वर्ण),
नवल, जमाल, मैत, धृति, सुखकंद—९ वर्ण
नागरी, मधु, वानिनि, कपटी— १० वर्ण
दीप्ति, मेनका, रति— १३ वर्ण
रंभामाला, केदार, दामिनी, खीनुकांता, चोलपी, तार—१४ वर्ण

१४. हरिदेव

इनका ग्रंथ छंदपयोनिधि है जिसकी रचना सं० १८९२ में हुई थी। ग्रंथ का रचनाकाल कूट पद्धति में कवि ने इस प्रकार लिखा है :

> धरी नैन निधि सिद्धि ससि, संमत सुखद उदार।
> माघ शुक्ल तिथि पंचमी रविनंदन शुभ बार॥

अपने संबंध में कवि ने केवल अपने पिता श्री रतिराम का ही नाम लिखा है, अन्य वृत्त अज्ञात है। नागरीप्रचारिणी सभा की खोज रिपोर्ट (सन् १९१७–१९, संख्या ७२ ए) में केवल ग्रंथ संबंधी ज्ञातव्य सूचनाएँ हैं। पुस्तक में कुल ४८ पृष्ठ हैं और आठ तरंगों में उसकी समाप्ति हुई है। लक्षण दोहे में हैं। उदाहरणों की भाषा सरस और अलंकारिक है। ग्रंथारंभ में प्रस्तावना रूप में लिखा हुआ प्रथम छंद ही कवि की काव्यरसिकता का परिचायक है :

> आदि अंत दोऊ तट राजत पुनीत जाके
> छंद क्रम चारु छीर छाया सरसाइ कै।
> नाना विधि वर्ण अर्थ सोई हैं रतनावली
> गनागन जल जंतु रहे सुचि पाइ कै।
> दंपति विहार फूले पंकज पुनीत तामें
> कीने जे प्रबंध ते तरंग छवि पाइ कै।
> ऐसो हरिदेव कृत छंद पयोनिधि है
> मज्जो कवि वृंद जामे आनँद बढ़ाइ कै॥

ग्रंथ की आठ तरंगो का विषयविभाजन इस प्रकार है :

१—वृत्तविचार
२—मात्रा-गण-कथन
३—गुरु-लघु-विचार
४—मात्रा-अष्टांग-वर्णन
५—वर्ण-अष्टांग-वर्णन
६—गणागण वर्णन
७—मात्राछंद
८—पद्याधिक

साराश यह कि छंदपयोनिधि पिंगल संबंधी साधारण पुस्तक है। विवेचन है तो शास्त्रीय पर अत्यंत संक्षिप्त। छंद भी अधिक नहीं हैं केवल चुने हुए छंदों का प्रयोग किया गया है। उदाहरणों में कवि का कवित्व अवश्य देखने को मिलता है। विवेचन का माध्यम दोहा है जिसकी भाषा शिथिल है।

१५. अयोध्याप्रसाद वाजपेयी

ये लखनऊ के निवासी थे। इनके पिता श्री नंदकिशोर वाजपेयी थे। इनका ग्रंथ है छंदानंदपिंगल जिसका रचनाकाल सं० १९०० है। पुस्तक अप्रकाशित है और नागरीप्रचारिणी सभा के पुस्तकालय में सुरक्षित है।

(१) **वर्ण्य विषय**—ग्रंथ में अध्याय नहीं हैं, किंतु प्रकरणों का उल्लेख है। छंदशास्त्र संबंधी सभी विषय विस्तार से प्रस्तुत किए गए हैं। प्राकृत पिंगल का ही आधार इस ग्रंथ में भी है।

(२) **शैली**—पुस्तक की भाषाशैली विवेचनात्मक है। कहीं कहीं सूत्र पद्धति में लक्षण समझा दिए गए हैं और कहीं दोहा तथा कहीं छप्पयों में लक्षण दिए गए हैं। अनेक बार एक ही छप्पय में अनेक छंदों के नाम गिनाए गए हैं तथा बाद में प्रत्येक छंद के लक्षण दिए गए हैं। भाषा में बोलचाल की ब्रजभाषा अधिक है।

ग्रंथ छात्रोपयोगी है। गंभीर एवं विशद विवेचन के अभाव में ग्रंथ साधारण कोटि का ही माना जा सकता है।

सर्वेक्षण

भारतीय काव्यशास्त्र की परंपरा में आचार्य साधारणतया दो प्रकार के माने जाते हैं—(१) मौलिक उद्भावक आचार्य, (२) व्याख्याता। हिंदी के रीतिकालीन पिंगलनिरूपक आचार्यों में उद्भावक आचार्य की कोटि में किसी व्यक्ति को नहीं रखा जा सकता। प्रायः प्रत्येक पिंगलग्रंथकार ने संस्कृत और प्राकृत पिंगलग्रंथों का आधार स्वीकार किया है। वर्णवृत्तों में संस्कृत के वृत्त ज्यों के त्यों लिए गए हैं। मात्रिक छंद संस्कृत में कम थे। अपभ्रंश कवियों ने मात्रिक छंदों का प्रयोग किया होगा जिनका संकलन प्राकृतपैंगलम् मे संपादक ने किया है। हिंदी के सभी पिंगलग्रंथकारो ने वर्णरत्नाकर, छंदमंजरी और प्राकृतपैंगलम् के छंद लेकर ग्रंथों की रचना की। फिर भी रीतिकालीन ग्रंथों में अनेक वर्णिक और मात्रिक छंद ऐसे मिलते हैं जो आधारग्रंथों में नहीं प्राप्त होते। इससे स्पष्ट है कि रीतिकालीन पिंगलग्रंथकारों ने नवीन छंदों की उद्भावना की होगी। संस्कृत छंदशास्त्रकारो ने प्रत्यय प्रकरण में प्रस्तार का जो क्षेत्र बनाया है उसमें नवीन छंदों के निर्माण का कोई अवसर शेष नहीं रहता। फिर भी, इतना तो निश्चय है कि रीतिकाल में कवियों ने प्राचीन आधार पर नए छंदो की रचना अवश्य की है। इस दृष्टि से केशवदास, मतिराम, माखन, दशरथ और रामसहाय के नाम विशेष उल्लेखनीय है।

व्याख्याता के रूप में भी इन आचार्यों का स्थान विशेष महत्वपूर्ण नहीं है। रीतिकालीन कवियों ने जिन छंदों का प्रयोग विशेष निपुणता से किया है वे हैं दोहा,

सवैया और कवित्त या घनाक्षरी। दोहे का विशद निरूपण प्राकृतपैंगलम् में था अतः हिंदी छंदग्रंथों में भी मिलता है। सवैया छंद रीतिकालीन कलाकार कवियों के हाथ में पड़कर खूब विकसित हुआ। उसके अनेक प्रकार हो गए किंतु पिंगलग्रंथकार अपने ग्रंथों में उसका वैसा सुंदर शास्त्रीय विवेचन नहीं कर सके। कवित्त चंद बरदायी आदि चारणों के ग्रंथों में छप्पय को कहते थे। तुलसीदास जी ने हरिगीतिका को कवित्त कहा, सूरदास जी ने भी पदों में कवित्त का उपयोग किया किंतु उसका अंतिम स्वरूपनिर्माण रीतिकालीन कवियों के हाथ घनाक्षरी के विविध रूपों में हुआ। कवित्त का भी शास्त्रीय विवेचन रीतिकालीन पिंगल ग्रंथकार यथेष्ट रूप में नहीं कर सके। इसका कारण यही है कि इन ग्रंथकारों में कुशल व्याख्याता का गुण नहीं था। ये परंपरागत परिपाटी में बँधे थे। संस्कृत या प्राकृत ग्रंथो के लक्षणों का अनुवाद या भावानुवाद ही इन्होंने प्रस्तुत किया है। थोड़ा बहुत जो परिवर्तन किया भी वह अधिक महत्वपूर्ण नहीं हो सका। गद्य का उपयोग इन ग्रंथो में प्रायः नहीं हो सका। केवल रामसहाय ने व्याख्या के लिये गद्य का भी उपयोग किया है। उस काल में गद्य का विकास नहीं हुआ था, अतः तत्कालीन परिस्थिति में इससे अधिक उनसे आशा भी नहीं की जा सकती थी। हिंदी पिंगलग्रंथकारों का उद्देश्य अध्येता के संमुख विषय को सरलता से रखना तथा कंठ करने का सुंदर ढंग प्रस्तुत करना रहा है। इस प्रकार हिंदी के पिंगलनिरूपक आचार्य, वास्तव में, कविशिक्षक रूप में ही आए हैं और इस रूप में उनका योगदान नगण्य नहीं है।

सप्तम अध्याय

भारतीय काव्यशास्त्र के विकास में रीतिआचार्यों का योगदान

व्यक्तिगत विशेषताओं का सम्यक् विवेचन करने के उपरांत अब यह आवश्यक हो जाता है कि हिंदी के रीतिआचार्यों के सामूहिक योगदान का मूल्यांकन करते हुए भारतीय काव्यशास्त्र की परंपरा में इनके अपने विशिष्ट स्थान का निर्धारण कर लिया जाय। रीतिआचार्यों के दोष पहले सामने आते हैं, गुण बाद में। इनका पहला दोष है सिद्धांतप्रतिपादन में मौलिकता का अभाव। काव्यशास्त्र के क्षेत्र में मौलिकता की दो कोटियाँ हैं : एक के अंतर्गत नवीन सिद्धांतों की उद्भावना और दूसरी के अंतर्गत प्राचीन सिद्धांतों का पुनराख्यान आता है। हिंदी के रीतिआचार्य निश्चय ही किसी नवीन सिद्धांत का आविष्कार नहीं कर सके : किसी ऐसे व्यापक आधारभूत सिद्धांत का प्रतिपादन जो काव्यचिंतन को नवीन दिशा प्रदान करता, संपूर्ण रीतिकाल में संभव नहीं हुआ। इन कवियों ने काव्य के सूक्ष्म अवयवों के वर्णन में कहीं कहीं नवीनता का प्रदर्शन किया है, परंतु उन तथाकथित उद्भावनाओं का आधारस्रोत भी किसी न किसी संस्कृत ग्रंथ में मिल जाता है। जहाँ ऐसा नहीं है वहाँ भी यह कल्पना करना असंगत प्रतीत नहीं होता कि कदाचित् किसी लुप्तप्राय संस्कृत ग्रंथ में इस प्रकार का वर्णन रहा होगा। इनके अतिरिक्त भी जो कुछ नवीन तथ्य शेष रह जाते हैं उनके पीछे विवेक का पुष्ट आधार नहीं मिलता, अर्थात् वहाँ नवीनताप्रदर्शन केवल नवीनताप्रदर्शन या विस्तारमोह के कारण किया गया है, काव्य के मर्म से उसका कोई संबंध नहीं है। कहीं कहीं रीतिकवियों की उद्भावनाएँ अकाव्योचित भी हो गई हैं, जैसे खर, काक आदि के अंशों से युक्त नायिकाभेदों का विस्तार अथवा प्रमाण आदि के भेदों के आधार पर कल्पित अलंकारों का प्रस्तार। वास्तव में हिंदी के रीतिकवियों ने आरंभ से ही गलत रास्ता अपनाया। उन्होंने मौलिकता का विकास विस्तार के द्वारा ही करने का प्रयास किया। परंतु संस्कृत के काव्यशास्त्र की प्रवृत्ति तो भेदविस्तार की ओर पहले से ही इतनी अधिक थी कि अब उस क्षेत्र में कोई विशेष अवकाश नहीं रह गया था। जिन क्षेत्रों में अवकाश था उनकी ओर रीतिकवियों ने उचित ध्यान नहीं दिया। उदाहरण के लिये संस्कृत काव्यशास्त्र में कविकर्म के बाह्य रूप का जितना पूर्ण विवेचन है उतना उसके आंतरिक रूप का नहीं है, अर्थात् कविमानस की सृजनप्रक्रिया का विवेचन वहाँ व्यवस्थित रूप से नहीं मिलता। हिंदी का रीतिआचार्य इस उपेक्षित अंग को ग्रहण कर सकता था; यहाँ मौलिक विवेचन के लिये बड़ा अवकाश था। परंतु परंपरा का अतिक्रमण

करने का साहस वह नहीं कर सका, सामान्यतः उस युग में इतना साहस कोई कर भी नहीं सकता था। दूसरा क्षेत्र था व्यवस्था का। रीतिकाल तक संस्कृत काव्यशास्त्र का भेदविस्तार इतना अधिक हो चुका था कि कई क्षेत्रों में एक प्रकार की अव्यवस्था सी उत्पन्न हो गई थी। उदाहरण के लिये ध्वनि का भेदविस्तार हजारों तक और नायिका-भेद की संख्या भी सैकड़ों तक पहुँच चुकी थी। अलंकार वर्णनशैली को छोड़ वर्ण्य विषय के क्षेत्र में प्रवेश करने लग गए थे। लक्षणा और दोषादि के सूक्ष्म भेद एक दूसरे की सीमा का उल्लंघन कर रहे थे। परिणामतः भारतीय काव्यशास्त्र की वह स्वच्छ व्यवस्था जो मम्मट के समय में स्थिर हो चुकी थी, अस्तव्यस्त सी हो गई। पंडितराज जगन्नाथ जैसे मेधावी आचार्य ने उसे फिर से स्थापित करने का प्रयत्न किया, किंतु उस युग की प्रवृत्ति विवेचन की अपेक्षा वर्णन की ओर ही अधिक थी, अतः शास्त्रार्थ की अपेक्षा कविशिक्षा उसे अधिक अनुकूल पड़ती थी। हिंदी का आचार्य भी उसी प्रवाह में बह गया। अपने समसामयिक पंडितराज का मार्ग ग्रहण न कर वह भानुदत्त और केशव मिश्र की परिपाटी का अनुसरण करने लगा। हमारे कविआचार्य पर एक और बड़ा दायित्व था और वह था हिंदी की विशाल काव्य-राशि का अनुगमविधि से विश्लेषण कर उसके आधार पर एक स्वतंत्र विधान की प्रकल्पना करना। किंतु उसने हिंदी के साहित्य की तो लगभग उपेक्षा ही कर दी। लक्षणों के लिये उसने संस्कृत काव्यशास्त्र का अवलंबन लिया और उदाहरणों का स्वयं ही नूतन निर्माण किया। इस प्रकार हिंदी के समृद्ध काव्य का उसके लिये जैसे कोई अस्तित्व ही नहीं रहा। वास्तव में इस प्रकार अपने पूर्ववर्ती एवं समसामयिक काव्य की उपेक्षा कर लक्षणों का अनुवाद और नूतन उदाहरणों की सृष्टि करते रहना आलोचक के मौलिक कर्तव्य कर्म का निषेध करना था। आलोचना शास्त्र मूलतः एक सापेक्ष शास्त्र है, उसका आलोच्य साहित्य के साथ अत्यंत अंतरंग संबंध है। अतः न तो केवल हजारों वर्ष पुराने लक्षणों और उदाहरणों का अनुवाद अभीष्ट था और न नए उदाहरणों की सृष्टि से ही उद्देश्य की सिद्धि संभव थी। जहाँ संस्कृत के आचार्यों ने प्रायः आचार्यत्व और कविकर्म को पृथक् रखा था वहाँ हिंदी के आचार्यकवियों ने दोनों को मिला दिया। इससे काव्य की वृद्धि तो निश्चय ही हुई किंतु काव्यशास्त्र का विकास न हो सका।

रीतिआचार्यों का दूसरा प्रमुख दोष यह था कि उनका विवेचन अस्पष्ट और उलझा हुआ था, फलतः उनके ग्रंथों पर आधृत शास्त्रज्ञान कच्चा और अधूरा ही रहता है। इस अभाव के दो कारण थे। एक तो कुछ कवियों का शास्त्रज्ञान अपने आपमें निर्भ्रांत नहीं था। दूसरे, पद्य में साहित्य के सूक्ष्म गंभीर प्रश्नों का समाधान संभव नहीं था। प्रतापसाहि जैसे प्रमुख आचार्य ने संस्कृत आचार्यों के मत सर्वथा अशुद्ध रूप में उद्धृत किए हैं। विश्वनाथ और जगन्नाथ के काव्यलक्षण उनके शब्दों में इस प्रकार हैं :

साहित्यदर्पण मत काव्यलक्षण—

> रसयुत व्यंग्य प्रधान जहँ शब्द अर्थ शुचि होइ।
> उक्त युक्ति भूषण सहित काव्य कहावै सोइ॥

रसगंगाधर मत काव्यलक्षण—

> अलंकार अरु गुण सहित दोष रहित पुनि सूत्य।
> उक्ति रीति गुद के सहित रसयुत बचन प्रबुत्य॥
>
> —काव्यविलास (हस्तलेख, पृ० १)

वास्तव में इस प्रकार का अज्ञान अक्षम्य है, परंतु इन कवियों की अपनी परिसीमाएँ थीं।

उपर्युक्त दोषों के लिये अनेक परिस्थितियाँ उत्तरदायी थीं। एक तो संस्कृत काव्यशास्त्र की परंपरा ही रीतिकाल तक आते आते प्रायः निर्जीव हो चुकी थी—उस समय पंडितराज को छोड़ कोई आचार्य मौलिक चिंतन का प्रमाण नहीं दे सका। उस युग में कविशिक्षा का ही प्रचार अधिक रह गया था जिसके लिये न मौलिक सिद्धांतप्रतिपादन अपेक्षित था, न खंडन मंडन अथवा पुनराख्यान। कविशिक्षा का लक्ष्य था रसिकों को सामान्य काव्यरीति की शिक्षा देना—जिज्ञासु मर्मज्ञ के लिये कविकर्म अथवा काव्यास्वाद के रहस्यों का व्याख्यान करना नहीं। रीतिकाव्य जिस वातावरण में विकसित हो रहा था उसमें रसिकता का ही प्राधान्य था। इन रसिक श्रीमंतों को अपने व्यक्तित्व के परिष्कार के लिये केवल सामान्य कलाज्ञान अपेक्षित था : गहन प्रश्नों पर विचार करने की न उनमें शक्ति थी और न इनमें धैर्य ही। अतः उनका आश्रित कवि लक्षणादि की रचना द्वारा उनका शिक्षण और सरस शृंगारिक उदाहरणों की सृष्टि द्वारा मनोरंजन करता रहा, सूक्ष्म शास्त्रचिंतन न उनके लिये ग्राह्य था और न इनके लिये आवश्यक। इसके अतिरिक्त हिंदी में गद्य का अभाव भी एक बहुत बड़ी परिसीमा थी। तर्क और विचारविश्लेषण का माध्यम गद्य ही हो सकता है, छंद के बंधन में बँधा हुआ पद्य नहीं। हिंदी के सर्वांगनिरूपक आचार्यों ने, जो अपने शास्त्रकर्म के प्रति जागरूक थे, वृत्तियों में गद्य का सहारा लिया है किंतु ब्रजभाषा का यह असमर्थ गद्य उनके मंतव्य को सुलझाने की अपेक्षा और उलझाने में ही प्रवृत्त हुआ।

अतः रीतिआचार्यों के योगदान का मूल्यांकन उपर्युक्त पृष्ठभूमि को ध्यान में रखकर ही करना चाहिए। ये कवि वस्तुतः शास्त्रकार नहीं थे, रीतिकार थे और उसी रूप में इनका विचार होना चाहिए। काव्यशास्त्र के क्षेत्र में आचार्यों के सामान्यतः तीन वर्ग हैं—

१—उद्भावक आचार्य, जिन्हें मौलिक सिद्धांतप्रतिपादन का श्रेय प्राप्त है; जैसे भरत, वामन, आनंदवर्धन, भट्टनायक, अभिनवगुप्त, कुंतक आदि। ये शास्त्रकार की कोटि में आते हैं।

२—व्याख्याता आचार्य, जो नवीन सिद्धांतों की उद्भावना न कर प्राचीन सिद्धांतों का आख्यान करते हैं। इनका कर्तव्य कर्म होता है मूल सिद्धांतों को स्पष्ट और विशद करना। मम्मट, विश्वनाथ और पंडितराज जगन्नाथ प्रतिभाभेद से इसी वर्ग के अंतर्गत आएँगे।

३—तीसरा वर्ग है कविशिक्षकों का, जिनका लक्ष्य अपने स्वच्छ व्यावहारिक ज्ञान के आधार पर सरस, सुबोध पाठ्य ग्रंथ प्रस्तुत करना होता है। इस प्रकार के आचार्यों को मौलिक उद्भावना करने अथवा शास्त्र की गहन गुत्थियों को खंडन मंडन द्वारा सुलझाने की कोई महत्वाकांक्षा नहीं होती। जयदेव, अप्पय्य दीक्षित, केशव मिश्र और भानुदत्त आदि की गणना इसी वर्ग के अंतर्गत की जाती है।

हिंदी के रीतिआचार्य स्पष्टतः प्रथम श्रेणी में नहीं आते। उन्होने किसी व्यापक आधारभूत काव्यसिद्धात का प्रवर्तन नहीं किया। उनमें से किसी में इतनी प्रतिभा नहीं थी। दूसरी श्रेणी मे सर्वांगनिरूपक आचार्यों की गणना की जा सकती थी, किंतु खंडन मंडन तथा स्पष्ट और विशद व्याख्यान के अभाव में एवं केवल प्रमुख काव्यागों के संक्षिप्त निरूपण के आधार पर वे भी इस स्थान के अधिकारी नहीं हो सकते। अंततः वे तृतीय वर्ग के अंतर्गत ही स्थान प्राप्त कर सकते हैं। वे न शास्त्रकार थे और न शास्त्रभाष्यकार। उनका काम तो शास्त्र की परंपरा को सरस रूप में हिंदी मे अवतरित करना था। और इसमें वे निश्चय ही कृतकार्य हुए। उनके कृतित्व का मूल्याकन इसी आधार पर होना चाहिए।

अतएव हिंदी के रीतिआचार्यों का प्रमुख योगदान यह है कि उन्होने भारतीय काव्यशास्त्र की परंपरा को हिंदी मे सरस रूप में अवतरित किया। इस प्रकार हिंदी काव्य को शास्त्रचिंतन की प्रौढ़ि प्राप्त हुई और शास्त्रीय विचार सरस रूप में प्रस्तुत हुए। भारतीय भाषाओ में हिंदी को छोड़कर अन्यत्र कहीं भी यह प्रवृत्ति नहीं मिलती। इसके अपने दोष हो सकते हैं, परंतु वर्तमान हिंदी आलोचना पर इसका सद्भाव भी स्पष्ट है। अन्य भाषाओ में जहाँ संस्कृत आलोचना से वर्तमान आलोचना का संबंध उच्छिन्न हो गया है वहाँ हिंदी और मराठी में यह अंतःसूत्र टूटा नहीं है। फलतः हमारी वर्तमान आलोचना की समृद्धि में इन रीतिकारों का योगदान स्पष्ट है। बौद्धिक ह्रास के उस अंधकारयुग में काव्य के बुद्धिपक्ष को जाने अनजाने पोषण देकर इन्होंने अपने ढंग से बड़ा काम किया।

भारतीय काव्यशास्त्र की परंपरा में व्यापक रूप से इनका दूसरा महत्वपूर्ण

योगदान यह है कि इन्होंने रस को ध्वनि के प्रभुत्व से मुक्त कर रसवाद की पूर्ण प्रतिष्ठा की। इतिहास साक्षी है कि संस्कृत काव्यशास्त्र का सर्वमान्य सिद्धात ध्वनिवाद ही रहा है—रस का स्थान मूर्धन्य होते हुए भी उसका विवेचन प्रायः असंलक्ष्यक्रम-व्यंग्य ध्वनि के अंतर्गत अंग रूप में ही होता रहा है। हिंदी के रीतिकार आचार्यों ने रस को परतंत्रता से मुक्त किया और पूरी दो शताब्दियों तक रसराज शृंगार की ऐसी अविच्छिन्न धारा प्रवाहित की कि यहाँ 'शृंगारवाद' एक प्रकार से स्वतंत्र सिद्धांत के रूप में ही प्रतिष्ठित हो गया। मधुरा भक्ति से संप्रेरित शृंगार भाव में जीवन के समस्त कटु भावों को निमग्न कर इन आचार्यों ने भारतीय काव्यशास्त्र के प्राणतत्व आनंद की पुनःप्रतिष्ठा का अभूतपूर्व प्रयत्न किया। रीतियुग के अधिकाश आचार्यों द्वारा ध्वनि की उपेक्षा और नायिकाभेद के प्रति उत्कट आग्रह इसी प्रवृत्ति का द्योतक है। देव जैसे कवियों ने अत्यंत प्रबल शब्दों 'रसकुटिल अधम व्यंजना' पर आश्रित ध्वनि का तिरस्कार कर रसवाद का पोषण किया और रामसिंह ने रस के आधार पर काव्य के उत्तम और मध्यम भेद करते हुए रससिद्धात के सार्वभौम प्रभुत्व का प्रतिपादन किया। संयोग शास्त्र का अपरिपक्व ज्ञान, युग की दूषित प्रवृत्ति आदि कहकर इन स्थापनाओं की उपेक्षा करना न्याय्य नहीं है: इनके पीछे गहरी आस्था का बल है।

चतुर्थ खंड

काव्यकवि

प्रथम अध्याय

रीतिबद्ध काव्यकवियों की विशेषताएँ

यहाँ हम राजशेखर द्वारा निर्दिष्ट 'काव्यकवि' पद का प्रयोग उन कवियों के लिये कर रहे हैं जो रीतिकाव्य की बँधी हुई परिपाटी में आस्था रखने पर भी लक्षण-ग्रंथों के प्रणयन में लीन नहीं हुए वरन् स्वतंत्र रूप से लक्ष्यग्रंथों के द्वारा जिन्होंने अपनी कविप्रतिभा का परिचय दिया और अपनी व्यक्तिगत विशेषताओं के स्फुरण द्वारा रसमर्मज्ञ कवि का अभिधान प्राप्त किया। रीतिपरंपरा को भली भाँति हृद्गत करके भी इन काव्यकवियों ने उसका विवेचन नहीं किया। रीतिग्रंथ लिखनेवाले आचार्यकवियों का उद्देश्य मुख्य रूप से कविशिक्षा के ग्रंथ ही लिखना था। वे अपने को कविशिक्षक ही कहते और समझते थे। केशवदास, चिंतामणि त्रिपाठी, कुलपति मिश्र, श्रीपति आदि आचार्यकवियों ने अपने ग्रंथों में कविशिक्षक होने की अभिलाषा का स्पष्ट संकेत किया है। आचार्य या शिक्षक होने की लालसा के पीछे गुरुत्व की प्रधानता है, कवि या कवित्व के गौरव की इच्छा प्रधान नहीं है। काव्यकवियों में रीति का बंधन स्वीकार करने पर भी इस अभिलाषा के ठीक विपरीत कविगौरव की अभिलाषा है, आचार्य या कविशिक्षक होकर वे पाठ्य ग्रंथ तैयार करने में कोई रुचि नहीं रखते। इसी कारण इन कवियों को रीतबद्ध काव्यकवि के नाम से भी अभिहित किया जाता है।

रीतिकार आचार्य कवि और रीतिबद्ध काव्यकवियों के मध्य विभाजक रेखा स्पष्ट है। दोनों की प्रणाली और ध्येय में पर्याप्त अंतर है। फिर भी कतिपय विद्वानों ने बिहारी जैसे रीतिबद्ध काव्यकवि को आचार्यकवि सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। उनका तर्क है कि बिहारी सतसई के दोहे समग्र रूप से नायक-नायिका-भेद के पोषक हैं। परवर्ती टीकाकारों ने सतसई को नायिकाभेद का ग्रंथ बताया भी है। नायिकाभेद के अतिरिक्त काव्यशास्त्र के अलंकार, रस, ध्वनि आदि भेदों का अनुसंधान भी सतसई में किया गया है और इसे रीतिग्रंथ ठहराने की चेष्टा हुई है। इस प्रयत्न की व्यर्थता पुस्तक के ध्येय से ही स्पष्ट हो जाती है। यदि बिहारी रीतिग्रंथ का प्रणयन करते तो लक्षणों का बहिष्कार करके केवल लक्ष्य तक ही अपने को सीमित क्यों रखते? नायिकाभेद, अलंकार, रस, ध्वनि आदि का वर्णन तो सभी रीतिबद्ध या रीतिमुक्त काव्यों में उपलब्ध होता है। घनानंद, आलम, ठाकुर और बोधा की रचनाओं में भी ये तत्व पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध होते हैं। तब क्या उन

रीतिमुक्त स्वच्छंद धारा के प्रेमी कवियों को भी आचार्य कवि कहा जायगा ? क्या घनानंद या ठाकुर का ध्येय कविशिक्षक के रूप में रीतिग्रंथ प्रणयन करना ही था ? उत्तर स्पष्ट है कि उनकी स्वतंत्र काव्यधारा का रीतिकाव्य की धारा से सीधा संबंध नहीं है। हाँ, शृंगारिक भावनाओं के बाहुल्य के कारण रीति की भावधारा का प्रभाव अवश्य उनपर भी परिलक्षित होता है। इसी प्रकार बिहारी भी स्वतंत्र रूप से कवित्व के अभिलाषी थे—कविगौरव ही उनका ध्येय था, कविशिक्षक होने की उन्होंने कभी चेष्टा नहीं की। रीतिकार आचार्यकवि और रीतिबद्ध काव्यकवि के व्यावर्तक धर्मों को दृष्टि में रखते हुए इनका भेद समझना आवश्यक है। 'शास्त्र-स्थिति-संपादन' मात्र बिहारी आदि कवियों का लक्ष्य न होने से इनका वर्ग स्वतंत्र हो जाता है और लक्षण-ग्रंथ-रचना के दायित्व से मुक्त होकर केवल लक्ष्यग्रंथ तक उन्हें सीमित कर देता है।

रीतिबद्ध काव्यकवियों की एक और प्रमुख विशेषता यह है कि वे कवित्व के लोभ में चमत्कारातिशयपूर्ण उक्तियाँ बाँधने में लीन रहते हैं, इस बात का उन्हें भय नहीं रहता कि यह उक्ति लक्षणविशेष के अनुकूल होगी या नहीं। लक्षण के घेरे में बँधे रहनेवाले आचार्यकवियों में यह बात नहीं मिलती। जहाँ इन कवियों ने चमत्कार को अपनाया है और मार्मिक उक्तियाँ की हैं वहाँ लक्षण पीछे छूट गया है। रसाभिव्यक्ति के लिये स्वानुभूति के आधार पर मौलिक काव्यरचना भी रीतिबद्ध कवियों की विशेषता है। जीवन और जगत् के बाह्य एवं आभ्यंतर तल से अनुकूल सामग्री चयन कर कवित्व के पूर्ण परिपाक के साथ सरस उक्तियों की रचना करने की कला इन कवियों को सिद्ध थी। यदि लक्षणरचना का दायित्व इनपर होता तो कदाचित् रस की ऐसी धारा ये प्रवाहित न कर पाते। कहने का तात्पर्य यह है कि स्वतंत्र उद्भावना के लिये जितना अवकाश इन काव्यकवियों के पास था, उतना लक्षणकार आचार्यों के पास नहीं था। यही कारण है कि काव्यकवियों की वैयक्तिकता रीतिबद्ध कवियों की अपेक्षा अधिक स्पष्ट है। इन कवियों ने काव्य के कलापक्ष और भावपक्ष को समान रूप से ग्रहण किया था। स्वतंत्र उद्भावनाओं के कारण मौलिकता की भी इनमें अधिक मात्रा है, पिष्टपेषण या चर्वितचर्वण अपेक्षाकृत न्यून है, जबकि आचार्यकवियो में लक्षणानुसारी रचना के कारण पिष्टपेषण अत्यधिक मिलता है।

रीतिबद्ध आचार्यकवियों ने अपने ग्रंथ लिखते समय संस्कृत के आचार्य दंडी, भामह, जयदेव, मम्मट, विश्वनाथ आदि के ग्रंथों को सामने रखा था। अधिकांश कवियों ने संस्कृत के काव्यशास्त्रीय ग्रंथों का रूपांतर मात्र करके अपने कर्तव्य की इतिश्री समझ ली है। संस्कृत में उच्च कोटि का चिंतन मनन हो चुका था। ऐसी दशा में हिंदी के ये शास्त्रकवि मौलिक चिंतन द्वारा नई बात उपस्थित भी क्या कर सकते थे ! संस्कृत के समृद्ध साहित्य के आगे इनका रीतिशास्त्र हलका फुलका लगता है। यही कारण है कि रीतिकार आचार्यों की दृष्टि उन संस्कृत ग्रंथों तक ही सीमित

रही जिनमें पूर्वप्रतिपादित सिद्धांतों का स्पष्टीकरण अथवा सरल शैली में परिचय कराया गया था। एतदर्थ चंद्रालोक, कुवलयानंद, रसतरंगिणी, रसमंजरी, काव्यप्रकाश और साहित्यदर्पण को ही चुना गया है। रीतिकाव्य लिखनेवाले हिंदी के आचार्यकवि अंत तक संस्कृत के रीतिग्रंथों के उपजीवी बने रहे। इन आचार्यकवियों का मुख्य वर्ण्य विषय भी शृंगार ही है। रसनिरूपण में शृंगार को ही प्रधानता देकर इन्होंने भाव, विभाव आदि का औपचारिक रूप से वर्णन किया है। नायक-नायिका-भेद भी शृंगाराश्रित होता है, अतः शृंगारवर्णन के लिये उसे अपनाया गया है। हमारे कथन का तात्पर्य यह है कि जहाँ आचार्यकवियों ने संस्कृत के काव्यशास्त्र को अपना आधार बनाकर लक्षणग्रंथों का हिंदी में निर्माण किया है वहाँ रीतिबद्ध काव्यकवियों ने संस्कृत की काव्यशास्त्रीय सरणि को केवल पृष्ठभूमि में रखा है। वैसे, इन कवियों का निकटतर संबंध संस्कृत की शृंगार-मुक्तक-परंपरा से है, जिसमें लक्षणानुसारी काव्यरचना का आग्रह नहीं होता, यहाँ तो मुक्तक शैली की स्वतंत्र रचना में ऐहिक जीवन के मार्मिक चित्र अंकित किए जाते हैं जो पाठक को रसमग्न कर आनंदविभोर बना देते हैं।

(१) **हिंदी काव्य में मुक्तकपरंपरा**—मुक्तक काव्य की प्राचीनतम परंपरा ऋग्वेद में मिलती है। उसी का क्रमिक विकास परवर्ती संस्कृत एवं प्राकृत साहित्य में हुआ। हिंदी की मुक्तकपरंपरा का संबंध संस्कृत और प्राकृत की इसी शृंगार-मुक्तक-परंपरा से है। संस्कृत के भक्ति-स्तोत्र-ग्रंथों की मुक्तकपरंपरा का भी यत्किंचित् प्रभाव हिंदी के मुक्तक कवियों पर पड़ा है किंतु मूलतः उन्होंने शृंगार को ही प्रधानता देकर मुक्तकरचना की है। मुक्तक काव्य की सुदीर्घ परंपरा का संधान करने से पूर्व मुक्तक शब्द और मुक्तक काव्य के स्वरूप पर विचार करना आवश्यक है। मुक्तक शब्द के कोशग्रंथों में विभिन्न अर्थ दिए हुए हैं। उनमें से काव्य के प्रसंग में निम्नलिखित अर्थ संगत प्रतीत होता है : 'मुक्तक एक प्रकार का काव्य है जो पूर्वापरनिरपेक्ष, स्वतःपर्यवसित पद्य तक सीमित हो।' केशवकृत शब्दकल्पद्रुम कोश में मुक्तक शब्द का अर्थ इस प्रकार लिखा है :

> **विमा कृतं विरहितं व्यवच्छिन्न विशेषितम् ।**
> **भिन्न स्वाय निर्व्यूढे मुक्तं मोचाति शोभनः ॥**

जो काव्य अर्थपर्यवसान के लिये परापेक्षी न हो वह मुक्तक कहलाता है। प्रबंध काव्य में अर्थ का पर्यवसान प्रबंधगत होता है। रसचर्वणा या चमत्कृति प्रबंध काव्य में केवल एक पद्य के द्वारा नहीं होती और न प्रबंध काव्य का प्रत्येक पद्य स्वतंत्र रूप से रसप्रवण तथा चमत्कृतिप्रधान होता है। इसके ठीक विपरीत मुक्तक काव्य में रसयोजना और चमत्कृति के समस्त उपादान एक ही पद्य में उपस्थित रहते

हैं। काव्य के प्रसंग में मुक्तक का अर्थ है 'ऐसा पद्य जो परतःनिरपेक्ष रहते हुए पूर्ण अर्थ की अभिव्यक्ति में समर्थ हो, अपनी काव्यगत विशेषताओं के कारण जो आनंद प्रदान करने में स्वतंत्र रूप से पूर्णतया समर्थ हो, जिसका गुंफन अति रमणीय हो, जिसका परिशीलन ब्रह्मानंदसहोदर रसचर्वण के प्रभाव से हृदय को मुक्तावस्था प्रदान करनेवाला हो।' आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने अपने हिंदी साहित्य के इतिहास में मुक्तक में के विषय लिखा है : 'मुक्तक में प्रबंध के समान रस की धारा नहीं रहती जिसमें कथाप्रसंग में अपने को भूला हुआ पाठक मग्न हो जाता है। इसमें तो रस के जैसे छींटे पड़ते हैं जिनसे हृदय की कलिका थोड़ी देर के लिये खिल उठती है। यदि प्रबंध काव्य एक विस्तृत वनस्थली है तो मुक्तक काव्य एक चुना हुआ गुलदस्ता है। इसीलिये सभा समाजों के लिये वह अधिक उपयुक्त होता है। उसमें उत्तरोत्तर अनेक दृश्यों द्वारा संघटित जीवन या उसके किसी एक पूर्ण अंग का प्रदर्शन नहीं होता बल्कि एक रमणीय खंडदृश्य इसी प्रकार सहसा सामने ला दिया जाता है। इसके लिये कवि को मनोरम वस्तुओं और व्यापारों का एक छोटा सा स्तवक कल्पित करके उन्हें अत्यंत संक्षिप्त और सशक्त भाषा में चित्रित करना पड़ता है। अतः जिस कवि में कल्पना की समाहार शक्ति के साथ भाषा की समाहार शक्ति जितनी अधिक होगी, उतना ही वह मुक्तक की रचना में अधिक सफल होगा'।[1]

संस्कृत के प्राचीन आचार्यों ने स्फुट या अनिबद्ध काव्य को मुक्तक संज्ञा प्रदान की है। अग्निपुराणकार ने मुक्तक उस श्लोक को माना है जो सहृदयों में चमत्कार का आधान करने में समर्थ होता है। मुक्तक की रसमयता की ओर आनंदवर्धन ने सबसे पहले ध्यान दिया और लिखा—'प्रबंध मुक्तकेवापि रसादीन बंधुमिच्छता।' संस्कृत में मुक्तकरचना का सूत्रपात तो वैदिक काल से ही मिलता है किंतु मुक्तक काव्य में रस की स्थिति नाट्य एवं प्रबंध के बहुत पीछे स्वीकृत हुई। राजशेखर ने तो मुक्तक कवियों को महाकवियों में स्थान ही नहीं दिया। आचार्य वामन ने भी यही माना है कि मुक्तक रचना तो कवि की प्रथम सीढ़ी है, उसे निपुणता प्राप्त करने के लिये प्रबंध काव्य में प्रवृत्त होना चाहिए। कहने का तात्पर्य यह है कि मुक्तक काव्य को प्रारंभ में उच्च स्थान प्राप्त नहीं हुआ किंतु कालांतर में मुक्तक की श्रेष्ठता स्वीकृत हुई। सर जार्ज ग्रियर्सन ने भारतीय मुक्तक काव्य के विषय में अपने विचार व्यक्त करते हुए लिखा है कि—'भारतीय काव्यानंद का सम्यक् रूप में यदि कहीं प्रस्फुटन हुआ है तो वह उसके मुक्तक काव्य में ही हुआ है। मुक्तक काव्य में भारतीय उदात्त वृत्ति का पूर्ण सामंजस्य अधिगत होता है।

[1] आचार्य रामचंद्र शुक्ल : हिंदी साहित्य का इतिहास, पृ० २७५

मुक्तक काव्य का आधार यों तो कोई भी निरपेक्ष कथन होता है किंतु सफल एवं प्रभावोत्पादक मुक्तक काव्य वही कहाता है जिसमें संपूर्ण जीवन या जीवन के सामान्य क्रियाव्यापारों के मेल में आनेवाला खंडचित्र लेकर कोई बंधान बाँधा जाता है। जीवन के वे मार्मिक वृत्त जो रसमग्न करने में सहायक हों, मुक्तक काव्य के आधार बनते हैं। मर्मस्थलों का चयन करते समय कवियों को इतना जागरूक होना चाहिए कि पाठक उस भावभूमि पर सहज ही में पहुँच सके जहाँ कवि उसे ले जाना चाहता है। यदि सामान्य जीवनक्षेत्र से हटकर कवि किसी ऐसे लोक में पहुँचकर मुक्तक लिखता है जो पाठक के लिये अनजाना है तो मुक्तक का प्रभाव कठिनाई से पड़ेगा और उसमें अभीष्ट सरसता भी न आ सकेगी।

जैसा हमने पहले संकेत किया है, रीतियुग के काव्यकवियों ने संस्कृत की शृंगार-मुक्तक-परंपरा को स्वीकार कर शृंगारप्रधान रचनाओं में अपनी रुचि प्रदर्शित की है। काव्यशास्त्रीय ग्रंथों से दूर हटकर केवल शृंगारमुक्तकों का आलंबन उनकी आभ्यंतर रुचि एवं प्रवृत्ति का संकेत देता है। शृंगार-मुक्तक-परंपरा में हाल रचित गाथासप्तशती का नाम सबसे पहले आता है। ईसा की दूसरी शती के आसपास इसका रचनाकाल स्थिर किया जाता है। हाल रचित गाथासप्तशती जीवन के सहज सरल व्यापारों को चित्रात्मक शैली में प्रस्तुत करनेवाला प्रथम मुक्तक काव्य है। इस सप्तशती का प्रभाव हिंदी के मुक्तक कवियों पर स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। बिहारी का सुप्रसिद्ध अन्योक्तिपरक दोहा भी हाल की प्राचीन गाथा की छाया ही है :

नहिं पराग नहिं मधुर मधु, नहिं विकास इहि काल।
अली कली ही सौं बँध्यो, आगे कौन हवाल।

—बिहारी

गाथासप्तशती—

आवण्ण कोस विकासं ईसीस मालई कलिआ।
मकरंद पाण लोहिल्ला भमर तावश्चिअ मलेसि॥

(अभी मालती की कली के कोश का विकास भी नहीं हो पाया कि मकरंद-पान के लोभी भौंरे तूने उसका मर्दन आरंभ कर दिया)

गाथासप्तशती के बाद संस्कृत के युगप्रसिद्ध मुक्तककार कवि अमरुक का नाम आता है। आचार्य आनंदवर्धन ने अमरुक के विषय में लिखा है कि—'अमरुक कवेरेकः श्लोकः प्रबंध शतायते' अर्थात् अमरुक कवि का एक श्लोक सौ प्रबंधों के समान होता है। अमरुक ने शृंगारमुक्तक की परंपरा को आगे बढ़ाने में सबसे अधिक योग दिया। इसके बाद गोवर्धन की आर्यसप्तशती इसी शृंखला की प्रमुख कड़ी है। आर्यासप्तशती के श्लोकों का तुलनात्मक अध्ययन करते हुए पं० पद्मसिंह शर्मा ने

बिहारी के अनेक दोहों पर इसका प्रभाव दिखाया है। आर्यासप्तशती का व्यापक प्रभाव हिंदी के मुक्तक कवियों पर पड़ा था। बिहारी के प्रसंग में तुलनात्मक प्रभाव का परीक्षण किया जायगा। यहाँ इस प्रसंग में केवल इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि गाथासप्तशती, अमरुकशतक और आर्यासप्तशती आदि की शृंगार-मुक्तक-परंपरा ही हिंदी की मुक्तकपरंपरा के मूल में थी। संस्कृत और प्राकृत से होती हुई यह परंपरा अपभ्रंश में भी चलती रही। प्रेम, शृंगार और वीर रस संबंधी मुक्तक हेमचंद्र के प्राकृत व्याकरण ग्रंथ में तथा द्वयाश्रयकाव्य में उपलब्ध होते हैं। सोमप्रभाचार्य के कुमारपालप्रतिबोध, राजशेखर सूरि के प्रबंधकोष, प्राकृतपैंगलम् और पुरातन प्रबंधसंग्रह में स्फुट रूप से मुक्तकों की परंपरा का अनुसंधान किया जा सकता है। संस्कृत में शृंगारतिलक, घटकर्परि, भर्तृहरिरचित शृंगारशतक, बिल्हण की चौर-पंचाशिका आदि शृंगारप्रधान मुक्तक ही हैं। संस्कृत की यह शृंगार-मुक्तक-परंपरा ही हिंदी के बिहारी आदि काव्यकवियों की प्रेरक हुई। इन कवियों ने रीतिकाव्य के संस्कृत ग्रंथों का अनुसरण नहीं किया वरन् इन्हीं शृंगारमुक्तकों को अपना उपजीव्य बनाया।

संस्कृत की शृंगार-मुक्तक-परपरा का अनुसरण करते हुए ये कवि रीतिपरिपाटी से बहुत दूर जा पड़े हों, ऐसी बात नहीं है। शृंगार की मर्यादा ही रीतिबद्ध होकर विकसित होती है, अतः शृंगारवर्णन के लिये भी रीतिपरिपाटी का त्याग संभव नहीं है। रीतिबद्ध काव्यकवियों ने बाह्य रूप में रीति का दामन नहीं पकड़ा, किंतु उनके काव्य में रीति की छाया आद्योपात दृष्टिगत होती है।

रीतिबद्ध कवियों के काव्य पर संस्कृत के प्राचीन काव्यसंप्रदायों में से तीन संप्रदायों का प्रभाव देखा जा सकता है। ये तीन संप्रदाय अलंकार, रस और ध्वनि संप्रदाय हैं। अलकार संप्रदाय को रीतिबद्ध कवियों ने आचार्यकवियों की भाँति ग्रहण नहीं किया वरन् अलंकारों की योजना अपने लक्ष्यग्रंथों में इस रूप से की है कि उनमें से अलंकारों का चयन किया जा सकता है। लक्षण-उदाहरण-पूर्वक अलंकारप्रनिपादन इन कवियों ने नहीं किया। हिंदी रीतिकाव्य में ध्वनिवाद का सर्वोत्कृष्ट रूप बिहारी और प्रतापसाहि में मिलता है। बिहारी ने यद्यपि लक्षणग्रंथों की रचना नहीं की परंतु उनके काव्य की प्रवृत्ति सर्वथा ध्वनिवाद के ही अनुकूल थी। उनके दोहों के काव्यगुण का विश्लेषण करने पर यह संदेह नहीं रह जाता कि वे रसवाद के शुद्ध मानसिक आनंद की अपेक्षा ध्वनिवाद के बौद्धिक आनंद को ही अधिक महत्व देते थे[1]।

[1] डा० नगेंद्र रीतिकाव्य की भूमिका, पृ० १७०–१७१

कुछ विद्वानों की संमति में बिहारी रसवादी कवि थे। रस को काव्य की आत्मा मानकर उन्होंने आनंदोपलब्धि के लिये सतसई का निर्माण किया था। इस प्रश्न पर हम बिहारी के विषय में लिखते हुए आगे विस्तार से विचार करेंगे। यहाँ केवल इतना ही संकेत करना पर्याप्त होगा कि बिहारी का काव्यगुण ध्वनि में जितना उत्कर्ष को पहुँचा है उतना रस में नहीं। यह ठीक है कि बिहारी ने रस को तिलांजलि नहीं दी थी, किंतु उनका साध्य ध्वनिकाव्य ही था।

रस संप्रदाय भी इन कवियों ने अपनाया है। केवल शृंगार का वर्णन करनेवाले कवियों की दृष्टि में रस संप्रदाय ही प्रधान था। कवि नेवाज, बेनी, नृपशंभु, रसनिधि, हठी जी, पजनेस, द्विजदेव आदि कवियों पर रस संप्रदाय का गहरा प्रभाव देखा जा सकता है। यथार्थ में ध्वनि और रस संप्रदाय के साथ ही काव्यकवियों का घनिष्ट संबंध रहा है। वैसे, अप्रत्यक्ष रूप से अलंकार और वक्रोक्ति का भी प्रभाव इनकी स्फुट रचनाओं में देखा जा सकता है।

रीतिबद्ध काव्यकवियों की कविता में भावुकता और कला का अद्भुत् समन्वय हुआ है। जैसा हमने पहले लिखा है, काव्यकवियों ने कलापक्ष और भावपक्ष का समान रूप ग्रहण किया था। केवल काव्यरीति तक ही दृष्टि सीमित रखनेवाले आचार्यकवियों से इनके काव्य का यह भेद स्पष्ट देखा जा सकता है। रीतिमुक्त कवियों में भावुकता की मात्रा सबसे अधिक है। किंतु काव्यकवि भी वस्तु, दृश्य या भावचित्रण में भावुकता का आश्रय लेते हैं। शृंगार के वर्णन में संयोग और वियोग के जैसे मार्मिक चित्र काव्यकवियों ने अंकित किए हैं वैसे अन्यत्र दुर्लभ हैं। विरह का वर्णन यद्यपि ऊहात्मक शैली में ही अधिक किया गया है, तथापि प्रवत्स्यत्पतिका और आगतपतिका नायिका के उदाहरणों में स्वाभाविक शैली से कवि की भावुकता व्यक्त हुई है। संचारियों के वर्णन में भी भावुकता के संस्पर्श मिलते हैं।

द्वितीय अध्याय

कविपरिचय

१. बिहारीलाल

(१) **जीवनवृत्त**—बिहारी के जन्मस्थान के संबंध में तीन मत हिंदी साहित्य के इतिहास ग्रंथों में उपलब्ध होते हैं। ग्वालियर, बसुआ गोविंदपुर और मथुरा, इन तीन स्थानों से उनका संबंध स्थापित किया जाता है। ग्वालियर को जन्मस्थान माननेवाले विद्वान् एक दोहा उपस्थित करते हैं जो बिहारी के जीवनवृत्त पर प्रकाश डालता है। दोहा इस प्रकार है :

जनम ग्वालियर जानियै, खंड बुँदेलै बाल।
तरुनाई आई सुघर, मथुरा बसि ससुराल॥

संभव है, यह दोहा बिहारी के जीवनवृत्त से परिचित किसी व्यक्ति ने लिखा हो। दोहे की प्रामाणिकता संदिग्ध होने पर भी इसमे जन्म, शैशव एवं तारुण्य का पूरा संकेत है। जन्मस्थान बसुआ गोविंदपुर लिखा है। श्री राधाचरण गोस्वामी के मत में इनका जन्म मथुरा में हुआ था। बिहारी के मथुरा मे रहने के तो अनेक प्रमाण मिलते हैं, किंतु जन्मस्थान होने का संकेत नही मिलता। बसुआ गोविदपुर इनके भानजे कुलपति मिश्र को मिला था। वह बिहारी का जन्मस्थान नहीं था। अतः ग्वालियर के विषय मे अपेक्षाकृत अधिक प्रमाण मिलने के कारण ग्वालियर को ही इनकी जन्मभूमि माना जाता है।

बिहारी के पिता का नाम केशवराय था। केशवराय नाम देखकर आचार्य केशवदास की ओर ध्यान जाना स्वाभाविक है। स्वर्गीय श्री राधाकृष्णदास ने आचार्य केशव को ही इनका पिता ठहराने का प्रयत्न किया था। श्री जगन्नाथदास रत्नाकर ने भी उक्त अनुमान को अंशतः स्वीकार करते हुए इस प्रश्न को विवादास्पद माना है। बुंदेलवैभव के लेखक पं० गौरीशंकर द्विवेदी ने बिहारी को केशवदास का पुत्र तथा काशीनाथ मिश्र का पौत्र सिद्ध किया है। उनके मत में बिहारी चौबे नहीं थे। उनका विवाह चौबे कुल मे हुआ था। प्रसिद्ध कवि केशवदास को बिहारी का पिता स्वीकार किया जाय या नहीं, यह प्रश्न ऐतिहासिक अनुसंधान की अपेक्षा रखता है। उपलब्ध सामग्री के आधार पर इस विवादास्पद प्रश्न का इस प्रकार समाधान संभव है। सबसे पहले बिहारी सतसई के टीकाकार कृष्णलाल ने बिहारी के निम्नलिखित दोहे की टीका में प्रसिद्ध कवि केशवदास की ओर संकेत किया है :

प्रकट भए द्विजराज कुल, सुबस बसे ब्रजराय ।
मेरो हरौ कलेस सब केसौ केसवराय ॥

इस दोहे में केशव (विष्णु) और केसवराय (कवि केशवदास) की ओर बिहारी ने संकेत किया है, ऐसा टीकाकार कृष्णलाल का कहना है। वे कहते हैं, भगवान् और जनक दोनों का कवि ने इस दोहे में युगपत् स्मरण किया है। यदि केसवराय कोई सामान्य व्यक्ति होते तो बिहारी इस तरह स्मरण न करते। अतः केशवराय महाकवि केशवदास ही हैं। किंतु इस तर्क में विशेष बल नहीं है। कवि बिहारी के पिता का नाम केशवराय हो सकता है और वे कोई भी व्यक्ति हो सकते हैं। इस नामस्मरण से आचार्यकवि केशव की ध्वनि नहीं निकलती।

बिहारी के भानजे कुलपति मिश्र ने भी अपने संग्रामसागर के मंगलाचरण में अपने नाना का स्मरण करते हुए उन्हें कविवर शब्द से संबोधित किया है :

कविवर मातामह सुमिरि, केसव केसवराय ।
कहौं कथा भारत्थ की, भाषा छंद बनाय ॥

अतः यह संकेत तो मिलता है कि केशवराय कवि अवश्य थे, किंतु कवि होने से वे प्रसिद्ध आचार्यकवि केशवदास ही थे, यह सिद्ध नहीं किया जा सकता। हाँ, इतना स्वीकार करने में किसी को आपत्ति नहीं होनी चाहिए कि बिहारी के पिता केशवराय भी कवि थे।

आचार्य केशवदास को बिहारी का पिता सिद्ध करने के लिये एक और प्रमाण प्रस्तुत किया जाता है। मिश्रबंधुविनोद में एक कवयित्री का केशव-पुत्र-वधू नाम से उल्लेख मिलता है। इस केशव-पुत्र-वधू को बिहारी की पत्नी ठहराकर केशवदास को बिहारी का पिता बताया जाता है। इस प्रसंग में यह ध्यान रखने योग्य है कि बिहारी की पत्नी के कवयित्री होने का संकेत बिहारी के दो दोहाबद्ध जीवनचरितों में मिलता है। इन दोनों जीवनचरितों का उल्लेख श्री जगन्नाथदास रत्नाकर ने कविवर बिहारी नामक ग्रंथ में विस्तार से किया है। एक जीवनचरित तो बिहारीबिहार (पं० अंबिकादत्त व्यास) के प्रारंभ में संलग्न है और दूसरा दोहाबद्ध चरित सं० १८६१ में असनी के ठाकुर कवि ने अपने आश्रयदाता श्री देवकीनंदन के नाम पर सतसैयावर्णार्थ टीका में लिखा है। इस जीवनवृत्त में सतसैया के निर्माता के रूप में बिहारी की पत्नी का नाम है, बिहारी का नहीं। बिहारीबिहार में लिखित जीवनचरित के आधार पर निम्नांकित तथ्यों का पता चलता है :

'बिहारी के पितामह का नाम वासुदेव और पिता का नाम केशवदेव था। ये मथुरानिवासी छहघरा चौबे थे। इनकी ऋग्वेद की आश्वलायन शाखा थी और तीन प्रवर थे। इनका जन्म सं० १६५२ में कार्तिक शुक्ला अष्टमी, बुधवार को श्रवण

नक्षत्र में हुआ था। ग्यारह वर्ष की आयु में ये वृंदावन गए और टट्टी स्थान के महंत श्री नरहरिदास जी से मिले। उनकी प्रेरणा से वहीं बस गए और विद्याभ्यास करने लगे। उसी समय वहाँ एक बार बादशाह शाहजहाँ आए। वे इनकी कविता सुनकर बडे प्रसन्न हुए और अपने साथ आगरा लिवा ले गए। एक बार शाहजहाँ के पुत्रजन्मोत्सव पर देश भर से राजा महाराजा आगरा आए। बादशाह की प्रेरणा से बिहारी ने उन्हें दरबार में अपनी कविता सुनाई जिसे सुनकर सभी राजा महाराजा बडे प्रसन्न हुए और सबने प्रमाणपत्र प्रदान कर बिहारी की वृत्ति भी बाँध दी। एक बार वार्षिक वृत्ति लेने बिहारी राजा जयसिंह के दरबार में पहुँचे। उस समय राजा जयसिंह अपनी नवोढ़ा पत्नी के प्रेमपाश में बुरी तरह आबद्ध थे। बिहारी ने बड़ी युक्ति से स्वरचित एक अन्योक्ति राजा के पास पहुँचाई जिसे पढ़कर राजा को चेत हुआ। वे महल से निकलकर दरबार में आए और राजकाज में फिर से लग गए। बिहारी के काव्यकौशल पर मुग्ध होकर राजा जयसिंह ने आदेश दिया कि वे प्रतिदिन एक दोहा इसी प्रकार बनाकर राजा को देते रहें। उसके बाद तो उन्हें प्रतिदिन एक अशर्फी मिलती रही। राजा जयसिंह ने ही बिहारी को दोहों में शृंगार रस की प्रधानता रखने का आदेश दिया था। दो महीने में बिहारी ने सात सौ दोहे पूरे किए और राजा से आज्ञा लेकर वे मथुरा वापस चले गए। इसके बाद बिहारी ने स्थायी रूप से व्रजवास स्वीकार कर लिया, कविता करना बंद कर दिया और सं० १७२१, चैत्र शुक्लपक्ष सप्तमी, सोमवार को उनका व्रज में ही शरीरपात हुआ।

असनी के ठाकुर कवि ने अपने आश्रयदाता काशीनिवासी श्री देवकीनंदन के नाम पर सतसैयावर्णार्थ टीका में बिहारी का विस्तृत वृत्तात लिखा है। उसका साराश इस प्रकार है—'बिहारी नामक एक कुलीन विप्र व्रज में वास करता था। उसकी पत्नी कविता करने में प्रवीण थी। राजा जयसिंह से वृत्ति पाकर वह अपनी गृहस्थी चलाता था। एक बार जब वह जयपुर राजा के दरबार में वृत्ति लेने गया तो उसने राजा को नई ब्याह कर लाई हुई पत्नी के प्रेमपाश में फँसा पाया। राजा दरबार में नहीं आते थे। निराश होकर बिहारी को खाली हाथ लौटना पड़ा। बिहारी ने यह समाचार अपनी पत्नी को सुनाया। उसने तत्काल 'नहिं पराग नहिं मधुर मधु, नहिं विकास यहि काल' वाला दोहा बनाकर बिहारी को दिया और फिर जयपुर वापस भेजा। दासी के द्वारा यह दोहा महाराज के पास भिजवाया गया। उसे पढकर राजा को प्रबोध हुआ और अत्यंत प्रसन्न होकर उन्होंने अंजलि भर मोहरें बिहारी को प्रदान कीं। साथ ही यह भी कहा कि यदि तुम इसी प्रकार दोहे बनाकर लाते रहे तो तुम्हें प्रति दोहा एक मोहर मिलेगी। बिहारी ने अपनी पत्नी को यह सब समाचार सुनाया। पत्नी ने १४०० दोहे बनाए और १४०० मोहरें प्राप्त कीं। उन्हीं में से छाँटकर सात सौ की यह सतसई तैयार हुई। इस सतसई को लेकर पत्नी के कहने से बिहारी छत्रसाल महाराज के दरबार में पहुँचे। सतसई उन्हें

दिखाई गई। महाराज ने उसे परख के लिये अपने गुरु श्री प्राणनाथ जी के पास भेज दिया। साधु प्राणनाथ ने शृंगारपूर्ण सतसई को घृणास्पद समझा और वापस कर दिया। बिहारी अपना सा मुँह लेकर चले आए। घर आकर जब पत्नी से सब वृत्तांत कहा तो पत्नी ने तत्काल बिहारी को महाराज छत्रसाल के पास वापस जाने का परामर्श देते हुए कहा कि महाराज से निवेदन करना कि सतसई की परीक्षा के लिये इसे प्रणनाथ की धार्मिक पुस्तक के साथ पन्ना के युगलकिशोर जी के मंदिर में रख दिया जाय। जिस पुस्तक पर रात में श्री युगलकिशोर जी के हस्ताक्षर हो जायँ वही पुस्तक प्रामाणिक मानी जाय। ऐसा ही किया गया और हस्ताक्षर बिहारीसतसई पर हुए। इस समाचार को सुनते ही बिहारी बिना दक्षिणा लिए सीधे अपनी पत्नी के पास चले आए और पत्नी को सब समाचार बताया। उधर बिहारी को न पाकर राजा ने हाथी, घोड़े, पालकी, आभूषण आदि विपुल संपत्ति बिहारी के लिये भेजी। बिहारी की पत्नी ने सारी दक्षिणा वापस करके यह दोहा लिख भेजा :

> **तो अनेक औगुन भरी चाहै याहि बलाय।**
> **जो पति संपति हू बिना जदुपति राखे जाय॥**

'एक और दोहा प्राणनाथ जी के पत्र के उत्तर में लिखा :

> **दूरि भजत प्रभु पीठि दै गुन बिस्तार न काल।**
> **प्रगटत निर्गुन निकट ही चंग रंग गोपाल॥**

'इन दोहों को पढकर महाराज छत्रसाल और प्राणनाथ बहुत लज्जित हुए और बहुत सा द्रव्य आदि भेजा। बिहारी की पत्नी पतिव्रता थी, अतः उसने सतसई रचने का श्रेय स्वयं नहीं लिया वरन् बिहारी के नाम से ही ग्रंथ को प्रसिद्ध किया।'

उपर्युक्त विवरण की प्रामाणिकता भी अत्यंत संदिग्ध है। केवल यह प्रतीत होता है कि बिहारी की पत्नी कवयित्री थी। इन दोनो जीवनचरितों को हमने इस प्रसंग मे इसलिये उद्धृत किया है कि केशव-पुत्र-वधू के नाम से जो स्त्री विख्यात है, उसका बिहारी से संबंध निर्णीत हो सके। कवि केशवदास जी की पुत्रवधू के लिये यह भी प्रसिद्ध है कि उसके लिये ही केशव ने विज्ञानगीता जैसे दार्शनिक ग्रंथ का निर्माण किया था।

वस्तुतः बिहारी के पिता यदि आचार्यकवि केशवदास होते तो साहित्यिक परंपरा में यह बात पूर्ण रूप से ख्यात हो गई होती। दो महाकवियों का पारस्परिक संबंध किसी भी प्रकार गुप्त नहीं रह सकता। ऐसा प्रतीत होता है कि बिहारी के पिता का नाम केशव था और वे भी कवि थे, किंतु ओड़छा निवासी आचार्यकवि केशव से उनका कोई संबंध नहीं था।

इस प्रसंग में एक बात और ध्यान देने की है। बिहारी ने अपनी वंदना में 'केसौ केसवराय' नाम दिया है। ठीक इसी रूप में उनके भानजे कुलपति मिश्र ने भी 'केसव केसवराय' नाम लिया है। हो सकता है, यही कवि का पूरा नाम हो और वह कवि केशवदास से भिन्न कोई साधारण कवि 'केशव केशवराय' हो। अतः संक्षेप में, यह निर्णय ही विद्वानो को मान्य रहा है कि प्रसिद्ध कवि केशवदास बिहारी के पिता नहीं थे, अपितु जो कोई व्यक्ति इनके पिता थे उनका नाम केशवराय था और वे भी कविता करते थे।

बिहारी का जन्मसंवत् १६५२ स्थिर किया जाता है। श्री जगन्नाथदास रत्नाकर ने निम्नलिखित दोहा इसके समर्थन में प्रस्तुत किया है :

संवत् जुग सर रस सहित, भूमि रीति जिन्ह लीन।
कातिक सुधि बुधि अष्टमी, जन्म हमहिं बिधि दीन्ह॥

इस दोहे को पढने से ऐसा विदित होता है जैसे बिहारी ने इसे स्वयं लिखा हो, किंतु यह बिहारीरचित दोहा नहीं है। किसी अन्य व्यक्ति ने इसकी रचना की है। इसमें जो तिथि और दिन बताए गए हैं, वे ज्योतिष के हिसाब से ठीक नहीं बैठते। फिर भी, संवत्वाला उल्लेख ठीक ही है।

बिहारी धौम्य गोत्रीय सोती घरबारी माथुर चौबे थे। इनके एक भाई और एक बहन का होना बताया जाता है। इनके पिता बिहारी को आठ वर्ष की आयु मे लेकर ग्वालियर छोड़ ओड़छा चले गए और वहाँ केशवदास जी से इन्होने काव्यग्रंथों का अध्ययन किया। ओड़छा के समीप गुढौ ग्राम में निंबार्क संप्रदाय के अनुयायी महात्मा नरहरिदास जी निवास करते थे। बिहारी के पिता जी इन्हीं महात्मा के शिष्य थे। बिहारी ने इनसे संस्कृत, प्राकृत आदि का अध्ययन किया था।

संवत् १६६४ में इनके पिता जी ओड़छा छोड़कर वृंदावन में आ बसे। वृंदावन आने पर बिहारी ने साहित्य के साथ संगीत का भी अभ्यास किया। उसी समय इनका विवाह माथुर चतुर्वेदी ब्राह्मण परिवार में हुआ। विवाह के बाद वे अपनी सुसराल में ही रहने लगे। संवत् १६७५ मे शाहजहाँ वृंदावन आया और स्वामी हरिदास जी के स्थान का दर्शन करने के निमित्त विधुवन गया। वहाँ महात्मा नरहरिदास जी ने बिहारी की काव्यनिपुणता का बादशाह के समक्ष वर्णन किया जिसे सुनकर शाहजहाँ इन्हें अपने साथ आगरा लिवा ले गया। आगरा में इन्होने फारसी की शायरी का अध्ययन किया। वहाँ इनकी अब्दुर्रहीम खानखाना से भेंट हुई। कहते हैं, खानखाना की प्रशंसा में बिहारी ने कुछ दोहे भी लिखे जिनसे प्रसन्न होकर रहीम ने इन्हें प्रभूत धन पुरस्कार में दिया।

आगरा प्रवास के समय ही संवत् १६७७ में शाहजहाँ ने पुत्रजन्मोत्सव के उपलक्ष्य में भारत के अनेक राजाओं को आमंत्रित किया। बिहारी ने उस उत्सव में

अपनी काव्यकला का चमत्कार प्रदर्शित किया जिसपर मुग्ध होकर राजाओं ने बिहारी की वार्षिक वृत्ति बाँध दी। इसी बीच जहाँगीर और शाहजहाँ में मनमुटाव उत्पन्न होने पर बिहारी आगरा छोड़कर चले गए। ये जीविका के लिये राजाओं के यहाँ बँधी वृत्ति लेने इधर उधर जाते रहते थे। एक बार आमेर भी इसी सिलसिले में पधारे तो वहाँ उन्हें पता चला कि मिर्जा राजा जयसाह (जयसिंह) उन दिनों नवोढा रानी के साथ महलो में पडे रहते हैं, राजकाज एकदम भूल गए हैं, किसी को महलों में आने की इजाजत नहीं है। प्रधान महारानी श्रीमती अनंदकुमारी (चौहानी रानी) इस घटना से बड़ी व्यग्र थीं। ऐसे संकटकाल में बिहारी ने अपने काव्यकौशल से काम लिया और यह दोहा लिखकर किसी प्रकार राजा के पास तक पहुँचाने का प्रबंध किया :

> **नहिं पराग नहिं मधुर मधु, नहिं बिकास यहि काल।**
> **अली कली ही स्यों बँध्यो, आगे कौन हवाल॥**

इस अन्योक्ति के द्वारा कवि ने राजा के प्रमाद को दूर करने में पूरी सफलता प्राप्त की। राजा को प्रबोध हुआ और मोहपाश से निकल बाहर आए। वे बिहारी की सूझ बूझ पर बडे प्रसन्न हुए और उन्हे बहुत सा धन पुरस्कार में दिया और यह भी कहा कि यदि इसी प्रकार कविता बनाकर सुनाया करोगे तो प्रतिदिन एक मोहर पुरस्कार में मिला करेगी।

इस घटना के बाद बिहारी का आमेर दरबार में राजकवि के रूप में संमान होने लगा और उनका जीवन बडे सुख से बीतने लगा। ऐसी भी जनश्रुति है कि बड़ी रानी के पुत्र रामसिह का जन्म उसी समय हुआ था। जब कुँवर रामसिंह विद्याध्ययन के योग्य हुए तब बिहारी को ही उनका गुरु नियत किया गया। रामसिंह को नीति उपदेश देने के लिये बिहारी ने स्वरचित दोहे संकलित किए तथा अन्य कवियों के भी दोहे उस संग्रह मे रखे।

बिहारी की संतान के विषय में पूरी जानकारी नहीं है। सतसई के टीकाकार कृष्णलाल कवि को इनका पुत्र कहा जाता है। दूसरा मत यह भी है कि इन्होंने अपने भतीजे निरंजन को अपना दत्तक पुत्र बना लिया था। बिहारी की मृत्यु किंवदंती के अनुसार ब्रज में होना प्रसिद्ध है किंतु इसका कोई ऐतिहासिक प्रमाण अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ है। संवत् १७२० के आसपास ये परलोकवासी हुए।

बिहारी के जीवन की प्रमुख घटनाओ पर ध्यान देने से विदित होता है कि उनका जीवन बुंदेलखंड, मथुरा, आगरा और जयपुर में व्यतीत हुआ। बचपन उन्होंने बुंदेलखंड में व्यतीत किया, अतः बचपन की भाषा का प्रभाव उनकी कविता पर अंत तक बना रहा। बुंदेली भाषा के अनेक प्रयोग उनकी कविता में स्पष्ट दिखाई देते हैं। ओड़छा दरबार में भी वे बचपन में गए थे। केशवदास और

मधुकरशाह का संकेत इनके एक दोहे में प्राप्त होता है। केशव की कविप्रिया और रसिकप्रिया की छाप भी कहीं कहीं सतसई के दोहों पर पड़ी है। युवावस्था बिहारी ने ब्रज में व्यतीत की। नरहरिदास के संपर्क में संस्कृत साहित्य तथा संगीत का अभ्यास किया। इनके अनेक दोहों पर संस्कृत के रीतिग्रंथों की गहरी छाप इस तथ्य का समर्थन करते हैं। शाहजहाँ के साथ आगराप्रवास में फारसी की शायरी और राजदरबारों के जीवन की झाँकी का बिहारी ने जो परिचय प्राप्त किया था, उसे भी उनके दोहों में देखा जा सकता है। जयपुर राज्य में रहकर उन्होंने जीवन के विलासपरायण दृश्य देखे थे, राजपूती शान और उत्थानपतन देखा था। यह सब बिहारी ने अपने दोहों में पूरी तरह अंकित किया है। बिहारी का काव्य तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक एवं साहित्यिक परिस्थितियों के अध्ययन की प्रचुर सामग्री प्रस्तुत करता है। मुगलकालीन उत्तर भारत की सामाजिक दशा का जैसा चित्रण बिहारी सतसई मे है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। बिहारी ने एक ओर साहित्यिक रीतिपरंपरा की स्वच्छंद शैली का निर्वाह किया है तो दूसरी ओर उन्होने काव्य के माध्यम से तत्कालीन जातीय जीवन का चित्रण अंकित करने में भी कौशल दिखाया है।

(२) **बिहारीसतसई**—बिहारी रचित ग्रंथ केवल सतसई ही उपलब्ध है। विद्वानों का अनुमान है कि सात सौ दोहों के अतिरिक्त भी बिहारी ने कुछ लिखा होगा। इन दोहों में जैसा प्रौढ़ अर्थगौरव मिलता है वैसा केवल सात सौ दोहे लिखने से नहीं आ सकता। अतः यह अनुमान युक्तिसंगत है कि उनकी अन्य रचनाएँ संकलित न होने के कारण नष्ट हो गई। सतसई नाम से जो मूलग्रंथ उपलब्ध है उसके अनेक पाठभेद हैं। श्री जगन्नाथदास रत्नाकर ने बिहारीरत्नाकर, नामक ग्रंथ में पाठशोधपूर्वक ७१३ दोहे संकलित किए हैं। इनके अतिरिक्त विभिन्न प्रतियों और टीकाओ में १४० दोहे और हैं। इनमे से कितने बिहारीरचित हैं और कितने परवर्ती कवियो या टीकाकारों ने बिहारी के नाम से स्वयं बनाकर हस्तलिखित प्रतियों में ठूस दिए हैं, यह नहीं कहा जा सकता। कुछ दोहे तो पाठभेद के सूक्ष्म परिवर्तन से ही भिन्न हो गए हैं अन्यथा उनका मूल रूप बिहारीसतसई में मिल जाता है।

रीतिकालीन शृंगार रस के मुक्तक ग्रंथों में बिहारीसतसई से अधिक प्रचार और किसी ग्रंथ का नहीं हुआ। सात सौ दोहों के आधार पर इतनी ख्याति अर्जित करनेवाला दूसरा कोई और कवि हिंदी साहित्य में नहीं है। बिहारीसतसई यद्यपि रीतिबद्ध लक्षणग्रंथ नहीं है, तथापि रीतिपरंपरा का ज्ञानार्जन करने के लिये जितना उपयोग इस ग्रंथ का हुआ उतना रीतिग्रंथों का भी नहीं हुआ। सतसई की हिंदी, संस्कृत, फारसी, गुजराती, उर्दू आदि अनेक भाषाओं में जितनी टीकाएँ लिखी गई

उतनी किसी और काव्यग्रंथ की नहीं लिखी गई। लगभग ५० से ऊपर टीकाओं का उल्लेख हिंदी साहित्य के इतिहास ग्रंथों में मिलता है। इन टीकाओं का क्रम बिहारी के समय से ही प्रारंभ हो गया था। बिहारी के प्रथम टीकाकार कृष्ण कवि उनके पुत्र कहे जाते हैं। रत्नाकर जी ने भी कृष्ण कवि को बिहारी का पुत्र ही माना है। इस टीका में रचनाकाल संवत् १७१६ दिया हुआ है किंतु शोध से इसका निर्माणकाल १७८० के आसपास स्थिर होता है। श्री रत्नाकर (जगन्नाथदास) जी ने सतसई संबंधी टीकाओं पर विस्तार से विचार किया है। उसी के आधार पर हम यहाँ संक्षेप में सतसई के टीकासाहित्य का परिचय प्रस्तुत करते हैं। टीका लिखने के लिये टीकाकारों ने गद्य का माध्यम ही स्वीकृत नहीं किया वरन् पद्यात्मक टीकाएँ भी प्रचुर मात्रा में लिखी गई हैं। दोहा, सवैया, कवित्त, कुंडलिया आदि छंदों में अनेक टीकाएँ उपलब्ध हैं।

प्रथम टीका कृष्णलाल कवि कृत है, इसकी भाषा जयपुरी मिश्रित ब्रज है।

दूसरी टीका विजयगढ़ के मान कवि (मानसिंह) की है। इसकी प्रतिलिपि संवत् १७७२ की है। तीसरी प्रमुख एवं प्रसिद्ध टीका दो कवियों के संयुक्त प्रयत्न से तैयार हुई है। शुभकरण और कमलनयन नामक दो कवि इसके कर्ता हैं। टीका का नाम है अनवरचंद्रिका। संवत् १७७१ में यह लिखी गई। दिल्ली के किसी सामंत अनवर खाँ को सतसई का मर्म समझाने के उद्देश्य से यह टीका तैयार हुई थी। इस टीका में रस, अलंकार, ध्वनि आदि काव्यांगों का भी विवेचन किया गया है। पन्ना के कर्ण कवि ने संवत् १७६४ में साहित्यचंद्रिका नाम से अर्थ-विस्तार के लिये सतसई पर टीका लिखी। इसमें भी ध्वनि संबंधी प्रश्न पर विचार किया गया है। यह बात ध्यान देने योग्य है कि बिहारी के ध्वनिवादी होने का संकेत इन टीकाओं में उपलब्ध है। संवत् १७६४ में ही सूरति मिश्र ने सतसई पर अमरचंद्रिका नाम की टीका लिखी। टीका का प्रणयन दोहों में हुआ है। अलंकारों का निरूपण इसमें प्रमुख है। संवत् १८३४ में हरिचरणदास ने हरिप्रकाश नामक टीका लिखी। यह टीका प्रकाशित भी हो चुकी है। सं० १८६१ में असनी के ठाकुर कवि ने अपने आश्रयदाता काशीनिवासी देवकीनंदन सिंह के प्रीत्यर्थ देवकीनंदन टीका लिखी। जिसमें प्रश्नोत्तर द्वारा गूढार्थ को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है। काशी के प्रसिद्ध सरदार कवि की टीका का अनेक ग्रंथों मे उल्लेख मिलता है। किंतु वह आज उपलब्ध नहीं है। गुजरात के श्री रणछोड़ जी दीवान ने सं० १८६०-७० के समीप अपनी टीका लिखी थी।

इन टीकाओं के बाद आधुनिक काल में भी टीकाओं की परंपरा निरंतर चलती रही। लल्लूलाल ने लालचंद्रिका नाम से एक टीका लिखी जो बाद में ग्रियर्सन महोदय की अँगरेजी भूमिका के साथ प्रकाशित हुई। इस टीका में मौलिकता

नहीं है। किंतु ग्रियर्सन महोदय की भूमिका के कारण लालचंद्रिका की धूम मच गई। इसके तीन चार संस्करण भी हुए। आधुनिक खड़ी बोली में प्रभुदयाल पांडेय ने संवत् १६५३ में टीका लिखी। इसके बाद पंडित ज्वालाप्रसाद मिश्र की भावार्थ-प्रकाशिका टीका प्रकाशित हुई। आधुनिक काल के टीकाकारों में पंडित पद्मसिंह का संजीवनभाष्य तुलनात्मक पद्धति से सर्वश्रेष्ठ है। यह भाष्य अपूर्ण है। इस टीका में दूसरों की त्रुटियों का परिमार्जन भी शर्मा जी ने अपने दृष्टिकोण से किया है और पं० ज्वालाप्रसाद मिश्र की टीका का बहुत प्रखर स्वर में खंडन किया गया है। लाला भगवानदीन की बिहारीबोधिनी छात्रोपयोगी, सरल और स्वच्छ भाषा में लिखी टीका है। अध्ययन अध्यापन में इसका पर्याप्त प्रचार है। बिहारी के सबसे प्रामाणिक टीकाकार श्री जगन्नाथदास रत्नाकर हैं। बिहारीरत्नाकर की रचना पूरी छानबीन के बाद की गई है और इसमें पाठशोधन पर पर्याप्त श्रम किया गया है।

इसके अतिरिक्त संस्कृत, फारसी और गुजराती में भी टीकाओं का उल्लेख मिलता है। आनंदीलाल शर्मा ने संवत् १६५२ के लगभग फारसी में टीका लिखी और श्री सवितानारायण कवि ने गुजराती में टीका लिखी।

टीकाओं के अतिरिक्त बिहारी के दोहों का पल्लवन भी कवित्त, सवैया, कुंडलिया आदि छंदों में भावार्थविस्तार के ध्येय से अनेक भावुक कवियों द्वारा हुआ। कुंडलिया बाँधनेवाले तो अनेक कवि हुए जिनमें पठान सुलताना, नवाब जुल्फिकार अली, ईश्वरीप्रसाद कायस्थ, अंबिकादत्त व्यास, बाबा सुमेरसिंह, भारतेंदु हरिश्चंद्र, पंडा जोखूराम आदि प्रसिद्ध हैं। कवित्त सवैया में पल्लवित करनेवालों में कृष्ण कवि, जानकीप्रसाद, ईश्वर कवि आदि हैं। उर्दू में मुंशी देवीप्रसाद प्रीतम ने गुलदस्तए बिहारी नाम से दोहों को शेरों में ढाला है।

इसके अतिरिक्त बिहारीसतसई के दोहों को विशेष शास्त्रों का समर्थन मानकर किसी ने वैद्यकपरक अर्थ किया, किसी ने इश्कफौजदारी बना डाला और एक महाशय ने तो आधुनिक काल में बिहारीसतसई को भूगोल इतिहास का ग्रंथ बताकर भौगोलिक दृष्टि से दोहों का अर्थ बिठाया है। ये सब दिमागी कसरत के मिथ्या प्रयास हैं, जिनसे काव्य की हानि होने के साथ कम लिखे पढ़े लोगों में भ्रम फैलने का भय रहता है।

संक्षेप में, कहने का तात्पर्य यह है कि ऊपर के कुछ टीकाकारों का वर्णन पढ़कर यह निर्णय करना कठिन नहीं कि बिहारी को हिंदी साहित्य के रसिक पाठक-वर्ग का सबसे अधिक समर्थन प्राप्त हुआ और उनके विषय में सबसे अधिक साहित्यसृजन हुआ।

बिहारी सतसई के दोहों के संबंध में यह सूक्ति पर्याप्त विख्यात है :

सतसैया के दोहरे, ज्यों नावक के तीर ।
देखत मैं छोटे लगैं, बेधैं सकल सरीर ॥

बिहारी ने केवल एक ही ग्रंथ सतसई लिखा। 'यह बात साहित्यक्षेत्र में इस तथ्य की स्पष्ट घोषणा करती है कि किसी कवि का यश उसकी रचनाओं के परिमाण के हिसाब से नहीं होता, गुण के हिसाब से होता है। गुणक कविता में जो गुण होना चाहिए, वह बिहारी के दोहों में चरम उत्कर्ष को पहुँचा है, इसमें कोई संदेह नहीं है'[1]।

(१) **बिहारी की शास्त्रीय दृष्टि**—बिहारी ने स्वतंत्र रूप से काव्यशास्त्र संबंधी लक्षणग्रंथ नहीं लिखा। सतसई उनका लक्ष्यग्रंथ है। इस लक्ष्यग्रंथ के पर्यवेक्षण से ही उनकी शास्त्रीय दृष्टि का बोध हो सकता है। जैसा हमने पहले भी लिखा है, बिहारी ने रीतिकाव्यों का विधिवत् परिशीलन करके सतसई का निर्माण किया था, अतः लक्ष्यग्रंथ होने पर भी कवि के अंतर्मन में लक्षणों के अनुरूप दोहे रचने की भावना सतत बनी रही है। दूसरे शब्दों में यह कहना भी अयुक्त न होगा कि लक्षणों के अनुरूप लक्ष्य प्रस्तुत करना ही सतसई का ध्येय था। जिस काल में बिहारी ने सतसई लिखी वह संस्कृत और हिंदी काव्यसाहित्य में लक्षणग्रंथों के उत्कर्ष का समय था। हिंदी में तो कृपाराम, केशव, चिंतामणि आदि लक्षणग्रंथकार हो चुके थे और संस्कृत की विशाल परंपरा के अंतिम रससिद्ध कवि और आचार्य पंडितराज जगन्नाथ भी उसी समय में शास्त्र लिखने में व्यस्त थे। पंडितराज जगन्नाथ से बिहारी का व्यक्तिगत परिचय था अतः उनसे भी रीतिबद्ध काव्यरचना की दिशा में बिहारी ने अवश्य प्रेरणा ग्रहण की होगी। बिहारीसतसई का समस्त रचनाविधान रीतिमुक्त न होकर आद्योपात रीतिबद्ध है—रीति की आत्मा ग्रंथ मे इस तरह अनुस्यूत है कि बिहारी को रीतिकवियों मे प्रमुख स्थान मिला है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने इसी आधार पर बिहारी को प्रमुख रीतिकवियों मे रखा है।

बिहारी का काव्यशास्त्र विषयक दृष्टिकोण समझने के लिये संस्कृत के सुप्रसिद्ध अलंकार, रस और ध्वनि संप्रदायों को ध्यान में रखना होगा और इन्हीं के आधार पर बिहारी के दोहों में उपलब्ध शास्त्रीय संकेतों की परीक्षा करनी होगी।

अलंकार संप्रदाय का प्रारंभ संस्कृत साहित्य में व्यापक अर्थ में हुआ परंतु परवर्ती काल में अलंकार का क्षेत्र सीमित होता गया और रस तथा ध्वनि विषयक तत्वों को अलंकार से पृथक् करके देखा जाने लगा। परिणाम यह हुआ कि अलंकार का काव्य में वही स्थान रह गया जो शरीर के भूषण कटक, कुंडल आदि का है।

[1] आचार्य रामचंद्र शुक्ल : हिंदी साहित्य का इतिहास, पृ० २७४

इसी कारण मम्मट ने अलंकारों को काव्य का अनिवार्य तत्व नहीं माना। अलंकारों की दृष्टि से बिहारीसतसई पर विचार करें तो यह निष्कर्ष सरलता से निकाला जा सकता है कि बिहारी जैसे काव्यशिल्पी कवि की कविता निरलंकृत नहीं हो सकती किंतु अलंकारों का वर्णन उनका प्रधान ध्येय न होने से उसमें सभी प्रमुख अलंकारों का भेद-प्रभेद-पूर्वक वर्णन नहीं मिलता। अलंकारों के संबंध में उन्होंने अपना शास्त्रीय मत भी सतसई में स्पष्ट व्यक्त किया है :

> करत मलिन आछी छबिहि हरत जु सहज बिकास।
> अंगराग अंगनु लगी, ज्यों आरसी उसास॥

स्वाभाविक सौंदर्य को ऊपर से लादे हुए प्रसाधनों से कभी कभी गहरी ठेस पहुँचती है। आभूषण सहज भूषण न रहकर अरुचिकर भी प्रतीत होने लगते हैं :

> पहिरि न भूषण कनक के, कहि आवत इहि हेत।
> दर्पन कैसे मोरचे, देह दिखाई देत॥

अलंकार का प्रयोजन यही है कि वह प्रतीयमान अर्थ में सौंदर्य का आधान करे। यदि अलंकार अर्थसौष्ठव या अर्थगौरव के सहायक नहीं होते तो उनकी उपयोगिता नष्ट हो जाती है :

> जोबित परत समान दुति, कनक कनक से गात।
> भूषन कर कर कस लगत, परसि पिछाने जात॥

उपर्युक्त दोहों से कवि का आशय स्पष्ट है कि वह अलंकारों को वहीं तक उपयोगी मानता है जहाँ तक वे प्रतीयमान अर्थ (रसध्वनि) में विशेषता संपादन करते हैं। अलंकारवादियों के समान ऊपर से लादे हुए अलंकार व्यर्थ हैं। अतः बिहारी का दृष्टिकोण अलंकार संप्रदाय के मेल में नहीं बैठता और वे इस संप्रदाय से बाहर हो जाते हैं।

बिहारी को रसवादी स्वीकार करनेवाले विद्वान् सतसई के दोहों में रस-योजना पर विशेष बल देते हैं और सतसई के अंतिम दोहे में, 'करी बिहारी सतसई, भरी अनेक सवाद' में 'सवाद' शब्द का 'रसास्वादन' अर्थ करके यह सिद्ध करना चाहते हैं कि बिहारी रसास्वादन कराने के निमित्त ही सतसई की रचना में लीन हुए थे। 'तंत्रीनाद कवित्त रस, सरस राग रति रंग' में भी 'रस' के प्राधान्य की ओर इंगित करके बिहारी को रस संप्रदाय के अंतर्गत रखने का प्रयत्न हुआ है। यदि रसध्वनि को काव्य की आत्मा मानकर बिहारी के काव्य में रसध्वनि का संधान ही मुख्य माना जाय तो ध्वनि के माध्यम से बिहारी रस संप्रदाय का स्पर्श अवश्य करते हैं। परंतु रस उनका इष्ट साध्य नहीं है। यदि उनके लक्ष्य (दोहों) की परीक्षा की जाय तो यह तथ्य और अधिक स्पष्ट हो जायगा कि रसध्वनि के

उदाहरणों की भरमार होने पर भी ये रस संप्रदाय के पोषक न होकर ध्वनि संप्रदाय के ही अनुगामी हैं। रसध्वनि, अलंकारध्वनि और वस्तुध्वनि को ग्रहण करके बिहारी ने संकेतित अर्थ को ही प्रधानता दी है अतः उनकी अभिरुचि ध्वनि संप्रदाय के प्रति ही है।

ध्वनि संप्रदाय के सिद्धांतों की कसौटी पर सतसई के दोहों को कसने से यह बात सिद्ध हो जाती है कि बिहारी के शृंगार विषयक दोहों में भी ध्वन्यात्मकता ही प्रधान है। अलंकार या रस का प्रतिपादन उनका अंतिम ध्येय नहीं है। ध्वनि के भेदों में अविवक्षित वाच्यध्वनि प्रथम है। अभिधेयार्थ जान लेने पर भी तात्पर्यानुपपत्ति होने पर शब्द से संबद्ध जिस दूसरे अर्थ की प्रतीति होती है, वह लक्ष्यार्थ कहाता है, अभिधेयार्थ और लक्ष्यार्थ से भिन्न प्रयोजन की प्रतीति व्यंजना वृत्ति के आधार पर होती है। जब व्यंजना वृत्ति से प्रतीत होनेवाले अर्थ में सौंदर्य का पर्यवसान हो तो उसे अविवक्षित वाच्यध्वनि के नाम से अभिहित किया जाता है। इसके प्रमुख चार भेद हैं। बिहारी ने अविवक्षित वाच्यध्वनि के सभी भेदों के सुंदर उदाहरण सतसई में प्रस्तुत किए हैं :

होमति सुखकरि कामना, तुमहिं मिलन की लाल।
ज्वालामुखि सी जरति लखि, लगनि अगनि की ज्वाल॥

इस दोहे में 'मुख का होमना' अपने वाच्यार्थ में बाधित है। लक्ष्यार्थ हुआ कि नायिका नायक के विरह में दुखी रहती है, उसका सुख समाप्त हो गया है, व्यंगार्थ हुआ कि नायिका के सुख उसी प्रकार भस्म हो गए हैं जैसे अग्नि में पड़ने पर आहुति भस्म हो जाती है। यहाँ शब्दगत अत्यंततिरस्कृत ध्वनि है। इस ध्वनि के पचासों उदाहरण सतसई मे भरे पडे हैं। बिहारी का प्रसिद्ध दोहा :

तंत्रीनाद कबित्त रस, सरस राग रति रंग।
अनबूड़े बूड़े तरे, जे बूड़े सब अंग॥

ध्वनि का बहुत सुंदर उदाहरण है। डूबना और तरना जलाशय आदि में ही संभव है। कवित्तरस या तंत्रीनाद जैसे अमूर्त तत्व में नहीं। अतः इनका अर्थ बाधित होकर रसास्वादन का बोध करता है। वाच्यार्थ में अत्यंत तिरस्कृत होनेवाली ध्वनि बिहारी में अत्यधिक मात्रा में दृष्टिगत होती है :

बेसरि मोती धनि तुही, को पूछै कुल जाति।
निधरक है पीबो करै, तीय अधर दिन राति॥

यहाँ मानवगत गुण, कर्म, स्वभाव का अचेतन वस्तु (बेसरि मोती) के संबंध में वर्णन करके अत्यंततिरस्कृत वाच्यध्वनि का उदाहरण प्रस्तुत किया गया है।

ध्वनि का दूसरा प्रमुख भेद है विवक्षितान्यपर वाच्यध्वनि। इसके रस, ध्वनि और अलंकार, तीन भेद होते हैं। संलक्ष्यक्रम और असंलक्ष्यक्रम भेद से इनके अपार भेदों का शास्त्रों में परिगणन किया गया है। इस ध्वनिभेद का बिहारी ने पूर्ण चमत्कार के साथ प्रयोग किया है। ऊहात्मक शैली से नायिका की विरहजन्य दशा के वर्णन में यह ध्वनि अपने विविध भेदप्रभेद सहित सतसई में छाई हुई है। नायिका की कायिक चेष्टाओं से नायक को अर्थबोध करानेवाला ध्वन्यात्मक दोहा देखिए :

हरखिन बोली लखि ललनु, निरखि अमिलु सँग साथ।
आँखिन ही में हँसि धरयौ, सीस हिये धरि हाथ॥

यहाँ नायिका की कायिक अभिव्यक्तियों से गूढाशय का संकेत है। आँखों में हँसकर व्यक्त किया गया कि तुम्हारे दर्शन से मुझे हर्ष हुआ। हृदय पर हाथ रखने से प्रकट किया कि तुम मेरे हृदय में आसीन हो। सिर पर हाथ रखने का अभिप्राय है कि मुझे तुम्हारी कामना शिरोधार्य है किंतु उसकी पूर्ति भाग्याधीन है। इन आंगिक चेष्टाओं में ध्वनिमूलक व्यंजना ही रसबोध कराती है। जब तक ध्वन्यात्मक आशय समझ में नहीं आएगा, रसप्रतीति का प्रश्न ही नहीं उठता।

असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य या रसध्वनि की दृष्टि से भी बिहारीसतसई की सफलता असंदिग्ध है। ध्वनि के जितने प्रौढ़, परिष्कृत और प्राजल उदाहरण बिहारी के काव्य मे हैं हिंदी के किसी अन्य कवि में नहीं हैं। यथार्थ में बिहारी का काव्य मूलतः ध्वनिकाव्य ही है।

(४) नायिकाभेद—बिहारीसतसई के अधिकाश टीकाकारो ने सतसई को नायिकाभेद का ही ग्रंथ ठहराया है। नायिकाओ के वर्गीकृत रूप भी सतसई में स्थिर किए गए हैं और लक्षणग्रंथ के अभाव में भी उसे लक्षणपरक सिद्ध करने की चेष्टा हुई है। इसमें कोई संदेह नहीं कि बिहारी ने नायिकाभेद को समझकर सतसई की रचना की थी, किंतु नायिकाभेद का ग्रंथ सतसई नहीं है।

बिहारी ने नायिकाभेद का अंतरंग रहस्य खूब समझकर अपने दोहों में उसका चित्रण किया। स्वकीया के प्रेम का वर्णन उसके रूप, गुण, शील, स्वभाव आदि के वर्णन में बिहारी ने अद्भुत कौशल का परिचय दिया है। यौवन की उद्दाम प्रवृत्तियों से प्रेरित प्रेमी युवक की चित्तवृत्ति स्वकीया प्रेम में किस प्रकार आबद्ध हो जाती है और लोक परलोक से विमुख होकर कैसे वह विलास-लीला-रत हो जाता है, यह देखना हो तो बिहारी के स्वकीया मुग्धा नायिका के प्रेम का वर्णन पढना चाहिए।

शास्त्र में परकीया नायिका के कन्या और परोढा दो भेद माने गए हैं। बिहारी ने दोनों रूपो का वर्णन किया है। कन्याप्रेम का वर्णन निम्नलिखित दोहे में देखा जा सकता है :

दोऊ चोर मिहीचिनी, खेलुन खेलि अघात।
दुरत हिये लपटाइकै, छुवत हिये लपटात॥

वयक्रम आदि के भेद से ज्येष्ठा, कनिष्ठा, अवस्थाभेद से स्वाधीनपतिका, खंडिता, अभिसारिका आदि आठ भेदों का पूर्ण वर्णन बिहारी ने किया है। दशा (चित्तवृत्ति) भेद से अन्यसंभोगदुःखिता, गर्विता, मानवती का भी वर्णन सतसई में है। नायिका की सहायक सखी, दूती आदि का भी बिहारी ने वर्णन किया है। दूती के व्यापक कार्यक्षेत्र और कठिन कार्य को सामने रखकर बिहारी ने उसका मनोवैज्ञानिक वर्णन करने में अपनी प्रतिभा का परिचय दिया है।

नायिकाभेद के साथ नायक-भेद-वर्णन का भी परंपरा से निर्वाह होता चला आ रहा है, यद्यपि नायक के नायिकाओं की तरह अनेक भेद नहीं किए गए। चार भेदों में ही नायक को सीमित कर दिया गया है। बिहारी ने विरुद्ध, अनुकूल, शठ और धृत नायकों का चित्रण अपने काव्य में किया है।

नायिकाभेद के अंतर्गत नायिकाओं के अलंकार, नखशिख, लीलाविलास ऋतु-वर्णन, बारहमासा आदि का विस्तार से वर्णन किया गया है। शृंगार का आलंबन होने के कारण नायिकाभेद का सविस्तर वर्णन बिहारी के लिये अनिवार्य था।

(५) **भावपक्ष**—बिहारी के काव्य की आत्मा शृंगार है। शृंगार की व्यंजना ध्वनि के माध्यम से हुई है। शृंगारवर्णन के लिये संयोग तथा विप्रलंभ दोनों पक्ष बिहारी ने स्वीकार किए हैं। संयोगपक्ष के चित्रण में बिहारी ने अपनी मौलिक उद्भावनाओं का प्रयोग कर संयोग को आनंद की चरम स्थिति पर पहुँचा दिया है। निम्नांकित उदाहरणों में बिहारी का यह कौशल देखा जा सकता है :

बतरस लालच लाल की, मुरली धरी लुकाय।
सौंह करै, भौंहनि हँसे, दैन कहै, नटि जाय॥
उड़ति गुड़ी लखि लाल की, अँगना अँगना माँह।
तौ लौं दौरी फिरत है, छुवति छबीली छाँह॥
प्रीतम दृग मीचत प्रिया, पानिपरस सुख पाय।
जानि पिछानि अजान लौं, नेक न होत लखाय॥

मार्मिक उक्तिव्यंजक दोहा देखिए :

बाल कहा लाली भई, लोचन कोयन माँह।
लाल तिहारे दृगन की, परी दृगन में छाँह॥

विरहवर्णन में तो ऊहात्मक शैली के आतिशय्य ने बिहारी की विरह-व्यंजनाओं को कहीं कहीं औचित्य की सीमा से बाहर कर दिया है। विरहसंतप्त नायिका की दशा देखिए :

इत आवति चलि जाति उत, चली छ सातक हाथ।
चढ़ी हिंडोरै सी रहै, लगी उसासन साथ॥
सीरैं जतनन सिसिर ऋतु, सहि बिरहिन तन ताप।
बसिबै को ग्रीषम दिनन, परयो परोसिन पाप॥

कहीं कहीं स्वाभाविक रूप से भी विरहताप से कृश नायिका का वर्णन बिहारी ने किया है :

करके मीड़ैं कुसुम लौं, गई बिरह कुम्हिलाय।
सदा समीपिनि सखिन हूँ, नीठि पिछानी जाय॥

बिहारी रीतिपरंपरा का निर्वाह करने का ध्यान रखते थे, अतः परंपरा-स्वीकृत गूढ़ाशय को अंतर्मन में रखकर उसी पृष्ठभूमि पर दोहा रचा गया है। जब तक परंपरा का पूरा बोध न हो, दोहे का अर्थ अवगत नहीं हो सकता :

ढीठि परोसिन ईठ ह्वै, कहै जु गहे समान।
सबै सँदेसे कहि कह्यो, मुसकाहट मैं मान॥

धृष्ट पड़ोसिन के संदेश को नायक तथा पहुँचानेवाली नायिका का मानवर्णन रीतिपरंपरा की शृंखला से अवगत हुए बिना नहीं समझा जा सकता।

बिहारी पर रीतिपरंपरा का इतना गहरा प्रभाव था कि प्रेम की सहज व्यंजना करनेवाले अकृत्रिम भावों को भी उन्होंने ऊहा और अतिशयोक्ति से आवृत कर दिया है। प्रेम का स्वाभाविक रूप ऊहात्मक शैली में सामने नहीं आने पाया।

शृंगार रस के अतिरिक्त अन्य भावों को भी बिहारी ने अपनाया है। यों तो संचारियों तथा सात्विक भावों की दृष्टि से प्रायः सभी के उदाहरण मिल सकते हैं, किंतु यहाँ प्रमुख भावों की ओर ही संकेत करना पर्याप्त होगा।

बिहारी भक्त नहीं थे। भक्तिभाव का उनके जीवन से रसात्मक तादात्म्य रहा हो, इसमें भी संदेह है, किंतु निर्वेद और शम का वर्णन सतसई में इन्होंने किया है। भक्ति को सामान्य रूप में ही बिहारी ने स्वीकार किया है, किसी दार्शनिक मतवाद या साम्प्रदायिक आधार पर ग्रहण नहीं किया। बिहारी जैसे सांसारिक कवि के काव्य को साम्प्रदायिक दृष्टि से किसी मतवाद में बाँधना कवि के साथ अन्याय करना है। बिहारी तत्वज्ञानी या दार्शनिक न होने पर भी तत्वज्ञान की बात कह सकते हैं। उसी तत्वज्ञान में निर्वेद समाया रहता है :

भजन कह्यौ ताते भज्यो, भज्यो न एकहु बार।
दूरि भजन जाते कह्यो, सो तैं भज्यो गँवार॥

वैराग्य भावना का द्योतक, स्त्री रूप के आकर्षण से दूर हटानेवाला बिहारी का प्रसिद्ध दोहा है :

या भव पारावार को, उलँघि पार को जाय ।
तिय छबि छाया ग्राहिनी, गहै बीच ही आय ॥

भगवन्नामस्मरण के लिये सुंदर उक्ति देखिए :

दीरघ साँस न लेहि दुख, सुख साईं नहिं भूलि ।
दई दई क्यों करत है, दई दई सु कबूलि ॥

दैन्यवर्णन देखिए :

हरि कीजति तुमसों यहै, बिनती बार हजार ।
जेहि तेहि भाँति डर्‌यौ रह्यौ पर्‌यौ रहौं दरबार ।

बिहारी की अन्योक्तियों और सूक्तियों में जीवन के अनुभूत सत्यों का बड़ी सजीव भाषा में वर्णन हुआ है। कवि ने अन्योक्ति के व्याज से एक ओर कृपण, मूर्ख, अविवेकी, स्वार्थी, कपटी, दंभी व्यक्तियों को प्रबोधा है तो दूसरी ओर विद्वान्, धैर्यशाली, चतुर, प्रेमी, दुर्भाग्यपीड़ित व्यक्तियों को समझाकर शांत रहने का उपदेश दिया है। बिहारी की अन्योक्तियाँ हिंदी साहित्य में सबसे अधिक टकसाली रही हैं। उनकी मार्मिकता काव्यत्व के कारण बढ़ गई है, वे भावव्यंजक होने के साथ गहरा प्रभाव उत्पन्न करने में समर्थ हैं।

(६) **अलंकारयोजना**—बिहारीसतसई के संबंध में प्रारंभ में यह भ्रम टीकाकारों द्वारा उत्पन्न किया गया कि सतसई अलंकारनिरूपक रीतिग्रंथ है। प्रत्येक दोहे की टीका में अलंकार का विवेचन किया गया। यथार्थ में बिहारी अलंकारवादी नहीं थे किंतु उन्होंने स्वच्छंद रूप में (रीतिबद्ध ग्रंथ रूप में नहीं) अलंकारों का पर्याप्त प्रयोग किया है। उनके प्रत्येक दोहे में उक्तिवैचित्र्य के चमत्कार के साथ अलंकार की सुंदर योजना हुई है। चमत्कारविधान के लिये कहीं अलंकार का सहारा लिया गया है तो कहीं अलंकार को ही चमत्कार के भीतर समाविष्ट कर लिया गया है। कहीं कहीं एक ही दोहे में अलंकारों की संसृष्टि और संकर ने सौंदर्यविधान करने में अनुपम निपुणता का परिचय दिया है। असंगति और विरोधाभास की उक्ति देखिए :

दृग उरझत टूटत कुटुँब, जुरत चतुर चित प्रीति ।
परति गाँठि दुरजन हिए, दई नई यह रीति ॥

समासोक्ति अलंकार के उदाहरण द्रष्टव्य हैं :

सरस कुसुम मँडरातु अलि, न झुकि झपटि लपटातु ।
दरसत अति सुकुमार तनु, परसत मन पत्यातु ॥

कोमलांगी नायिका पर आसक्त किसी नायक की यह व्यंजना भ्रमर के माध्यम से अर्थप्रतीति कराने में समर्थ है।

सादृश्यमूलक अलंकारों में उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक आदि का प्रयोग अत्यधिक है। रूपक बिहारी का प्रिय अलंकार है :

अरुण सरोरुह कर चरण, दग खंजन मुख चंद ।
समय पाय सुंदरि सरद, काहि न करत अनंद ॥

अपह्नुति—

जोन्ह नहीं यह तमु वहै, किए जु जगत निकेतु ।
उदै होत ससि कै भयो, मानहुँ ससहरि सेतु ॥

बिहारी ने लक्ष्य द्वारा ही अलंकार का स्वरूप स्पष्ट किया है, किंतु इतने सुंदर और सटीक उदाहरण कम ही मिलते हैं।

(७) सूक्ति काव्य—बिहारी के काव्य में सूक्तियों को भी स्थान मिला है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल सूक्ति को विशुद्ध काव्य से पृथक् मानते हैं। सूक्तियों में वर्णन-वैचित्र्य या शब्दवैचित्र्य ही नहीं हैं, उनमें काव्य के सभी आवश्यक उपादान हैं और इसी कारण उनका मार्मिक प्रभाव भी होता है। बिहारी की सूक्तियों को हम धार्मिक (वैराग्यपरक), आर्थिक, लौकिक (लोक-व्यवहार-परक), शृंगारिक (काम-परक) और प्रशस्तिपरक, इन पाँच भागों मे विभक्त कर सकते हैं।

बिहारी शृंगारी कवि थे। उनकी कविता की मूल प्रवृत्ति शृंगारी मुक्तक परंपरा के आदर्श पर प्रकृत प्रेम के चित्र अंकित करना था। किंतु मुक्तक काव्य के क्षेत्र में आनेवाले सभी विषयो पर उन्होंने आनुषंगिक रूप से रचना की है। बिहारी ने मुक्तक काव्य की परंपरा को सर्वतोभावेन ग्रहण किया था। अतः उसका पूर्ण प्रतिनिधित्व करने के लिये सूक्ति काव्य को भी स्वीकार किया। मुक्तक काव्य में रसात्मक मुक्तक के साथ धर्म, नीति, अर्थ, काम, प्रशस्ति आदि की जो परंपरा चल रही थी, बिहारी ने उसकी उपेक्षा नहीं की। धार्मिक सूक्तियो में वैराग्य तथा ईश्वरभक्ति के उपदेश की प्रधानता है। आर्थिक सूक्तियो में संपत्ति के चंचल स्वरूप का बोध है तथा कृपण और स्वार्थी धनलोलुप व्यक्तियों के स्वभाव की झाँकी भी मिलती है। लोकव्यवहार को दृष्टि में रखकर बिहारी ने जो सूक्तियाँ लिखी हैं, उनका आधार अनुभव है जो सभी दृष्टियों से आदर्श है। सूक्तियों में तथ्योक्तियाँ भी हैं और अन्योक्तियाँ भी। बिहारी की प्रशस्तिपरक सूक्तियों में अधिक निखार नहीं है। कदाचित् कवि का हृदय इनमें रम नहीं पाया। जयसिंह की प्रशस्तियों में वस्तु-वर्णन मात्र है, काव्यत्व नहीं। दंभ और ढोंग के प्रति बिहारी ने कोमल वाणी में अनास्था व्यक्त की है। यह धार्मिक सूक्ति के अंतर्गत है :

जपमाला छापा तिलक, सरै न एकौ काम ।
मन काँचै नाचै वृथा, साँचे राँचै राम ॥

आर्थिक सूक्ति—

> कनक कनक ते सौगुनी, मादकता अधिकाय।
> बहि खाए बौराय जग, इहि पाएहि बौराय॥

लौकिक—

> नर की अरु नल नीर की, गति एकै करि जोय।
> जेतो नीचो ह्वै चलै, तेतो ऊँचो होय॥
> मरन प्यास पिंजरा परयो, सुआ समै के फेर।
> आदर दै दै बोलियत, बायस बलि की बेर॥

(८) बिहारी की भाषा—बिहारी ने रमणीय अर्थ की अभिव्यक्ति के लिये उपयुक्त भाषा का प्रयोग करके रीतिकालीन कवियों में भाषा विषयक व्यवस्था का सूत्रपात किया था। उनसे पहले किसी कवि की भाषा में ऐसा परिमार्जन दृष्टिगत नहीं होता। कारण यह है कि पहले के कवि एक ही शब्द को एक ही विभक्ति में अनेक रूपों में लिखने में कोई दोष नहीं मानते थे। अंत्यानुप्रास के लिये शब्द को यथारुचि ह्रस्व या दीर्घ कर लेना तो जैसे विधेय मान लिया गया था। बिहारी ने सबसे पहले शब्दों की एकरूपता और प्रांजलता पर ध्यान दिया। इसके फलस्वरूप परवर्ती कवियों की भाषा में परिष्कार का मार्ग प्रशस्त हो सका।

बिहारीसतसई की भाषा ब्रज है। ब्रजभाषा का काव्यक्षेत्र बहुत विस्तृत रहा है। ब्रज प्रदेश के अतिरिक्त राजपूताना, बुंदेलखंड, अवध, मध्यभारत, बिहार, गुजरात और महाराष्ट्र तक इस भाषा का काव्यभाषा के रूप में प्रचार था। ब्रजभाषा में पांडित्य प्राप्त करने के लिये ब्रज में निवास आवश्यक नहीं था। बिहारी का जन्म ग्वालियर में हुआ, अतः बुंदेलखंडी भाषा के जन्मजात संस्कार उनके पास थे। यौवन मथुरा में व्यतीत हुआ। फलतः ब्रजभाषा से साक्षात् संबंध होने के कारण उनका ध्यान काव्यरचना करते समय भाषा की मूल प्रकृति की ओर बना रहा और उन त्रुटियों से वे बचे रहे जो अवध या बुंदेलखंड के कवि प्रायः करते थे। शुद्ध ब्रजभाषा का प्रयोग करनेवाले बहुत कम कवि हुए हैं। बिहारी की भाषा को हम अपेक्षाकृत शुद्ध ब्रजभाषा कह सकते हैं—साहित्यिक ब्रजभाषा का रूप इनकी ही भाषा में सबसे पहले इतने निखार को प्राप्त हुआ। इनके बाद घनानंद और पद्माकर ने उसे और अधिक परिष्कृत किया। बिहारी की भाषा में बुंदेलखंडी और पूर्वी का प्रभाव है, घनानंद पूर्वी प्रभाव से मुक्त हैं। बिहारी ने पूर्वी के प्रयोग कहीं तुक के आग्रह से और कहीं प्रयोगबाहुल्य के कारण स्वीकार किए हैं। किंतु बुंदेली के प्रयोग तो सहज रूप में शैशव के अभ्यास के कारण आए हैं। संग या साथ के लिये 'स्यौं', लखबी, करबी, पायबी, आदि ऐसे ही शब्द हैं।

बिहारी की भाषा के शब्दकोश का आनुपातिक विवरण तैयार किया जाय तो सबसे अधिक संख्या संस्कृत के तत्सम परिनिष्ठित शब्दों की होगी। बिहारी समास-पद्धति में संस्कृत पदावली के कारण ही सफल हुए हैं। संस्कृत के अतिरिक्त अरबी फारसी के इजाफा, ताफता, बिलनबी, कुतुबनुमा, रोज इत्यादि शब्दों का प्रयोग भी मिलता है।

बिहारी ने भाषा को प्रवाहपूर्ण तथा प्रेषणीय बनाने के लिये लोकोक्ति एवं मुहावरों का भी प्रयोग किया है। एक ही दोहे में मुहावरों की बंदिश देखिए :

> मूड़ चढ़ाए ऊ रहैं, पर्यो पीठि कचभार।
> रहैं गरे परि, राखियै तऊ हियै पर हार॥

चलते हुए मुहावरो का प्रयोग द्रष्टव्य है :

> खरी पातरी कान की, कौन बहाऊ बानि।
> आक कलीन रली करै, अली अली जिय जानि॥
> कहि पठई मनभावती, पिय आवन की बात।
> फूली आंगन मे फिरै, आंगु न आगु समात॥

भाषा की रमणीयता का बिहारी ने अत्यधिक ध्यान रखा है। माधुर्य गुण के अनुरूप वृत्तियों का विन्यास, शब्दों का चयन, अनुप्रास का विधान बिहारीसतसई की विशेषता है। शब्दों की विकृति से भी बिहारी ने अर्थ की रमणीयता पर आघात नहीं आने दिया है। शब्दसौंदर्य अपनी सीमाओं में रहता हुआ अर्थसौंदर्य को दीप्त करे तभी प्रयोग की सफलता समझी जाती है। एक दोहा देखिए :

> रनित भृंग घंटावली, झरित दान मद नीर।
> मंद मंद आवत चल्यौ, कुंजर कुंज समीर॥

वायु के संचरित होने की ध्वनि कुंजर के आगमन के समान प्रतीत हो रही है। दूसरा उदाहरण है :

> रस सिंगार मंजन किए, कंजनु भंजनु दैन।
> अंजन रंजन हूँ बिना, खंजन गंजन नैन॥

माधुर्य की प्रतीति प्रत्येक शब्द से पृथक् पृथक् भी होती है और समूचे अर्थ में भी रमणीयता भरी हुई है। वर्णों का यथोचित प्रयोग करने में बिहारी सिद्धहस्त हैं :

> झीने पट में झिलमिली, झलकति ओप अपार।
> सुरतरु की मनु सिंधु में, लसति सपल्लव डार॥

भाषा के प्रसाधन के लिये यमक, अनुप्रास, वीप्सा आदि शब्दालंकारों का कविगण प्रयोग करते हैं। शब्दालंकार केवल शब्दों के चमत्कार के लिये ही नहीं,

अर्थ की रमणीयता के लिये भी होते हैं, यह बिहारी के काव्य से विदित होता है। पद्माकर आदि ने तो अनुप्रास के मोह में पड़कर काव्यहानि तक कर ली है, किंतु बिहारी इस दोष से सर्वथा दूर हैं। अनुप्रास का उदाहरण देखिए :

नभलाली चाली निसा, चटकाली धुनि कीन।
रति पाली आली अनत, आए बनमाली न।

अनुप्रास के लिये एक साथ छह शब्दों का आडंबर होने पर भी नायिका की बिरहवेदना की विवृति में कोई बाधा नहीं पहुँचती। यमक का उदाहरण देखिए :

तोपर वारौं उरबसी, सुनि राधिके सुजान।
तू मोहन के उर बसी, ह्वै उरबसी समान॥

आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने बिहारी की भाषा पर टिप्पणी करते हुए लिखा है : 'बिहारी की भाषा चलती होने पर भी साहित्यिक है। वाक्यरचना व्यवस्थित है और रूपों का व्यवहार एक निश्चित प्रणाली पर है। यह बात बहुत कम कवियों में पाई जाती है। ब्रजभाषा के कवियों में शब्दों को तोड़ मरोड़कर विकृत करने की आदत बहुतों में पाई जाती है। बिहारी की भाषा इस दोष से बहुत कुछ मुक्त है।'

बिहारी ने शब्दों को तोड़ा मरोड़ा अवश्य है, किंतु छंदोनुरोध से या ब्रजभाषा की सहज प्रकृति के अनुरोध से ऐसा किया है। 'स्मर' के लिये 'समर', 'ज्यों ज्यो' के लिये 'जज्यौ' और 'त्यों त्यो' के लिये 'तत्यौं', 'कै कै' स्थान पर 'क कै' आदि प्रयोग मिलते हैं जो उचित नहीं हैं किंतु सात सौ दोहों में दस पांच शब्दो के कारण भाषा पर दोषारोपण ठीक नहीं है।

बिहारी ने समास पद्धति स्वीकार करके ब्रजभाषा को जैसा परिष्कृत रूप दिया वह व्याकरण की दृष्टि से सुगठित है। मुहावरों का प्रयोग प्रेषणीय और समर्थ पदावली के समन्वय से शोभन बन पड़ा है। भाषा पर सच्चा अधिकार रखनेवाला कवि ही ऐसी प्रौढ़, प्रांजल भाषा का प्रयोग कर सकता है।

(६) मूल्यांकन—बिहारी के जीवनवृत्त, काव्य और कृतित्व पर दृष्टिपात करने से यह स्पष्ट लक्षित होता है कि बिहारी नागरिकता और नागरिक जीवन के प्रबल समर्थक थे। उनके काव्य में आद्योपांत नागरिक भावनाओं, कामनाओं और लालसाओं का वर्णन है। उनकी मान्यता थी कि गुणों का विकास सदा नागरिकों में ही होता है। अपनी अन्योक्तियों में इस बात का उन्होंने विविध रूपों में संकेत किया है। इसका कारण यह है कि उनका अधिकाश जीवन राजा महाराजाओं के निकट संपर्क में व्यतीत हुआ था। वे चाहते थे कि समाज में असंस्कृत या ग्राम्य जीवन न रहे। उन्होंने बार बार कहा है कि अपने वर्ग में ही रहना चाहिए और अपने वर्ग का अभ्युत्थान करना चाहिए। कुसंग का ज्वर भयानक होता है, अतः उससे बचना ही

चाहिए। संपत्तिशाली व्यक्ति यदि कृपण हो तो वह नागरिकता से शून्य है और उससे संबंध न रखना ही ठीक है।

बिहारी ने अपनी जातीयता का परिचय सतसई में दिया है। राजा जयसिंह का मुगलों के साथ रहना बिहारी को कभी अच्छा नहीं लगता था। उन्होंने अन्योक्ति के माध्यम से जयसिंह को सचेत भी किया था। यही कारण है कि जयसिंह की प्रशस्ति लिखने में उन्होंने अत्युक्ति से काम नहीं लिया। मुगलों के प्रति पक्षपात रखने से ही बिहारी अंतिम दिनों में उन्हें छोड़कर चले आए थे।

सतसईरचना में बिहारी का उद्देश्य कविशिक्षक बनना नहीं था। शृंगार-भावना को काव्य के चरमोत्कर्ष पर पहुँचाने की अभिलाषा से उन्होंने सतसई का प्रणयन किया और उसमें सफलता पाई। शास्त्रीय परंपरा और शृंगार-मुक्तक-परंपरा का सुंदर समन्वय सतसई में हुआ है। व्यंग्य, लाक्षणिक वक्रता, अलंकार, नायिकाभेद, नखशिख, षट्-ऋतु-वर्णन आदि सभी विषयों को स्वतंत्र रूप से बिहारी ने सतसई में स्थान दिया, किंतु लक्षणग्रंथ लिखने के पचड़े में वे नहीं पड़े। लक्ष्य-ग्रंथ के रूप में सतसई का निर्माण किया किंतु उसका प्रचार लक्षणग्रंथों एवं पाठ्य ग्रंथों से कहीं अधिक हुआ। टीकाकारों ने तो बिहारी को शृंगार का अधिष्ठाता ही बना दिया है।

सतसई लिखने की परंपरा को हिंदी में बिहारी ने बद्धमूल किया। रसिक और कविगण सतसई को आराध्य ग्रंथ मानकर इसका अनुसरण और अनुकरण करने लगे। कुछ कवियों ने तो बिहारी के भाव और भाषा तक पर हाथ साफ किया और कविकीर्ति प्राप्त करनी चाही। मुक्तक रचना में जितनी विशेषताएँ संभाव्य हैं, वे सब बिहारीसतसई में उपलब्ध होती हैं। यही कारण है कि बिहारी के आगे किसी अन्य कवि का मुक्तक काव्य जँचता नहीं। हिंदी मुक्तकरचना में बिहारी का समासकौशल मूर्धन्य है।

रीतिबद्ध काव्यकवियों को शास्त्रकवियों की समता में संमान दिलाने का कार्य बिहारी ने अपनी सतसई द्वारा किया। रीतिकाल में लक्षणग्रंथ रचने की परंपरा को छोड़कर स्वतंत्र मुक्तक द्वारा शास्त्रबोध कराने का मार्ग बिहारी ने ही उन्मुक्त किया।

हिंदी रीतिपरंपरा में बिहारी ध्वनि संप्रदाय के समर्थकों में प्रमुख हैं। तुलसी के रामचरितमानस के बाद सतसई अपनी रसात्मकता, कलात्मकता, लाक्षणिकता और वचनविदग्धता के कारण रसिकों का सबसे अधिक ध्यान आकृष्ट करने में समर्थ हुई। बिहारी अपने युग में रीतिशृंगार के क्षेत्र में युगप्रवर्तक के रूप में अवतरित हुए थे। बिहारी ने ध्वनिकाव्य को स्वीकार कर रस और अलंकार का पूर्ण निर्वाह करते हुए शृंगार को प्रत्येक परिष्कृत भूमि पर अवस्थित किया और रीतिबद्ध काव्यकवियों को आचार्यों के सामने गौरवपूर्ण स्थान दिलाया।

बिहारी के काव्य पर चाहे ध्वनिकाव्य की दृष्टि से विचार करें, चाहे रस-परिपाक की दृष्टि से, चाहे बिहारी की अलंकारयोजना को लें, चाहे नायिकाभेद या नखशिख पर दृष्टिपात करें अथवा अन्योक्ति और सूक्ति का अवगाहन करें, बिहारी का काव्य सभी दृष्टियों से अनुपम प्रतीत होता है। बिहारी प्रतिभाशाली कवि थे, परंतु उन्होंने काव्याभ्यास के बाद ही कविता रचने की ओर ध्यान दिया था। इसीलिये उनके काव्य में शक्ति और निपुणता का चरम विकास संभव हुआ।

२. बेनी

बेनी नाम से हिंदी साहित्य के इतिहास ग्रंथों में तीन कवियों का उल्लेख मिलता है। शिवसिंहसरोज में रायबरेली जिले के बेंती गाँव के निवासी बेनी बंदीजन का तथा लखनऊ निवासी बेनी प्रवीन का जन्मसंवत् क्रमशः १८४४ तथा १८७६ लिखा है। बेंती गाँव निवासी बेनी बंदीजन का टिकैतरायप्रकाश अलंकार ग्रंथ बताया जाता है। रसविलास ग्रंथ भी इन्हीं का है। इसमें रसनिरूपण किया गया है। हास्य रस के भँड़ौवों के कारण इनकी पर्याप्त प्रसिद्धि है। बेनी प्रवीन भी लक्षणकार रीति-बद्ध कवि थे। शृंगारभूषण और नवरसतरंग के अतिरिक्त नानारावप्रकाश नामक विशाल अलंकार ग्रंथ भी आपका ही बनाया हुआ है। अतः बेनी नामक इन दोनों कवियों का इस प्रसंग में वर्णन नहीं किया जायगा।

बेनी कवि असनी के बंदीजन थे और संवत् १७०० के आसपास विद्यमान थे। बेनी रचित कोई ग्रंथ उपलब्ध नहीं है। कुछ फुटकर कवित्त सवैए मिलते हैं जिनके आधार पर यह अनुमान होता है कि इन्होने नखशिख और षट्ऋतु विषयक शृंगारकाव्य लिखा होगा। इनकी रुचि अनुप्रासमयी, ललित एवं प्रवाहपूर्ण भाषा लिखने की ओर थी। कुछ विद्वानो ने असनी के बेनी कवि को ही हास्यरसवाला ठहराया है, किंतु दोनो की काव्यप्रवृत्तियो की छानबीन से विदित होता है कि असनीवाले बेनी कवि, जिनका हम विवरण प्रस्तुत कर रहे हैं, हास्य रस के भँड़ौवा लिखनेवाले बेंती के बेनी कवि से भिन्न हैं। हास्य रस की कविता के अध्ययन से भी विदित होता है कि यह अपेक्षाकृत परवर्ती काल की है। अतः असनी के बेनी बंदीजन को शुद्ध शृंगार का कवि ही मानना उचित है। इनकी शृंगारमयी सरस कविता के दो उदाहरण नीचे दिए जाते हैं :

> **कवि बेनी नई उनई है घटा, मोरवा बन बोलत कूकन री।**
> **छहरै बिजुरी छितिमंडल छ्वै, लहरै मन मैन भभूकन री॥**
> **पहिरी चुनरी चुनिकै दुलही, सँग लाल के भूलहु भूलन री।**
> **ऋतु पावस यों ही बितावति हौ, मरिहौ, फिर बावरि! हूकन री॥**

> छहरै सिर पै छबि मोरपखा उनकी नथ के मुकुता थहरैं ।
> फहरै पियरो पट बेनी इतै, उनकी चुनरी के झंबा झहरैं ।
> रस रंग भिरे अभिरे हैं तमाल दोऊ, रस ख्याल चहैं लहरैं ।
> नित ऐसे सनेह सों राधिका स्याम हमारे हिए में सदा बिहरैं ।

हिंदी के कुछ इतिहास ग्रंथों में बेनी कवि की कविता का उदाहरण देते समय तीनों बेनी कवियों के पद मिले जुले लिख दिए गए हैं। इससे यह निर्णय करना कठिन हो गया है कि कौन सा पद किस बेनी का है।

१. कृष्ण कवि

कृष्ण कवि के जीवनवृत्त के संबंध में विशेष ज्ञात न होने पर भी बिहारी सतसई के प्रथम कवि टीकाकार के रूप में इनकी पर्याप्त ख्याति है। इनके विषय में प्रसिद्ध है कि ये बिहारी के आश्रयदाता राजा जयसिंह के मंत्री राजा आयामल्ल के आश्रित थे और उन्हीं के आग्रह से इन्होंने सतसई पर टीका लिखी थी। इस टीका में राजा जयसिंह का उल्लेख वर्तमानकालिक क्रिया में हुआ है अतः यह निश्चित है कि राजा जयसिंह के जीवनकाल में इस टीका का निर्माण हुआ। श्री जगन्नाथदास रत्नाकर ने कृष्ण कवि को बिहारीलाल का पुत्र माना है। कृष्ण कवि बिहारीलाल के पुत्र थे या नहीं, इस विषय में विद्वानों में एकमत्य नहीं है। स्वयं कृष्ण कवि ने इस बात का अपनी टीका में उल्लेख नहीं किया है। साधारणतः यह बात समझ में आती है कि यदि बिहारी उनके पिता होते तो कृष्ण कवि इस तथ्य का कहीं न कहीं संकेत अवश्य करते।

कृष्ण कवि का कविताकाल तो सतसई की टीका और उनके विदुरप्रजागर ग्रंथ में दिए हुए रचनाकाल संवत् १७९२ से स्पष्ट है। जन्मसंवत् की कल्पना कविता काल के आधार पर संवत् १७७० के आसपास की जा सकती है।

इनका लिखा हुआ कोई रीतिबद्ध लक्षणग्रंथ नहीं मिलता, किंतु रीतिबद्ध काव्यरचना का प्रमाण इनकी सतसई की टीका है जिसमें सरस कवित्त सवैयों की अनुपम छटा इनके कविरूप का परिचय देती है। काव्य के समस्त रमणीय उपादानों से युक्त जो सुंदर कवित्त सवैए बिहारी के दोहों पर आपने लिखे हैं वे इस बात के प्रमाण हैं कि इनमें स्वतंत्र काव्यरचना की पूर्ण क्षमता विद्यमान थी। यह ठीक है कि भाव की दृष्टि से टीकापरक कविता में मौलिकता नहीं आ सकती किंतु दोहों को काव्यभूमि पर विस्तृत रूप से उपन्यस्त करने की कला में कृष्ण कवि ने अद्भुत कौशल का प्रमाण दिया है।

काव्यांगनिरूपक ग्रंथ न मिलने पर भी कृष्ण कवि को रस, ध्वनि, अलंकार, नायिकाभेद आदि के विषय में जो कुछ कहना था वह उन्होंने अपने कवित्त सवैयों

द्वारा कह दिया है। दोहों का पल्लवन सुरुचिपूर्ण एवं प्रभावोत्पादक व्यंजना शक्ति द्वारा हुआ है। बिहारीसतसई को पूर्णता के साथ हृदयंगम करके टीका लिखनेवाला दूसरा कवि हिंदी में नहीं है। इनकी कविता के कतिपय सरस उदाहरण नीचे प्रस्तुत किए जाते हैं :

सीस मुकुट, कटि काछनी, कर मुरली, उर माल।
यहि बानिक मो मन बसो सदा बिहारीलाल ॥

इस दोहे पर कृष्ण कवि का टीकापरक सवैया द्रष्टव्य है :

छबि सो फबि सीस किरीट बन्यो रुचि साल हिए बनमाल लसै।
कर कंजहि मंजु रली मुरली, कछनी कटि चारु प्रभा बरसै ॥
कवि कृष्ण कहै लखि सुंदर मूरति यों अभिलाष हियै सरसै।
वह नंदकिशोर बिहारी सदा यहि बानिक मो हिय माँझि बसै ॥

दोहा—

बतरस लालच लाल की मुरली धरी लुकाय।
सौंह करै, भौंहनि हँसै, दैन कहै, नटि जाय ॥

सवैया—

आज लखी वृषभानु लली मनमोहन सों रसखेल ठरी है।
बातन कैं चसकैं सु रली मुरली हरि कै दुबकाय धरी है।
ज्यों ज्यों हहा करि माँगैं लला वह त्यों त्यों कछू अठिलात खरी है।
दैन कहै, मुकरै, हँसि भौंहनि, सौंह करै रसभाय भरी है।

दोहा—

लिखन बैठि जाकी सबिहि गहि गहि गरब गरूर।
भए न केते जगत के, चतुर चितेरे कूर ॥

कवित्त—

रूप की अवधि ऐसी और न बनाई बिधि,
जाको लिखिबे को लाल देवता मनायबो।
ताकी सोभा लिखिबे को बैठति गरब करि,
जनत ही मन होत घूम घन नायबो।
ऐसी भाँति आप आप कूर कहवाय गए,
चतुर चितेरे तिन्है कहाँ लौं गिनायबो।
कृष्ण प्राण प्यारे वहि चित्रिनी विचित्र गति,
काहू पै न बन्यौ वाके चित्र को बनायबो ॥

४. रसनिधि

ये दतिया राज्य के बरौनी इलाके के एक संपन्न जमींदार थे। आपका नाम पृथ्वीसिंह था, कविता का नाम 'रसनिधि' था। इनका रचनाकाल संवत् १६६० से १७६७ तक है। इनकी विशेष प्रसिद्धि का कारण इनका रतनहजारा ग्रंथ है जो बिहारीसतसई की पद्धति पर लिखा गया है। ग्रंथ के वर्ण्य विषय और अभिव्यंजना शैली पर बिहारी की शृंगारभावना का गहरा प्रभाव लक्षित होता है। इनके दोहों का एक संग्रह छत्रपुर के श्री जगन्नाथप्रसाद ने प्रकाशित किया है। रतनहजारा के अतिरिक्त इनके विष्णुपदकीर्तन, कवित्त, बारहमासी, रसनिधिसागर, गीतिसंग्रह, अरिल्ल, हिंडोला आदि ग्रंथ भी खोज में प्राप्त हुए हैं।

रसनिधि प्रेमी स्वभाव के रसिक कवि थे। शृंगारवर्णन ही इनका मुख्य विषय था। इन्होंने रीतिबद्ध लक्षणग्रंथ न लिखकर फारसी शायरी की शैली पर इश्क की विविध भावनाओं और चेष्टाओं का विस्तार किया है। मौलिक प्रतिभा का अभाव होने पर भी शृंगारी कविता के लिये इनके मन मे पर्याप्त उत्साह या और शृंगारी कवि को जिस मस्ती और मन की तरंग की आवश्यकता होती है वह आपके पास प्रचुर मात्रा में थी। फारसी का प्रभाव भाव के क्षेत्र में जहाँ इनका सहायक हुआ, वहाँ भाषा के क्षेत्र में कुछ घातक भी सिद्ध हुआ। कहीं कहीं शब्दों का ऐसा असंतुलित प्रयोग आपने किया है कि वह सुरुचि और साहित्यिक सौष्ठव की दृष्टि से युक्तिसंगत नहीं प्रतीत होता। नीचे के दोनों दोहों में यह तथ्य स्पष्ट देखा जा सकता है :

> **जिहि मग दौ रत निरदई, तेथे नैन कजाक।**
> **तिहि मग फिरत सनेहिया, किए गरेबाँ चाक।**
> **लेहु न मजनू गोर ढिग, कोऊ लैला नाम।**
> **दरदवंत को नेकु तो, लेन देहु बिसराम॥**

प्रेम की सरस उक्तियों में रसनिधि को अच्छी सफलता मिली है। प्रेम के बाह्य रूप को काव्य की प्रचलित प्रणाली में प्रस्तुत करते हुए रसनिधि बिहारी का ही अनुकरण करते हैं :

> **कजरारे दृग की घटा जब उनवै जिहि ओर।**
> **बरसि सिरावै पुहुमि उर, रूप झलान झकोर॥**
> **सरस रूप को भार पल सहि न सकै सुकुमार।**
> **याही ते ये पलक जनु झुकि आवै हर बार॥**
> **नागर सागर रूप को जोबन लहर तरंग।**
> **सकत न तर छबि भँवर पर मन बूड़त सब अंग॥**

५. नृपशंभु

सितारागढ़वाले राजा शंभुनाथसिंह सोलंकी का ही साहित्यिक नाम नृपशंभु है। ये संवत् १७३८ में उत्पन्न हुए थे। शिवसिंहसरोज में इनके विषय में लिखा है कि—'ये महाराज कविकोविदों के कल्पवृक्ष महान् कवि हो गए हैं। शृंगार में इनकी कविता निराली है। नायिकाभेद इनका सर्वोपरि ग्रंथ है। ये महाराज मतिराम त्रिपाठी के बड़े मित्र थे।'

इनकी कविता में बाह्य वस्तुवर्णन पर अधिक बल रहता है। हृदयस्पर्शी मार्मिक अनुभूतियों एवं मर्मछवियों के अंकन की इनमें अपेक्षाकृत न्यून क्षमता थी। सादृश्यविधान के लिये इन्होंने जहाँ कहीं उपमा, उत्प्रेक्षा आदि का सहारा लिया है वहाँ भी स्थूल एवं प्रत्यक्ष गोचर वस्तु को ही ग्रहण कर बिंबविधान खड़ा किया है। अमूर्त विधान द्वारा भावयोजना की ओर इनका ध्यान ही नहीं जाता। इनका लिखा हुआ एक नखशिख ग्रंथ श्री जगन्नाथदास रत्नाकर ने हस्तलिखित प्राचीन प्रति से शोधकर प्रकाशित कराया है। अंगों के सौंदर्यवर्णन में परंपरामुक्त उपमानों की लड़ी लगाकर ही ये अपने कर्तव्य की इतिश्री समझ लेते हैं, अंगों के सौंदर्य के प्रति उत्पन्न किसी अनुभूति को चित्रित नहीं करते। नायिका का वर्णन करते हुए लिखते हैं :

> कौहर कौल जपादल बिद्रुम का इतनी जु बधूक में कोति है।
> रोचन रोरि रची मेहँदी नृपसंभु कहै मुकता सम पोति है।
> पायँ धरै ढरै इंगुर सी तिनमें मनो पायल की धनी जोति है।
> हाथ द्वै तीन लौं चारि द्वै और सों चाँदनी चूनरी के रंग होति है।

नायिका की नाभि का वर्णन इन्होंने प्राचीन परंपरा से कुछ हटकर किया है और प्रायः रटे पिटे उपमानो को बचाकर नूतन चित्र प्रस्तुत किया है। उरोजों को मदिरा की शीशी और नाभि को मदिरा का प्याला कहना अवश्य तत्कालीन समाज से गृहीत नूतन उपमान हैं। कामदेव के मदिरापान करने के निमित्त नाभि का प्याला बनाकर कवि ने अपनी उद्भावना शक्ति का परिचय दिया है :

> रूप को कूप बखानत है कवि कोऊ तलाव सुधा ही के संग को।
> कोऊ सुकुंद मोहारि कहै इहका कल्पद्रुम भाषत अंग को।
> बारहि बार बिचार किया नृपसंभु भया मत मों मति दंग को।
> सीसी उरोजनि ते मदधार समावती नाभी न प्याला अनंग को॥

नृपशंभु की कविता में अलंकारनियोजना की परिपाटी ठीक वैसी है जैसी देव, मतिराम, पद्माकर आदि रीतिकालीन प्रमुख कवियों की थी। अलंकारप्रियता इनके प्रत्येक पद से स्पष्ट परिलक्षित होती है। एक ही पद में अनेक अलंकारों की संसृष्टि या

संकर उपस्थित करके इन्होंने रीतिकालीन कवियों की प्रसाधनरुचि का अच्छा परिचय दिया है। बेणीवर्णन की एक कविता हमारे इस कथन का प्रमाण है :

> काहू कह्यौ मार काहू कह्यौ अंधकार अरु,
> काहू धूम धार काहू जे सेवार संक को।
> काहू अलिहार कह्यौ काहू चौरवार कह्यौ,
> काहू कह्यौ सुचि रुचि मृग मद पंक को॥
> राधे जू की बेनी नृपशंभु मुख देनी थकी,
> गिरामति पैनी सब उपमानि रंक को।
> भरयौ सुधाभार भख्यौ लगी ही न बार,
> मनो ससि पीठि पार धार कढ़त कलंक को॥

नृपशंभु का कविताकाल रीतिबद्ध कवियों के उत्कर्ष का काल है। संभव है नृपशंभु ने भी कोई लक्षणग्रंथ लिखा हो, क्योंकि जिस कोटि की इनकी कविता मिलती है, उसमें अलंकार और रस के विशेष वर्णन की रुचि लक्षित होती है। किंतु अभी तक नखशिख तथा फुटकर पदों के अतिरिक्त इनका कोई लक्षणग्रंथ नहीं उपलब्ध हुआ। उपलब्ध कवित्त सवैयों से इनकी प्रौढ़ कवित्वशक्ति का परिचय मिलता है।

६. नेवाज

हिंदी साहित्य के इतिहास ग्रंथों में नेवाज नाम से तीन कवियों का उल्लेख मिलता है। जिनका हम वर्णन प्रस्तुत कर रहे हैं वे अंतर्वेद के रहनेवाले ब्राह्मण थे और संवत् १७३७ के लगभग वर्तमान थे। शिवसिंहसरोज में संवत् १७३६ जन्मसंवत् लिखा है जो अशुद्ध है क्योंकि इनका लिखा हुआ शकुंतला नाटक संवत् १७३७ का है। इतना तो निश्चित है कि ये पन्नानरेश महाराज छत्रसाल के यहाँ दरबारी कवि के रूप में रहे। अतः सं० १७१० से पहले ही इनका जन्म हुआ। छत्रसाल के यहाँ रहने के संबंध में एक दोहा प्रसिद्ध है जो किसी भगवत् कवि का लिखा हुआ है, जिसके स्थान पर नेवाज को छत्रसाल के दरबार में प्रवेश मिला था :

> तुम्हें न ऐसी चाहिए, छत्रसाल महराज।
> जहँ भगवत गीता पढ़ी, तहँ कवि पढ़त नेवाज॥

इस दोहे के प्रथम चरण का पाठांतर इस प्रकार भी मिलता है—'भली आजु कलि करत हौ, छत्रसाल महराज।' इतिहास ग्रंथों में नेवाज कवि का औरंगजेब के पुत्र आजमशाह के यहाँ रहने का भी उल्लेख मिलता है। इनका लिखा हुआ शकुंतला नाटक प्रसिद्ध है। यथार्थ में यह दोहा, चौपाई, सवैया आदि छंदों में लिखा पद्यबद्ध शकुंतला संबंधी आख्यान है। नाटक शब्द से भ्रम में पड़कर इसे अभिनेय नाटक नहीं समझना चाहिए। शकुंतला आख्यान के अतिरिक्त इनकी

कतिपय फुटकर रचनाएँ मिलती हैं, जिनका प्रधान स्वर शृंगार है। शृंगारवर्णन के लिये जिस कोटि की सहृदयता और काव्यकुशलता अपेक्षित होती है, वह इनके पास प्रचुर मात्रा में थी। इन्होंने शब्दचयन में बड़ी सावधानी से काम लिया है। रसिक होने के कारण शृंगारवर्णन में कहीं कहीं अत्यधिक नग्न रूप भी ग्रहण कर लिया है। संयोग शृंगार इनका प्रिय विषय प्रतीत होता है। संभोग शृंगार के लिये जिन प्रसंगों को इन्होंने चुना है वे रति-संभोग-परक हैं अतः श्लील मर्यादा से दूर होने के कारण भोगप्रधान हो गए हैं। किंतु काव्यत्व की दृष्टि से उनमें प्रचुर भाव-सामग्री मिलती है। कृष्णवियोग से दुखी नायिका का वर्णन देखिए :

देखि हमैं सब आपस मैं जो कछू मन भावै सोई कहती हैं।
ये घरहाई लुगाई सबै निसि द्यौस नेवाज हमैं दहती हैं।
बातें चवाव भरी सुनिकै रिसि आवत पै चुप ह्वै रहती हैं।
कान्ह पियारे तिहारे लिये सिगरे जग को हँसबो सहती हैं।

प्रच्छन्न प्रेमाचार के जगद्विदित हो जाने पर निश्शंक होकर प्रेम करने की प्रेरणा देनेवाला सवैया देखिए :

आगें तो कीन्ही लगा लगी लोयन कैसे छिपै अजहूँ जो छिपावति।
तू अनुराग कौ सोध कियो ब्रज की बनिता सब यों ठहरावति।
कौन सकोच रह्यौ है नेवाज जो तू तरसै उनहूँ तरसावति।
बावरि जो पै कलंक लग्यौ तो निसंक ह्वै क्यों नहिं अंक लगावति।

७. हठी जी

हठी जी राधावल्लभ संप्रदाय के प्रवर्तक श्री हितहरिवंश के बारहवें शिष्य बताए जाते हैं। इनके जन्मस्थान और जन्मतिथि का अभी तक निर्णय नहीं हो सका है। राधावल्लभीय सांप्रदायिक ग्रंथों में इनका जन्मस्थान चरखारी लिखा हुआ मिलता है। निबार्क संप्रदाय के ग्रंथों में इन्हें निंबार्की ठहराया गया है। इनकी भावना राधानिष्ठ शृंगारी भक्त की है अतः इनका सांप्रदायिक दृष्टि से देखा जाना स्वाभाविक ही है। इनका रचा हुआ राधासुधाशतक ग्रंथ काव्यसौष्ठव की दृष्टि से प्रौढ़ एवं परिष्कृत रचना है। शृंगार काव्य की जो परंपरा उस युग में अविरल रूप से प्रवाहित हो रही थी, हठी जी का काव्य भी उसी में निमज्जित हुआ प्रतीत होता है। रीतिबद्ध मुक्तक की परंपरा में ही हठी जी के काव्य को स्थान देना चाहिए। राधासुधाशतक में १०३ कवित्त सवैए हैं। यदि इनकी कविता का कलात्मक दृष्टि से मूल्यांकन किया जाय तो ये शुद्ध भक्त कवियों में स्थान न पाकर रीति परंपरा के काव्यकवियों में ही स्थान पाने के अधिकारी होंगे। वास्तव में रीतिबद्ध काव्यकवियों की समस्त विशेषताएँ हठी जी के काव्य में विद्यमान हैं। इनकी अप्रस्तुत योजना, वचनवक्रता,

लाक्षणिकता आदि सभी गुण रीतिकालीन चोटी के कवियों से टक्कर लेते हैं। अलंकार की ऐसी सजीव और सुंदर योजना है कि श्रोता अर्थगौरव की अपेक्षा कहीं कहीं शब्दगौरव पर ही अधिक मुग्ध हो जाता है। किंतु शब्दसौष्ठव के फेर में पड़कर अनुप्रास आदि के शैथिल्य को आपने अंगीकार नहीं किया, यही आपकी विशेषता है। कवित्त सवैया लिखनेवाले काव्यकवियों में आपका विशिष्ट स्थान है।

रीतिबद्ध परंपरा से शब्दसामग्री चयन करके आपने अपनी कविता को अलंकृत किया है। शृंगारसंपृक्त भक्ति का सुंदर रूप राधासुधाशतक काव्य में मिलता है। ग्रंथ सांप्रदायिक व्यक्तियों ने प्रकाशित कराया है :

राधा के सौंदर्यवर्णन के साथ कवि ने उसकी कृपाकांक्षा के भी अनेक पद लिखे हैं। राधा का इतना साहित्यिक वर्णन बहुत कम कवियों में मिलता है :

कोऊ घनश्याम कोऊ चाहै अभिराम कोऊ,
साहिबी सुरेस भाँति लाख लहियतु है।
कोऊ गजराज महाराज सुखराज कोऊ,
तीर्थ व्रतं नेम जग अंग चाहियतु है।
ऐसी चित चाहै चरचा है दुनिया की हठी,
चाहै हृदै एक तौन ठहियतु है।
जन रखवारी की सु प्रभु प्रानप्यारी की,
सुकीरति दुलारी की नजर चाहियतु है॥

राधा के जन्म पर देवी देवता किस प्रकार हर्षित हो उठे, इसका वर्णन करता हुआ कवि कहता है :

गाय उठी किंनरी नवीन ले सुरन सबै,
द्वार द्वार नगर नगारा धुनि छाई है।
सुर हरखाने बरसाने बरसाने प्रेम,
सरसाने फूल बरखा लै बरसाई है।
बंदीजन बिरद बखाने भाँति भाँति हठी,
लीन्हों अवतार राधे बंदन हूँ गाई है।
धन्य ब्रजमंडल सुधन्य कुल कीरति की,
धन्य वृषभानु जू के भाग की भलाई है॥

गिरि कीजै गोधन, मयूर नव कुंजन को,
पसु कीजै महाराज नंद के नगर को।
नर कीजै तौन जौन राधे राधे नाम रटे,
तट कीजै बरकूल कालिंदी कगार को।

इतने पै सोई कछु कीजिए कुँवर कान्ह,
राखिए न आन फेर हठी के झगर को।
गोपी पद पंकज पराग कीजै महाराज,
तृन कीजै रावरेई गोकुल नगर को॥

चंद सो आनन कंचन सो तन हौं लखिकै बिन मोल बिकानी।
औ अरविंद सी आँखिन को हठि देखत मोरि ये आँखि सिरानी॥
राजत है मनमोहन के सँग वारौं मैं कोटि रमा रति रानी।
जीवन मूरि सबै ब्रज की ठकुरानी हमारी है राधिका रानी॥

८. रामसहायदास

ये काशी के महाराज उदितनारायण सिंह के आश्रय में रहते थे। इनका जन्म स्थान चौबेपुर (बनारस) और जाति अस्थाना कायस्थ बताई जाती है। पिता का नाम भवानीदास था। ये भगत छाप से कविता करते और भगत जी के नाम से ही विख्यात भी थे। इनका कविताकाल संवत् १८६० से १८८० तक स्वीकार किया जाता है। बिहारी के अनुकरण पर इन्होंने रामसतसई बनाई जिसका विषय श्रृंगार है। इसी कारण श्रृंगारसतसई नाम से भी इसका प्रकाशन भारतजीवन प्रेस, काशी से हुआ था। इस सतसई में अपने पिता के नाम का संकेत कवि ने स्वयं किया है। जीवनवृत्त विषयक और कोई चर्चा नहीं है।

रामसतसई या श्रृंगारसतसई के विषय में मिश्रबंधुओं की बड़ी ऊँची धारणा है। वे इसे बिहारीसतसई के टक्कर की रचना मानते हैं। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने इस मान्यता का बड़े जोरदार शब्दों में खंडन किया है, किंतु फिर भी इसे श्रृंगार रस का उत्तम ग्रंथ माना है। सतसई के अतिरिक्त इनकी तीन पुस्तकें और कही जाती हैं जो अभी तक उपलब्ध नहीं हो सकी हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं—वाणीभूषण, वृत्ततरंगिणी और ककहरा। इनमें वाणीभूषण अलंकार ग्रंथ प्रतीत होता है और वृत्ततरंगिणी पिंगल विषयक ग्रंथ। अन्य ग्रंथ अनुपलब्ध होने के कारण हमने सतसई के आधार पर इन्हें लक्षणकार आचार्यों में न रखकर लक्ष्यकार काव्य-कवियों में स्थान दिया है। इनकी रचना के कुछ उदाहरण देखिए :

मटकन झटपट चटक कै, झटक मुकुट के संग।
लटक पीत पट की लिपट, छुट कटि कटक प्रसंग॥
सतरोहैं मुख रुख किए, कहै रुखौहैं बैन।
रैन जगे के नैन ये, सने सनेहु दुरै न॥
सीस झरोखे डारिकै, झाँकी घूँघट टारि।
कैबर सी कसकै हिए, बाँकी चितवन नारि॥

सखि सँग जाति हुती सुखी, भट भेरौ भौ जानि ।
सतरौंही भौंहनि करी, बतरौंही अँखियानि ॥
नैननि मढ़ि चित चढ़ि रही, वह स्यामा वह साँझि ।
झाँकी दै ओझल भई, झाँकि झरोखे माँझि ॥

६. पजनेस

पजनेस कवि का जन्म पन्ना में हुआ था। शिवसिंहसरोज में इनका जन्मसंवत् १८७२ लिखा है। इनका लिखा कोई ग्रंथ प्रकाश में नहीं आया है। भारतजीवन प्रेस, काशी से इनके शृंगारी कवित्त सवैयों का एक फुटकर संकलन पजनेस-प्रकाश प्रकाशित हुआ है, जिससे विदित होता है कि ये रीतिबद्ध मुक्तक परंपरा के अच्छे कवि थे। शिवसिंहसरोज में इनकी नखशिख और मधुरप्रिया नामक दो पुस्तकों का उल्लेख है किंतु अभी तक वे उपलब्ध नहीं हुई हैं। इनके काव्य का मूल्यांकन स्फुट पदों के आधार पर ही किया जा सकता है। शृंगारी प्रवृत्ति के कारण नख-शिख-वर्णन की ओर रुचि होना स्वाभाविक ही है।

शृंगार रस के लिये इनकी भावयोजना तो परंपरामुक्त ही है, किंतु भाषा में कुछ नवीनता है। फारसी शब्दों का प्रयोग स्थान स्थान पर जान बूझकर किया गया है। शृंगार की कोमल व्यंजना होने पर भी कर्कश कठोर शब्दों का प्रयोग इनके काव्य में है। कदाचित् ये प्रतिकूल शब्दयोजना को निषिद्ध नहीं मानते थे। इतना होने पर भी पदविन्यास का कौशल इनकी कविता में है जिसके कारण इनके कवित्त सवैयों को पढ़ते समय लय स्वर के आनंद में कोई व्याघात नहीं पहुँचता। शब्दचमत्कार पर ध्यान होने के कारण गंभीर भावयोजना में कहीं कहीं ठेस लगी है। नखशिख की दृष्टि से ये अच्छे कलाकार प्रतीत होते हैं। नायिका के आनन का वर्णन देखिए :

चितवत जाकी ओर चख चकिचौंध कौंधे,
मनि पजनेस भानु किरन सरी सी है।
छबि प्रतिबिंब छूटयो छिति ह्वै छपाकर ते,
छाजत छबीली राजै कनक छरी सी है।
कीनौ हर सुरक गुलाब को प्रसून प्रास,
झुकि झुकि झूमि झूमि झाँकत परी सी है।
आनन अमल अरबिंद ते अमंद अति,
अद्भुत अभूत आभा झफनि परी सी है।

नख-शिख-वर्णन में उरोज का आलंकारिक शैली से वर्णन द्रष्टव्य है :

संपुट सरोज कैधौं सोभा के सरोवर में,
    लसत सिंगार के निशान अधिकारी के।
कवि पजनेस लोक चित्त वित्त चोरिबे को,
    चोर इक ठौर नारि प्रीव पर कारी के।
मंदिर मनोज के कलित कुंभ कंचन के,
    ललित फलित कैधौं श्रीफल बिहारी के।
हरन उठौना चक्रवाहन के छौना कैधौं,
    मदन खिलौना हैं सलौना प्रानप्यारी के॥

फारसी शब्दो के प्रयोग द्वारा लिखा हुआ निम्नांकित सवैया पजनेस के भाषाज्ञान का परिचायक है। रस की दृष्टि से इसमें अनेक त्रुटियाँ हो सकती हैं, किंतु कवि ने अपना फारसी ज्ञान इसके द्वारा पूरी तरह व्यक्त करने की चेष्टा की है :

पजनेस तसद्दुक ता बिसमिल जुल्फे फुरकत न कबूल कसे,
महबूब चुना मदमस्त सनम अजदस्त अलाबल जुल्फ बसे।
बजमूए ज काफ शिकाफ रुए सम क्यामत चश्म रु खूँ बरसे।
मिजगाँ सुरमा तहरीर दुताँ नुकते बिन् बे, किन ते, किन से॥

१०. राजा मानसिंह (द्विजदेव)

द्विजदेव शाकद्वीपी ब्राह्मण वंश में उत्पन्न हुए थे। इनके पूर्वजों को मुगल शासकों और नवाबों द्वारा प्रभूत संपत्ति और राजा की उपाधि प्राप्त हुई थी। द्विजदेव के पिता अयोध्या नरेश महाराज दर्शनसिंह ने शाहगंज में सुंदर भवन, बाजार तथा कोट बनवाए थे। द्विजदेव का जन्म अगहन सुदी पंचमी, सं० १८७७ वि०, तदनुसार दिनाक १० दिसंबर, सन् १८३० ई० में हुआ था। इनकी शिक्षा दीक्षा घर पर ही विद्वान् पंडितों द्वारा संपन्न हुई। शिवसिंहसरोज में इनकी शिक्षा के विषय में लिखा है कि—'ये महाराज संस्कृत, भाषा, फारसी, अरबी, अँगरेजी इत्यादि विद्या में अति निपुण थे।' काव्यशास्त्र का अध्ययन इन्होंने अवधवासी श्री बलदेवसिंह से किया था। पिता की मृत्यु के बाद इनके राज्य में उपद्रव फैला जिसे द्विजदेव ने थोड़े से सिपाहियों की सहायता से ही शांत करके अपने पराक्रम का परिचय दिया।

द्विजदेव का जीवन अनेक साहसपूर्ण वीर कार्यों से ओतप्रोत है। उन्होंने अनेक बार भीषण युद्धों में सक्रिय भाग लेकर अपने बल और साहस का अच्छा परिचय दिया था। सन् १८५७ की राज्यक्रांति के समय उन्होंने अनेक अँगरेज परिवारों की प्राणरक्षा करके लारेंस महोदय का विश्वास प्राप्त किया था। उन्हें इस कार्य के लिये दो लाख रुपए की जागीर पुरस्कार स्वरूप प्राप्त हुई थी। सन् १८५७ की राज्यक्रांति में अँगरेजों का साथ देने पर भी बाद में विरोधियों के भड़काने से

अँगरेजी शासन की उनपर कोपदृष्टि पड़ी और उन्हें कारावास में डालने की योजना बनाई गई। इस षड्यंत्र का द्विजदेव को पता चल गया और वे सब कुछ छोड़कर वृंदावनवास के लिये चले गए। वृंदावनवास में ही माधुर्य भक्ति के प्रभाव में शृंगारपूर्ण कृष्ण-काव्य-रचना द्वारा उन्हें मानसिक शांति और संतोष प्राप्त हुआ। कार्तिक बदी द्वितीया, संवत् १६२८ को उनका देहावसान हुआ।

द्विजदेव का जीवन युद्ध और संघर्ष में व्यतीत हुआ किंतु उन्होंने अपनी नैसर्गिक काव्यप्रतिभा और भावुकता को सांसारिक संघर्षों में नष्ट नहीं होने दिया। शैशव से ही काव्यरसिक होने के कारण कविता के अमिट संस्कार सदैव इनके साथी बने रहे। राज्याधिकार प्राप्त होने पर द्विजदेव ने अपने दरबार में अनेक प्रतिभाशाली कवियों को एकत्र किया था। लछिराम, पंडित प्रवीन, बलिदेव, जगन्नाथ अवस्थी आदि इनके दरबारी कवि थे।

द्विजदेव रचित तीन ग्रंथ प्रसिद्ध हैं—*शृंगारलतिका*, *शृंगारबत्तीसी* और *शृंगारचालीसी*। कुछ विद्वान् *शृंगारचालीसी* को स्वतंत्र ग्रंथ नहीं मानते। इनके दो ग्रंथ प्रकाशित हो चुके हैं। *शृंगारलतिकासौरभ* नाम से एक बहुत ही विशाल सटीक संस्करण अयोध्या की महारानी ने बड़ी सजधज के साथ प्रकाशित कराया है। भूतपूर्व अयोध्यानरेश महाराज प्रतापनारायण सिंह ने *शृंगारलतिका* पर सौरभ टीका लिखी है।

द्विजदेव के ग्रंथों के अनुशीलन से विदित होता है कि इन्होंने रीतिग्रंथों का विधिवत् अध्ययन किया था। काव्यरचना करते समय रीतिपरंपरा के रचनाविधान को वे सदा अपने समक्ष रखते थे। यद्यपि इन्होंने कोई रीतिपरक (लक्षण) ग्रंथ नहीं लिखा, फिर भी रस और अलंकार संप्रदाय की शास्त्रीय परिपाटी का इन्होंने अपनी मुक्तक रचना में पूर्ण रूप से निर्वाह किया है। नायिकाभेद संबंधी इनके कवित्त और सवैयों का अनुशीलन बताता है कि ये अपने अंतर्मन में सदा रीतिबद्ध काव्यपद्धति को रखकर चलते थे। अलंकार तथा रस के संबंध में भी हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने इनके विषय में लिखा है—'द्विजदेव को ब्रजभाषा के शृंगारी कवियों की परंपरा में अंतिम प्रसिद्ध कवि समझना चाहिए। जिस प्रकार लक्षणग्रंथ लिखनेवाले कवियों में पद्माकर अंतिम प्रसिद्ध कवि हैं उसी प्रकार समूची शृंगारपरंपरा में ये हैं। इनकी सी सरस और भावमयी फुटकल शृंगारी कविता फिर दुर्लभ हो गई।

द्विजदेव ने रीति-शृंगार-परंपरा के प्रसिद्ध कवियों से भाषापरिमार्जन का गुण ग्रहण किया था। भाषा में शृंगारवर्णन के योग्य लालित्य, माधुर्य और मार्दव की स्थापना करने में ये बहुत से कवियों को पीछे छोड़ गए हैं। अनुप्रास और यमक के मोह में भाषा की सहज अभिव्यंजना पर इन्होंने कहीं भी आघात

नहीं आने दिया है। भावयोजना की दृष्टि से भी इनकी शृंगारी कविता बड़ी नैसर्गिक पद्धति पर चली है। मन की सच्ची उमंग और भावों के सहज उद्वेलन के साथ कविता लिखनेवाले कवियों का रीतिकाल में प्रायः अभाव ही था। अधिकांश कवि रस्म अदा करने के लिये नखशिख, ऋतुवर्णन, नायिकाभेद, बारहमासा आदि लिखकर अपने कविकर्म की पूर्णता समझते थे। किंतु द्विजदेव के काव्य में मन के लीन होने की सरस दशा का पूरा संकेत उपलब्ध होता है। नायिकाभेद, रस, अलंकार विषयों से संबद्ध कतिपय उदाहरण इस कथन के प्रमाणस्वरूप नीचे उद्धृत किए जाते हैं।

प्रोषितपतिका प्रौढ़ा नायिका के वर्णन में द्विजदेव का भावोद्वेलन द्रष्टव्य है :

> भूले भूले भौंर बन भावरैं भरैंगे चहुँ,
> फूलि फूलि किंसुक जके से रहि जाइहै।
> द्विजदेव की सौं वह कूजनि बिसारि कूर,
> कोकिला कलंकी ठौर ठौर पछिताइहै।
> आवत बसंत के न ऐहैं जो वै स्याम तो पै,
> बावरी! बलाइ सों हमारे हूँ उपाइहै।
> पीहैं पहिलेई तैं हलाहल मँगाइ या,
> कलानिधि की एकौ कला चलन न पाइहै।

दूसरा उदाहरण परकीया प्रोषितपतिका नायिका का है। इसमें नायिका की मन:स्थिति को चित्रित करने में कवि ने बड़े चातुर्य से काम लिया है। नायिका की अंतिम इच्छा का चित्रण प्रेम की पराकाष्ठा है :

> अब मति दै री कान कान्ह की बसीठिन पै,
> झूठे झूठे प्रेम के पतौवन कों फेरि दै।
> उरझि रही थी जो अनेक पुरखा तैं सोऊ,
> नाते की गिरह मूँदि नैननि निबेरि दै।
> मरन चहत काहू छैल पै छबीली कोऊ,
> हाथन उचाइ ब्रज बीथिन में टेरि दै।
> नेह री कहाँ को अरि खेह री भई तौ मेरी,
> देह री उठाइ वाकी देहरी पै गेरि दै।

कलहांतरिता नायिका का एक बड़ा मार्मिक चित्र कवि ने निम्नलिखित कवित्त में अंकित किया है। नायिका कृष्ण के आने पर लज्जा से इतनी अभिभूत हो जाती है कि उसके नेत्र दर्शन के लिये उठते ही नहीं। जाते समय पलक इतने चंचल हो

उठते हैं कि नेत्रों को ढककर दर्शन में बाधा डालते हैं। दोनों ही स्थितियों में उसे दर्शनसुख से वंचित होना पड़ता है :

> बोलि हारे कोकिल बुलाय हारे केकी गन,
> सिखै हारीं सखी सब जुगति नई नई।
> द्विजदेव की सौं लाज बैरिन कुसंग इन,
> अंगन ही आपने अनीति इतनी ठई।
> हाय इन कुंजन तें पलटि पधारे स्याम,
> देखन न पाई वह मूरति सुधामई।
> आवन समै मैं दुखदाइनि भई री लाज,
> चलन समै मैं चल पलन दगा दई॥

अलंकारयोजना की दृष्टि से द्विजदेव के काव्य की सफलता अपने चरम बिंदु पर है। सभी प्रकार के अलंकारों के परिपुष्ट उदाहरण इनके काव्य में भरे पड़े हैं। भेदकातिशयोक्ति का एक सुंदर उदाहरण देखिए :

> औरै भाँति कोकिल, चकोर ठौर ठौर बोलें,
> औरै भाँति सबद पपीहन के वै गए।
> औरै भाँति पल्लव लिए हैं वृंद वृंद तरु,
> औरै छवि पुंज पुंज कुंजन छनै गए।
> औरै भाँति सीतल सुगंध मंद डोलै पौन,
> द्विजदेव देखत न ऐसे पल ह्वै गए।
> औरै रति और रंग औरै साज औरै संग,
> और बन औरै छन औरै मन ह्वै गए।

तृतीय अध्याय

काव्यकवियों का योगदान

काव्यकवियों की कला अलंकृत कला है। भाषा को अलंकृत करने के लिये शब्दालंकार तथा अर्थालंकार का आग्रहपूर्वक प्रयोग इस काल के कवियों की विशेषता समझनी चाहिए। रीतिकालीन आचार्यकवियों की अपेक्षा रीतिबद्ध काव्यकवियों तथा स्वच्छंद प्रेमधारा के उन्मुक्त कवियों ने लक्षणा और व्यंजना शक्ति पर अधिक ध्यान दिया है। बिहारी और घनानंद क्रमशः दोनों धाराओं के कवियों का प्रतिनिधित्व करते हैं। समास पद्धति भी काव्यकवियों की एक उल्लेख्य विशेषता है। यों तो आचार्यकवियों ने भी दोहे लिखकर समास गुण को अपने काव्य में स्थान दिया है, किंतु बिहारी, रसनिधि, रामसहाय आदि काव्यकवियों ने दोहे को भावसामग्री से परिपूर्ण बनाकर काव्यगत समास पद्धति को चरमोत्कर्ष पर पहुँचा दिया है।

रीतिबद्ध काव्यकवियों को रीति-शास्त्र-प्रणेता आचार्यकवियों से अलंकार-प्रयोग के प्रयोजनभेद को संमुख रखते हुए पृथक् किया जा सकता है। रीतिनिरूपक आचार्यकवियों ने अलंकार को प्रतिपाद्य विषय मानकर तथा काव्यालंकरण के लिये उपयोगी समझकर अपने काव्य में स्थान दिया था। किंतु काव्यकवियों ने अलंकार के संबंध में वस्तुगत दृष्टि का उपयोग किया था। निरलंकृत काव्य सुंदर नहीं होता, अतः अलंकारों का सहज समावेश इनका ध्येय था, अलंकार का शास्त्रीय प्रतिपादन इन्हें कभी अभीष्ट नहीं हुआ।

ध्वनि और लक्षणा की दृष्टि से काव्यकवियों का काव्य आचार्यकवियों की अपेक्षा अधिक समृद्ध है। नायिकाभेद के प्रसंग में नायिकाओं तथा उनकी सखियों की उक्तियों में जैसी लाक्षणिकता एवं ध्वन्यात्मकता बिहारी, रसनिधि और द्विजदेव के काव्य में है वैसी अन्यत्र दुर्लभ है। विषय की दृष्टि से शृंगार तक ही सीमित रहने के कारण कामचेष्टाओं और विलासभावनाओं से संबद्ध उपमानों और प्रतीकों का इनकी कविता में प्राचुर्य है। जीवन के सीमित क्षेत्र से उसी विलाससामग्री का चयन किया गया है जो दैनिक व्यवहार में उपयुक्त होती थी।

रीतिकालीन आचार्यकवियों की भाँति काव्यकवियों ने भी ब्रजभाषा के मसृण रूप को ही ग्रहण किया है। भावानुरूप भाषाविन्यास के लिये शब्दों की तोड़मरोड़ इनमें भी पाई जाती है। काव्यभाषा और साधारण बोलचाल की भाषा में व्यापक भेद उत्पन्न करने का प्रयत्न रीतिकाल के सभी कवियों में है। शब्दावली सीमित और

व्यंजक है। संगीत को कविता के समीप लाने का आग्रह रीतिकालीन कवियों की एक विशेषता है जो काव्यकवियों में भी है। दोहा जैसे लघु और सामान्य छंद को भी नादात्मक बनाने का प्रयत्न किया गया। दोहा छंद काव्यकवियों ने अधिक अपनाया है। कवित्त और सवैया के समान दोहा भी उर्दू की शेर और बहार की टक्कर में प्रयुक्त होता रहा।

वक्रोक्तिविधान के लिये काव्यकवियों की कविता में अपेक्षाकृत अधिक अवकाश था। किसी भी स्फुट प्रसंग की कल्पना कर ऊहात्मक शैली से उसे उपन्यस्त करनेवाले ये कवि वक्रोक्ति को उसका जीवित बनाते थे। यही कारण है कि प्रत्येक काव्यकवि की रचना में वक्रोक्तिविधान विपुल मात्रा में देखा जा सकता है। वक्रोक्ति का हार्द विस्मययुत आनंद की सृष्टि में है। कोरा बाह्य चमत्कार वक्रोक्ति-विधान के अंतर्गत नहीं आता। सहृदय की चित्तवृत्ति ऐंद्रजालिक के करतब से भी चमत्कृत होती है और सरस उक्ति के अंतरंग रहस्यबोध से भी। इन दोनों का भेद स्पष्ट अनुभव किया जा सकता है। काव्यकवि की सफलता काव्यजन्य रसानुभूति के आनंदसर्जन में है। ऐंद्रजालिक के समान चमत्कार उत्पन्न करने में इनके कर्तव्य की इतिश्री नहीं है।

शृंगार रस काव्यकवियों का वर्ण्य विषय था। इस रस के भेद, प्रभेद और बहिरंग को शास्त्रनिकष पर परखनेवाले आचार्यकवि लक्षण और उदाहरण द्वारा अपनी काव्यसृष्टि करते थे, अतः उनकी रचना में शास्त्रबंधन लगा हुआ था। काव्यकवि मन की तरंग के साथ सहज स्फूर्त भावों को यथेच्छ शैली से प्रस्तुत करते थे, फलतः इनकी कविता में रससंचार की क्षमता अपेक्षाकृत अधिक पाई जाती है। शास्त्रनिरूपण से दूर हटकर कवित्व का आनंद प्राप्त करने और कविगौरव से संमानित होने में ही ये अपनी और अपने काव्य की कृतकार्यता समझते थे। अतः शृंगार-रस-वर्णन में परिपाटीपालन के साथ स्वानुभूति का प्रयोग भी कवियों में दिखाई देता है।

रीतिबद्ध आचार्यकवियों को मौलिक उद्भावनाओं के लिये न्यूनावकाश रहा है किंतु काव्यकवि स्वतंत्र क्षेत्र में विचरण करते हुए नूतन उद्भावनाओं की सृष्टि का पूरा पूरा लाभ उठाते रहे। आचार्यकवि कलावादी बनकर काव्यभूमि में उतरे थे किंतु काव्यकवियों ने कला के साथ भावभूमि का भी अवगाहन किया। रीतिनिरूपक कवियों में पिष्टपेषण अधिक है। अनेक कवियों ने एक ही विषय को यत्किंचित् हेरफेर के साथ प्रस्तुत किया है। इसके विपरीत काव्यकवि चर्वितचर्वण से बचकर स्वतंत्र एवं नूतन उद्भावनाओं के सहारे मौलिक काव्यसृष्टि में अधिक सफल हुए। दोनों कोटि के कवियों के काव्य का मूल्यांकन करते समय यह भेद सामने रखना अनिवार्य है।

काव्यकवियों ने नायिकाभेद के साथ ऋतुवर्णन, बारहमासा और नखशिख को विशेष रूप से अपने काव्य का विषय बनाया। लक्षण-ग्रंथ-रचना से बचने के कारण काव्यकवियों ने उन्हीं विषयों को स्वीकार किया जिनमें स्वच्छंद विचरण का अपेक्षाकृत अधिक अवकाश था।

शृंगार रस की प्रधानता के कारण इस रस का समस्त वैभव कवियों ने नायिकाभेद के भीतर दिखाने का प्रयत्न किया। नायिका शृंगार रस का आलंबन है। नायिकाभेद को काव्यांग मानकर निरूपित करनेवाले कविगण तो शास्त्रकवि की कोटि में रखे गए किंतु जिन कवियों ने आलंबन (नायिका) के अंगों के वर्णन को स्वतंत्र विषय मानकर लिखना प्रारंभ किया वे रीतिबद्ध काव्यकवि ही बने रहे। इन ग्रंथों को नख-शिख-वर्णन नाम दिया गया। नख-शिख-वर्णन की परिपाटी रीतिकाल में इतनी अधिक प्रचलित हुई कि शायद ही कोई कवि हुआ हो जिसने थोड़ा बहुत नखशिख न लिखा हो। नखशिख का आधार तो प्रायः संस्कृत के काव्य-शास्त्रीय ग्रंथ थे किंतु वात्स्यायन के कामशास्त्र को भी इस वर्णन में घसीट लिया गया। सामुद्रिक लक्षणों में स्त्रीरूप का जैसा वर्णन है, उसका भी उपयोग कुछ कवियों ने किया। कहीं कहीं कविप्रसिद्धियों और रूढ़ियों के आधार पर नखशिख का विस्तार हुआ। संस्कृत के अलंकारशेखर, कविकल्पलता, बृहत्संहिता, गरुड़-पुराण आदि के नारीरूप के वर्णनप्रसंगों को नखशिख में स्थान मिलने लगा और नखशिख इस काल के कवियों का प्रिय विषय बन गया। अंगप्रत्यंगों के वर्णन के साथ तिलक, मस्सा, रोमबालि, रोमकूप आदि छोटी छोटी शारीरिक वस्तुओं का वर्णन नखशिख में समेट लिया गया। इसके बाद शरीर-शोभा-विधायक अलंकारों को नखशिख में स्थान मिला और नखशिख एक स्वतंत्र काव्यविषय स्वीकृत हो गया। अलंकारों के बाद वस्त्रविन्यास, प्रसाधन के उपकरण, अंगराग, इत्र, तिलक आदि सभी नखशिख के अंतर्गत परिगणित हुए। इस प्रकार रीतिबद्ध कवियों ने नखशिख लिखने में अपनी रुचि प्रदर्शित कर अपने शृंगारी भाव का पूरा प्रमाण प्रस्तुत किया।

नखशिख के बाद शृंगार रस के उद्दीपन से संबद्ध षड्ऋतुवर्णन और बारहमासा की ओर इनका ध्यान जाना स्वाभाविक था। संस्कृत के अलंकृत महाकाव्य लिखनेवाले कालिदास, श्रीहर्ष, माघ आदि कवियों ने भी ऋतुवर्णन का प्रसंग विस्तारपूर्वक अपने काव्यों में ग्रहीत किया है। ऋतुवर्णन स्वतंत्र रूप से भी होता है और संश्लिष्ट प्रकृतिचित्रण के रूप में भी। किंतु संस्कृत के अधिकांश कवियों ने प्रायः नायक नायिकाओं के उद्दीपन प्रसंग में ऋतुवर्णन का उपयोग किया है। हिंदी के रीतिकवियों के लिये तो वह मात्र उद्दीपन ही था। स्वतंत्र रूप से या संश्लिष्ट रूप से प्रकृतिचित्रण करना इनका उद्देश्य नहीं था अतः इनकी भावना तो उद्दीपन में

ही भली भाँति देखी जा सकती है। विप्रलंभ शृंगार के वर्णन में ऊहात्मक शैली से जहाँ वस्तुवर्णन किया गया है वहाँ ऋतुओं की प्रचंडता, क्रूरता, विपरीतता तथा असमय में आना बडे कौशल से प्रस्तुत किया गया है। विरहवर्णन के लिये प्रायः सभी कवियों ने बारहमासा को चुना है। वर्ष के बारह महीनों में विरहवेदना से संतप्त नायिका की क्या दशा होती है, उसे प्रत्येक मास में कैसा कैसा कटु अनुभव होता है, यही बारहमासा लिखने का प्रयोजन है। विरहवर्णन की शैली पर फारसी कविता का प्रभाव रहा है, अतः ऊहा के चमत्कारविधान के लिये प्रकृति के कठोर कर्कश, मृदुल मोहक रूपों का वर्णन इन कवियो के लिये स्वाभाविक बन गया था।

नखशिख और ऋतुवर्णन तथा बारहमासा वर्णन को स्वीकार करने का एक कारण यह भी था कि इन वर्णनों के द्वारा सूक्ष्म किंतु सटीक शैली में चमत्कार-योजना की जा सकती है। सूक्ति और चमत्कार दोनों के लिये मास और ऋतु के विभिन्न अवयव बडे सहायक होते हैं। नख-शिख वर्णन रूप की झाँकी का ही दूसरा नाम है, ऋतुवर्णन विरह की विह्वलता का आरोपित एवं चमत्कृत चित्र है, एवं बारहमासा नायिका की मनःस्थिति का कविकल्पित ऊहात्मक आलेख है। काव्यकवियो के लिये ये तीनों प्रसंग रीतिनिरूपण से कुछ हटकर स्वतंत्र एवं मौलिक उद्भावनाओ के अनुकूल थे अतः इनको प्रायः सभी ने स्वीकार किया है।

उपसंहार

भारतीय इतिहास में रीतिकाल की भाँति हिंदी साहित्य के इतिहास में 'रीतिकाव्य' भी अत्यंत अभिशप्त काव्य है। आलोचना के आरंभ से ही इसपर आलोचकों की वक्र दृष्टि रही है। द्विवेदीयुग ने सदाचारविरोधी कहकर नैतिक आधार पर इसका तिरस्कार किया, छायावाद की सूक्ष्म सौंदर्यदृष्टि रीतिकाव्य के स्थूल सौंदर्यबोध के प्रति हीन भाव रखती थी, प्रगतिवाद ने इसपर समाजविरोधी और प्रतिक्रियावादी होने का आरोप लगाया और प्रयोगवाद ने इसकी रूढ विषय-वस्तु एवं अभिव्यंजना प्रणाली को एकदम बासी घोषित कर दिया।

इस प्रकार की आलोचनाएँ निश्चय ही पूर्वाग्रह से दूषित हैं। इनमें बाह्य मूल्यों का रीतिकाव्य पर आरोप करते हुए काव्यालोचन के इस आधारभूत सिद्धांत का निषेध किया गया है कि आलोचक को आलोच्य काव्य में से ही दृष्टि प्राप्त करनी चाहिए। इस पद्धति का अवलंबन करने से रीतिकाव्य के साथ अन्याय होने की आशंका नहीं रह जायगी।

व्यापक स्तर पर विचार करने से काव्य की दो प्रतिनिधि परिभाषाएँ प्राप्त होती हैं जो काव्य के प्रति दो भिन्न दृष्टिकोणों को अभिव्यक्त करती हैं—एक 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' और दूसरी काव्यजीवन की समीक्षा है। इनमें से पहली शुक्ल जी

की शब्दावली में आनंद की सिद्धावस्था और दूसरी साधनावस्था को महत्व देती है। केवल भारतीय वाङ्मय में ही नहीं, विश्व भर के वाङ्मय में काव्य के ये दो पृथक् रूप स्पष्ट दृष्टिगत होते हैं। इसमें संस्देह नहीं कि इस भेद के मूल में आतरिक अभेद की सत्ता भी उतनी ही स्पष्ट है, फिर भी ये दोनों और उनका आख्यान करनेवाली उपर्युक्त दोनों परिभाषाएँ दो विभिन्न दृष्टिकोणों की द्योतक तो हैं ही। मेरी अपनी धारणा है कि किसी भी काव्य की समीक्षा करते समय इस दृष्टिभेद को सामने रख लेना आवश्यक है, एक ही मानक से दोनों को तौलने से किसी न किसी के प्रति भारी अन्याय होने की आशंका रहती है। उदाहरण के लिये वाल्मीकि और जयदेव अथवा तुलसी और सूर की काव्यदृष्टि में पाश्चात्य साहित्य से उदाहरण लें तो होमर या शेक्सपियर और शेली की काव्यदृष्टि में उपर्युक्त भेद स्पष्ट है, फिर भी आचार्य शुक्ल और मैथ्यू आर्नल्ड जैसे प्रौढ़ आलोचक उसे भूल बैठे। इसका उलटा भी हो सकता है। बिहारी की आलोचना करते हुए पंडित पद्मसिंह शर्मा ने यही किया और बिहारी की प्रतिभा से 'सूर और चांद को भी गहन लगने' की आशंका होने लगी। यद्यपि मैं स्वयं कवित्व और रस की मौलिक अखंडता का समर्थक हूँ, तथापि यह अखंडता तो अंतिम स्थिति में ही प्राप्त होती है, उससे पहले बहुत दूर तक उपर्युक्त भेद की सत्ता स्पष्ट विद्यमान रहती है। रीतिकाल का उचित मूल्यांकन करने के लिये इसका ध्यान रखना आवश्यक होगा।

'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' या 'रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्' की कसौटी पर परखने से रीतिकाव्य का तिरस्कार नहीं किया जा सकता। इसमें संदेह नहीं कि जीवन की उदात्त साधना और कदाचित् सिद्धियों का भी निरूपण इस काव्य में उपलब्ध नहीं होता। किंतु जीवन में सरसता का मूल्य नगण्य नहीं है— जीवन के मार्ग पर धीर और प्रबुद्ध गति से निरंतर आगे बढ़ना तो श्रेयस्कर है ही, किंतु कुछ क्षणों के लिये किनारे पर लगे वृक्षों की शीतल छाँह में विश्राम करने का भी अपना मूल्य है। कला अथवा काव्य के कम से कम एक रूप का आविष्कार मनुष्य ने इसी मधुर आवश्यकता की पूर्ति के लिये किया था और वह आवश्यकता अभी निश्शेष नहीं हुई—कभी हो भी नहीं सकती। रीतिकाव्य मानव मन की इसी वृत्ति का परितोष करता है और इस दृष्टि से इन रससिद्ध कवियों और इनके सरस काव्य का अवमूल्यन नहीं किया जा सकता।

व्यापक सामाजिक स्तर पर भी रीतिकाव्य का यह योगदान इतना ही मान्य है : घोर पराभव के उस युग में समाज के अभिशप्त जीवन मे सरसता का संचार कर इन कवियों ने अपने ढंग से समाज का उपकार किया था। इसमें संदेह नहीं कि इनके काव्य का विषय उदात्त नहीं था—उसमें जीवन के भव्य मूल्यों की प्रतिष्ठा नहीं थी, अतः उसके द्वारा प्राप्त आनंद भी उतना उदात्त नहीं था। यहाँ मै इस

प्रश्न को छेड़ना नहीं चाहता कि रस की कोटियाँ होती हैं या नहीं, मेरा मंतव्य केवल यही है कि काव्य वस्तु के नैतिक मूल्य का काव्यरस के नैतिक मूल्य पर प्रभाव अवश्य ही पड़ता है और इस दृष्टि से रीतिकाव्य का नैतिक मूल्य निश्चय ही कम है। फिर भी, अपने युग की आत्मघाती निराशा को उच्छिन्न करने में उसने स्तुत्य योगदान किया, इसमें संदेह नहीं है और इस सत्य को अस्वीकार करना कृतघ्नता होगी। वास्तव में मैं इस प्रसंग में एक ऐसे सत्य का फिर से उद्घाटन करना चाहता हूँ जो अनेक नैतिक, सामाजिक काव्यसिद्धांतों के घटाटोप में आज छिप गया है और वह यह है कि कला का एक अतर्क्य उद्देश्य मनोरंजन भी है : यह मनोरंजन मानव जीवन की जितनी अपरिहार्य आवश्यकता है, इसकी पूर्ति करनेवाली कला या काव्यकला का अपना मूल्य भी निश्चय ही उतना ही असंदिग्ध है। रीतिकाव्य का मूल्यांकन कला के इसी उद्देश्य को ध्यान में रखकर करना चाहिए—उसकी मूलवर्ती प्रेरणा यही थी और इसी की पूर्ति मे उसकी सिद्धि निहित है। शुद्ध नैतिक दृष्टि से भी यह सिद्धि निर्मूल्य नहीं है क्योंकि कविशिक्षा से संयुक्त यह मनोरंजन तत्कालीन सहृदय समाज के रुचिपरिष्कार का भी अत्यंत उपादेय साधन था।

कला की दृष्टि से भी रीतिकाव्य का महत्व असंदिग्ध है। वास्तव में हिंदी साहित्य के इतिहास में सर्वप्रथम रीतिकवियों ने ही काव्य को शुद्ध कला के रूप में ग्रहण किया। अपने शुद्ध रूप में रीतिकविता न तो राजाओं और सैनिकों को उत्साहित करने का साधन थी, न धार्मिक प्रचार अथवा भक्ति का माध्यम थी और न सामाजिक सुधार अथवा राजनीतिक सुधार की परिचारिका ही। काव्यकला का अपना स्वतंत्र महत्व था—उसकी साधना स्वयं उसी के निमित्त की जाती थी, वह अपना साध्य आप थी।

कला के क्षेत्र में व्यावहारिक रूप से भी रीतिकवियों की उपलब्धि कम नहीं है। ब्रजभाषा के काव्यरूप का पूर्ण विकास इन्होंने ही किया। वह कांति, माधुर्य और मसृणता आदि गुणों से जगमग हो उठी—शब्दों को जैसे खराद पर उतारकर कोमल और चिक्कण रूप प्रदान किया गया, सवैया और कवित्त की रेशमी जमीन पर रंग बिरंगे शब्द माणिक मोती की तरह ढुलकने लगे। इन दोनों छंदों की लय में अभूतपूर्व मार्दव और लोच आ गया। स्थूल दृष्टि से देखने पर ऐसा प्रतीत होता है कि रीतिकवियो का छंदविधान एक बँधी लीक पर ही चलता है। उसमें स्वर और लय की सूक्ष्म संयोजनाओं के लिये अवकाश नहीं है। परंतु यह दृष्टिदोष है। सवैया और कवित्त के विधान के अंतर्गत अनेक प्रकार के सूक्ष्म लयपरिवर्तन कर रीतिकवियों ने अपनी कोमल संगीतरुचि का परिचय दिया है। रीतिपूर्व युग के तुलसी और गंग जैसे समर्थ कवियों और उधर रीतिमुक्त कवियों में घनानंद जैसे प्रवीण कलाकारों के छंदविधान के साथ तुलना करने पर अंतर स्वतः स्पष्ट हो जाता

है। ये कवि अपने संपूर्ण काव्यवैभव के होते हुए भी रीतिकवियों के छांदस् संगीत की सृष्टि करने में नितांत असफल रहे हैं। इसी प्रकार अभिव्यंजना की साजसज्जा और अलंकृति की दृष्टि से रीतिकाव्य का वैभव अपूर्व है। यह ठीक है कि उसमें अलंकरण सामग्री का वैसा वैविध्य नहीं है जैसा सूर और तुलसी में मिलता है, वैसा सूक्ष्म संयोजन भी नहीं है जैसा पंत में मिलता है, परंतु विलासयुग के रंगोज्ज्वल उपमानों और प्रतीकों के प्रचुर प्रयोग से रीतिकाव्य की अभिव्यंजना दीपावली की तरह जगमगाती है। अतः इस कविता का कलात्मक रूप अपने आपमें विशेष मूल्यवान् है और इसी रूप में इसके महत्व का आकलन होना चाहिए। इसमें संदेह नहीं कि रीतिकाव्य में आपको सूर, मीरा और घनानंद जैसी आत्मा की पुकार नहीं मिलेगी, न जायसी, तुलसी अथवा आधुनिक युग के विशिष्ट महाकाव्यकारों के समान व्यापक जीवनसमीक्षा और न छायावादी कवियों का सा सूक्ष्म सौंदर्यबोध ही यहाँ उपलब्ध होगा, परंतु मुक्तक परंपरा की गोष्ठीमंडन कविता का जैसा उत्कर्ष रीतिकाव्य में हुआ वैसा न तो उसके पूर्ववर्ती काव्य में और न परवर्ती काव्य में ही संभव हो सका।

इस प्रकार हिंदी साहित्य के इतिहास में रीतिकाव्य का अपना विशिष्ट स्थान है। सैद्धांतिक दृष्टि से भारतीय काव्यशास्त्र की परंपरा को हिंदी में अवतरित करते हुए विवेचन एवं प्रयोग दोनों के द्वारा रसवाद की पूर्ण प्रतिष्ठा कर और उधर सर्जना के क्षेत्र में कविता के कलारूप की सिद्धि करते हुए भारतीय मुक्तक परंपरा का अपूर्व विकास कर ब्रजभाषा के कलाप्रसाधनों के सम्यक् परिष्कार संस्कार द्वारा रीतिकवियों ने हिंदी काव्य की समृद्धि में महत्वपूर्ण योगदान किया है। एकांत वैशिष्ट्य की दृष्टि से भारतीय वाङ्मय में ही नहीं, संपूर्ण विश्व के वाङ्मय में आलोचना और सर्जना के संयोग से निर्मित यह काव्यविधा अपना उदाहरण आप ही है। किसी भी भाषा में इस प्रकार का काव्य इतने प्रचुर परिमाण में नहीं रचा गया।

अनुक्रमणिका

फ

ब

श

ह